॥ ओ३म् ॥

चरक-संहिता

महर्षि अग्निवेश प्रणीत

चरक और दृढबल से प्रतिसंस्कृत

(हिन्दी अनुवाद)

शारीर, इन्द्रिय, चिकित्सितस्थान (१—१५ अ०)

द्वितीय खण्ड

अनुवादक-

श्री कविराज अत्रिदेवजी गुप्त,

विद्यालङ्कार, भिषग्रत्न ।

प्रकाशक-

भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस ।

ब्राञ्च—कचौड़ीगली, बनारस ।

द्वितीयावृत्ति २००० | सं० २००५ वि० | मूल्य १२)

विषय-सूची

शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १–२८)

कतिधापुरुषीयम्—पुरुष के भेद, उसकी प्रधान कारणता, पुरुष की उत्पत्ति, पुरुष की नित्यता और अनित्यता, प्रकृति उसके विकार, पुरुष और प्रकृति के लक्षण आत्मा के जन्म, उसको सुख दुःख, उसकी अदृश्यता, उसकी साक्षिता आदि विषयक संशय, वेदना के कारण आदि अग्निवेश के २२ प्रश्न। महर्षि आत्रेय का समाधान। 'पुरुष' शब्दवाच्य पदार्थ। मन का लक्षण, मन के विषय, मन के कर्म, बुद्धि की उत्पत्ति। इन्द्रियाँ। पंचमहाभूतों के लक्षण, ग्राह्य विषय। अव्यक्त आत्मा। पुरुष आत्मा, राशिसंज्ञक पुरुष। आत्मा का प्रतिपादन। नास्तिक मत, नास्तिक मत मे दोष। आत्मा के विषय प्रतिपादन। व्यक्त, अव्यक्त। आभूत प्रकृति। १६ विकार वर्ग क्षेत्र (शरीर) अव्यक्त से बुद्धि सत्वादि की उत्पत्ति। जन्म। पुरुष के लक्षण, पञ्चत्व, आत्मा कर्त्ता आत्मा विभु। आत्मा अनादि, साक्षी। उत्तम चिकित्सा का प्रयोजन। उपधा। दुःख के कारण। प्रज्ञापराध। कालज रोग। कर्मफलज असाध्य रोग। गन्धादि रस, शब्द, स्पर्श आदि का, योग, अयोग, अतियोग, मिथ्यायोग। उनसे उत्पन्न ऐन्द्रियिक रोग। सुख, आरोग्य का कारण समान योग। सुख दुःख का कारण। वेदनाओं का प्रवर्त्तक मानस योग। वेदनाओं का आश्रय। योग और मोक्ष-वेदना की निवृत्ति। योगियो का आठ प्रकार का ऐश्वर्य, मोक्ष। मोक्ष के उपाय। स्मृति, स्मृति उत्पत्ति के आठ कारण। योग-मार्ग।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० २८–३९)

अतुल्यगोत्रीयम्—गर्भ की उत्पत्ति विषयक प्रश्न। गर्भोत्पत्ति विषयक उत्तर। गर्भ विषयक पांच प्रश्न, उनके उत्तर, पूर्ण शरीर होने का कारण, देर से गर्भ-धारण के कारण, गर्भ के असत् रूप, भूतों द्वारा गर्भ हरण का निराकरण। पुत्र, पुत्री और नपुंसक की उत्पत्ति, अनेक सन्तानो की एक साथ उत्पत्ति, प्रसव काल मे विलम्ब, युगल सन्तान मे एक की विशेष वृद्धि विषयक आठ प्रश्न। उनके समाधान,

द्विरेता, पवनेन्द्रिय, सस्कारवाही, नर षण्ढ, ईर्ष्याभिरत वातिकषण्ढ आदि की उत्पत्ति विषयक प्रश्न। उनके उत्तर, गर्भ स्थिति के लक्षण। गर्भ स्थित कन्या और बालक के लक्षण। माता पिता के सदृश सन्तान होने के कारण, विकृत, अधिकाग, हीनाग, विकलाग, सन्तति विषयक प्रश्न और आत्मा के शरीरान्तर-प्रवेश और उसके बन्ध-कारण विषयक प्रश्न। उनके उत्तर। सर्वरूप आत्मा का विश्वकर्मत्व। लिग शरीर। शरीरान्तरगामी सूक्ष्म शरीर, पूर्व कर्मानुरूप शरीर की रचना। रोगोत्पत्ति, रोगशान्ति, हर्ष, शोक, शरीर और मनोविकार के कारण विषयक छ प्रश्न। इनका समाधान। दैव और पौरुष का विवेचन। रोग किसको नहीं सताते। उपसहार।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ३९–५३)

खुड्डीकागर्भावक्रान्तिः—गर्भ मे जीव के आगमन सम्बन्ध मे क्षुद्र-शरीर का उपदेश। गर्भ की उत्पत्ति विषयक ऋषियों में परस्पर सवाद। इस विषय मे भगवान् आत्रेय पुनर्वसु का सिद्धान्त प्रतिपादन-पिता आदि से गर्भ की उत्पत्ति-आत्मा का जन्म सन्तानोत्पत्ति में माता पिता का अश-आत्मज गर्भ-सात्म्यज गर्भ और रसज गर्भ की व्याख्या। सत्त्वज गर्भ, स्पृक्-शरीर का वर्णन। त्रिविध सत्त्व, जातिस्मर। जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुनि भरद्वाज के प्रश्न। आत्रेय पुनर्वसु का समाधान। प्राणियों की चार प्रकार की योनि-अध्यात्मज्ञान।

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० ५३–६९)

महती-गर्भावक्रान्तिः—गर्भ की सज्ञा, विकार, परिणाम, गर्भ रचना का अनुक्रम, वृद्धि के कारण, जन्म, विनाश, विकृति आदि का वर्णन। पाँच महाभूत और छठे धातु आत्मा का वर्णन। गर्भाशय में गर्भ विकास का क्रम। मन-साधन वाले चेतना धातु के २९ पर्याय नामों का निरूपण। पाँचों धातुओं का क्रमिक प्रादुर्भाव। गर्भ का प्रथम रूप खेट। द्वितीय रूप, 'घन'। घन, पेशी अर्बुद आदि से पुमान्, स्त्री, नपुंसक आदि की उत्पत्ति। लोक-समित पुरुष का निदर्शन, पुरुष की प्रकृति और विकृति। गर्भस्थ जीव की चेष्टा और मनोविकार। दो हृदयों के लक्षण। गर्भ के ९ मासों मे गर्भिणी के शरीर की दशा आदि का वर्णन। गर्भ-वृद्धि के कारण। गर्भ विकृति के कारण स्त्री-व्यापत्। पुरुष व्यापत्। सत्त्व (मन) के शुद्ध, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार। शुद्ध सात्त्विक चित्तों के सात भेद—ब्राह्म, आर्ष, ऐन्द्र, याम्य, वारुण, कौबेर, गान्धर्व। राजस सत्त्व के ६ भेद—आसुर, राक्षस, पैशाच, सार्प, प्रेत, शाकुन। तामस सत्त्व के ३ भेद—पाशव, मात्स्य, वानस्पत्य। उपसहार।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० ६९–७८)

पुरुषविचयः—लोक सम्मित पुरुष का विस्तृत वर्णन। पुरुष का लक्षण।

लोक और पुरुष की समानता। सर्व लोकों में आत्म-बुद्धि और आत्मा में सर्वलोक-बुद्धि, मोक्षमार्ग पर प्रथम ज्ञानचरण। हेतु, जन्म, उपप्लव, वियोग, भग, उपरम प्रवृत्ति, विकृति, सत्य आदि का वर्णन। अग्निवेश का संसार में प्रवृत्ति के कारण और मोक्षरूप निवृत्ति के उपाय विषयक प्रश्न। भगवान् आत्रेय का उत्तर, मोक्ष और मुमुक्षुओं के उदय के साधनों का वर्णन, अध्यात्म-देह की लोक से तुलना। मुक्त का लक्षण। उपसंहार।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० ७८–९०)

शरीरविचयः—शरीर रचना विज्ञान की प्रशंसा, शरीर का लक्षण, धातु वैषम्य, वृद्धि ह्रास का कारण, औषध का उपयोग, औषध प्रयोग और स्वस्थ-वृत्त पालन का फल, धातुसाम्य। संक्षेप में स्वस्थवृत्त। धातु के ह्रास और वृद्धि के कारण। समान गुण वाले विजातीय पदार्थों से वृद्धि। सम्पूर्ण रूपों में शरीर-वृद्धिकारक भाव। आहार पचाने वाले पदार्थ। आहार परिपाक के परिणाम। शरीर के धातु, मल और प्रसाद–उनके गुण। गर्भ के सम्बन्ध में ११ प्रश्न। आत्रेय पुनर्वसु का समाधान, गर्भ की अंग-रचना विषय में सूत्रकार ऋषियों के मत–गर्भाशय में बालक की स्थिति-गर्भगत बालक का जीवन। नाभि, नाड़ी और अपरा का वर्णन–जीव का बाहर आना–प्रकृति इससे विपरीत विकृति–गर्भ की वृद्धि। गर्भ के रोग। काल-मृत्यु और अकाल-मृत्यु का विवेचन, काल और अकाल निर्णय। कलि में शतवर्ष आयु-परिमाण। उपसंहार।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० ९०-९७)

शरीरसंख्याशारीरम्—अवयवों की संख्या विषय में अग्निवेश का प्रश्न, आत्रेय का प्रतिवचन, शरीर की ६ त्वचाएं, शरीर के ६ अंग, तीन सौ साठ हड्डियां, इन्द्रियों के पांच आश्रय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय। चेतना का स्थान। प्राण के दस आयतन। कोष्ठ के १५ अंग। ५६ प्रत्यंग, ९ महान् छिद्र। परमाणु भेद से शरीर के असंख्य अवयव। उपसंहार।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० ९७-१३५)

जातिसूत्रीयम्—गुणवान् सन्तान उत्पादक कर्मों का उपदेश, रजस्वला के कर्त्तव्य। स्नानोपरान्त कर्त्तव्य। गर्भाधान काल में स्त्री की उचित स्थिति। गर्भाधान के अयोग्य स्त्री पुरुष। गर्भाधान के नियम। पुत्रेष्टि। यथेष्ट सन्तान प्राप्ति के उपाय। पुंसवन-विधि। गर्भ-स्थापन की विधियां। गर्भ-नाशक बातें, गर्भ-विकारक कारण। गर्भिणी के लिये उपचार। विशेष उपदेश। उपविष्टक-नागोदर के लक्षण। उनकी चिकित्सा। प्रसुप्त-गर्भ की चिकित्सा। गर्भिणी के उदावर्त्त की चिकित्सा। मृत गर्भ के लक्षण। मृत-गर्भ शल्य को बाहर करने की विधि। स्वस्थ गर्भ के पालनोपयोगी कर्मों का उपदेश। उस सम्बन्ध में ऋषियों के मत भेद। सूतिका

गार निर्माण। बहूपयोगी उचित वस्तुओं संग्रह। प्रसव-काल की प्रतीक्षा, सूतिकागार मे प्रवेश। प्रसव काल के लक्षण प्रसव काल मे उपदेश आसन्न प्रसवा के मत और निर्णय-गर्भ का नीचे उतारने के प्रकार। प्रवाहण का उपदेश। प्रसविनी के कर्ण मे जपने का मन्त्र। उसके प्रसव काल मे विशेष शिक्षाएं, प्रसविनी का उत्साह वर्धन। प्रसव के उपरान्त उपचार। अपरा-पातन। सद्योजात बालक के स्नान आदि कर्म। नाड़ी छेदन विधि। कारण का प्रकार, जात-कर्म संस्कार। माता को स्नेहपान, सूतिका स्त्री का स्वस्थवृत्त। प्रसूता स्त्री के प्रति विशेष उपचार। प्रसूता का दशम दिन स्नान और बालक का नामकरण। कुमार की परीक्षा। धात्री-परीक्षा। स्तन के उत्तम लक्षण। दूध के उत्तम लक्षण। दूषित दूध के लक्षण दूषित दूध वाली स्त्री के दूध के शोधनार्थ खानपान विधि। दूधवर्धक पदार्थ। धात्री की नियुक्ति। कुमारागार विधि। कुमार योग्य उचित वस्त्रादि। वस्त्रो के रोग नाशक धूम, बालक के आभूषण। बच्चो के खिलौने। शिशु को भय देने का निषेध। बालकोचित औषधोपचार। उपसंहार। इति शारीरस्थानम्॥

इन्द्रियस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १३६-१४२)

वर्णस्वरीयम्—रोगी के वर्ण, स्वर, गन्ध, रसादि परीक्षा। प्रकृति विकृति से पुरुष की परीक्षा। प्रकृति के छ प्रकार। तीन प्रकार की विकृति। वर्णाधिकार। स्वराधिकार। वैकृतिक स्वर, वर्ण संग्रह—मरणोन्मुख के लक्षण। उपसंहार।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० १४२-१४५)

पुष्पितकम्—गन्धाधिकार पुष्प की अरिष्ट से समानता। दो प्रकार के अरिष्ट-नियत और अनियत, पुष्पित अरिष्ट के लक्षण, रस-ज्ञान अरिष्ट।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० १४५-१४८)

परिमर्शनीयम्—स्पर्शारिष्ट, श्वासोच्छ्वास, चक्षु, केश, लोम, शिरा, नख, साम्यादि अंगुली आदि गत लक्षण।

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० १४९-१५२)

इन्द्रियानीकम्—इन्द्रिय गोचर अरिष्ट।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० १५३-१५९)

पूर्वरूपीयम्—असाध्य रोगो के भिन्न भिन्न पूर्व रूप—स्वप्न लक्षणारिष्ट स्वप्न के ७ भेद।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० १५९-१६३)

कतमानिशरीरीयम्—भावी व्याधि के आश्रय स्थानो के अरिष्ट लक्षण, अनपच, प्यास, हृदयवेदना, हिचकी,

रक्तातिसार, आनाह, तृष्णा, ज्वर, शोथ, कफ, मूत्र, पीडा, कोष्ठ, त्वग्रोग, हनुग्रह, मन्याग्रह, श्वास रोग, विकलता, मास, बल, आहार आदि की क्षीणता, रोग के विरोधी कारण आदि विषयक असाध्य अरिष्ट ।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० १६३–१६८)
पन्नरूपीयम्—छाया, प्रतिच्छाया रूप अरिष्ट, चक्षु से प्रतिबिम्बित छाया, चाँदनी, धूप, दीप,प्रकाश, जल, दर्पण की छाया, प्रतिबिम्ब, उसकी विकृति आदि अरिष्ट, आकृति की सम-विषमता, मध्य अल्प महान् परिमाण, प्रतिच्छाया, छाया, वर्ण, प्रभा आदि सुखदायक और कष्टदायकच्छाया, प्रभा के सात प्रकार–शरीर में वातजन्य असाध्य लक्षण ।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० १६८–१७२)
अवाक्-शिरसीयम्—पाँव ऊपर शिर नीचे किये छाया के लक्षण–शरीरगत अन्य असाध्य लक्षण–पलकों,आँखों, भौंहों के लक्षण–केश, नासिका, मुख, कान, दाँत, श्वास,हाथ,पाँव,घुटने,नख, निचला दाँत कटकटाना, हँसने, बकने, रोने, स्पर्श करने, वायु से राग द्वेषादि, निर्बलता, प्रस्वेद, बलनाश, हाथ आदि पटकने आदि के अनेक असाध्य लक्षण।

नवमोऽध्यायः (पृ० १७२–१७५)
श्यावनिमित्तीयम्—चक्षुका लाल काला होना, शिराओंका हरापन, लोमच्छिद्रों का बन्द होना,पसीना न आना, शरीरशोष,हिचकी,स्कन्धपीड़ा,अपस्मार, शोथ, उदररोग, ज्वर रोग, गुल्म, राजयक्ष्मा विरेचन, आध्मान, तृष्णा, मुखशोष, ऊर्ध्वश्वास, विकृतस्वर, सहसा रोगमुक्ति, चिरकाल चिकित्सा से भी लाभ न दीखना, थूक-वीर्यादि की जल परीक्षा, शंखक रोग, झागदार रक्त इत्यादि असाध्य, मरणोन्मुख के लक्षण।

दशमोऽध्यायः (पृ० १७५–१७८)
सद्योमरणीयम्—शीघ्र प्राण छोड़ने वाले के लक्षण-वाताष्ठीला – वातिक विकार, भ्रुकुटीस्खलन, मन्याओं आदि स्थानों में वायुकृत अनेक विकृतियाँ, परिकर्त्तिका, सञ्ज्ञानाश, दन्तपंक, अतिस्वेद-प्यास, दाह कूजन, अतिसारादि, असाध्य लक्षण ।

एकादशोऽध्यायः (पृ० १७८-१८२)
अणुज्योतीयम्—शरीर के तेज मन्द होने का अरिष्ट-मन्द जाठराग्नि, प्रदत्त बलि-अरुन्धतीदर्शन, सहसा धननाश आदि के अरिष्ट षण्मासन्त अरिष्ट, सद्योमरण अरिष्ट ।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० १८२–१८४)
गोमयचूर्णीयम्—शिर पर गोबर के चूर्ण की सी प्रतीति,पांव घिसकर चलना आदि मृत्यु लक्षण-लेप सूखना न सूखना-वैद्य का औषध तैयार न कर सकना-औषध की व्यर्थता आदि मृत्यु लक्षण । दूतारिष्ट । वैद्यगत-अरिष्ट । देशकालगत अरिष्ट । दूतगत अरिष्ट । अशुभ लक्षण । पूर्वापर लक्षण, मार्ग के औत्पातिक लक्षण, गृहप्रवेशकाल में गृहगत लक्षण,इन्द्रियस्थान का उपसंहार । वैद्य के कर्त्तव्य । शुभ लक्षण। उपसंहार। इति इन्द्रियस्थानम्।

चिकित्सितस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १९५-२४७)

अभयामलकीयो रसायनपादः प्रथमः—भेषज के पर्याय । अभेषज के दो प्रकार । रसायन का लक्षण । रसायन के कार्य-इन गुणों की प्राप्ति का कारण, वाजीकरण औषध । अभेषज का लक्षण । रसायन प्रयोग के दो प्रकार—कुटी प्रावेशिक विधि, सशोधन । हरड के गुण । हरीतकी सेवन के योग्य व्यक्ति । आवले के गुण, कर्म । ब्राह्म रसायन का द्वितीययोग । च्यवनप्राश, आमलक रसायन । हरीतक्यादि योग । हरीतक्यादि द्वितीय योग । उपसहार ।

प्राणकामीयो रसायनपादो द्वितीयः रसायन विधि के गुण, रसायन के साथ आहार विधि, आमलकावलेह । आमलक चूर्ण । विडगावलेह । आमलकावलेह । नागबला रसायन । भल्लातकक्षीर । भल्लातक तैल । भल्लातक विधान—भल्लातक प्राश—भल्लातक का विशेष गुण । उपसहार ।

करप्रचितीयो रसायनपादस्तृतीयः—आमलकायस ब्रह्म-रसायन । केवलामलक रसायन । लौहादिरसायन । ऐन्द्री-रसायन । मेधाकर वा मेध्य चार रसायन । पिप्पली रसायन । पिप्पली वर्धमान रसायन । गगाधर कविराज का मतभेद । त्रिफला रसायन के तीन योग । शिलाजतु । भावनाए । शिलाजतु के तीन प्रकार के प्रयोग । शिलाजतु की भिन्न २ गतिया, शिलाजतु के आलोडन द्रव्य ।

आयुर्वेदसमुत्थानीयो रसायनपादश्चतुर्थः—ऋषियो के प्रति इन्द्र का उपदेश । इन्द्रोक्त रसायन । द्रोणीप्रावेशिक रसायन—ब्रह्मसुवर्चला, आदित्यपर्णी, बल्वज, सोम, पद्मा, काष्ठ, गोधा, सर्पा, अजश्रृंगी इन आठ औषधियो का प्रयोग—इन्द्रोक्त रसायन दूसरा, आचार रसायन । अश्विनों के कार्य । अश्विनो की मान-प्रतिष्ठा—प्राणाचार्य के लक्षण । आयुर्वेद का उद्देश्य—उपसहार ।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० २४७-२७३)

संप्रयोगशरमूलीयो वाजीकरणपादः प्रथमः—सबसे प्रधान वाजीकरण स्त्री, स्त्री की श्रेष्ठता, अपत्य रहित पुरुष की निन्दा, बहु सन्तान पुरुष की उत्तमता, बृंहणी-गुटिका । वाजीकरण घृत । वाजीकरण पिण्डरस । वृष्यरस ।

आसिक्तक्षीरीयो वाजीकरणपादो द्वितीयः—षष्टिकादि गुटिका । वृष्य भक्ष्य । अपत्यकर स्वरस । वृष्य क्षीर । वृष्य घृत । दधिशर प्रयोग । षष्टिकौदन प्रयोग—वृष्य पूपलिका । उपसहार ।

माषपर्णभृतीयो वाजीकरणपादस्तृतीयः—माष के पत्तो पर पली गाय के दूध का प्रयोग, वृष्य क्षीर प्रयोग ।

अपत्यकर क्षीरयोग । अपत्यजनन क्षीर योग । वृष्य पायस योग । वृष्य पूपलिका । शतावरी घृत । वृष्य मधुक योग । उपसंहार ।

पुमान्-जातबलादिको वाजीकरणपादश्चतुर्थः—स्त्रियो मे रमण करने और सन्तानवान् होने का विस्तार से वर्णन, वृष्य बस्तियां । वृष्य मास गुडिका, वृष्य माहिषरस । पूपलिका योग । वृष्य घृतभृष्ट मत्स्यमास-गर्भाधानकर योग, पूपलिका योग । वृष्य पूपलिका योग, वृष्य माषादि पूपलिका । वृष्ययोग, अपत्यकर घृत, वृष्य गुटिका । वृष्य उत्कारिका, वृष्यका लक्षण, शुक्र के क्षय के कारण । शुक्र प्रवृत्त न होने की दशाए । शुक्र का मथे जाकर प्रवृत्त होने में आठ कारण, कवि गगाधरसेन का मत । कामेच्छा से शरीर में आने वाली विकृतिया । वीर्य का महत्त्व । प्रशस्त शुक्र । उपसहार ।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० २७३–३२८)

ज्वरचिकित्सितम्—अग्निवेश के ज्वरसम्बन्धी प्रश्न । गुरु आत्रेय पुनर्वसु कासमाधान, ज्वर की प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक रूप, ज्वर की उत्पत्ति । शिवकोप से ज्वर की उत्पत्ति । ज्वर का प्रभाव व लक्षण । जन्म मृत्यु के समय का महातम ज्वर । ज्वर का पूर्वरूप । ज्वर का अपना स्वरूप, विधि भेद से ज्वर के दो प्रकार, सौम्य, आग्नेय, वेगाभिप्राय से दो भेद प्राकृत, वैकृत-साध्यासाध्य भेद से दो प्रकार, दोष कालादि भेद से पाच प्रकार, रसादि धातुभेद से सात प्रकार, कारण भेद से ज्वर के आठ प्रकार । मानस ज्वर के लक्षण । अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण । बहिर्वेग ज्वर के लक्षण । प्राकृत ज्वर के साध्यासाध्य पर विचार । वैकृत ज्वर के साध्य साध्य पर विचार । क्षीण शोष सहित असाध्य ज्वर । सन्तत ज्वर की उत्पत्ति । तृतीयक और चतुर्थक ज्वर की उत्पत्ति । अन्येद्युष्क ज्वर की उत्पत्ति । दोषो की गति, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक के लक्षण, तृतीयक ज्वर के तीन प्रकार । चतुर्थक ज्वर के दो प्रकार । चतुर्थक का भेद विषम ज्वर । ज्वर के पाच प्रकार । ज्वर के होने मे ऋतु, दिन, रात्रि, मन के बलाबल की कारणता, चतुर्थकादि का तृतीयकादि में परिवर्त्तन । सातों धातुओं मे आश्रित ज्वर के लक्षण । वात पित्त ज्वर के लक्षण, वात कफ ज्वर के लक्षण, कफ पित्त ज्वर के लक्षण । सन्निपातज ज्वरों का वर्णन, उसके १२ प्रकार । सन्निपातज्वर के लक्षण, सुश्रुतोक्त अभिन्यास ज्वर के लक्षण । सन्निपातज साध्यासाध्यता, आगन्तु-ज्वर के चार प्रकार । अभिचार और अभिशाप द्वारा उत्पन्न ज्वर । कामजन्य ज्वर । शोकजन्य ज्वर । क्रोधजन्य ज्वर, भूताविष्ट ज्वर के लक्षण । ज्वर का रूप । आम ज्वर के लक्षण । पच्यमान ज्वर के लक्षण । निराम ज्वर । नवज्वर में अपथ्य । ज्वर मे लंघन । [लंघन के लक्षण और पहचान] दोषो के पाचन । षडङ्गपानीय । साम ज्वरो के उपचार ।

लंघन की मर्यादा । घृतपान आदि उप-चार । शिरोविरेचन । धूपन और अञ्जन प्रयोग । ज्वर-नाशक द्रव्यों के अनुपानादि का क्रम । हितकारी यूष, शाक, मांस रस मद्य आदि । ज्वरनाशक कषाय । बृहत्यादि गण । पिप्पल्यादि घृत । वासाद्य घृत । बलाद्य घृत । वमनके योग । विरेचन के योग । पञ्चमूल सिद्ध दूध । त्रिकण्टकाद्य दूध । वात-पित्त ज्वर नाशक योग । पटोलाद्य बस्ति । आरग्वधादि बस्ति । गुडूच्यादि-निरूह । जीवन्त्यादि अनुवासन । ज्वर नाशक कुछ योग । चन्दनाद्य तैल । दाहज्वर नाशक परिषेक-अवगाहन । दाहनाशक उपचार । शीत ज्वर मे अगरु आदि तैल । शीतज्वर नाशक तेरह प्रकार के स्वेद । शीत नाशक अन्य वस्त्र आदि उपचार, वायुजन्य ज्वर के लिये उपचार । निराम ज्वर वातिकज्वरमें पथ्य-अपथ्य, कफ प्रधान ज्वर में अल्पाशन विधि । साम ज्वरो मे लंघन । सन्निपात ज्वर । उसके २५भेद । वीसर्प आदि से उत्पन्न, ज्वर पर उपचार, जीर्ण ज्वर के पुन लौटने पर उपचार, तृतीयक-चतुर्थक ज्वर के उपचार । वात प्रधान, पित्त प्रधान और कफ प्रधान विषम ज्वर । विषम ज्वर नाशक योग । शाप, अभिचार तथा भूताभिषंग के कारण से हुए ज्वर की चिकित्सा, अभिघातजन्य ज्वरचिकित्सा । क्षत, व्रण और काम क्रोधजन्य ज्वर की चिकित्सा । नवज्वर और चिरकालिक ज्वरमोक्ष । ज्वर से मुक्त पुरुष के लक्षण । ज्वरयुक्त और ज्वरमुक्त के लिये पथ्य, अवशिष्ट ज्वरदोष की हानियां-उन दोषो का शोधन । उपसहार ।

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० ३२८-३४५)

रक्तपित्तचिकित्सितम्—रक्तपित्त के सम्बन्ध में अग्निवेश का निवेदन और आत्रेय पुनर्वसु का समाधान, पित्त के रक्त को दूषित करने का कारण । रक्त पित्त-नाम का कारण । कफ आदि दोषो के ससर्ग । रक्तपित्त की गति । रक्तपित्त का कारण । चिकित्सा विधि । रक्तपित्त में तर्पण । रक्तपित्ती का भोजन । रक्त-पित्त मे यवागू, पेया आदि । तृष्णोपशम । ऊर्ध्वगामी, अधोगामी रक्तपित्त के लिये वमन, विरेचन । सशमनी क्रिया के २२ योग । घृतपाक । रक्तपित्त नाशक अन्य उपचार । शतावरी घृत । अवपीडन । रक्तपित्त मे नस्य । रक्त-पित्त-शामक लेप-परिषेचन-अवगाहन, दाह-शान्ति के लिये धारागृह आदि अनेक उपचार । उपसंहार ।

पञ्चमोऽध्यायः (पृ० ३४६-३७४)

गुल्मचिकित्सितम्—कोष्ठ में वायु प्रकोप के ९ कारण । वातगुल्म आदि नाम से कहने योग्य पिण्डाकार पदार्थ । वातजन्य आदि पाच प्रकारों के गुल्मो के पाच स्थान । वातगुल्म के कारण वात-गुल्म के लक्षण पित्त गुल्म के कारण और लक्षण । कफगुल्म के कारण, लक्षण । द्विदोषजन्य गुल्म और लक्षण । सन्निपातजन्य गुल्म के लक्षण, रक्तगुल्म का निदान और लक्षण । गुल्मनाशक योग

वातगुल्म चिकित्सा। पैत्तिक गुल्मचिकित्सा। सन्मन योग। रक्तगुल्म लक्षण। अपक्व गुल्म के लक्षण। विदह्यमान गुल्म के लक्षण, पक्व गुल्म के लक्षण, गुल्म के दो प्रकार अन्तस्थ और बहिस्थ। वमन के योग। कफगुल्म मे घृत पान आदि। अरिष्ट प्रयोग के काल त्र्यूषणादि घृत। गुल्म षट्पल घृत। हिंगुसौवर्चलादि घृत। हपुषाद्य घृत। पिप्पल्ल्याद्यघृत। हिंग्वादि चूर्ण। हिंग्वादि गुडिका। शठ्यादि वटी। नागरादि योग। लशुनक्षीर। तैल पञ्चक। शिलाजतु प्रयोग। अन्य योग, स्वेद प्रयोग। गुल्मनाशक बस्तिक्रिया। गुल्मनाशक तैल। नीलिन्याद्य घृत। वातगुल्म मे पथ्य। रोहिण्याद्य घृत। त्रायमाणाद्य घृत। आमलकाद्य घृत। द्राक्षाद्य घृत। वासा घृत। कफगुल्म की चिकित्सा। दशमूली घृत। भल्लातकाद्य घृत। पञ्चकोल घृत। मिश्रक स्नेह। वातगुल्म और कफगुल्म मे विरेचन। दन्तिहरीतकी। अन्य योग। आहार। असाध्यता। रक्तगुल्म की चिकित्सा। पलाशक्षार यमक। गुल्मनाशक अनेक योग। वातगुल्म और कफगुल्म में संशमनचिकित्सा। उपसंहार।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० ३७५-३८६)

प्रमेहचिकित्सितम्—कफप्रमेह का निदान। सम्प्राप्ति। प्रमेह के बीस भेद। उनके तीन कारण समक्रिया, विषम क्रिया और महात्यय। दस प्रकार के कफजन्य प्रमेह। पित्तजन्य छ. प्रमेह। ४ प्रकार के वातिक प्रमेह। पूर्वरूप। प्रमेह रोगियों के दो प्रकार। उपचार। कफप्रमेह के दस योग। कफप्रमेह और पित्तप्रमेह मे पथ्य। त्रिकण्टकाद्य तैल, घृत और यमक। लोध्रासव। दन्त्यासव। भल्लातकासव। षडरापानीय विधि से साधित मद्य का योग। प्रमेहनाशक अनेक योग। साध्यासाध्य रूप उपसंहार।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० ३८६-४१५)

कुष्ठचिकित्सितम्—कुष्ठ के हेतु. सम्प्राप्ति। कुष्ठ का पूर्वरूप। १८ कुष्ठों के लक्षण। सात महाकुष्ठों के लक्षण उदुम्बर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक, सिध्मकुष्ठ, काकणक कुष्ठ। क्षुद्र कुष्ठ के ११ प्रकार। दोषों की प्रधानता। तीनों दोषों के लक्षण। साध्य असाध्य कुष्ठ। चिकित्सा। वमन योग। विरेचन द्रव्य। आस्थापन योग। नस्य। किलासनाश। वैरेचनिक योग। मण्डल कुष्ठों का उपचार। पटोलादि क्वाथ। मुस्तादि चूर्ण। त्रिफलादि चूर्ण, लेलीतक प्रयोग। पारद योग। हीरकादि योग। मध्वासव। कनकबिन्द्वरिष्ट। वात, कफ और पित्तजन्य कुष्ठों पर योग। पथ्यापथ्य। चित्रकादि लेप। मांस्यादि लेप। त्र्यूषादि लेप। सिद्धार्थक स्नान। आठ कषाय। त्रिफलादि कषाय, कुष्ठाद्य तैल। श्वेतकरवीराद्य तैल। श्वेतकरवीरपत्राद्य तैल। तिक्तेक्ष्वाकु तैल। कनकक्षीरी तैल। सिध्म लेप। विपादिकाहर घृत-तैल। मण्डल कुष्ठ-

हर लेप। ऐडगजादि लेप। सिद्ध कुष्ठहर लेप। कुष्ठ में स्नान पान, अनेक योग। अभ्यग। रक्त-पित्त प्रधान कुष्ठों मे अनेक घृत। त्रैफल योग। तिक्तषट्पल घृत। महातिक्तक घृत। महाखादिर घृत। कृमि-कुष्ठ पर अनेक लेप। श्वित्र चिकित्सा। पलाश क्षार, खदिरोदक पान। मन शिलादि लेप, त्रिक पर अनेक लेप। असाध्य रोग। किलास के तीन भेद। किलास के कारण। उपसहार।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० ४१५-४४२)

राजयक्ष्मचिकित्सितम्—यक्ष्मा की उत्पत्ति का उपाख्यान। यक्ष्मा के चार कारण। राजयक्ष्मा के लक्षण। शक्ति से अधिक कार्य करने से उत्पन्न क्षय। वेगोंके सधारण से उत्पन्न यक्ष्मा धातुक्षय से उत्पन्न यक्ष्मा। विषमाशन से उत्पन्न यक्ष्मा, राजयक्ष्मा का पूर्वरूप। यक्ष्मा के रूप और औषध। यक्ष्मा के ग्यारह रूप। राजयक्ष्मा का लक्षण-स्वर भेद आदि। प्रतिश्यायादि लक्षणों पर चिकित्सा। स्वेदन। प्रदेह। बस्ति, नलों का शिरावेध आदि। सशमनी क्रिया। संशमन चिकित्सा। यक्ष्म रोगी की मल स्रसन से मृत्यु। दशमूलाद्य घृत। कास, श्वासादि लक्षणों पर स्नेह और लेह। पञ्च पञ्चमूल घृत। चार लेह। सितोपलादि लेह-वासा घृत-शतावरी घृत। गोक्षुरादि घृत। जीवन्त्यादि घृत। बलादि क्षीर। अन्य उपयोगी योग। यवानी षाडव। तालीशाद्य चूर्ण। पथ्य, घृत-सेवन। दशमूलादि घृत। पञ्चकोलादि। रास्नादि घृत। सेवन विधि। उत्सादनयोग, स्नानीय जल। पथ्य खाद्य। अभ्यग। उपसहार।

नवमोऽध्यायः (पृ० ४४२-४६२)

उन्मादचिकित्सितम्—उन्माद के कारण और सामान्य लक्षण, सम्प्राप्ति-लक्षण। कारणभेद से उन्माद के दो भेद-निज और आगन्तुज। आगन्तुज के पाच प्रकार। वातजन्य उन्माद, लक्षण। पित्तजन्य उन्माद के पूर्वरूप और लक्षण-कफज उन्माद, पूर्वरूप और लक्षण। सन्निपातजन्य उन्माद-आगन्तुज उन्माद-लक्षण-ग्रहोन्माद के लक्षण देव, सिद्ध, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, ब्रह्मराक्षस, पिशाच आदि से उत्पन्न ग्रहोन्माद। उनके आगमन काल। असख्य ग्रहों मे मुख्य आठ ग्रह। निज आगन्तुज भेद से उन्माद के दो प्रकार। उपचार कल्याणक घृत। महाकल्याणक घृत। महापैशाचिक घृत। लशुनाद्य घृत। हिग्वादि पुरातन घृत योग। नस्य और अजन। उन्माद पर प्रायोगिक धूम। उन्माद पर अन्य उपचार, दैवव्यपाश्रय चिकित्सा, उपसहार।

दशमोऽध्यायः (पृ० ४६२-४७४)

अपस्मारचिकित्सितम्—अपस्मार का लक्षण, निदानपूर्वक सम्प्राप्ति। सामान्य लक्षण। अपस्मार के चार प्रकार। वातिक अपस्मार के लक्षण। पैत्तिक अपस्मार के लक्षण। कफजन्य अपस्मार के लक्षण। चिकित्सा। पञ्चगव्य घृत।

महापञ्चगव्य घृत, ब्राह्मी घृत। अपस्मार नाशक अनेक योग,अपस्मार नाशक नस्य। तीन योग अजन। धूपन। अतत्त्वाभिनिवेश नामक महारोग। चिकित्सा। उपसहार।

एकादशोऽध्यायः (पृ० ४७४–४८९)

क्षतक्षीणचिकित्सितम्–कारण और सम्प्राप्ति। लक्षण। चिकित्सा। अनेक योग। अमृतप्राश घृत। श्वदंष्ट्रादि घृत। सक्तु प्रयोग। सर्पिर्गुड के चार योग। सर्पिर्मोदक। सैन्धवादि चूर्ण। षाडव। उपसहार।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० ४८९–५१२)

श्वयथुचिकित्सितम्—कारण। दो भेद-निज और आगन्तुज। निज शोथ के भेद। सम्प्राप्ति, पूर्वरूप सामान्य लक्षण। पैत्तिक शोथ कफजन्य शोथ असाध्य शोथ। शोथ के उपद्रव। साध्य शोथ। आमजन्य शोथ की चिकित्सा। अपथ्य। चिकित्सा। अनेक योग। गण्डीराद्यरिष्ट। अष्टशतारिष्ट। पुनर्नवाद्यरिष्ट। फलत्रिकाद्यरिष्ट। क्षार गुडिका,गुडार्द्रक प्रयोग। शिलाजतु प्रयोग। कसहरीतकी। पटोलमूलाद्य घृत। चित्रकाद्य घृत, चित्रक घृत। जीवन्त्यादि यवागू। अन्य पथ्य, शाकशैलेयादि तैल, प्रदेह। पैत्तिक शोथ चिकित्सा। कफजन्य शोथ चिकित्सा। शोफ रोगी को उबटन। बिडालिका का लक्षण-तालु विद्रधि। उपजिह्विका, उपकुश। गलगण्ड-गण्डमाला चिकित्सा, ग्रन्थि। चिकित्सा—असाध्यग्रन्थि। बिदारिका-विस्फोटक-कक्षा। रोमान्तिका-मसूरिका-वृद्धिरोग। भगन्दर-चिकित्सा, श्लीपद–आलगर्दभ–चिकित्सा। उपसहार–आगन्तुज शोथ। उपसहार।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० ५१२–५४५)

उदरचिकित्सितम्—अग्निवेश का निवेदन-आत्रेय ऋषि का उपदेश। उदर रोग के सामान्य कारण। उदर रोग के पूर्व रूप। रूप। वातोदर के कारण और लक्षण। पित्तोदर के कारण-लक्षण। कफोदर के कारण-लक्षण। सन्निपातोदर के कारण और लक्षण। प्लीहोदर। यकृत्प्लीहोदर। बद्धगुदोदर लक्षण। छिद्रोदर-लक्षण। उदकोदर-लक्षण। असाध्य रोगी। वातोदर की चिकित्सा। पित्तोदर की चिकित्सा। कफोदर की चिकित्सा। अनेक योग। रोहितक घृत। बद्धगुदोदर की चिकित्सा, छिद्रोदर की चिकित्सा। उदकोदर की चिकित्सा। अपथ्य। उदर रोग पर तक्र का प्रयोग। दुग्धयोग लेप-परिषेचन, अवसेचन, अष्टमूत्र प्रयोग। दीपनीय घृत। पञ्चकोल घृत। नागराद्य घृत। चित्रक घृत। यवाद्य घृत। पटोलमूलादिचूर्ण। गवाक्ष्यादि चूर्ण। नारायण चूर्ण। हवुषाद्य चूर्ण, नीलिन्याद्य चूर्ण। अन्य अनेक योग। वर्धमान-पिप्पली विधि से हरड़ का सेवन। दूष्योदर (सन्निपातोदर) में दन्त्यादि तैल। वातोदर में सरलादि तैलाभ्यग। अरिष्टों के प्रयोग। उदकोदर पर अश्मकरीषादि क्षार योग। अन्य अनेक योग–उदर-

रोगों में शस्त्रचिकित्सा । उपसंहार ।

चतुर्दशोऽध्यायः (पृ० ५४६–५८८)

अर्शोश्चिकित्सितम्—प्रश्न और उपदेश । अर्श रूप । अर्शभेद । अर्श संज्ञा विवेक । सहज अर्श । लक्षण उत्पत्ति कारण । वातादिजन्य अर्शो की विशेषता । वातजन्य अर्श के कारण । पित्तजन्य अर्श के कारण—कफ प्रधान अर्शो के लक्षण । कारण । पूर्वरूप । असाध्यता । चिकित्सा । अर्श पर शस्त्र के अयुक्त प्रयोग से हानियां । लेप, स्वेद, शुष्क अर्शो की चिकित्सा । आठ प्रलेप, दूषित रक्त पर जलौका प्रयोग । पाचन योग । दश योग । तक्रारिष्ट । तक्र का सर्वोपरि प्रयोग । मांस रस का प्रयोग । तक्रों और यूषों का प्रयोग । अनेक योग । तीन घृत—चव्यघृत । नागराद्यघृत । पिप्पलाद्य घृत । मांस रस । शाक । अनुवासन । अनेक योग-अभयारिष्ट । दन्त्यरिष्ट । फलारिष्ट । शर्करासव । कनकारिष्ट । शुष्क अर्शों की सिद्ध फल-चिकित्सा । स्रावी अर्शो की सिद्ध-चिकित्सा । रक्तपित्तोल्बण स्रावी चिकित्सा-अन्ययोग कुटजादि रस क्रिया, अनेक योग और पथ्य अर्श के मस्सों का प्रतिसारण । पिच्छाबस्ति । ह्रीवेरादि घृत । सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृत । उपसंहार ।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृ० ५८९–६३२)

ग्रहणीचिकित्सितम्—जाठर अग्नि वा देहाग्नि की प्रधानता । देहाग्नि द्वारा आहार पाचन की चूल्हे पर रखी भात की हंडिया से तुलना । आहार से रस का बनना । उससे इन्द्रियों का तर्पण । भौम आदि पांच प्रकार की उष्माएं, उन द्वारा पांच प्रकार के गुणों का पाक, सात अग्नियों द्वारा सात देह धातुओं के दो प्रकार के पाक, किट्ट और प्रसाद । प्रसादज धातु, रस द्वारा धातुओं के पोषण में ४ प्रकार के न्यायों का वर्णन । उपधातुओं की उत्पत्ति । किट्ट का रूप । आहार रसों को धातुओं में बदलने का काल क्रम । धातु-परिवर्तन के सम्बन्ध में चक्रपाणि का मत-अवि सन्तान और खलकपोत का दृष्टान्त । आहार रस से रक्तादि बनने के सम्बन्ध में अग्निवेश का प्रश्न । आत्रेय का उत्तर । रस को फैलाने में विक्षेपक व्यान का कार्य, निरन्तर गतिशील रस के स्रोतों में रुक जाने से व्याधियों की उत्पत्ति । तीन प्रकार की अग्नियों में जाठराग्नि की मुख्यता । अजीर्ण के सामान्य कारण । सामान्य लक्षण । घोर अन्नविष की उत्पत्ति, उसके द्वारा अनेक रोगों की उत्पत्ति । विषमाग्नि के द्वारा धातु-वैषम्य और देह-शोष । समाग्निसे धातुसमता दुर्बलाग्नि द्वारा अन्न का विदग्ध होना, उसका गुदद्वार से विरेचन, ग्रहणी रोग का स्वरूप, ग्रहणी के लक्षण, ग्रहणी के पूर्वरूप, ग्रहणी का स्थान और निरुक्ति । ग्रहणी रोग के ४ प्रकार । वातजन्य ग्रहणी लक्षण । पैत्तिक ग्रहणी-लक्षण । कफजन्य ग्रहणी–लक्षण । ग्रहणी दोष । सन्निपातजन्य ग्रहणी । ग्रहणी चिकित्सा । आम दोष में चिकित्सा-दशमूलाद्य घृत । त्र्यूषणाद्य घृत । पञ्चमूलाद्य चूर्ण । अन्य

योग-साम और निराम मल की परीक्षा-अपवाद । चित्रकाद्य गुडिका-छ योग । वमन, अर्श, ग्रन्थि-शूल मे सिद्ध योग । आमयुक्त । शूल मे सिद्ध योग । अग्निवर्धक पिप्पल्याद्य-चूर्ण । मरिचाद्य चूर्ण । अन्य योग । पञ्च प्रकार यवागू । भोजनादि व्यवस्था । तक्र प्रयोग । तक्रारिष्ट, चन्दनाद्य घृत । तिक्त घृतो का प्रयोग । नागराद्य चूर्ण । भूनिम्बादि चूर्ण । किराताद्य चूर्ण । कफजन्य ग्रहणी मे वमन-पलाशादि योग । अग्निवृद्ध्यर्थ योग । मध्वासव । मधूकासव । दुरालभासव । मूलासव । पिण्डासव । मध्वरिष्ट । क्षार घृत । पिप्पल्यादि योग । तीन क्षार । क्षार गुडिका । वत्सकादि योग । अग्निवर्धक त्रिफलादि क्षार योग । त्रिदोषजन्य ग्रहणी मे पञ्च कर्म । कफ की प्रबलावस्था मे वमनादि विधि । मन्दाग्निवाले को दीपनीय औषधि साधित घृत पान । नाना प्रकार की महा अग्नियो पर अनेक उपचार । अग्निमान्द्य का कारण । भस्मक चिकित्सा । सम्प्राप्ति । उसके १८ उपचार । पथ्य । देश-काल विचार से भोजन विधि । उपसंहार ।

भार्गवपुस्तकालय, बनारस द्वारा प्रकाशित

चिकित्सा सम्बन्धी उपयोगी पुस्तकें

बृहद् बूटीप्रचार (दसवाँ संस्करण)

सम्पा०-पं० हरिनारायण शर्मा वैद्य आयुर्वेदाचार्य काव्यतीर्थ मूल्य २)

घरेलू सस्ती दवायें (दूसरा संस्करण)

ले०—आचार्य स्वामी विश्वनाथ शास्त्री विश्वेश राजवैद्य मूल्य ३)

निघण्टुकल्पद्रुम

पृष्ठ संख्या ६०० सैकड़ो चित्रयुक्त मूल्य ६)

शार्ङ्गधर संहिता भाषा-टीका (६ वाँ संस्करण)

टीकाकार—पं० रामेश्वर भट्ट वैद्य मूल्य ६)

माधवनिदान (संस्कृत टीका तथा भा० टी०)

सम्पा०-पं० हरिनारायण शर्मा वैद्य आयुर्वेदा० काव्यतीर्थ मू० ८), १०)

माधवनिदान

भाषा टीका विभूषित मूल्य ४) रुपया

(सैकड़ों चित्रयुक्त) जन्मनिरोध मूल्य ७) रुपया

(अर्थात् स्त्री के गर्भवती होने से बचने के उपाय)

बड़े-बड़े विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रशंसित

(चतुर्थ संस्करण) होमियोपैथिक चिकित्सा मूल्य ८)

डाक्टर एस० एस० मिश्रा एच० एम० बी०

(होमियोपैथिक सम्बन्धी अपूर्व चिकित्सा ग्रन्थ)

योगचिन्तामणि (भाषा टीका सहित)

टीकाकार—श्री पण्डित बुद्ध सीताराम शर्मा मूल्य ५॥)

सोंठ

लेखक—रमेशद्विवेदी आयुर्वेदालङ्कार मूल्य ॥।)

घरेलू चिकित्सा

तृतीय संस्करण] चाँद में प्रकाशित अपूर्व पुस्तकों का संग्रह मूल्य १)

पता—भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, (ब्राञ्च-कचौड़ीगली), बनारस

ओ३म्

चरकसंहिता

शारीरस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

अथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'कतिधापुरुषीय' नामक शारीर-स्थान की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ २ ॥

अग्निवेश उवाच—

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते ।
पुरुषः कारणं कस्मात्, प्रभवः पुरुषस्य कः ॥ ३ ॥
किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः ।
प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च ॥ ४ ॥

भगवान् आत्रेय से अग्निवेश पूछते हैं—हे धीमन् गुरो! धातुभेद से पुरुष का कितने प्रकार से भेद किया है। इस संसार में पुरुष को प्रधान कारण किस लिये कहा जाता है? पुरुष का उत्पत्ति कारण क्या है? यह पुरुष ज्ञान से रहित मूढ है या ज्ञानी है? यह पुरुष नित्य है या अनित्य? प्रकृति क्या वस्तु है? विकार कौन से हैं? पुरुष के लक्षण क्या हैं, (जिनसे इसका अनुमान होता है) ॥ ३-४ ॥

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम् ।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥ ५ ॥

आत्मा को जानने वाले ब्रह्मवादी आत्मा को क्रियाहीन, स्वतन्त्र, सब को वश में करने वाला, सर्वव्यापक, विभु (महान्) क्षेत्रज्ञ, और साक्षी कहते हैं ॥५॥

निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन्! विद्यते कथम् ।
स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते ॥ ६ ॥

वशी यद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते बलात् ।
सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ॥ ७ ॥
न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् ।
क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः ॥ ८ ॥
ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते ।
क्षेत्रं च यदि पूर्वं स्यात् क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः ॥ ९ ॥
साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते ।
स्यात्कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः ॥ १० ॥

हे भगवन् ! यदि आत्मा क्रियाहीन है तो उसकी क्रियायें किस प्रकार से होती हैं ? क्रियाहीन क्रिया नहीं कर सकता ! आत्मा यदि स्वतन्त्र है तो फिर वह दु:खकारक, अनिष्ट दु:खदायी योनियों में किस लिये उत्पन्न होता है ? यदि आत्मा वशी है, तो वह दुःखदायक पदार्थों से क्यों बलात् पीड़ित होता है ? आत्मा यदि सर्वत्र व्यापक है तो सब शरीरों की समस्त वेदनाओं को क्यों नहीं जानता ? आत्मा यदि आकाश के समान व्यापक और महान् है तो पर्वत या दीवार से छिपे पदार्थों को क्यों नहीं देखता ? आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' है। क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में पहिले कौन है, इसमें संशय है ? ज्ञेय क्षेत्र के बिना ज्ञाता क्षेत्रज्ञ हो ही नहीं सकता। और यदि पहिले क्षेत्र हो पीछे क्षेत्रज्ञ मानों तो क्षेत्रज्ञ अनित्य हो जाता है। आत्मा किसके कर्मों का साक्षी है ? [दूसरे के कर्मों को देखने वाला लोक में साक्षी कहा जाता है]। क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त कोई दूसरा कर्ता नहीं है । आत्मा यदि 'निर्विकार' है तो वेदना से उत्पन्न सुख-दु:ख आदि क्यों होते हैं ? ॥६-१०॥

अथ चाऽऽर्तस्य भगवंस्तिसृणां कां चिकित्सति ।
अतीतां वेदनां वैद्यो वर्तमानां भविष्यतीम् ॥ ११ ॥
भविष्यन्त्या असंप्राप्तिरतीताया अनागमः ।
सांप्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्तेः संशयो ह्यतः ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! वैद्य रोगी की अतीत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीन प्रकार की वेदनाओं में से किस वेदना (पीड़ा) की चिकित्सा करता है ? क्योंकि भविष्य में होने वाली वेदनायें (पीड़ाएं) अप्राप्त हैं, वे उपस्थित ही नहीं, उनकी चिकित्सा हो नहीं सकती। अतीत वेदनायें फिर नहीं आयेंगी, वे तो जा चुकीं । शेष वर्त्तमान काल की वेदनाओं की भी स्थिति नहीं है, क्योंकि वे अनित्य हैं। इसलिये संशय है ॥११-१२॥

कारणं वेदनानां किं किमधिष्ठानमुच्यते।
क चैता वेदना सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥ १३॥
सर्ववित्सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगनिःसृतः।
एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते॥ १४॥

वेदनाओं का क्या कारण है ? वेदनाओं का आश्रय क्या है ? ये सब वेदनाएं किस अवस्था में शान्त हो जाती है ? सर्वज्ञ, सर्वसन्यासी, सब प्रकार के सयोगों से मुक्त, प्रशान्त, भूतात्मा किन लक्षणों से जाना जाता है ? अग्निवेश के ये तेईस प्रश्न हैं ॥१३–१४॥

इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः।
सर्वं यथावत्प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः॥ १५॥
खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥ १६॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥ १७॥

बुद्धिमानों मे श्रेष्ठ, प्रशान्त चित्त वाले पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के इन प्रश्नों को सुनकर क्रम से सबका यथोचित उत्तर दिया—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और चेतना (मन सहित आत्मा) ये छः धातु 'पुरुष' शब्द से कहे जाते हैं, [1]एक अकेले प्रकृति आदि से पृथक् चेतना धातु को भी पुरुष शब्द से कहते है । [यह साख्य मत का पुरुष चिकित्सा का विषय नहीं है, चिकित्सा का विषय तो प्रथम प्रकार का पुरुष ही है] । फिर धातु भेद से चौबीस राशियों को भी 'पुरुष' शब्द से कहा है । मन, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय, पाच अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये १६, अव्यक्त, महान् अहकार और पचमहाभूत ये आठ प्रकृतिया हैं, इस प्रकार से चौबीस तत्त्व हैं[2] । [ये चौबीस तत्त्व अचेतन है और पुरुष चेतन[3] है । यही पुरुष भोक्ता है । लंगड़े और अन्धे के समान इनका सयोग होने से सृष्टि उत्पन्न होती है[4]] ॥१५–१७॥

---

१ यह वैशेषिक मत से कहा ।

२ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ सा० का ३ ॥

३ तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ॥ सा० का० २० ॥

४. पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ सांख्य का० २१ ॥

लक्षण मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव वा ।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते ॥ १८ ॥
[1]वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं, सानिध्यात्तच्च वर्तते ।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसःस्मृतौ ॥ १९ ॥
चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत्किंचिन्मनसा ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ २० ॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः ।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥
इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा ॥ २२ ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।
व्यवस्यति यया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

मन का लक्षण—ज्ञान का न होना और होना मन का लक्षण है, क्योंकि आत्मा और इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर भी मन का योग न होने से ज्ञान नहीं होता । मन का योग होने पर ही ज्ञान होता है । २ मन के दो गुण हैं (१) अणुत्व और (२) एकत्व ।

मन के विषय—चिन्त्य (नाना प्रकार के विषयों को सोचना, गुण या दोष से विचारना), तर्क (एकाग्र मन से सोचना), संकल्प, (कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निश्चय) इनके अतिरिक्त और भी जो सुख दुःख आदि मन से ग्राह्य हैं, ये सब मन के विषय कहे जाते हैं ।

मन के कर्म—इन्द्रियों का नियमन उनको अपने विषय में प्रवृत्त करना, इस मन को अहित वस्तुओं से रोकना, शास्त्र में कही बात पर युक्ति से विचार करना, विचार, ध्यान, संकल्प आदि ये सब मन के कार्य हैं, इसके आगे बुद्धि प्रवृत्त होती है ।

बुद्धि की उत्पत्ति—प्रथम मन से युक्त कान आदि इन्द्रियां, इन्द्रिय के विषयों का ग्रहण करती हैं । वे वस्तुमात्र को ही ग्रहण करती हैं । मन इन्द्रिय से गृहीत विषय का गुण या दोष रूप से विचार करता है । इन्द्रिय से ग्रहण

---

१ वैधृत्यात्—पा

२ मन का लक्षण—'अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते' । विश्वनाथकारिका । 'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः' ॥ न्याय० ३ । ४ । ६० ॥

किये और मन से विचारे हुए विषय मे जो निश्चयात्मक बुद्धि होती है, उसका नाम प्रत्यक्ष है। इस निश्चयात्मक बुद्धि से ही पुरुष वैसा कहने या करने का निश्चय करता है ॥ १८–२३ ॥

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।
पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २४ ॥
हस्तौ पादौ गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि वा ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव, पादौ गमनकर्मणि ॥ २५ ॥
पायूपस्थौ विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे ।
जिह्वा वागिन्द्रियं, वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥२६॥

इन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण ये पाच इन्द्रिया आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी इन पच महाभूतों से उत्पन्न होने पर भी इनमें एक एक भूत की अधिकता रहती है। यथा—श्रोत्र में आकाश की, त्वचा में वायुकी। इनमे जिस भूत की अधिकता होती है इन्द्रिय उसी की ओर दौड़ती है। इन इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने से इनका ज्ञान (अनुमान रूप) इनके कार्यों (श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन और घ्राण) से किया जाता है। इन इन्द्रियों मे बुद्धि अर्थात् ज्ञान प्रवृत्त होता है। कर्मेन्द्रिय—हाथ, पाव, गुदा, 'उपस्थ' और वाणी ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। इनमें पाव चलने के लिये, पायु (गुदा) और उपस्थ (लिंग) विसर्ग अर्थात् मल, मूत्र और शुक्र के त्यागने के लिये, हाथ ग्रहण और धारण करने के लिये, वाग्-इन्द्रिय (जिह्वा), बोलने के लिये है। वाणी दो प्रकार की है—सत्य और असत्य। इनमे सच्ची वाणी—ज्योति वा प्रकाश स्वरूप (दोनों लोकों को प्रकाशित करनेवाली) है और अनृत वाणी अन्धकारमयी है ॥२४–२६॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ २७ ॥
तेषामेकगुणः पूर्वो, गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ २८ ॥

महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाच महाभूत हैं। इन महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये क्रम से पाच गुण है। इन महाभूतों में प्रथम आकाश एकगुणवाला है, आगे उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि होती गई है। जैसे—वायु दो गुणों वाला (आकाश, वायु), अग्नि तीन गुणों वाला (आकाश, वायु, अग्नि,), आप (जल) चार गुणों

वाला (आकाश, वायु, अग्नि, जल) और पृथिवी पाच गुणों वाली है। इस प्रकार अगले भूत का गुण क्रम से दूसरे २ भूत में आता जाता है[1] ॥२८॥

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥
लक्षण सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥ ३० ॥

पञ्च महाभूतों के लक्षण—खरत्व, द्रवत्व, चलत्व, उष्णत्व और अप्रतिहनन ये पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के क्रमशः लक्षण समझने चाहिये। ये सब लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से ग्रहण करने योग्य है। इनमें आकाश का अप्रतिहनन (रोक न करना) भी स्पर्श के विपरीत अस्पर्श होने से ही त्वचा से ग्रहण करने योग्य है। [क्योंकि जो द्रव्य जिस इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, उस द्रव्य के अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है। इसलिये आकाश का अप्रतिघात गुण भी स्पर्शेन्द्रिय से ही ग्रहण करने योग्य है] ॥ २९-३० ॥

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ ३१ ॥

ग्राह्य-विषय—शरीर में गुणियों के गुण चिह्न रूप ही कहे हैं। इसलिये खरत्व आदि गुणों का लक्षण शब्द से ही कह दिया है। शब्द आदि पाच भूतों के गुण हैं, वे ही अर्थ हैं। इनको इन्द्रियगोचर या विषय अथवा गुण करके जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते ।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥ ३२ ॥

प्राणी की जो बुद्धि (ज्ञान) जिस इन्द्रिय की सहायता से उत्पन्न होती है, वह बुद्धि उसी इन्द्रिय से कही जाती है। जैसे आख से प्रवृत्त होने वाली बुद्धि चक्षुर्बुद्धि कही जाती है। इसी प्रकार मन से उत्पन्न होने वाली बुद्धि मनोभवा बुद्धि कहाती है ॥ ३२ ॥

भेदात्कार्येन्द्रियार्थानां बह्व्यो वै बुद्धयः स्मृताः ।
आत्मेन्द्रियमनोर्थानामेकैकसंनिकर्षजा ॥ ३३ ॥

---

१ आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। (सुश्रुतसूत्र ४२ अ०)

अंगुल्यंगुष्ठतलजस्तंत्रीवीणानखोद्भवः ।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥ ३४ ॥

कार्य, इन्द्रिय और विषयों के बहुत भेद होने से बुद्धिया भी बहुत प्रकार की हैं। इनमें एक एक बुद्धि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषय के साथ सयोग होने से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार शब्द मध्यमागुलि, अगुष्ठ, हथेली तन्त्री (तात), वीणा और नख के सयोग से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान भी आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है ॥ ३३–३४ ॥

बुद्धीन्द्रियमनोर्थाना विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ ३५ ॥

बुद्धि, इन्द्रिय, मन और विषय इन के संयोग को शरीर रूप से धारण करने वाला इनसे पृथक् 'अव्यक्त' आत्मा है। पाच महाभूत, पाच विषय, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहकार और महान् इन चौबीस तत्त्वों का राशि समूह को 'पुरुष' कहते है ॥ ३५ ॥

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते ॥ ३६ ॥

रज और तम से युक्त पुरुष का यह सयोग अन्त वाला नही होता, लगातार चलता ही रहता है। सत्त्व के प्रबल होने पर संसार बन्धन के कारणरूप रज और तम के हटने पर यह सयोग भी समाप्त हो जाता है। यही पुरुष का मोक्ष है ॥ ३६ ॥

अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्र मोहः सुखं दुःख जीवितं मरणं स्वता ॥ ३७ ॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ ।
पारम्पर्यं चिकित्सा च ज्ञातव्य यच्च किंचन ॥ ३८ ॥

पुरुष आत्मा—अदृष्ट (कर्म), कर्मफल, ज्ञान, अज्ञान, अनुकूल एवं प्रतिकूल वेदनायें, जन्म, मरण, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र आदि ममत्व ये सब बाते इसी राशिसंज्ञक शरीरपुरुष में प्रतिष्ठित हैं। जो पुरुष इन सब बातों को यथार्थ रूप से जानता है, वह प्रलय (प्रकृति का महत् आदि में लय) एव उदय (उत्पत्ति) इन दोनों को जानता है। वह वेदनाओं के पारम्पर्य सम्बन्ध और चिकित्सा को भी जानता है। इसके अतिरिक्त इस पुरुष में और भी जो कुछ जानने योग्य होता है वह उस सब को जानता है ॥३७–३८॥

भास्तम सत्यमनृत वेदाः कर्म शुभाशुभम् ।
न स्यात्कर्ता वेदिता च पुरुषो न भवेद्यदि ॥ ३९ ॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् ।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च ॥ ४० ॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात्पुरुषो न भवेद्यदि ।
कारण पुरुषस्तस्मात्कारणज्ञैरुदाहृतः ॥ ४१ ॥
न चेत्कारणमात्मा स्याद्भा[1]दयः स्युरहेतुकाः ।
न चैषु संभवेज्ज्ञान न च तैः स्यात्प्रयोजनम् ॥ ४२ ॥
कृत मृद्दण्डचक्रैश्च कुम्भकारादृते घटम् ।
कृत मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम् ॥ ४३ ॥
यो वदेत्स वदेद्देहं संभूय करणैः कृतम् ।
विना कर्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः ॥ ४४ ॥

आत्मा—यदि कर्ता, वेदिता (ज्ञाता) पुरुष न हो तो प्रकाश, अन्धकार सत्य, झूठ, स्वर्गादि के प्रतिपादक वेद, शुभाशुभ कर्म ये सब निष्प्रयोजन हो जाय। यदि कर्त्ता, बोद्धा पुरुष न हो तो धर्म और अधर्म का कोई आश्रय न रहे, धर्म और अधर्म निराश्रय हो जाए। सुख, दुःख, जाना, आना, सत्य वाणी, शास्त्रज्ञान, शास्त्र, जन्म, मरण, बन्ध और मोक्ष कुछ भी न रहे। क्योंकि पुरुष के लिये ही ये सब हैं। इसलिये कारण को जानने वालों ने पुरुष को कारण कहा है। यदि आत्मा कारण न हो तो दीप्ति आदि बिना कारण के हो जाय। पुरुष के न होने पर शरीर की सृष्टि बिना कारण की हो जाय। इतना ही नहीं, इन भूतों से बने शरीर में ज्ञान (चैतन्य) भी सभव नहीं। (क्योंकि भूतों में ज्ञान (चैतन्य) का अभाव है), ज्ञान और चेतना का कारण आत्मा है। आत्मा के न होने पर ये सब निष्प्रयोजन हो जाते हैं। जिस प्रकार कोई कहे कि 'बिना कुम्हार के मिट्टी, दण्डे और चक्र ने मिल कर घड़ा बना दिया, अथवा बिना घर बनाने वाले के मिट्टी तिनके और काष्ठ से घर बन गया, उसी प्रकार कर्ता रूप आत्मा के बिना ही कारणरूप पञ्चमहाभूतों ने मिल कर स्वयं इस शरीर को बनाया है, यह कहना अज्ञान से पूर्ण और युक्ति आदि प्रमाण से रहित है ॥४४॥

कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते ।
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्यः आगमेभ्य प्रमीयते ॥ ४५ ॥

[1] खादय.—यो०

कारण रूप पुरुष सब प्रमाणों से सिद्ध है। जिन सब प्रमाणों से प्रमेय जाना जाता है, उन सब प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि) से पुरुष कारण है, यही ज्ञान होता है ॥ ४५ ॥

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः ॥ ४६ ॥
भावस्तेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः।
कर्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद् व्यवस्थिताः ॥ ४७ ॥

नास्तिक मत—जो शरीर में जल आदि पदार्थ दिखाई देते हैं। वे वे नहीं हैं। परन्तु परम्परा से उत्पन्न वे उनके सदृश वा भिन्न ही पदार्थ हैं। समान रूप होने से नये से नये भी वे ही हे, ऐसे कहे जाते हैं। उनका समुदाय जिसका कोई स्वामी नहीं है, 'सत्त्व' कहाता है, पुरुष कोई कर्ता और भोक्ता नहीं है, ऐसा कई मानते हैं। इसी प्रकार जो भाव बाल्यावस्था में होते हैं वे यौवनावस्था मे नहीं रहते। अन्य भाव पूर्व के समान होते हैं, परम्परा से उत्पन्न होने के कारण उनके समान होते है। इस प्रकार से नये से नये भाव समान रूप और सादृश्य होने से वे ही (पूर्वके ही) कहे जाते हैं। बाल्यावस्था के देवदत्त युवावस्था में भी रहता है। इन भावों का समुदाय (पूर्वापर सन्तान) आत्मारहित सत्त्व--सज्ञक, प्राणी होता है। इनके मत में कर्ता, कर्मो का भोक्ता, देह से अतिरिक्त पुरुष नही है। ऐसा कोई देह को ही आत्मा मानने वाले नास्तिक मानते हैं ॥ ४६--४७॥

तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवा फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥ ४८ ॥

नास्तिक मत में दोष—जो लोग शरीर से पृथक् आत्मा की स्थिति नहीं मानते उनके मत में अन्य 'भावों' (पदार्थों) द्वारा किये शुभाशुभ कर्मों के फल उनके समान नये नये अन्य 'भाव' भोगते हैं। जो कर्म करते हैं उन को किये कर्म का फल भोगना नहीं पड़ता ॥ ४८ ॥

करणान्यान्यता दृष्टा कर्तुं कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ ४९ ॥

करने वाले कर्ता के करण भी अनेक देखे जाते हैं। परन्तु करने वाला वह अकेला होता है। इसी प्रकार यह कर्ता इन्द्रिय आदि अनेक उपकरणों से युक्त होकर दर्शन आदि नाना कर्म करता है। इसलिये देह से भिन्न आत्मा सब कर्मों का कारण है ॥४९॥

निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां न [1]पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥ ५० ॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥ ५१ ॥

जितने समय में आंख की पलक झपकती है वह 'निमेष काल' कहाता है। इस निमेष काल से भी अधिक शीघ्रता से भाव बदल रहे हैं, नाश हो रहे हैं। नाश हुए पदार्थों का पुनः सद्भाव नहीं होता और एक के किये कर्म का फल दूसरा नहीं भोगता, अपितु जिसने किया होता है वही भोगता है। यही सब तत्त्वज्ञानियों का सिद्धान्त है। इसलिये प्राणियों के किये हुए कर्म का फल भोगने वाला देह से अतिरिक्त नित्य 'पुरुष' नामक चेतन आत्मा है॥५०–५१॥

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः ।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा ॥ ५२ ॥

आत्मा के देह से पृथक् होने पर ही अहंकार-भाव (मैंने यह किया, मैं यह जानता हूँ), फल को उद्देश्य रख कर काम करना, किये कर्म का फल भोगना, एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, स्मृति अर्थात् स्मरण (बाल्यावस्था का यौवनावस्था में स्मरण), ये सब बातें होती हैं ॥ ५२ ॥

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।
पुरुषो राशिसञ्ज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ ५३ ॥

परमात्मा का कोई उत्पत्ति कारण नहीं है, क्योंकि वह अनादि है। परन्तु राशि-संज्ञक पुरुष को भोगों के आयतन (आश्रय) रूप शरीर का मोह, इच्छा, राग और द्वेष ये तीन[2] उत्पन्न करते हैं ॥ ५३ ॥

आत्मा ज्ञः, करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ ५४ ॥

---

१ 'भग्नानां च पुनर्भावः' इति पाठान्तरम्। अर्थात् टूटे हाथ पात्र आदि भी पुनः बन जाते हैं, यह भी आत्मा की सत्ता का प्रमाण है।

२ तीनों दोषों के तीन पक्ष हैं। यथा—(१) रागपक्ष—काम, मत्सर, स्पृहा तृष्णा और लोभ। (२) द्वेषपक्ष—क्रोध, ईर्षा, असूया, द्रोह, अमर्ष। (३) मोहपक्ष—मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा, मान और प्रमाद। वात्स्यायन (न्या० ४। १ ३)

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः। न्याय। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥

पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे सङ्क्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ ५५ ॥

आत्मा ज्ञानी है । करण—मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ इनके सयोग से इस आत्मा को ज्ञान होता है । करण अर्थात् साधनों के निर्मल न होने वा इनके सयोग न होने से ज्ञान नही होता । जिस प्रकार आख से देखने पर भी मलिन दर्पण मे मुख दिखाई नहीं देता और जिस प्रकार मलिन जल में प्रतिबिम्ब नही दीखता, उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रिय और चित्त रूप साधनों के विकृत या दुष्ट होने पर भी ज्ञान नही होता ॥ ५४–५५ ॥

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च ।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥ ५६ ॥
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम् ।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥ ५७ ॥

मन बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिया करण हैं । करने वाले आत्मा के सयोग से कर्म होता है । करने वाले के सयोग से ही बुद्धि और वेदना भी उत्पन्न होती है । अकेला भूतात्मा बिना करणो के प्रवृत्त नही हो सकता और न फल का उपभोग कर सकता है । किन्तु शरीर, सत्त्व, (मन) इन्द्रिय इनके सयोग से ही सब कुछ होता है । सयोग के बिना कुछ नही होता ॥५६–५७॥

न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ।
शीघ्रगत्वात्स्वभावात्त्वभावो न व्यातवर्तते ॥ ५८ ॥

कारण रूप भाव अकेला कार्य-उत्पत्ति में प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु सयोग होने पर ही प्रवृत्त होता है । भाव एक रूप वाले नहीं हैं । क्योंकि परिणामी हैं, बिना हेतु के भी नही हैं, वे भाव शीघ्रगामी स्वभाव को नहीं छोड़ते । जैसा पहिले सूत्रस्थान अ० १६ में कहा है कि—'प्रवृत्तिर्हेतुर्भावाना न निरोधेऽस्ति-कारणम् ।' इति ॥ ५८ ॥

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥ ५९ ॥
तदेव भावादग्राह्यं नित्यत्वं न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥ ६० ॥

अनादि पुरुष (आत्मा) नित्य है । मोह, इच्छा, द्वेष आदि निमित्त से उत्पन्न 'राशि' सज्ञक पुरुष इस से विपरीत अर्थात् अनित्य है । जो सत् और अकारणवान् अर्थात् कारण से रहित है वह नित्य है, तथा जो कारणजन्य है

वह अनित्य है। [1]कोई वस्तु उत्पत्ति कारण वाली होने से नित्य नहीं हो सकती। जो वस्तु कारणजन्य है, वह वस्तु किसी भी प्रकार से नित्य नहीं हो सकती। क्योंकि उसकी उत्पत्ति हुई है। कारणवान् होने से अनित्य है। इसलिये यह नित्य-अव्यक्त है, ग्रहण न होने से अव्यक्त है, अचिन्त्य है। इससे विपरीत व्यक्त और अनित्य है ॥ ५९-६० ॥

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः।
तस्माद्यदन्यत्तद् व्यक्तं, वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥ ६१ ॥
व्यक्तं चैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः।
अतोऽन्यत्पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ६२ ॥

आत्मा को अव्यक्त शब्द से कहा जाता है। इसी आत्मा को क्षेत्रज्ञ, शाश्वत, विभु और अव्यय कहते हैं। आत्मा से पृथक् जो कुछ है वह सब व्यक्त है। अन्य प्रकार से भी व्यक्त-अव्यक्त कहे जाते हैं। जो ऐन्द्रियक अर्थात् इन्द्रियों से उपलब्ध होता है वह सब व्यक्त है। जो इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता वह अतीन्द्रिय और अव्यक्त है। लक्षणों से इस अव्यक्त का अनुमान होता है ॥६२॥

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा—

पांच सूक्ष्म भूत, पंच तन्मात्रा (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी), बुद्धि और महान् (अव्यक्त) ये सात अव्यक्त मूल प्रकृति तथा अहंकार यह आठ मूल-प्रकृति कही हैं ॥

विकाराश्चैव षोडश ॥ ६३ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सञ्ज्ञिताः ॥ ६४ ॥

इनके सोलह विकार हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन के साथ पांच अर्थ (विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये १६ विकार कहे हैं ॥ ६३-६४ ॥

इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्।

इन चौबीस तत्त्वों में अव्यक्त (मिलित प्रकृति और पुरुष) को छोड़ कर शेष तेईस तत्त्वों को क्षेत्र (शरीर) कहा जाता है।

अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ ६५ ॥

ऋषि लोग अव्यक्त को इस क्षेत्र का जानने वाला 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ॥६५॥

---

१ "सदकारणवन्नित्यम्" वै० द० ४।१।१।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद्बुद्ध्याऽहमिति मन्यते ।
परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥ ६७ ॥

अव्यक्त (मूल प्रकृति से मिले हुए पुरुष) से बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धि से 'मैं' ऐसा अभिमान करता है। अर्थात् बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् अहंकार से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पाच सूक्ष्म भूत (तन्मात्रा) उत्पन्न होते है[1]। इन पच तन्मात्राओं से पच महाभूत, इन भूतों से इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं। इन पाच भूतों से सम्पूर्ण अगों वाला पुरुष अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था मे उत्पन्न होता है। अब इसको उत्पन्न हो गया वा 'अभ्युदित' ऐसा कहते है और फिर यह पुरुष प्रलय में (शरीरारम्भक भूतों के कारण में लय होने पर) बुद्धि आदि इष्ट भावों (कार्य पदार्थों) से पृथक् हो जाता है, यही मृत्यु है। अव्यक्त कारण से व्यक्त होना 'जन्म' कहाता है। व्यक्त का कारण में लीन होना 'मृत्यु' है ॥६६-६७॥

अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते ॥ ६८ ॥

पुरुष रज और तम के कारणों से बधा हुआ अव्यक्त (कारण) से व्यक्त रूप में आता है, यही 'जन्म' है। व्यक्त अवस्था से फिर अव्यक्त अवस्था (कारण) में लीन हो जाता है। यही 'मरण' है। वह फिर व्यक्त होता है। फिर अव्यक्त होता है, इस प्रकार चक्र के भाति जब तक मोक्ष नहीं होता, घूमता रहता है[2] ॥ ६८ ॥

येषां द्वन्द्वे पराऽऽसक्तिरहङ्कारपराश्च ये ।
उदयप्रलयौ तेषां, न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥ ६९ ॥

जिन पुरुषों की रज और तम के जोड़े मे अत्यन्त आसक्ति है और जो 'मै और यह मेरा है' ऐसा मिथ्या अभिमान रखते है, उनका ही उदय और प्रलय अर्थात् जन्म और मरण होता हे, और जो रज और तम से पृथक् और निरहकार हैं उनका जन्म और मरण नहीं होता ॥ ६९ ॥

---

१ तन्मात्रा का अर्थ अकेला वही तत्त्व, उसमें और किसी भूत का ससर्ग नहीं—जैसे—शब्दतन्मात्र, रूपतन्मात्र आदि।

२ अव्यक्तादीनि भूतानि, व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ गीता० अ० २।२८

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥ ७० ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥ ७१ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥ ७२ ॥
यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥ ७३ ॥

पुरुष के लक्षण—शरीर से अतिरिक्त आत्मा के लक्षण प्राण (शरीर में श्वास लेना) और अपान (श्वास पुनः छोड़ना) अर्थात् वायु की ऊर्ध्व और अधोगति होना, उन्मेष-निमेष, जीवन, शरीर की वृद्धि, क्षत और भग्न का संरोहण कार्य, मन का अभिमत विषय में गमन, एक इन्द्रिय को छोड़ कर दूसरी इन्द्रिय में मन का जाना, इन्द्रियों को विषय में प्रवृत्त करना, देह को धारण करना, स्वप्नावस्था में देशान्तर में जाना, मृत्यु का ज्ञान कर लेना, दायें आंख से देखे पदार्थ का बायें आंख से ग्रहण करना, इच्छा (स्वार्थ या परार्थ को प्राप्त करने की चाह), द्वेष (अनिष्ट पदार्थ को त्यागने की इच्छा), सुख (आत्मा के अनुकूल वेदनीय), दुःख (प्रतिकूल वेदनीय), प्रयत्न, उत्साह, चेतना, धृति (धैर्य), बुद्धि (ज्ञान), स्मृति और अहंकार ये परम अर्थात् सर्वोपरि आत्मा के लक्षण हैं। [1]ये प्राण आदि समस्त लक्षण जीवित पुरुष में ही उपलब्ध होते हैं, मृत पुरुष में आत्मा के ये चिह्न नहीं मिलते, इसलिये महर्षियों ने प्राण, अपान आदि सब को आत्मा का लक्षण कहा है ॥७०-७३॥

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ ७४ ॥

इस चेतन आत्मा के शरीर से चले जाने पर शरीर शून्य घर की भांति चेतना से रहित हो जाता है। इस शरीर में केवल पांच भूत ही शेष रह जाते हैं, इस लिए शरीर को पञ्चत्व को प्राप्त हुआ कहते हैं ॥ ७४ ॥

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ ७५ ॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ ७६ ॥

---

१ प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। वैशेषिक० ३। २। ४।

मन अचेतन और क्रियावान् है। शरीर को चेतन करने वाला आत्मा चेतन मन से भी पर अर्थात् मुख्य है। क्रियाशील मन के साथ इस विभु आत्मा का योग होने पर आत्मा की ही वे सब क्रिया कही जाती हैं। क्योंकि आत्मा चेतनावान् है, इसी लिये वह कर्ता कहा जाता है। मन क्रियावान् होने पर भी अचेतन है, इसलिये कर्ता नहीं कहा जाता ॥ ७५-७६ ॥

यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं नयते सर्वयोनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः ॥ ७७ ॥
वशी तत्कुरुते कर्म यत्कृत्वा फलमश्नुते।
वशी चेत समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति ॥ ७८ ॥

आत्मा सब प्राणियों, नर, पशु आदि योनियों मे अपने आप अपने को ले जाता है और अपने आप अपने को प्राणों से युक्त करता है। इस आत्मा का कोई दूसरा सचालक नही है। वह स्वय वशी (सब को परवश करने वाला) आत्मा उस कर्म को करता है जिसे करके वह फल भोगता है। वह वशी आत्मा ही चित्त को लगाता है और वह वशी ही सब कुछ त्याग देता है। [अर्थात् वही फलार्थी होकर कर्म करता है और चाहे तो कभी फलाकाक्षा को त्याग भी सकता है] ॥७७-७८॥

देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे स्वे सस्पर्शनेन्द्रिये।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः ॥ ७९ ॥

आत्मा सब मे व्याप्त होकर भी देहवान् बनकर केवल अपनी स्पर्शनेन्द्रिय से युक्त देह मे रहता है। इसलिये अन्य सब शरीरों की वेदनाओं को नहीं जानता ७९

विभुत्वमत एवास्य यस्मात्सर्वगतो महान्।
मनसश्च समाधानात्पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥ ८० ॥

आत्मा सब मे व्याप्त और महा परिमाण है, अत 'विभु' है। मन को एकाग्र कर, समाधि के बल से भित्ति आदि से छिपे पदार्थों को भी देख लेता है।८०।

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना।
सर्वयोनिगत विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ ८१ ॥

शरीर और कर्मों का अनुसरण करने वाले मन के साथ आत्मा का नित्य सम्बन्ध है। वह एक योनि में स्थित होने पर भी उसे मन के द्वारा सब योनियों मे व्याप्त समझना चाहिये ॥ ८१ ॥

आदिर्नास्त्यात्मन क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्।
अतस्तयोरनादित्वात्किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ ८२ ॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा का आदि नहीं है। क्षेत्र अर्थात् शरीर की परम्परा (एक छूटने पर दूसरा प्राप्त होना) भी अनादि है। आत्मा का शरीर के साथ प्रथम सम्बन्ध कब हुआ इस को कोई नहीं जानता। इसलिये दोनों के अनादि होने से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में कौन पहिले था यह नहीं कहा जा सकता ॥ ८२ ॥

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा यतः स्मृतः ।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥ ८३ ॥

ज्ञानवान् चेतन ही साक्षी कहा जाता है, अज्ञानवान् पाषाण आदि को साक्षी नहीं कहते। इसलिये आत्मा ही साक्षी है। आकाश आदि (अव्यक्त) सब भूतों के सब ग्राह्य धर्म आत्मा को ही साक्षात् होते हैं ॥ ८३ ॥

नैकः कदाचिद् भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते ।
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥ ८४ ॥
संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः ।
वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः ॥ ८५ ॥

अकेला, केवल शरीर से भिन्न आत्मा कभी भी लक्षणों से उपलब्ध नहीं होता। इसलिये लक्षणों से जिसकी उपलब्धि न हो सके ऐसे आत्मा में वेदनाकृत कोई विशेष धर्म नहीं है। वेदनाजन्य विशेष धर्म संयोगजन्य पुरुष अर्थात् राशिसंज्ञक पाचभौतिक शरीर-पुरुष में ही होते हैं। क्योंकि सुख दुःख रूप वेदनाएं जहां रहती है वहीं पर इन वेदनाओं से होने वाले विशेष धर्म भी रहते हैं ॥ ८४—८५ ॥

चिकित्सति भिषक्सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।
यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम् ॥ ८६ ॥
पुनस्तच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः ।
पुनः स कासो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता ॥ ८७ ॥
एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम् ।
कालश्चायमतीतानामार्तीनां पुनरागतः ॥ ८८ ॥
तमर्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत्प्रयुज्यते ।
अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते ॥ ८९ ॥
आपस्ताः पुनरायाता याभिः शस्यं पुरा हृतम् ।
यथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाऽऽश्रये ॥ ९० ॥
पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम् ।
'या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम् ॥ ९१ ॥
पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते ।
सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते ॥ ९२ ॥

वैद्य जिस युक्ति से अतीत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालो के रोगों की चिकित्सा करता है वह युक्ति सुनो। वही शिर का दर्द फिर आ गया, वही ज्वर फिर हो गया, वह खासी फिर जोर पकड़ गई, वह वमन फिर होने लगा, इन लोक प्रसिद्ध वचनों मे अतीत वेदना का पुनः आना सिद्ध है। अतीत अर्थात् लुप्त हुए, रोगों का समय फिर आ गया। इस रोग के समय को लक्ष्य मे रख कर जो औषध दी जाती है, वह अतीत वेदनाओं की शान्ति के लिये है ऐसा कहा जाता है। जैसे—जिस पानी की बाढ़ से धान का पहले नाश हुआ है, वह फिर आ जाती है। वह बाढ़ न आये, अतः उसको रोकने के लिये बाध बांधा जाता है, उसी प्रकार शरीर में वेदना नाशक प्रतिकर्म अर्थात् चिकित्सा की जाती है। शरीर मे उत्पन्न होने वाले रोगों के पूर्वरूप को देख कर इनको शान्त करने के लिये जो कर्म किया जाता है, वह भविष्य के रोगों को नाश करता है। इससे एक के पीछे आने वाला अन्य रोग छूट जाता है, सुख के कारण का उपाय करने से सुख भी हो जाता है ॥ ८९-९२ ॥

न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च।
हेतुभिः सदृशा नित्य जायन्ते देहधातव॰ ॥ ९३ ॥
युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्।
हन्तीत्युक्त्वा चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम् ॥ ९४ ॥

जो धातु समानावस्था में हैं, वे विषम नही बनते और जो विषम हैं, वे स्वय समान नही होते। शरीर के धातु सदा हेतु के समान हो जाते हैं। हेतु के विषम होने से विषम और हेतु के सम होने से सम हो जाते हैं। इस युक्ति से वैद्य अतीत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों की वेदनाओं का नाश करता है। उपधारहित अर्थात् दोषरहित चिकित्सा ही दुःख का सम्पूर्ण रूप से नाश करने वाली है[१] ॥ ९३-९४ ॥

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः ॥ ९५ ॥
कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः ॥ ९६ ॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥ ९७ ॥

---

१ उपधा—'भावदोष उपधा। अदोषोऽनुपधा।' वै० द० । १ । ४ । अश्रद्धामदमानासूयाप्रभृतिर्मानसदोष उपधा ॥

उपधा—भावदोष ही दुःख और दुःख के आश्रय भूत शरीर का मूल कारण है। सब प्रकार की उपधा का परित्याग करना सब प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के नाश का कारण है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा आप ही सूत्रों को उत्पन्न करके स्वयं उन घातक सूत्रों में बंध जाता है, इसी प्रकार मूढ़, आतुर व्यक्ति विषयजन्य तृष्णा में फंस जाता है। इसलिये मूढ़ मनुष्य सदा दुःखी रहता है और जो ज्ञानी अग्नि के समान दुःखदायी विषयों को जान कर इन से हट जाता है, तृष्णा नहीं रखता, कर्म नहीं करता, वह वीतराग होने से शरीर, इन्द्रिय का संयोग न होने से दुःख नहीं भोगता। जन्म न होने से दुःख नहीं होता[१] ॥ ९५–९७ ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः संप्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥ ९८ ॥

दुःख के कारण—धी, धृति, स्मृति (ये प्रज्ञा के भेद हैं) इनका विभ्रंश होना 'प्रज्ञापराध' है। काल अर्थात् परिणाम-काल और पूर्व कृत, कर्म और दैव शब्द से कहे जाने वाले कर्म और असात्म्य-इन्द्रियार्थ संयोग ये दुःखों के कारण हैं। कर्मजन्य रोगों का प्रज्ञापराध में ही अन्तर्भाव करना चाहिये ॥ ९८ ॥

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः, समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥ ९९ ॥

नित्य और अनित्य, हित और अहित में सम के विपरीत जो विषम अर्थात् यथावत् ज्ञान का अभाव है, उसे 'बुद्धि का विभ्रंश' समझना चाहिये। क्योंकि बुद्धि नित्य अनित्य, हित और अहित को सम (यथार्थ) रूप में देखती है ॥९९॥

विषयप्रवणं चित्तं[२] धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिर्हि नियमात्मिका ॥ १०० ॥

धृति मन का नियन्त्रण करती है। विषय की ओर जाते हुए मन का नियन्त्रण न करना 'धृतिभ्रंश' है। धृतिभ्रंश हो जाने से विषय की ओर लगा हुआ चित्त अहित विषय से रोका नहीं जा सकता ॥ १०० ॥

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः ।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः, स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥ १०१ ॥

स्मृतिभ्रंश—जिस पुरुष की स्मृति रज और तम से ढकी रहती है, अतः वह पुरुष तत्त्वज्ञान का स्मरण नहीं कर सकता, इसको 'स्मृतिभ्रंश'

---

१ 'वीतरागजन्मादर्शनात् ।" न्याय० ३ । १ । २५ ।

२ 'सत्त्वं' इति पाठान्तरम् ।

कहते हैं। क्योंकि स्मृति में स्थित वस्तु का स्मरण होना ही चाहिये, उसका स्मरण न होना ही 'स्मृतिभ्रंश' है ॥ १०१ ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् ।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ १०२ ॥

प्रज्ञापराध—बुद्धि, धृति और स्मृति से भ्रष्ट हुआ पुरुष जो अशुभ, अहित कर्म करता है, वह सब शारीरिक एवं मानसिक दोषों को कुपित करने वाला 'प्रज्ञापराध' कहा जाता है ॥१०२॥

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः ।
सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥ १०३ ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम् ॥ १०४ ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥ १०५ ॥
अकालादेशसंचारो मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥ १०६ ॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च ॥ १०७ ॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥ १०८ ॥

गमनशील मूत्र पूरीष के अनुपस्थित वेगों को बलात् निकालना, उपस्थित मल मूत्रादि के वेगों को रोकना, साहसिक कार्यों का करना, स्त्रियों का अति सेवन, चिकित्साकाल का अतिक्रमण, मन आदि कार्यों का मिथ्या-आरम्भ, विनय और आचार का लोप, पूज्य जनों का तिरस्कार, जाने हुए अहितकारी पदार्थों का सेवन, उन्माद रोग में कहे कारणों का सेवन करना, निषिद्ध समयों और निषिद्ध स्थानों में जाना, पतित आचार वाले मनुष्यों के साथ मैत्री करना, 'इन्द्रियोपक्रमणीय' (सू० ८) अध्याय में कहे सद्वृत्त का पालन न करना, ईर्ष्या, मान, भय, क्रोध, लोभ, मोह, मद और भ्रम इन मानस दोषों का वा इन से उत्पन्न निन्दित कर्मों को करना, शरीर को दुःख देने वाले कर्म का करना, इनके अतिरिक्त और जो भी इस प्रकार रज और मोह से उत्पन्न कर्म होते हैं उन सब रोग कारक कारणों को शिष्ट मनुष्य 'प्रज्ञापराध' ही कहते हैं ॥ १०८ ॥

बुद्धया विषमविज्ञानं विषम च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥ १०९ ॥

बुद्धि से विषम (सम के विपरीत, अयथार्थ) जानना, विषम रूप मे प्रवृत्ति करना, यह प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध मानस दोष है ॥ १०९ ॥

निर्दिष्टा कालसंप्राप्तिर्व्याधीना हेतुसंग्रहे ।
चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीना यथा पुरा ॥ ११० ॥

रोगों के हेतु रूप से काल को (कियन्त शिरसीय अध्याय सूत्र० १७ में) कह चुके है। वही पर पित्तादि का चय, प्रकोप एव प्रशमन भी काल के कारण कह दिया है ॥११०॥

मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः ।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या ॥ १११ ॥
पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये ।
तेषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ॥ ११२ ॥

कालज रोग—वर्षा के अन्त वा शरद् से प्रारम्भ होने वाली छः ऋतुए मिथ्या, हीन और अति लक्षणों वाला होती हैं। मिथ्या लक्षण जैसे ग्रीष्म ऋतु में शीत होना। हीनलिङ्ग जैसे—गरमी में गरमी का कम होना। अतिलिङ्ग जैसे—ग्रीष्म मे गरमी का अधिक होना इत्यादि। जो भुक्त, जीर्ण और प्रजीर्ण काल में, जो पूर्वाह्ण, मध्याह्न एव अपराह्ण मे, और जो रोग रात्रि के पूर्व प्रहर, मध्यम प्रहर और अपर प्रहर में होते है वे सब रोग कालजन्य हैं। इन सब में काल कारण होता है। [अन्न के खाने पर, पूर्वाह्ण में और प्रदोष में श्लेष्मा प्रकुपित होता है। अन्न की पच्यमान अवस्था में, मध्याह्न में और रात्रि के मध्य प्रहर मे पित्त और अन्न के जीर्ण होने पर, अपराह्ण मे और तीसरे याम मे वायु कुपित होता है। इन समयों में इन्हीं दोषों के रोग होते हैं] ॥ १११–११२ ॥

अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ ।
स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले ह्येषा बलागमः ॥ ११३ ॥
एते चान्ये च ये केचित्कालजा विविधा गदाः ।
अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता ॥ ११४ ॥

प्रतिदिन होने वाला, 'द्व्यहग्राही' दिन में दो बार होने वाला, 'तृतीयक' एक दिन छोड़ कर तीसरे दिन आने वाला, 'चतुर्थक' बीच में दो दिन छोड़ कर होने वाला (ज्वर) अपने अपने समय में होते हैं, यही इनके बल का

समय होता है। ये अथवा जो यहां पर कालजन्य रोग नहीं कहे, इन सब रोगों में निदान आदि जन्य काल को जान कर बल और काल के आने से पूर्व ही चिकित्सा करनी चाहिये। ज्वर चढ़ने के समय से पूर्व ही चिकित्सा करनी उचित है॥ ११३-११४॥

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजा।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः, स्वभावो निष्प्रतिक्रियः॥ ११५॥

काल परिणाम से बुढ़ापा, मृत्यु, मरणरूपी स्वाभाविक रोग होते हैं। इनकी कोई चिकित्सा नहीं, क्योंकि स्वभाव का कोई उपाय नहीं है॥ ११५॥

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदेहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥ ११६॥
न हि कर्म महत्किंचित्फलं यस्य न भुज्यते।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः, प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्॥ ११७॥

पूर्व शरीर में किये कर्म को 'दैव' शब्द से कहा जाता है। यह कर्म भी काल वश से रोगों का कारण होता है। ऐसा कोई भी छोटा या बड़ा कर्म नहीं है, जिसका कि फल नहीं भोगना पड़ता। सब कर्मों का फल भोगना ही होता है। कर्मजन्य रोगो मे चिकित्सा सफल नहीं होती। ये रोग चिकित्सा क्रिया को नष्ट करने वाले हैं। वे रोगो के कारण रूप कर्मों के क्षय होने पर ही शान्त हो जाते है॥ ११५-११७॥

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात्सर्वशो न च।
शब्दानां चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः॥ ११८॥
परुषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकैः।
शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यायोग स उच्यते॥ ११९॥
असंस्पर्शोऽतिमस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च।
स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियबाधकः॥ १२०॥
यो भूतविषवातानामकालेनागतश्च यः।
स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते॥ १२१॥
रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यति हि दर्शनात्।
दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात्॥ १२२॥
द्विष्टभैरवबीभत्सदूरातिश्लिष्टदर्शनात्।
तामसानां च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते॥ १२३॥
अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत्।

रसानां विषमादानमल्पादानं च दूषणम् ॥ १२४ ॥
अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम् ।
असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम् ॥ १२५ ॥
पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्तवाः ।
तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२६ ॥

अति उग्र शब्दों का सुनना यह शब्द का अतियोग है, शब्द का बिल्कुल न सुनना या बहुत धीमे शब्दों को सुनना हीनयोग और कठोर, भीषण, अशुभ, अप्रिय, विपत्तिसूचक शब्दों का सुनना मिथ्यायोग है। स्पृश्य वस्तुओं का बिल्कुल स्पर्श न करना असस्पर्श, थोड़ा स्पर्श करना हीनसस्पर्श, अधिक स्पर्श करना अतिसस्पर्श, निन्दित द्रव्य विष आदि का स्पर्श वा बिना क्रम से उष्ण, शीत स्पर्श करना, स्पर्शक्रिया का मिथ्यायोग है। यह स्पर्शन इन्द्रियों के नाशक हैं।

चमकीले पदार्थों को देखने से दृष्टि नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार अतिसूक्ष्म पदार्थों को देखने वा रूप को बिल्कुल न देखना भी अयोग है। इससे भी दृष्टि नष्ट हो जाती है। अप्रीतिकर, भयंकर, घृणाजनक, दूर के, वा मिले पदार्थों और तामस रूपों को देखना यह रूपों का मिथ्यायोग है। रसों का अति सेवन अतियोग, सर्वथा सेवन न करना या थोड़ा सेवन करना 'अयोग' ओकसात्म्य आदि से विषम (राशि दोष को छोड़ कर शेष आहार विधि में कहे विशेष अपथ्यों को) सेवन करना मिथ्यायोग है। अति मृदु या अल्प गन्ध वाले पदार्थों का सेवन अयोग, अति तीक्ष्ण पदार्थों को सूघना अतियोग, घ्राणेन्द्रिय के नाशक पूति (दुर्गंध) आदि गन्धों का तथा जो ऋतु काल के गन्ध नहीं है, उन गन्धों का सूघना मिथ्यायोग है ॥११८-१२६॥

इत्यसात्म्येन्द्रियसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपनः ।
असात्म्यमिति तद्विद्याद्यन्न याति सहात्मताम् ॥ १२७ ॥

जो आत्मा के अनुकूल नहीं होता उसे 'असात्म्य' जाने। यह असात्म्य तीन प्रकार का है। और अर्थों का आत्मा के साथ संयोग तीन प्रकार का है। अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। इन से दोष कुपित होते हैं ॥ १२७ ॥

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते ।
शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥ १२८ ॥

शब्द आदि इन्द्रियों से ग्राह्य विषयों के मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग से जो व्याधि उत्पन्न होती है, उनको विद्वान् 'ऐन्द्रियक' (इन्द्रियों से उत्पन्न

हुआ रोग) कहते हैं । [रस को छोड़ कर सब असात्म्य विषय अपनी २ इन्द्रिय के रोग उत्पन्न करते हैं । रस सम्पूर्ण शरीर में रोग उत्पन्न करता है, यह ध्यान रखना चाहिये] ॥ १२८ ॥

वेदनानामसात्म्यानामित्येते हेतवः स्मृताः ।
सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोग सुदुर्लभः ॥ १२९ ॥

यह विषयों का (काल और बुद्धि का भी) अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग शारीरिक एव मानसिक दोनों प्रकार के रोगों के तीन प्रकार के कारण हैं। असात्म्य दु.खों का कारण है । इन विषयों का (काल और बुद्धि का भी) समान योग अकेला ही सुख सज्ञक आरोग्य का कारण है । ऐसा समयोग दुर्लभ है ॥ १२९ ॥

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः ।
हेतुस्तु सुखदु खस्य योगो दृष्टश्चतुर्विध ॥ १३० ॥

न तो इन्द्रिया और न इनके विषय ही सुख दु ख का कारण हैं । जो योग सुख दु ख का कारण होता है वह चार प्रकार का है । इनमें समयोग सुख का कारण है, अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग दु ख के कारण है ॥ १३० ॥

सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक् ।
न सुख, कारण तस्माद्योग एव चतुर्विध. ॥ १३१ ॥

क्योंकि इन्द्रिया भी हैं और विषय भी हैं । यदि योग चार प्रकार न हो तो न दु.ख हो और न सुख हो । इसलिये अन्वय-व्यतिरेक से यह चार प्रकार का योग ही सुख-दु ख का कारण है ॥ १३१ ॥

नात्मेन्द्रियमनोबुद्धिगोचर कर्म वा विना ।
सुखदु खं यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते ॥ १३२ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, बुद्धि और मन के विना, इन्द्रियों के विषयों के विना, अदृष्ट के विना न सुख और न दु ख होता है । आत्मा आदि के होने पर जिस प्रकार से सुख दु ख होते हैं, उनको उसी प्रकार बतलाते है । [आत्मा मे उपशय (अनुकूलता) होने से सुख और आत्मा में अनुपशय (प्रतिकूलता) होने से दु:ख होता है । अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग ये अनुपशय के कारण हैं और समयोग उपशय का कारण है] ॥ १३२ ॥

स्पर्शनेन्द्रियसस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ १३३ ॥

स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का सम्बन्ध और मानस स्पर्श यह दो प्रकार का स्पर्श सुख दुःख वेदनाओं का प्रवर्त्तक है। [त्वचा और मन का संयोग होने से ही ज्ञान होता है। त्वचा सब इन्द्रियों में व्याप्त है। मन का त्वचा के साथ सम्बन्ध होने से मन भी सब इन्द्रियो से सम्बन्धित हो जाता है। इस प्रकार मन अणु होने पर भी जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध करता है उसी इन्द्रिय का ज्ञान हो जाता है] ॥ १३३ ॥

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥ १३४ ॥
उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् ।
स्पृश्यते नानुपादाने नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥ १३५ ॥

सुख दुःख मे इच्छा और द्वेष रूप तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा ही सुख दुःख में प्रवृत्ति करके जन्म का कारण होती है। क्योंकि यही तृष्णा वेदनाओं के आश्रय स्थान (मन, देह और इन्द्रियों) को उत्पन्न करती है। वेदनाओं के आश्रयों की उत्पत्ति न होने से स्पर्शेन्द्रिय और मन का स्पर्श नहीं होता। स्पर्शेन्द्रिय और मन का स्पर्श न होने से वेदना भी नहीं होती ॥१३५॥

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ १३६ ॥

सुख दुःख आदि वेदनाओं का आश्रय सत्त्व संज्ञक मन, इन्द्रियों सहित चेतना और जीवित शरीर है। इनमे केश (शिर के बाल), लोम (शरीर के बाल) नखों के अग्र भाग, अन्न के मल, द्रव और गुण जैसे—शब्द, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श इन को छोड़ कर शेष इन्द्रियों सहित शरीर वेदनाओं का आश्रय स्थान है ॥१३६॥

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥ १३७ ॥
आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्त्तते ।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥ १३८ ॥
निवर्त्तन्ते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥ १३९ ॥

योग और मोक्ष (परम मुक्ति) में सब प्रकार की वेदनाओं की समाप्ति हो जाती है। मोक्ष मे वेदनाओं की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, योग में ऐसा नहीं होता। योग मोक्ष का प्रवर्त्तक (साधन) है। [योग में मनुष्य

जीवन्मुक्त दशा में रहता है, मोक्ष में परम मुक्ति हो जाती है]। आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ, और मन के सन्निकर्ष से सुख दुःख उत्पन्न होते हैं और जब विषयों से हट कर मन आत्मा में स्थिर हो जाता है, तब कर्मों का आरम्भ न होने से सुख-दुख समाप्त हो जाते हैं और वशित्व उत्पन्न हो जाता है, यही योग का फल है। ❀ योग को जानने वाले ऋषि शरीर युक्त इस दुख-निवृत्ति रूप स्थिति को योग कहते हैं ॥ १३७–१३९॥

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ १४० ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते ॥ १४१ ॥

योगियों का आठ प्रकार का ऐश्वर्य—आवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), चित्त का ज्ञान अर्थात् (दूसरे के चित्त को जानना), विषयों का इच्छानुसार करना, इच्छानुसार दर्शन, श्रवण, अतीन्द्रिय और दूर के भी पदार्थों को देखना, शब्दों को सुनना, इच्छानुसार स्मरण (पूर्वजन्म का भी स्मरण), इच्छानुसार रूप बनाना और इच्छानुसार अदृश्य हो जाना यह योगियों का आठ प्रकार का योगजन्य बल है। यह सब शुद्ध सत्त्व, रज और तम से रहित मन को विषयों से हटा कर आत्मा में लगाने से उत्पन्न होता है ॥ १४०–१४१ ॥

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भाव उच्यते ॥ १४२ ॥

रज और तम दो मानस दोष हैं। इनके निवृत्त होने पर और अवश्य भोक्तव्य कर्मों के (फल भोग द्वारा) क्षय होने से कर्मबन्धनों से मुक्ति अर्थात् मोक्ष हो जाता है। मोक्ष होने पर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना होता, इसी को 'अपुनर्भव' कहते हैं ॥१४२॥

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्।
व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥ १४३ ॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥ १४४ ॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः।

❀ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥ वै० द० ५। २। १६ ॥

नैष्कर्म्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम् ॥ १४५ ॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते ॥ १४६ ॥

मोक्ष के उपाय—सज्जनों की सेवा, दुर्जनों का त्याग, ब्रह्मचर्य्य, उपवास, नाना प्रकार के नियम, धर्म शास्त्रों का अभ्यास, आत्मा आदि का जानना, निर्जन स्थान में रति, विषयों में अनासक्ति, मोक्ष मे प्रयत्न करना, धैर्य, कार्यों के फल की इच्छा से न करना, किये हुए कर्मों का फल भोग करके क्षय करना गृहस्थाश्रम से निकलना, सन्यास ग्रहण करना, अहङ्कार का परित्याग, शरीरादि संयोग में अथवा मनुष्यों के सम्पर्क में आने से भय मानना, मन और बुद्धि का समाधान, वस्तुओं की तत्त्व रूप से परीक्षा करना, यह सब तत्त्वज्ञान योग के उपस्थित होने से होता है ॥ १४३–१४६ ॥

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपलभ्यते ।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते ॥ १४७ ॥

स्मृति—तत्त्वस्मृति सज्जन पुरुषों के संसर्ग से लेकर धैर्य तक कहे हुए लक्षणों से उपलब्ध हो जाता है, तब पुरुष आत्मा आदि भावों के स्वरूप का स्मरण करके तत्त्व को जानता हुआ दुःखों से छूट जाता है ॥ १४७ ॥

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।
निमित्तरूपग्रहणात्सादृश्यात्सविपर्ययात् ॥ १४८ ॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात्पुनः श्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात्स्मृतिरुच्यते ॥ १४९ ॥

स्मृति की उत्पत्ति के आठ कारण—जिन कारणों से यह स्मृति उत्पन्न होती है उन ८ कारणों का उपदेश करते हैं। जैसे—(१) निमित्त—कारण से इनका ग्रहण, जैसे धूम को देख कर अग्नि का रूप दर्शन से (२) वातिक लक्षणों से वातिक रोग का स्मरण होता है। (३) सादृश्य से जैसे देवदत्त के समान चित्र को देख कर देवदत्त का स्मरण होता है (४) सादृश्य-विपर्य्यय अर्थात् असादृश्य से, अत्यन्त विरुद्ध वस्तु के दर्शन से दूसरे का स्मरण होता है जैसे दुःख से पूर्व अनुभूत सुख का स्मरण होता है । (५) सत्त्व (मन) के प्रणिधान अर्थात् मनोयोग करने से । (६) अभ्यास से । (७) तत्त्वज्ञान से । (८) फिर सुनने से भूली बात फिर स्मरण हो जाती है। पूर्व दृष्ट, पूर्व श्रुत और पूर्व अनुभूत पदार्थों के स्मरण को 'स्मृति' कहते हैं ॥ १४८–१४९ ॥

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम् ।
तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः ॥ १५० ॥

मुक्त पुरुषों ने इस तत्त्वस्मृति के बल को मोक्ष का एक ऐसा श्रेष्ठ मार्ग बताया है जिस मार्ग से गये हुए पुरुष फिर यहां पर वापिस नहीं आते ॥१५०॥

अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः ।
संख्यातधर्मैः साख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम् ॥ १५१ ॥

योगी पुरुष इस तत्त्वस्मृति के बल को ही योग का मार्ग कहते हैं और सत्यज्ञानी और मुक्त पुरुष इस स्मृतिबल को भी मोक्ष का एक मार्ग कहते हैं ॥ १५१ ॥

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च ।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥ १५२ ॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यथा ।
नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥ १५३ ॥

कारणवान् अर्थात् उत्पन्न होने वाला सम्पूर्ण वस्तुएं बुद्धि, अहंकार आदि आत्मा से भिन्न दुःख रूप हैं, वे दुःख उत्पन्न करता हैं और कारणवान् होने से अनित्य है। आत्मा कारण रहित और नित्य है। जो वस्तु कारणवाली होती है, उसमें ममता उत्पन्न होती है। अनात्मा में आत्मबुद्धि 'यह मेरा शरीर, मैं गोरा हू, मोटा हू' इस प्रकार का मिथ्याज्ञान तब तक रहता है, जब तक सत्यबुद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं होता। सत्यबुद्धि उत्पन्न होने पर 'मेरा यह शरीर नहीं, मैं गोरा नहीं' यह ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान के होने पर ज्ञानी जन्म, कर्म आदि सब बन्धनों का अतिक्रमण कर जाता है। तभी सब वेदनाओं (पीड़ाओं) की अत्यन्त निवृत्ति होती है ॥ १५२–१५३ ॥

तस्मिंश्चरमसन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः ।
असंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ १५४ ॥

इस अन्तिम सन्यास अवस्था में सब कर्मों के परित्याग करने पर मिथ्या ज्ञान रूपी कारणों से उत्पन्न सब वेदनायें, ज्ञेय के भली प्रकार से जान लेने से सम्पूर्ण रूप में निवृत्त हो जाती हैं ॥ १५४ ॥

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते ।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥ १५५ ॥

इसके अनन्तर विदेह मोक्ष को प्राप्त करने के पीछे भूतात्मा (जीव) सब भावों से निकल कर ब्रह्म रूप हो जाने से कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, वह

सब पदार्थों से पृथक् हो जाता है, तब इसके प्राण अपान आदि लक्षण नहीं रहते, इसलिये वे उपलब्ध नहीं होते * ॥ १५५ ॥

गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम् ।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति ॥ १५६ ॥

ब्रह्म का जानने वालों की ब्रह्म ही गति है। वह ब्रह्म 'अक्षर' कभी नाश न होने वाला और लक्षण से रहित है, ब्रह्मविद् ही ब्रह्म को जानता है, अज्ञ, मूर्ख पुरुष इस ब्रह्म को नहीं जान सकता ॥ १५६ ॥

तत्र श्लोकः—प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः ।
कतिधापुरुषीयेऽस्मिन्निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ १५७ ॥

इस 'कतिधापुरुषीय' शारीर में तत्त्वदर्शी भगवान् आत्रेय ने पुरुष को उपलक्ष्य करके तेईस उत्तम प्रश्नों का निर्णय कर दिया है ॥ १५७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने कतिधापुरुषीय शारीर नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पूर्व अध्याय में धातु-भेद से पुरुष का वर्णन किया है। अब गर्भ की उत्पत्ति को बताने के लिये 'अतुल्य गोत्रीय' नामक शारीर का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहोविसृष्टं मिथुनीकृतस्य ।
किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवं च षड्भ्यो यत्स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥३॥

स्त्री के गोत्र से भिन्न गोत्रवाले पुरुष का स्त्री के रजोधर्म हो चुकने के पश्चात् स्त्री के साथ एकान्त स्थान में सम्भोग करते हुए, स्त्री की योनि में त्याग और किया वह क्या पदार्थ है जो चतुष्पाद अर्थात् चार पाद अर्थात् गुणोंवाला छः तत्त्वों से उत्पन्न होता है और जो स्त्रियों के शरीरों में गर्भ रूप हो जाता है ॥३॥

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय ।
वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत् तत्, षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य ॥४॥

उत्तर—गर्भ की उत्पत्ति के लिये पुरुष जिस पदार्थ का स्त्री योनि में

---

* ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

आधान करता है, बुद्धिमान् पुरुष इस वस्तु को 'शुक्र' कहते हैं। यह शुक्र उत्तम वायु, अग्नि, पृथ्वी और जल इन चार भूतो के गुणों से युक्त होता है। ये ही चार इसके चार [1]पाद हैं। यह शुक्र मधुर आदि छः रसों वाले आहार-रस से उत्पन्न होता है। [मधुर को शुक्रजनक और अम्ल रस को शुक्रविघातक कहा है उसका तात्पर्य अधिक उपयोग करने से है। वैसे छहों रसों से उत्पन्न वीर्य ही विशुद्ध शुक्र होता है] ॥ ४ ॥

संपूर्णदेहः समये सुखं च गर्भः कथं केन च जायते स्त्री।
गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजाऽपि भूत्वाऽथवा नश्यति केन गर्भः ॥५॥

प्रश्न—(१) गर्भ किस प्रकार से सम्पूर्ण शरीर वाला होता और (२) किस प्रकार से और किस कारण से ठीक समय पर उत्पन्न होता है? (३) किस प्रकार से गर्भ उत्पन्न होता और सुख से उत्पन्न होता है? (४) स्त्री वन्ध्या न होते हुए भी किस कारण से देर में गर्भ धारण करती है? (५) और गर्भ रह कर फिर किस कारण से नष्ट होना सम्भव है ॥ ५ ॥

शुक्रासृगात्माशयकालसंपद् यस्योपचारश्च हितैस्तथाऽर्थैः।
गर्भश्च काले च सुखी सुखं च संजायते संपरिपूर्णदेहः ॥ ६ ॥

उत्तर—जिस गर्भ के बनने में शुक्र, आर्त्तव, आत्मा, गर्भाशय और काल ये गर्भकारक भाव (पदार्थ) उत्तम गुणवाले अविकृत हों और जिसका पालन पोषण भी उत्तम हितकारक अन्नों वा पदार्थो द्वारा हो [2] वह गर्भ सम्पूर्ण शरीर वाला होकर सुखी, सब प्रकार के रोगों से मुक्त और ठीक समय पर उत्पन्न होता है। [पुरुष के शुक्र और माता के रज तथा गर्भाशय का उष्ण होना यह उत्तम गुण है, शुक्र और रज के योग होने पर भी आत्मा पूर्व जन्म के उत्तम कर्मों से युक्त हो, काल, अतिगरमी, अति सरदी आदि तीक्ष्णस्वभाव का न हो, गर्भ के प्रसव का ठीक काल नवम मास के अनन्तर दसवें मास के भीतर २ है। गर्भ सुखी अर्थात् किसी रोग से पीड़ित न हो और

---

१ यद्यपि आगे आकाश का भी गर्भोत्पत्ति में कारण कहेंगे, तथापि यहां पर आकाश के अक्रिय होने से इसको नहीं गिना। क्योंकि वायु आदि चारो भूत पुरुष के शरीर से निकल कर क्रियावान् की तरह गर्भाशय में जाते हैं, आकाश नहीं जाता।

२ कहीं पर अन्न के स्थान पर 'अर्थ' पाठ है। यहां पर 'माता के सात्म्य विषयों के सेवन से' ऐसा अर्थ करना चाहिये।

सुख से हो अर्थात् प्रसव काल में माता को बहुत अस्वाभाविक पीड़ा वा बालक की मृत्यु आदि न हो, बालक की गर्भ मे स्थिति भी ठीक २ हो] ॥ ६ ॥

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात् ।
अकालयोगाद्बलसक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजाऽपि ॥७॥

योनि के दोष से, मन के सताप से, शुक्र, आर्त्तव (रज) और आहार विहार के दोष से, ऋतुकाल बीतने पर या निषिद्ध दिनों में पुरुष के साथ सयोग करने मे और दुर्बलता से स्त्री बन्ध्या न होती हुई भी देर मे गर्भ धारण करती है । [गर्भ धारण का काल (ऋतुकाल) चरक के मत से १६ रात्रि और सुश्रुत के मत से १२ रात्रिया हैं] ॥ ७ ॥

असृड् निरुद्ध पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित् ।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदस्रमस्रावि विवर्धमानम् ॥८॥

मूढ व्यक्ति कभी २ [सौम्य एव पुष्टिकारक आहार के सेवन करने से] वायु के द्वारा रुके हुए स्त्री के आर्त्तव (रजो-रुधिर) को ही 'गर्भ' समझ लेते हैं, क्योंकि वह रुका हुआ रुधिर ही बाहर न आकर गर्भाशय में प्रति दिन बढता हुआ गर्भ के लक्षण प्रकट करता है ॥ ८ ॥

तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम् ।
दृष्ट्वाऽसृगेवं न च गर्भमज्ञा. केचिन्नरा भूतहृत वदन्ति ॥९॥
ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम् ।
गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः ॥ १० ॥

वायु से रुका रक्त अग्नि, सूर्य अथवा थकान आदि से या वायु का अनुलोमन करने वाले उष्ण खान-पान मे स्वय प्रवृत्त हो जाता है, तब कई मूढ मनुष्य रक्तको ही अकेला देख कर और गर्भ को न देख कर इस गर्भ का 'भूत चुरा ले गये' ऐसा कहने लगते हैं । [जो इस प्रकार कहते हैं, वे मूर्ख हैं । क्योंकि भूतों द्वारा गर्भ का हरण सम्भव नहीं है] । जिन का ओज ही भोजन है, ऐसे रात में विचरने वाले भूतों के आहार के लिये शरीर की आवश्यकता नहीं है । वे भूत गर्भ का अपहरण कर सकते हैं, यदि उनको अवकाश मिल जाये, त। वे गर्भ का हरण न करके माता के ओज का ही अपहरण कर सकते हैं ?

कन्या सुतं वा सहितौ पृथग्वा सुतौ सुते वा तनयान्बहून्वा ।
कस्मात्प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोऽभिवृद्धि च यमेऽभ्युपैति ॥११॥

प्रश्न—(१) स्त्री कन्या को क्यों कर उत्पन्न करती है ? अथवा (२) पुत्र को ही क्योंकर उत्पन्न करती है ? (३ ५) दो कन्या वा दो पुत्रों वा कन्या और

पुत्र दोनों को एक साथ क्योंकर उत्पन्न करती है ? (६) किस कारण से बहुत से लड़कों को एक साथ उत्पन्न करती है ? (७) कभी चिरकाल में गर्भ को क्यों प्रसव करती है ? (८) किस कारण से युगल संतति में एक संतान अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है ॥ ११ ॥

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधीकृतेन ।
बीजेन कन्या च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥१२॥
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते ।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते ॥१३॥
भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः ।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात्प्रसूते ॥ १४ ॥

माता आर्त्तव की अधिकता से कन्या को उत्पन्न करती है । शुक्र की अधिकता से पुत्र को उत्पन्न करती है और जिस समय शुक्र और रक्त रूपी बीज के दो भाग हो जावें, एक भाग में रक्त की अधिकता हो और दूसरे भाग में शुक्र की अधिकता रहे तब कन्या और पुत्र दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जिस स्त्री के गर्भ में शुक्र की अधिकता वाला बीज (शुक्रार्त्तव) दो भागों मे विभक्त हो जाता है, वह स्त्री दो पुत्रों को एक साथ उत्पन्न करती है और जब रक्त की अधिकता वाला बीज दो भागों में विभक्त हो जाता है, तब स्त्री दो कन्याओं को एक साथ उत्पन्न करती है । वायु बहुत प्रबल होकर बीज (शुक्र आर्त्तव) के जितने अधिक खण्ड कर देती है, उतने ही सन्तानों को अपने कर्म के कारण स्त्री उत्पन्न करती है । ※ इस मे स्त्री का अपना कोई वश नहीं है ।

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा ।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥१५॥
कर्मात्मकत्वाद्विषमांशभेदाच्छुक्रासृजोर्वृद्धिमुपैति कुक्षौ ।
एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः ॥१६॥

रसवाहिनी नाडी के दोष के कारण जिस समय गर्भ का आहार रस नहीं

※ कुत्ता आदि जन्तुओं मे जिस प्रकार से चार पाँच बच्चे एक साथ उत्पन्न होते हैं। इनमें शुक्र-आर्त्तव के जितने विभाग बनते हैं, इन विभागों में जिनमें शुक्र की अधिकता रहती है, उतने नर और जितनों में आर्त्तव की अधिकता रहती है, उतने मादा उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार मनुष्य-स्त्रियों में भी समझना चाहिये ।

मिलता, तब गर्भ गर्भाशय में सूखने लगता है। अथवा जब स्राव होने लगता है, तब भी गर्भ की वृद्धि नहीं होती, इसलिये वह देर तक गर्भाशय मे रुका रहता है। वह जब कभी बहुत समय के पीछे आहार से पुष्ट होता है तब स्त्री चिरकाल में स्त्री प्रसव करती है। [वह गर्भ बहुत से वर्षों के बाद बहुत कष्ट से उत्पन्न होता है या माता के जीवन भर उत्पन्न ही नहीं होता। ऐसा वाग्भट आचार्य का लेख है। जिस समय गर्भ को पुष्ट होने का रस पर्याप्त नहीं मिलता और इस कारण से प्रसव में देर हो तो ऐसे गर्भ को 'नागोदर' कहते हैं। यदि परिस्राव होने से वर्षों का विलम्ब हो जावे तो उसको 'उपविष्टक' कहते हैं। जब वे बहुत वर्षों के बाद आहार से पुष्ट होकर पैदा होते हैं तब इनके प्रसव काल में गर्भाशय के भीतर ही केश और दांत बड़े हो जाते हैं*]।

उत्पन्न होने वाले जीवों के कर्मों के कारण और न्यून-अधिक रूप में शुक्रार्त्तव के विषम विभाग होने से, जिस समय शुक्रार्त्तव गर्भाशय मे वृद्धि को प्राप्त होता है, तब एक भाग अधिक रहता है और दूसरा भाग न्यून रहता है। इस प्रकार से जोड़े सन्तान में भी यही विशेषता रहती है ॥ १६ ॥

कस्माद् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषण्डौ।
वक्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा संजायते वातिकषण्डको वा ॥ १७ ॥

प्रश्न—किस कारण से 'द्विरेत' अर्थात् दो वीर्य वाला जीव उत्पन्न होता है? किस कारण से पवनेन्द्रिय (वायु मात्र वीर्य वाला) उत्पन्न होता है? किस कारण से संस्कारवाही (जिसको स्त्री वा पुरुष होने का संस्कार मात्र हो) होता है? किस कारण से नरषण्ड (नपुंसक) और नारी षण्ड होती है? किस कारण से वक्रध्वज (टेढ़े लिंग वाला), ईर्ष्याभिरत (जो दूसरे को देख कर कामार्त्त हो) अथवा वातिक षण्ड (वीर्य के स्थान पर केवल वायु छोड़ने वाला) होता है? ॥ १७ ॥

बीजात्समांशादुपतप्तबीजात्स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।
शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम् ॥ १८ ॥
शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं हि करोति वायुः।
मन्दाल्पबीजावबलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ १९ ॥
मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद् बीजदौर्बल्यतया पितुश्च।
ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव वदन्ति हेतुम् ॥ २० ॥

* जिस प्रकार गान्धारी के दो साल गर्भ पेट मे रहा था।

वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः ।
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ॥ २१ ॥

जिस समय स्त्री पुरुष के बीज (शुक्र और आर्त्तव) समान भाग हों, अथवा जब बीज किसी दोष के प्रकोप के कारण दुष्ट होता है, तब स्त्री-पुरुषों के लक्षणों वाला 'द्विरेत' (नपुसक) उत्पन्न होता है । वायु शुक्राशय को नष्ट करके गर्भाशय में स्थित गर्भ को 'पवनेन्द्रिय' वाला बना देता है । वायु शुक्राशय-द्वार को खोलकर सस्कारवाही षण्ड करता है । जिस समय स्त्री प्रथम सतुष्ट हो जाती है, तब पीछे पुरुष का उत्सृष्ट शुक्र हर्ष के कारण मन के अस्थिर होने से, स्त्री की वायु को चचल कर देता है । साथ में पुरुष के शुक्रवाहक स्रोत भी पुष्ट हो जाते हैं, तब वातेन्द्रिय पुरुष उत्पन्न होता है । स्त्री के साथ सम्भोग करने पर शुक्र की भाति वायु ही आता है और जब यह वायु इस पुरुष के शुक्रवाही स्रोतों को नष्ट न करके केवल मुखों को बन्द कर देता है तब सस्कारवाही नपुसक उत्पन्न होता है । सस्कार से (वाजीकरण, बस्ति, खान पान से) वह प्रवृत्त होता है । मन्द एव अल्प बीज वाले निर्बल एवं अल्प कामेच्छा वाले स्त्री-पुरुष नरषण्ड एव नारीषण्ड की उत्पत्ति मे कारण होते हैं । माता और पिता के मैथुन के प्रतिघात होने से (अनुचित रीति से सम्भोग करने पर) तथा बीज की निर्बलता से वक्रध्वज (टेढ़ी इन्द्रिय वाला) नपुसक उत्पन्न होता है । ईर्ष्या से युक्त मन्द कामेच्छा वाले स्त्री पुरुष 'ईर्ष्या से रति करने वाले नपुसक' का कारण है । जिस समय अल्पबल वाला पुरुष अल्प कामेच्छा या द्वेषवाली स्त्री के साथ काम-उद्वेग के कारण सम्भोग करता है, तब नरषण्ड उत्पन्न होता है । वह ईर्ष्या-रति नामक नपुसक दूसरों को रति करते देख कर रति मे प्रवृत्त होता है, इसलिये इसे 'ईर्षाण्ड' कहते हैं । जिस पुरुष के गर्भ में वायु और अग्नि दोष के कारण वृषण नाश हो जाते है, उसे 'वातिक षण्ड' कहते है । गर्भ को ये आठ द्विरेत आदि विकृतियां आठ षण्डयोनियां कर्म की विचित्रता से होता है ॥ १८—२१ ॥

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कुक्षौ स्त्री-पु-नपुसामुदरस्थितानाम् ।
किं लक्षण कारणमिष्यते किं सरूपतां येन च यात्यपत्यम् ॥ २२ ॥

प्रश्न—गर्भाशय मे तत्काल गर्भ स्थिर होने के क्या लक्षण है ? उदर में स्थित स्त्री, पुरुष और नपुसक के क्या लक्षण हैं ? और किस कारण से सतान में माता पिता का समान रूप आता है ? ॥ २२ ॥

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च ।
तृप्तिश्च बीजग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् ॥२३॥

तुरन्त गर्भस्थिति के लक्षण—मुख से लार आना, योनि में भारीपन, अंगों का टूटना, तन्द्रा और हर्ष अर्थात् रोमाञ्च का अधिक होना और हृदय प्रदेश में पीड़ा, योनि में तृप्ति, सन्तुष्टि, अर्थात् भोग की इच्छा न रहना, बीज (शुक्र) का ग्रहण अर्थात् उसका बाहर न आना, ये गर्भ के तुरन्त स्थित हो जाने के लक्षण हैं ॥ २३ ॥

सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा ।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यपदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥२४॥
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्ययेण, व्यामिश्रलिङ्गां प्रकृतिं तृतीयाम् ।

गर्भ में स्थित कन्या और बालक के लक्षण—स्त्री बाए अंगों से कार्य करने वाली, पुरुष की चाह रखने वाली, स्त्रियों के स्वप्न, स्वप्न में स्त्रीलिंग वाले खान पान करने वाली, स्त्रियों के शील एवं चेष्टा में प्रेम रखने वाली हो, बाएं कोख में वृद्धि, गर्भ परिमण्डल अर्थात् गोल आकार का न हो, वाम स्तन में प्रथम दूध का दर्शन हो तो वह स्त्री निश्चय से कन्या को ही उत्पन्न करती है। उपरोक्त कन्या के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाली स्त्री पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री में कन्या और पुत्र दोनों के लक्षण एक साथ दिखाई देते हैं तो वह नपुंसक संतान उत्पन्न करती है ॥ २४ ॥

गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत्तत्सदृशं प्रसूते ॥ २५ ॥

माता पिता के सदृश सन्तान का कारण—गर्भ की उत्पत्ति अर्थात् बीज ग्रहण करने के समय स्त्री का मन जिस प्राणि या (वस्तु) का ध्यान करता है वह स्त्री उसी के समान संतान उत्पन्न करती है* ॥ २५ ॥

गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृसंभवानि ।
आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे ॥२६॥
तेषां विशेषाद् बलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि ।
तानि व्यवस्येत्सदृशत्वहेतुं सत्त्वं यथानूकमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

माता से उत्पन्न होने वाले रज रूप और पिता से उत्पन्न होने वाले शुक्र रूप तथा आहार से और अपने कर्मों से उत्पन्न 'कर्मज' ये चार २ प्रकार के वायु, अग्नि, भूमि और जल इन चारों के १६ प्रकार के कर्मों में जो २ बलवान् होते हैं, उन २ के समान ही गर्भ का शरीर बनता है। माता के किये कर्मों के बलवान् होने पर सन्तान माता के समान और पिता से उत्पन्न कर्मों के बलवान् होने पर पिता के समान बनती है। मन अपने पूर्व देह अभ्यास से

* इसीलिये पाण्डु-पीले, धृतराष्ट्र अन्धे थे। चूंकि एक व्यास के रूप को देखकर पीली पड़ गई थी, और दूसरी ने आंखें बन्द करली थीं।

उत्पन्न वासना के अनुकूल इस जन्म में होता है। [अर्थात् यदि देव शरीर से ही वह आत्मा तुरन्त इस देह मे आवे तो उसका चित्त देवतुल्य, राक्षस शरीर से आवे तो चित्त राक्षसतुल्य और पशु शरीर मे आवे तो पशुतुल्य होता है] ॥ २६–२७ ॥

कस्मात्प्रजा स्त्री विकृता प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रिया च ।
देहात्कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च ॥ २८ ॥

प्रश्न—(१) स्त्री किस कारण से विकृत रूपवाली प्रजा को उत्पन्न करती है? (२–३) किस कारण से हीन अथवा अधिक अंगोंवाली प्रजा को उत्पन्न करती है? (४) किस कारण से विकल इन्द्रियोंवाली प्रजा को उत्पन्न करती है? (५) किस प्रकार से आत्मा इस शरीर से दूसरे में पहुँचता है? (६) सदा आत्मा किन २ से बन्धा रहता है? ॥ २८ ॥

बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाऽऽहारविहारदोषैः ।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि ॥२९॥

बीज (शुक्र शोणित), आत्मा के अपने कर्म, गर्भाशय और काल इनके दोषों से तथा माता के आहार-विहार के दोषों से दूषित हुए दोष वात आदि संस्थान (रचना), वर्ण, इन्द्रिय आदि में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर देते हैं ॥ २९ ॥

वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य ।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥३०॥

जिस प्रकार वर्षा में काठ, पत्थर और बरसात का पानी ये तीनों मिल कर नदी की धार में स्थित वृक्ष में विकार उत्पन्न कर देते हैं, इसी प्रकार तीनों दूषित दोष कर्म वश से गर्भाशय में स्थित गर्भस्थ जीव के शरीर में विकृति उत्पन्न कर देते हैं ॥ ३० ॥

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥३१॥

यह आत्मा कर्मों के कारण आकाश को छोड़ कर शेष वायु, जल, अग्नि और पृथिवी इन चार सूक्ष्म भूतों (तन्मात्रों) के साथ लिंग शरीर रूप में मन के वेग से एक देह दूसरे देह में जाता है। अर्थात् मरने वाले देह में निकल कर अगले उत्पन्न होने वाले देह में जाता है। वह कर्मात्मक होने से, दिव्य चक्षुओं के विना इसके सूक्ष्म रूप का दर्शन नहीं होता* ॥ ३१ ॥

---

* गीता में भी कहा है—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव ॥ ३२ ॥

वह आत्मा कर्मों के कारण सब स्थानों में गमन करता है, देवता मनुष्य, तिर्यग् आदि सब देहों को धारण करता है, यह सब कर्मों के करने में समर्थ होने से 'विश्वकर्मा' है । यह आत्मा सर्व रूप होने से विश्वरूप है, यही चेतना धातु है, वह अतीन्द्रिय है । इसका कर्म आदि से नित्य सम्बन्ध है यही अनुशय (राग और द्वेष आदि) के साथ रहता है ॥ ३२ ॥

रसात्ममातापितृसंभवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु॥३३॥
भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे ।
आप्याय्यते शुक्रमसृक्च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि॥३४॥

आहार के रस, आत्मकृत कर्म, माता और पिता इनसे उत्पन्न ये चार २ गुण वाले चार भूत (इस प्रकार से १६ भूत) गर्भ के शरीर में रहते हैं । इन सोलह के बीच में चार सूक्ष्म लिंग-शरीर रूप से (वायु, अग्नि, भूमि और जल तन्मात्रा रूप से) आत्मा में और ये चारों आत्मा में आश्रित हैं । गर्भ में माता से उत्पन्न चार भूत और पिता से उत्पन्न चार भूत और क्रम से रज और शुक्र ये पदार्थ गर्भ में कहे जाते हैं । भूतों द्वारा शुक्र और रक्त दोनों का पोषण होता है और उन रस से उत्पन्न भूतों का पोषण और वृद्धि होती है । इस प्रकार से गर्भ के शरीर में १६ भूतों का योग होता है ॥ ३३-३४ ॥

भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥३५॥

आत्मा में गुप्त रूप से विद्यमान कर्म से उत्पन्न जो चार सूक्ष्म भूत गर्भ में प्रविष्ट होते हैं, वही सूक्ष्म शरीरी पुरुष बीज के समान धर्म वाला होकर एक के बाद दूसरे शरीरों में जाता रहता है । वह सूक्ष्म शरीर आत्मा पर आश्रित रहता है * ॥ ३५ ॥

रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्महेतु ॥३६॥

गर्भ के शरीर को बनाने वाले कर्मात्मक भूतों के सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप तथा मन से मन की उत्पत्ति होती है यह बात प्रसिद्ध है । कारण के अनुसार कार्य होता है । [पूर्व जन्म में जैसा मन होता है, वैसा इस जन्म में भी हो

* संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम् । सां० का० ४० ॥

जाता है]। आकृति, बुद्धि और मन में जो भिन्नता होती है, वहा पर बलवान् रज, तम तथा पूर्वकर्म कारण होते हैं ॥ ३६ ॥

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥ ३७ ॥
रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥ ३८ ॥

अतीन्द्रिय, अति सूक्ष्म रूपवाले वायु, अग्नि, भूमि और जल इन चार सूक्ष्म भूतों से आत्मा कभी भी वियुक्त नहीं होता। न कर्मों से, न मन से, न बुद्धि एवं अहंकार इन दोषों से भी कभी वह मुक्त होता है, प्रत्युत वह इन से सदा सम्बद्ध रहता है। मन अर्थात् सत्त्व बलवान् रज तथा तम से सम्बद्ध होता है। तब तत्त्वज्ञान के बिना मन में सब दोष रहते हैं। दोषयुक्त मन और पूर्वजन्मों के बलवान् कर्म ही अन्य देह में जाने तथा धर्माधर्म क्रिया में प्रवृत्ति के कारण हैं ॥ ३७–३८ ॥

रोगाः कुतः संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम् ।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः ॥ ३९ ॥

प्रश्न—(१) रोग किस कारण से उत्पन्न होते हैं ? (२) इन रोगो की शान्ति का उपाय क्या है ? (३) हर्ष का क्या कारण है ? (४) शोक का क्या कारण है ? (५) शरीर और मन से उत्पन्न विकार क्यों कर पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होते ? (६) वे फिर क्यों हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः ।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ॥४०॥
धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति ।
शरीरसत्त्वप्रभवास्तु दोषास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ॥ ४१ ॥
रूपस्य सत्त्वस्य च संततिर्या नोक्तस्तदादिर्न हि सोऽस्ति कश्चित् ।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च ॥ ४२ ॥
सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम् ।
जितेन्द्रियं नानुतपन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥४३॥

उत्तर—रोगों का प्रथम कारण प्रज्ञापराध, दूसरा कारण अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से इन्द्रियो के विषयों का उपभोग, तीसरा कारण परिणाम (काल) है। सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों की शान्ति तीन प्रकार से होती है । समयोग से, ज्ञान, अर्थ (इन्द्रियों के विषय) और काल इन तीन का उपयोग करने से। और धार्मिक क्रियायें हर्ष का कारण कही गयी हैं।

इससे विपरीत अधार्मिक क्रियायें पुरुष को शोक के अधीन कर देती हैं। शरीर और मन से उत्पन्न रोग जब तक शरीर और मन हैं, तब तक बार बार होते रहते हैं। शरीर और मन की चेष्टा न रहने पर ये रोग भी फिर नहीं होते। रूप (शरीर) और सत्त्व (मन) इनका जो प्रवाह है उसका आदि नहीं बतलाया अर्थात् वह अनादि है। आत्मा का शरीर और मन के साथ प्रथम सम्बन्ध कब हुआ, इसे कोई नहीं कह सकता। शरीर और मन की निवृत्ति श्रेष्ठ धृति (धैर्य) एवं स्मृति तथा श्रेष्ठ बुद्धि से होती है। शरीर और मन ये दो प्रकार के आश्रय होने से रोगों की उत्पत्ति से पूर्व ही प्रतिकार करना चाहिये। यदि रोगोत्पादक विपाक काल के साथ दैव संयुक्त नहीं है तो जितेन्द्रिय पुरुष को रोग नहीं सताते। पूर्व कर्म से उत्पन्न व्याधियां तो कर्म के क्षय के बिना शान्त नहीं होतीं* ॥ ४०-४३ ॥

दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तत्, तत्पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव ॥ ४४ ॥

पूर्वजन्म में किये कर्म को 'दैव' कहा जाता है। इस जन्म में जो कर्म किया जाता है, उसे 'पौरुष' कहते हैं। ये दोनों कर्म अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग से विषम हैं। ये विषम रूप से रोग की प्रवृत्ति या संसार की प्रवृत्ति में कारण हैं। इनका समान योग 'आरोग्य' या 'संसार निवृत्ति' अर्थात् मोक्ष में कारण है ॥ ४४ ॥

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ॥ ४५ ॥

वात, पित्त, कफ का सञ्चय क्रम से ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर में होता है और इनका प्रकोप क्रम से वर्षा, शरद् और वसन्त में होता है। इन में ग्रीष्म में हुए दोष के सञ्चय (वात) को वर्षा काल में, वर्षा काल में सञ्चित दोष (पित्त) को वर्षा काल के अनन्तर शरत् काल में तथा हेमन्त काल के सञ्चित दोष (कफ) को वसन्त अर्थात् चैत्र में भली प्रकार प्रवाहित करके देह से निकाल देवे तो मनुष्य को ऋतुजन्य रोग नहीं होते † ॥ ४५ ॥

---

* देखिये चरक० शारीर, अ० १ में—'क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात्।'

† दोष-प्रवाहण का नियम—प्रत्येक ऋतु के प्रथम मास में दोष प्रवाहण करना चाहिये। यथा—'माधवप्रथमे मासि नभस्य' प्रथमे पुनः।
सहस्य प्रथमे चैव हारयेद्दोषसञ्चयम् ॥

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ४६ ॥

हितकारी आहार और हितकारी विहार का सेवन करने तथा सोच विचार कर कार्य करने वाले, विषयों में न फंसे, त्यागशील, दानी, सब प्राणियों में समान भाव रखने वाले, सत्यपरायण, क्षमाशील, आप्त जन के सेवी, सत्संग करने वाले पुरुष को रोग नहीं सताते, वह सदा नीरोग रहता है ॥ ४६ ॥

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः ॥ ४७ ॥

जिसकी मति, (मन) कर्म और वचन सुख उत्पन्न करने वाले हों, जिसका मन, पाप रहित और वश में है जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो, जो स्वयं तप और योग में तत्पर होता है, उसको रोग नहीं सताते ॥ ४७ ॥

तत्र श्लोकाः।

इहाग्निवेशस्य महार्थयुक्तं षट्त्रिंशकं प्रश्नगणं महर्षिः।
अतुल्यगोत्रे भगवान् यथावन्निर्णीतवाञ्ज्ञानविवर्धनार्थम् ॥ ४८ ॥

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इस अतुल्य गोत्रीय शारीर में शिष्यों के ज्ञान बढ़ाने के लिये बड़े अर्थयुक्त छत्तीस प्रश्नों का यथावत् निर्णय किया है।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने अतुल्य-
गोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातः खुड्डीकां गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे खुड्डीका गर्भावक्रान्ति (गर्भाशय में जीव के आगमन) नामक शारीर का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्ट-योनि शोणित-गर्भाशयाया यदा भवति संसर्गं ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथैव युक्ते च संसर्गे शुक्र-शोणित-संसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते, स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिसंवर्धते सम्यगुपचा-

रैश्चोपचर्यमाणस्ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वशरीरो बल-वर्ण-सत्त्व-संहनन-संपदुपेतः सुखेन जायते समुदायादेषां भावानाम् ॥३॥

दोष से रहित वीर्य वाला पुरुष, जब दोष से रहित योनि रक्त (रज) और गर्भाशय वाली स्त्री के साथ ऋतु-समय में संसर्ग करता है और जब इनके ऋतु-काल में संसर्ग करने पर शुक्र गर्भाशय में पहुंच कर शोणित (रज) के साथ मिलता है तब मन से युक्त जीव (चेतन) उसमें आ जाता है, तब गर्भ बनता है। और यह गर्भ सात्म्य रसों के उपयोग से तथा गर्भिणी के गर्भाशय में हितकारक उपचारों से पोषित होकर नीरोग रह कर बढ़ता है । पीछे ठीक प्रसव काल (नवम या दशम मास) तक सब इन्द्रियों से युक्त पूर्ण शरीर वाला, बल, वर्ण, सत्त्व और शरीर रचना के उत्तम गुणों से युक्त होकर निम्न-लिखित माता आदि छ पदार्थों के संयोग से सुखपूर्वक उत्पन्न हो जाता है ॥३॥

मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चाऽऽत्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च । अस्ति च सत्त्वमुपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ ४ ॥

इसलिये यह गर्भ माता से उत्पन्न अर्थात् (शोणितजन्य) है, पिता से उत्पन्न (शुक्रजन्य) है, आत्मा से उत्पन्न, सात्म्य से उत्पन्न, रस से उत्पन्न है और सत्त्वसंज्ञावाला मन भी इसकी उत्पत्ति में घटक है । [क्योंकि शुक्र शोणित के साथ ही यह मन आत्मा का सम्बन्ध कराता है, इसलिये गर्भ सत्त्वजन्य भी है]। ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ ४ ॥

नेति भरद्वाजः । किं कारणम् । न हि माता, न पिता, नात्मा, न सात्म्यं, न पानाशन-भक्ष्य-लेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति, न च परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वमवक्रामति ॥ ५ ॥

विद्वान् भरद्वाज ने कहा—नहीं यह बात नहीं है । क्योंकि न माता, न पिता, न आत्मा, न सात्म्य, न पान, अशन, भक्ष्य और लेह्य इन से उत्पन्न रस गर्भ को उत्पन्न करते हैं और न 'सत्त्व' (चित्त) परलोक से आकर गर्भ में प्रवेश करता है, अतः गर्भ माता आदि छः पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता ॥ ५ ॥

यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेताम् भूयस्यः स्त्रियः पुमांसश्च भूयांसः पुत्रकामाः, ते सर्वे पुत्रजन्माभिसंधाय मैथुनधर्ममापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुर्दुहितॄर्वा दुहितृकामाः, न तु काश्चित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युरपत्यकामा वा परिदेवेरन् ॥ ६ ॥

यदि गर्भ की उत्पत्ति में माता पिता कारण हों तो बहुत सी स्त्रियाँ और बहुत से पुरुष पुत्रकामना और कन्याकामना वाले होते है । वे पुत्र की कामना से पुत्रों और कन्या की कामना से कन्याओं को उत्पन्न कर लिया करें । कोई

भी स्त्री वा पुरुष बिना सतान के न रहे। कोई सतान की इच्छा वाले स्त्री वा पुरुष सतान के लिये कभी दुःखी न हों और न विलाप किया करें ॥ ६ ॥

न चाऽऽत्माऽऽत्मानं जनयति। यदि ह्यात्माऽऽत्मानं जनयेज्जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा? तच्चोभयथाऽप्ययुक्तं, न हि जातो जनयति, सत्त्वात्, न चाजातो जनयति, असत्त्वात्, तस्मादुभयथाऽप्यनुपपत्तिः,— तिष्ठतु तावदेतत्, यद्ययमात्मानं शक्तो जनयितुं स्यात्, नत्वेवमिष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेद्वशिनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणं तेजो-बल-जव-वर्ण-सत्त्व-संहनन-समुदितमजरमरुजममरम्। एवंविधं ह्यात्माऽऽत्मान-मिच्छत्यतो वा भूयः ॥ ७ ॥

आत्मा भी आत्मा को उत्पन्न नहीं करता। यदि आत्मा आत्मा को उत्पन्न करे तब तो क्या वह स्वय उत्पन्न होकर दूसरे आत्मा को उत्पन्न करता है वा बिना उत्पन्न हुए ही दूसरे को पैदा करता है? दोनो प्रकार से सम्भव नही है। क्योंकि स्वय उत्पन्न होकर दूसरे आत्मा को पैदा नही करता, क्योंकि वह स्वय ही अविद्यमान है? और उत्पन्न हुए बिना भी (कारण का अभाव होने से) वह उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि वह स्वय नहीं है, इसलिये दोनों ही प्रकार से आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अच्छा यही मान लेते हैं कि—आत्मा आत्मा को उत्पन्न करता है, तो फिर आत्मा इष्ट योनियों में ही जन्म क्यों न लेवे? अनिष्ट योनियों में क्यों जन्म लेवे? यदि आत्मा आत्मा को उत्पन्न कर सके तो जिसके अधीन यह भूत-भौतिक सब ससार है ऐसे वशी, अप्रतिहत गति वाले (बे-रोकटोक जाने वाले), यथेच्छ रूपधारी, तेज, बल, वर्ण, सत्त्व, सहनन से युक्त अजर, अमर, नीरोग आत्मा को ही उत्पन्न करे। क्योंकि आत्मा अपनी आत्मा को इन उपरोक्त गुणों से युक्त अथवा इन से भी अधिक गुणों वाला चाहता है ॥ ७ ॥

असात्म्यजश्चायं गर्भः। यदि हि सात्म्यजः स्यात्, तर्हि सात्म्य-सेविनामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, असात्म्यसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ८ ॥

यह गर्भ सात्म्य से भी उत्पन्न नहीं होता है। यदि गर्भ की उत्पत्ति में सात्म्य ही कारण हो तो सात्म्यसेवियों के ही केवल सतान उत्पन्न होनी चाहिये और असा-त्म्यसेवी सब के सब बिना संतान के रहने चाहियें। परन्तु दोनों दोनों प्रकार के देखे जाते हैं ॥ ८ ॥

अरसजश्चायं गर्भः, यदि हि रसजः स्यात्, न केचित्स्त्रीपुरुषेष्वन-पत्याः स्युः, न हि कश्चिदस्त्येषां यो रसान्नोपयुङ्क्ते। श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्

गर्भा जायन्ते इत्यतोऽभिप्रेत, इत्येव सत्याजोरभ्र-मार्ग-मायूर-रस-गोक्षीर-दधि-घृत-मधु-तैल-सैन्धवेक्षु-रस-मुद्ग-शालिभृतानामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, श्यामाक-वरको-द्दाल कोरदूषक-कन्द-मूल-भक्ष्याश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चाभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ९ ॥

गर्भ रस से भी उत्पन्न नहीं होता। यदि रस से उत्पन्न होता तो कोई भी स्त्री वा पुरुष बिना सन्तान के न रहते। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जो रसों का सेवन नहीं करता। यदि यह अभिप्राय है कि श्रेष्ठ रस सेवन करने वालों के ही सन्तान होती है तो बकरा, भेड़ा, मृग, मोर, इनके मांस रस, गाय का दूध, दही, घी, शहद, तेल, नमक, गन्ने का रस, मूंग, शालि धान्य आदि से पुष्ट व्यक्तियों के ही सन्तान होवे और श्यामाक, वर, उद्दालक, कोरदूषक, कन्द, मूल, फल आदि हीन धान्य खाने वाले सब बिना सन्तान के रहने चाहिये। परन्तु दोनों में दोनों बातें देखी जाती हैं ॥ ९ ॥

न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति। यदि ह्येनमवक्रामेत् नास्य किंचिदेव पौवदेहिकं स्यादविदितमदृष्टं वा, न च किंचिदपि स्मरति ॥ १० ॥

तस्मादेतद् ब्रूमहे—अमातृजश्चायं गर्भोऽपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चारसजश्च, न चास्ति सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भरद्वाजः ॥ ११ ॥

सत्त्व भी परलोक से आकर भी गर्भ में नहीं आता। क्योंकि यदि सत्त्व परलोक से आकर जन्म ग्रहण करे तो इस गर्भ को पूर्व जन्म की कोई भी बात अज्ञात और न देखी होनी चाहिये, प्रत्युत उसे पिछले जन्म की सब बातें ज्ञात रहना चाहिये। परन्तु वह पूर्व जन्म की कोई भी बात स्मरण नहीं रखता। इसलिये सत्त्व भी कारण नहीं। इसी लिये हम कहते हैं कि गर्भ न माता से, न पिता से, न आत्मा से, न सात्म्य से, न रस से उत्पन्न होता है और न सत्त्व ही इसका उत्पत्ति कारण है ॥ ११ ॥

नेति भगवानात्रेयः, सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्त्तते ॥ १२ ॥

मातृजश्चायं गर्भः। न हि मातुर्विना गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषाधानं चाऽऽमाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति मातृजानि ॥ १३ ॥

भगवान् आत्रेय कहते हैं—भरद्वाज का ऐसा कथन ठीक नहीं है। क्योंकि माता आदि इन सब पदार्थों के मिलने से ही गर्भ बनता है। यह सब गर्भ माता से उत्पन्न होता है। माता के बिना गर्भ की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जरायु से उत्पन्न प्राणियों की उत्पत्ति माता के बिना सम्भव ही नहीं। इस गर्भ के जो अवयव माता से उत्पन्न होते हैं, उनको विस्तार से कहते हैं। यथा—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, (तिलक), यकृत्, प्लीहा, दो वृक्क (दो कुक्षिगोलक, गुर्दे), बस्ति, पक्वाशय, आमाशय, मलाशय, (बृहदान्त्र), उत्तर गुदा, अधर गुदा, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र और वपा (हृदयस्थ मेद), तथा वपावाही स्रोत ये सब मृदु भाग माता से उत्पन्न होते हैं ॥ १२–१३ ॥

पितृजश्चायं गर्भः, न हि पितुरृते गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य पितृजानि, यानि चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—केश-श्मश्रु-नख-लोम-दन्तास्थि-सिरा-स्नायु-धमन्यः शुक्रमिति पितृजानि ॥ १४ ॥

यह गर्भ पिता से भी उत्पन्न होता है। पिता के बिना गर्भ की उत्पत्ति नहीं हो सकती और न जरायुज प्राणि ही उत्पन्न हो सकते हैं। इस गर्भ के जो अवयव पिता से बनते हैं उनका अब वर्णन करते हैं। जैसे—केश, श्मश्रु, लोम, नख, दन्त, अस्थि (हड्डी) सिरा, स्नायु, धमनियां और शुक्र ॥ १४ ॥

आत्मजश्चायं गर्भः। गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यस्तं जीव इत्याचक्षते शाश्वतमरुजमजरममरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणमव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि। स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मानं, आत्मसंज्ञा हि गर्भे। तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते, तस्मादजात एवायं गर्भं जनयति, अजातो ह्ययमजातं गर्भं जनयति। स चैव गर्भः कालान्तरेण बाल-युव-स्थविर-भावानवाप्नोति, स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्तते तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्च, तस्मात्स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति, यस्मिंश्चैतदुभयं सम्भवति जातत्वं जनिष्यमाणत्वं च, स च जातो जन्यते, स चैवानागतेष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयत्यात्मनाऽऽत्मानं, सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायां, यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगाद् गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद्भवति, यथा सतस्तस्यैव च पुरुषस्य प्रागपत्योत्पादनात्पितृत्वं न भवति, तच्चापत्याद्भवति, तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वं चोच्यते ॥ १५ ॥

यह गर्भ आत्मा से उत्पन्न है, गर्भ के आत्मा को ही अन्तरात्मा कहते हैं, यही जीव है। इसीको शाश्वत, अरुज, अमर, अक्षय, अभेद्य, अच्छेद्य, अलोड्य, विश्वरूप, विश्वकर्मा, अव्यक्त, अनादि, अनिधन, अक्षर आदि पर्य्यायों से कहते हैं। यह अन्तरात्मा जीव, गर्भाशय में प्रविष्ट होकर शुक्रशोणित के साथ मिलकर अपने आप को रूप मे उत्पन्न करता है। इसलिये गर्भ में इसका नाम 'आत्मा' है। इस आत्मा के अनादि होने से इस का जन्म नहीं होता। इसलिये वह स्वयं उत्पन्न न होकर भी आत्मा गर्भ को ही उत्पन्न करता है, स्वयं उत्पन्न हुए विना ही वह न उत्पन्न हुए गर्भ को उत्पन्न करता है। यह गर्भ कालक्रम से बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। यह जिस जिस अवस्था में रहता है, उस उस अवस्था मे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। जो अवस्था इसकी आगे भविष्य में आने को होनी है उसमें यह अजात, अनुत्पन्न रहता है। इस लिये वह उत्पन्न और अनुत्पन्न एक समय में दोनों ही एक साथ रहता है। क्योंकि उसमें उत्पन्न और भविष्य में उत्पन्न होना यह दोनों धर्म रहते हैं। अत यह आत्मा उत्पन्न होकर भी अनुत्पन्न ही है और भविष्य में आनेवाली अवस्थाओं में न उत्पन्न हो कर ही अपने को अपने आप उत्पन्न करता है। सत् विद्यमान आत्मा का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विद्यमान रहते हुए भी उस उस आयु और उस उस अवस्था मे जाने का नाम ही 'जन्म' है और शुक्र-आर्त्तव और जीव इनके संयोग होने से पूर्व गर्भ नही होता। इनके संयोग से ही गर्भ बनता है और जिस प्रकार पुरुष के रहते हुए भी पुत्र के विना हुए इसमें पितृभाव नहीं होता, पुत्र उत्पन्न होने से वह पिता हो जाता है, इसी प्रकार आत्मा के रहते हुए भी उस उस अवस्था मे 'उत्पन्न' होने से वह उत्पन्न और न होने से 'अनुत्पन्न' हो जाता है ॥ १५ ॥

न तु खलु गर्भस्य मातुर्न पितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वमस्ति। ते किंचित्स्ववशात्कुर्वन्ति किंचित् कर्मवशात्, क्वचिच्चैषां करणशक्तिर्भवति क्वचिन्न भवति, यत्र सत्त्वादिकरणसंपत्तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्ययः। न च करणदोषादकरणमात्मा संभवति गर्भजनने, दृष्टं चेष्टयोनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तं, न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्ता, न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः, न चाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् ॥ १६ ॥

गर्भ के बारे में माता, पिता और आत्मा अपनी इच्छा से सब कुछ नहीं कर सकते। वे कुछ अपनी इच्छा से करते हैं और कुछ कर्मों के वश से करते हैं। कहीं पर इनके साधन, उपाय आदि का शक्ति स कार्य होता है और कही

पर नहीं होता। जहा पर सत्त्व आदि साधन उत्तम होते हैं, वहा पर साधनों के बल के अनुसार वे यथेष्ट कर सकते हैं। इस के विपरीत अर्थात् करण उत्तम न रहने पर वे यथेष्ट नही कर सकते। इस प्रकार 'साधन के दोष से आत्मा गर्भोत्पत्ति में कारण नहीं' यह कहना ठीक नहीं। देखा भी है कि इष्ट योनि, ऐश्वर्य (आवेश आदि) और मोक्ष ये सब आत्मा के अधीन हैं, इसका आत्मविद् ज्ञानियों ने साक्षात् अनुभव किया है। आत्मा के सिवाय दूसरा कोई सुख दु ख का कर्त्ता नही है। उत्पन्न होने वाला गर्भ आत्मा के सिवाय दूसरे से उत्पन्न नहीं होता। जैसे बीज के बिना अकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार आत्मा के विना गर्भ उत्पन्न नहीं हो सकता ॥१६॥

यानि तु खल्वस्य गर्भस्याऽऽत्मजानि, यानि चास्याऽऽत्मतः संभवत संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वर-वर्णविशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धि स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेत्यात्मजानि ॥ १७ ॥

गर्भ की जो बाते आत्मा से उत्पन्न होती है, या आत्मा के होने पर ही होनी सभव है, उनका वर्णन करते हैं। जैसे—मनुष्य, तिर्यग् आदि नाना योनियों मे जन्म, आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रिया, प्राण और अपान, प्रेरण (इन्द्रिय मन का विषयो मे प्रेरित करना) शरीर का धारण करना आदि [उन्मेष, निमेष, प्रयत्न आदि कर्म भी], नाना आकृतिया, नाना स्वर और नाना वर्ण आदि सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहंकार और प्रयत्न। इतनी बातें आत्मा से उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

सात्म्यजश्चायं गर्भः। न ह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमस्ति गर्भेषु वाऽप्यनिष्टो भावः, यावत्खल्वसात्म्यसेविनां स्त्रीपुरुषाणा त्रयो दोषाः प्रकुपिता. शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते, तावत्समर्था गर्भजननाय भवन्ति। सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहत-शुक्र-शोणित-गर्भाशयानामृतुकाले संनिपतितानां जीवस्यानवक्रमणाद् गर्भा न प्रादुर्भवन्ति, न हि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भ , समुदायोऽत्र कारणमुच्यते, यानि तु खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि, यानि चास्य सात्म्यतः सभवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वर-वर्ण-बीज-संपत् प्रहर्षभूयस्त्वं चेति सात्म्यजानि ॥ १८ ॥

सात्म्य से गर्भ उत्पन्न होता है। असात्म्य-सेवन के बिना स्त्री पुरुष में बाझ पन या नपुंसकता नहीं आती, अथवा गर्भ में अनिष्ट दोष उत्पन्न नहीं होता। असात्म्यसेवी स्त्री पुरुषों में कुपित हुए तीनों वात आदि दोष जब तक शरीर में फैल कर शुक्र आर्त्तव और गर्भाशय के नाश का कारण नहीं बनते, तब तक ये स्त्री पुरुष गर्भ उत्पन्न करने में समर्थ रहते हैं। सात्म्यसेवी स्त्री पुरुषों के शुद्ध शुक्र और आर्त्तव तथा गर्भाशय के शुद्ध होने पर ऋतुकाल में संभोग द्वारा परस्पर मिल जाने पर भी जीव के प्रवेश न होने से गर्भ उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि गर्भ की उत्पत्ति केवल सात्म्य पर ही निर्भर नहीं करती। गर्भोत्पत्ति में समुदाय कारण है। गर्भ की जो बातें सात्म्य से उत्पन्न होती हैं या सात्म्य के होने पर ही जिनका होना सम्भव है, उनका वर्णन करते हैं। जैसे—आरोग्य, अप्रमाद, लोभ का न होना, इन्द्रियों का सौम्य भाव, प्रसन्नता, उत्तम स्वर, उत्तम वर्ण, उत्तम बीज (शुक्र) और मैथुन में हर्ष की अधिकता ये सात्म्य से उत्पन्न होने वाले अंश हैं॥ १८॥

रसजश्चाय गर्भः। न हि रसादृते मातुः प्राणयात्राऽपि स्यात्किं पुनर्गर्भजन्म, न चैवमसम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्तयन्ति, न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति, समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते, यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि, यानि चास्य रसतः संभवतः संभवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा— शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि॥ १९॥

यह गर्भ रस से उत्पन्न होता है। रस के विना तो माता की भी जीवन-यात्रा नहीं चल सकती, फिर गर्भ के जन्म की तो बात ही क्या? गर्भिणी के रसों को अनुचित रीति में सेवन करने से भी गर्भ नहीं बनता और रसों के सम्यग् उपयोग मात्र से भी गर्भ नहीं बनता। गर्भोत्पत्ति में माता आदि का समुदाय भी कारण है। इस गर्भ के जो अंश रस से उत्पन्न होते हैं, या जिन अंशों का रस के रहते हुए ही बनना सम्भव है, उनका वर्णन करते हैं। जैसे— शरीर के प्रत्येक अंग की पृथक् २ स्पष्टता, वृद्धि, प्राणों का, बल का अनुबन्ध अर्थात् स्थिर रहना, तृप्ति, पुष्टि, उपचय और उत्साह। ये अंश रस से उत्पन्न होते हैं॥ १९॥

अस्ति खल्वपि सत्त्वमुपपादुकं यज्जीवं स्पृक् शरीरेणाभिसंबध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रि-

याण्युपतप्यन्ते, बल हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीन प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहक च मन इत्यभिधीयते, तत् त्रिविधमाख्यायते—शुद्ध राजसं तामसं चेति। येनास्य खलु प्रयतो भूयिष्ठ, तेन द्वितीयाया आजातौ सम्प्रयोगो भवति, यदा तु तेनैव शुद्धेन सयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति, स्मार्त हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्त्तते, यस्यानुवृत्ति पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते इति सत्त्वमुक्तम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि, यानि चास्य सत्त्वतः सभवतः संभवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—भक्तिः शील शौच द्वेष स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैक्ष्ण्य मार्दवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये, ते सत्त्वजा विकाराः, तानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधिकृत्य उपदेक्ष्याम इति सत्त्वजानि। नानाविधानि खलु सत्त्वानि तानि सर्वाण्येकपुरुषे भवन्ति, न च भवन्त्येककालम्। एकं तु प्रायोवृत्त्याऽऽह ॥ २० ॥

सत्त्व भी गर्भ की उत्पत्ति का एक घटक है। शुक्र-शोणित से बने गर्भशरीर में सब से प्रथम जीव का स्पर्श होता है। वहा सत्त्व (मन) ही स्पृक्-शरीर के साथ आत्मा को जोडता है। आत्मा तो निष्क्रिय है, वह 'सत्त्व' (मन) द्वारा ही देह में प्रवेश करता है। जिस के दूसरे देह में जाने के समय मरणासन्न रोगी के स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है, इच्छा बदल जाती है, सब इन्द्रिया पीडित होती हैं, बल क्षीण हो जाता है, रोग बढते है, जिनसे हीन होने पर पुरुष प्राणों को छोड देता है, जो इन्द्रियो को अपने अपने विषयो में प्रेरित करता है, उसीको 'मन' अर्थात् सत्त्व कहते हैं।

[जो शरीर आत्मा को नित्य स्पर्श किये रहता है वह शरीर 'स्पृक्' शरीर कहाता है। जिस सूक्ष्म देह में आत्मा एक देह से निकल कर दूसरे देह में प्रवेश करता है वह देह आत्मा का निरन्तर स्पर्श किये रहने से 'स्पृक्शरीर' कहाता है। उसका दूसरा नाम आतिवाहिक शरीर या कारण शरीर है। उस कारण शरीर द्वारा ही मन भोगायतन शरीर से आत्मा को बाधता अथवा स्पृक् शरीर स्पर्शवान् त्वचा से मढा यह स्थूल शरीर ही माना जाये। उसमें मन ही आत्मा से उस शरीर का सम्बन्ध बनाता है। यदि मन को इस आत्मा के शरीर से सम्बन्ध करने में कारण न माना जाये, तो आत्मा के व्यापक होने से सर्वत्र ही ज्ञान की उपलब्धि होनी चाहिये। परन्तु नहीं होती तो स्पर्शवाले शरीर में भी जिस जगह मन जुडता है वहा सुख दुःखादि की उपलब्धि होती

है, अन्यत्र नहीं। 'स्पृक्' इस विशेषण से मूत्र, नख, केश आदि मे मन को गति नहीं होने से आत्मा को ज्ञान नहीं होता]।

यह सत्त्व तीन प्रकार का बतलाया जाता है। शुद्ध, राजस और तामस। इस जन्म से देहान्तर में जाते समय मन के साथ से जो गुण अधिक मात्रा में होगा, दूसरे जन्म में भी वही गुण अधिक मात्रा मे रहेगा। जिस समय मन में शुद्ध सत्त्व की प्रधानता रहती है उस समय जीव अतीत जाति का भी स्मरण करता है। ॐ आत्मा का यह स्मृति के योग्य ज्ञान शुद्ध सात्त्विक मन के योग से होता है। जिस ज्ञान को मान कर पुरुष 'जातिस्मर' अर्थात् पूर्वजन्म को स्मरण करने वाला कहा जाता है। इस प्रकार मन का विवेचन किया। गर्भ के जो अंग सत्त्व (मन) से उत्पन्न होते हैं या जो सत्त्व (मन) के होने पर ही होना सम्भव हैं, उनका वर्णन करते हैं। जैसे—भक्ति, शील, पतिव्रता, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मत्सरता, शूरता, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, मन की अस्थिरता, आदि तथा अन्य अनेक सत्त्व से उत्पन्न होने वाले विकार हैं जिनका सत्त्व का भेद वर्णन करने वाले प्रकरण में करेंगे। यह सत्त्व से उत्पन्न होने वाले अंशों का विषय समाप्त हुआ।

ये सत्त्व नाना प्रकार के हैं। ये सब एक पुरुष में रहते हैं, परन्तु वे सब समय में नहीं रहते। प्राय सत्त्व एक ही रहता है इसलिये मन एक ही प्रकार का कहा जाता है। इनमे जिस एक की प्रधानता रहती है, उसी गुण से वह कहा जाता है। सत्त्व की अधिकता से सात्त्विक, रज की अधिकता से राजस, तम की अधिकता से तामस कहा जाता है ॥ २० ॥

एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्ग-समुदायात्, तस्मादेतदवोचाम—मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चाऽऽत्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च। अस्ति च सत्त्वमुपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार से इन नाना प्रकार के गर्भ के उत्पादक पदार्थों (भावो) के मिलने से गर्भ बनता है। जिस प्रकार जेन्ताक स्वेद में कहे नाना द्रव्यों के समूह से कूटागार बनता है, जिस प्रकार रथ के नाना अंगों के समुदाय से रथ बनता है, उसी प्रकार माता आदि सब छ पदार्थों के मिलने से गर्भ बनता है। इसीलिये हम कहते हैं गर्भ माता से उत्पन्न होता है, पिता से उत्पन्न होता है,

ॐ देखिये सुश्रुत, शारीर स्थान, अध्याय २।

आत्मा से उत्पन्न होता है, सात्म्य से उत्पन्न होता है, रस से उत्पन्न होता है और सत्त्व भी गर्भ की उत्पत्ति मे एक घटक है ॥ २१ ॥

भरद्वाज उवाच—यद्ययमेषां नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिवर्तते गर्भः, कथमयं संधीयते, यदि चापि संधीयते कस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते। तत्र चेदिष्टमेतद्यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवस्तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते, यथा—गौर्गोप्रभवः, यथा-चाश्वोऽश्वप्रभवः इत्येवं सति यदुक्तमग्रे समुदायात्मक इति तदयुक्त, यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभव, कस्माज्जडान्ध-कुब्ज-मूक-वामन-मिन्मिन-व्यङ्गोन्मत्त-कुष्ठ-किलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति। अथाऽत्रापि बुद्धिरेवं स्यात्—स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्ध्या बाद्धव्यमित्यनेन हेतुना न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशा भवन्ति। अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्यात्, एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यादसत्स्वज्ञः। यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च, सविकारश्चात्मा। यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान्वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादिविरहादज्ञः स्यात्, अज्ञत्वादकारणं, अकारणत्वाच्च नात्मेति वाग्वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यादिति होवाच भरद्वाजः ॥ २२ ॥

इस पर भरद्वाज मुनि फिर शंका करते है—यदि इन गर्भकारक भिन्न २ अनेक प्रकार के पदार्थो के समुदाय से गर्भ बनता है, तो यह गर्भ (शुक्र-शोणित) जीव रूप से किस प्रकार से सम्बन्धित होता है। यह भी मान ले कि सम्बन्धित हो जाता है, तो समुदाय के कारण उत्पन्न होने वाला गर्भ किस प्रकार से मनुष्य रूप में हो जाता है ? यदि यह भी मान लिया जाय कि मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न हुआ है इसलिये वह मनुष्य रूप से उत्पन्न होता कहा जाता है ? जिस प्रकार गाय मे गाय उत्पन्न होता है और घोड़े से घोड़ा उत्पन्न होता है, तो पहिले जो यह कहा है कि माता आदि के समुदाय से गर्भ उत्पन्न होता है, यह ठीक नही। और यदि मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति मानोगे तो जड़बुद्धि अंधे, कुबड़े, गूंगे, नाटे, मिन्मिने, श्याममण्डल, पागल, कोढ़ी, किलास आदि के रोगी मनुष्यों से उत्पन्न संतान पिता के समान क्यों नही होती ? अन्धे से अन्धा जड़ से जड़बुद्धि होना चाहिये। परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता। इस पर भी यदि इस प्रकार से मानें कि आत्मा अपने आप चक्षु से रूपो को जानता है, अपने

कानों से ही शब्दों को सुनता है, अपनी नासिका से गन्धों को पहिचानता है, अपनी ही रसना से रसों को पहिचानता है, अपनी ही त्वचा से स्पर्श करता है, अपनी बुद्धि से जानने योग्य बातों को जानता है, इस कारण से जड़ आदि माता पिता से उत्पन्न सन्तान पूर्ण रूप से पिता के समान नहीं होती तो प्रतिज्ञा-हानि दोष आता है। क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा इन्द्रियों के रहते ज्ञानी और न रहते अज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार आत्मा में ज्ञानी और अज्ञानी ये दोनों गुण होने सम्भव हों वह आत्मा विकार-प्रकृतिवाला हो जायेगा, परन्तु आत्मा 'निर्विकार' कहा जाता है। यदि चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त होने पर आत्मा विषयों को जानता है, तो वह निरिन्द्रिय अवस्था में (चक्षु आदि के अभाव में) अज्ञानी बनेगा। अज्ञ होने से अपने उत्पत्ति का कारण भी नहीं हो सकेगा। कारण न होने से आत्मा की सत्ता भी नहीं रही। इसलिये 'आत्मा' यह वचन कहना अर्थरहित शब्दमात्र ही रह जाता है ॥ २२ ॥

आत्रेय उवाच—पुरस्तादेतत्प्रतिज्ञातं—सत्त्वं जीवस्पृक् शरीरेणाभिसंबध्नातीति, तस्मात्तु समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते। तद्वक्ष्यामः—॥ २३ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा—प्रथम यह कहा है कि सत्त्वसंज्ञक मन जीव आत्मा को स्पृक्शरीर के साथ का सम्बन्ध कराता है, क्योंकि समुदाय द्वारा उत्पन्न गर्भ मनुष्य रूप से बनता है, मनुष्य से मनुष्य ही उत्पन्न होता कहा जाता है, उसकी व्याख्या करते हैं ॥ २३ ॥

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति—जरायवण्डस्वेदोद्भिदः। तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा भवति, भूतानामाकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्। तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथा-तथारूपा भवन्ति, तद्यथा कनक-रजत-ताम्र-त्रपु-सीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु। ते यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते, तस्मात्समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते, तद्योनित्वात् ॥ २४ ॥

प्राणियों की योनि चार प्रकार की है। जरायु, अण्ड, स्वेद और उद्भिद् इन चारों प्रकार की योनियों में एक एक योनि के असख्य भेद है, क्योंकि प्राणी की आकृतियों के भेद असख्य हैं।

इन में जरायुज तथा अण्डज प्राणियों के गर्भोत्पादक शुक्र, शोणित आदि पदार्थ जिस जिस योनि में पहुचते हैं, उसी उसी योनि में उसी उसी रूप के हो

जाते हैं। जिस प्रकार पिघले हुए सोना, चांदी, ताम्बा, सीसा आदि मोम से लिप्त मिट्टी के साँचे में डालने पर उसी मोम के आकार के पदार्थ बन जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के साँचे में ढल कर वह मनुष्य रूप के होजाते हैं। इस कारण से समुदाय से उत्पन्न होने वाला गर्भ मनुष्य रूप में उत्पन्न होता है। मनुष्य योनि से उत्पन्न होने से मनुष्य को मनुष्यसे उत्पन्न हुआ कहते हैं ॥२४॥

यच्चोक्तं—यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति, तत्रोच्यते—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्, तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र, सर्वस्य चात्मजानीन्द्रियाणि, तेषां भावाभावहेतुर्दैवं, तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति ॥ २५ ॥

और जो यह कहा है कि यदि मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है, तो जड़ बुद्धि माता पिता की सन्तान इनके समान जड़बुद्धि क्यों नहीं होती, इसका उत्तर यह है—शुक्र-शोणित रूप बीज में जिस जिस अवयव का बीज भाग दूषित रहता है, उसी उसी अवयव में विकृति उत्पन्न हो जाती है। बीज भाग के दूषित न होने से नहीं होती। इसलिये जड़त्व और अजड़त्व अन्वत्व और अनन्वत्व दोनों ही बातों का होना सम्भव है। सब प्राणियों की इन्द्रिया आत्म-कर्म से बनती हैं। इन इन्द्रियों के होने से भाव और न होने से अभाव में दैव कारण होता है। इस कारण से जड़बुद्धि आदि माता पिता से उत्पन्न सन्तान अवश्य ही पिता के समान हो, यह आवश्यक नहीं। वे कभी सदृश होते और कभी नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

न चात्मा सत्स्विन्द्रियेष्वसत्सु वा भवत्यज्ञः, न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा; सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥ २६ ॥

इन्द्रियों के होने पर आत्मा ज्ञानी होता है, यह भी ठीक नहीं है अथवा इन्द्रियों के न होने पर अज्ञानी रहता है, यह भी नहीं। क्योंकि आत्मा कभी भी सत्त्वरहित नहीं रहता। सत्त्व (मन) की विशेषता से ज्ञान विशेष प्राप्त होता है। इसलिये आत्मा का मन के साथ सदा सम्बन्ध रहने पर बाह्य इन्द्रियों के अभाव में भी नित्य ज्ञान होता रहता है। यही आत्म-ज्ञान है ॥ २६ ॥

भवन्ति चात्र।

न कर्तुरिन्द्रियाभावात्कार्यज्ञानं प्रवर्तते।
यैः क्रिया वर्तते या तु सा विना तैर्न वर्तते ॥ २७ ॥

जानन्नपि मृदोऽभावात्कुम्भकृन्न प्रवर्तते ।
श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥ २८ ॥

कर्त्ता को इन्द्रियों के अभाव से बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं होता। जो क्रिया जिन भावों के द्वारा उत्पन्न होती है, उन भावों के बिना वह क्रिया भी नहीं होती। जिस प्रकार घड़े को बनाने की विधि जानने वाला कुम्हार भी, मिट्टी न हो तो घड़ा नहीं बना सकता, इसी प्रकार बाह्य विषय का ज्ञान भी, इन्द्रियाँ न हों तो नहीं होता। इसलिये इन्द्रियों के न होने से आत्मा का ज्ञानी होने का गुण नष्ट नहीं होता। इस महान् आत्मज्ञान के महान् बल रूप अध्यात्म ज्ञान को सुनो ॥ २७-२८ ॥

इन्द्रियाणि च संक्षिप्य मनः संगृह्य चञ्चलम् ।
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥ २९ ॥
सर्वत्रावहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते ।
गृह्णीष्व चेदमपरं भरद्वाज विनिर्णयम् ॥ ३० ॥
निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतान् यदा ।
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृत ॥ ३१ ॥

इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटा कर, चचल स्वभाव वाले मन को आत्मा से अतिरिक्त विषयों से खींच कर आत्मा में प्रविष्ट करने पर आत्मा आत्मज्ञान में स्थित होता है। इस अवस्था में वह सब प्रकार के ज्ञान में बे-रोकटोक जा सकता है, इसी से बिना इन्द्रियों के भी सब विषयों को देख लेता है। हे भरद्वाज! इसलिये इस तत्त्व को भी निश्चय रूप से ग्रहण करो। जिस समय इन्द्रिया, वाणी, चेष्टायें आदि सब शान्त होती हैं, और सोया हुआ पुरुष स्वप्नावस्था में बाह्य सुख दुःखों को जानता है, तो भी आत्मा को अज्ञ नहीं कहते। तब भी वह ज्ञानवान् ही रहता है ॥ २९-३१ ॥

आत्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किंचिन्न वर्तते ।
नह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥ ३२ ॥
तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च ।
सर्वमेतद्भरद्वाज ! निर्णीतं जहि संशयम् ॥ ३३ ॥ इति ॥

आत्म-ज्ञान—आत्मा को छोड़ कर मनोजन्य या इन्द्रियजन्य ज्ञान अकेला उत्पन्न नहीं हो सकता। सब अवस्थाओं मे ज्ञान का कारण आत्मा ही है, क्योंकि असहाय वस्तु अकेली नहीं रह सकती और न बिना कारण के उत्पन्न हो सकती है। समाधि और स्वप्नावस्था दोनों मे आत्मा ही ज्ञान का कारण

है। इसलिये आत्मा ज्ञानी है, आत्मा ही प्रकृति (विकार नहीं) है, वही सब कार्यों का देखनेवाला और कारण है। हे भरद्वाज ! आत्मा का ज्ञानी होना आदि सब बातों का निर्णय कर दिया। अब संशय को छोड़ दो ॥ ३२-३३ ॥

तत्र श्लोकौ—हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः।
पुनर्वसुमतिर्या च भरद्वाजमतिश्च या ॥ ३४ ॥
प्रतिज्ञाप्रतिषेधश्च विशदश्चाऽऽत्मनिर्णयः।
गर्भावक्रान्तिमुद्दिश्य खुड्डीकां तत् प्रकाशितम् ॥ ३५ ॥

गर्भ के जन्म, निवृत्ति और वृद्धि में जो कारण हैं, उस सम्बन्ध में भगवान् आत्रेय का जो मत है और जो भरद्वाज मुनि का मत है, भरद्वाज की प्रतिज्ञा का दोष आदि पुनर्वसु कृत स्थित आत्म-निर्णय, ये सब बातें इस खुड्डीका गर्भावक्रान्ति नामक अध्याय में भगवान् आत्रेय ने कह दी हैं ॥ ३४-३५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने खुड्डीकागर्भावक्रान्ति-शारीर नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो महतीं गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'महती गर्भावक्रान्ति' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ २ ॥

यतश्च गर्भः संभवति, यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा, यद्विकारश्च गर्भो, यया चानुपूर्व्याभिनिर्वर्त्तते कुक्षौ, यश्चास्य वृद्धिहेतुः, यतश्चास्याऽजन्म भवति, यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति, यतश्च कार्त्स्न्येनाविनश्यन्विकृतिमापद्यते, तदनुव्याख्यास्यामः ॥ ३ ॥

जिन कारणों से गर्भ होता है, जिनसे कि इसकी गर्भ संज्ञा होती है, जिन विकारों का परिणाम गर्भ है, जिस अनुक्रम से गर्भाशय या माता के कोख में गर्भ बनता है, जो इस गर्भ की वृद्धि के कारण हैं, जिन कारणों से इसका जन्म नहीं होता, जिन कारणों से कोख में उत्पन्न होकर भी नष्ट हो जाता है और जिन कारणों से गर्भ सम्पूर्ण रूप से नष्ट न होकर विकृति को प्राप्त हो जाता है, अब उनका वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥

मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भः संभवति। तस्य ये येऽवयवा यतो यतः संभवतः संभवन्ति तान्विभज्य मातृजादीनवयवान् पृथक्पृथगुक्तमग्रे ॥ ४ ॥

माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस, सत्त्व इन छः भावों के समुदाय से गर्भ बनता है। इस गर्भ के जो जो अवयव जिस जिस पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, उन सब माता आदि पदार्थों को पृथक् पृथक् रूप से विभाग करके प्रथम कह चुके हैं ॥ ४ ॥

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ॥ ५ ॥

जिस समय गर्भाशय में शुक्र, शोणित और जीव (आत्मा) का संयोग होता है, उस समय इनकी 'गर्भ' संज्ञा होती है ॥ ५ ॥

गर्भस्तु खल्वन्तरिक्ष–वाय्वग्नि–तोय–भूमि–विकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः। एवमनयैव युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः, स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः ॥ ६ ॥

गर्भ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पंच महाभूतों के विकार तथा चेतना इन छः धातुओं का अधिष्ठान अर्थात् आश्रय है। इस प्रकार से यह पंच महाभूतों के विकार से बना गर्भ चेतना (आत्मा) धातु का आश्रय होता है। यही चेतना (आत्मा) इस गर्भ का छठा धातु कहाता है। [धारण करने से 'धातु' कहाता है। आत्मा गर्भ को धारण करता है, इसलिये इसे भी 'धातु' शब्द से कहा है।] ॥ ६ ॥

यथा चाऽऽनुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ तदनुव्याख्यास्यामः-गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते,पुनः शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्न-योनि-शोणित-गर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे, तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात्सम्भवति, स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्याऽऽर्तवेनाभिसंसर्गमेति ॥ ७ ॥

गर्भाशय में जिस क्रम से गर्भ का विकास होता है उसका वर्णन करते हैं– पुराने ऋतुकाल के क्रम से संचित रज के निवृत्त होने और नये रज के उपस्थित होने पर स्नान क्रिया द्वारा शुद्ध हुई, रोग रहित योनि, आर्तव और गर्भाशयवाली स्त्री को हम 'ऋतुमती' कहते हैं। इस ऋतुमती स्त्री के साथ रोगरहित बीजवाला पुरुष जिस समय संयोग करता है, उस समय हर्ष के कारण

शरीर का श्रेष्ठ धातुस्वरूप शुक्र शरीर के प्रत्येक अंग से उत्पन्न होता है। वह हर्ष के कारण उत्पन्न तथा हर्ष के ही द्वारा प्रेरित होकर आत्मा का आश्रय भूत वह बीज रूप धातु पुरुष के शरीर से बाहर आकर उचित मार्ग से गर्भाशय में प्रवेश करके आर्त्तव के साथ मिलता है ॥ ७ ॥

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्त्तते । स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान्विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति ॥ ८ ॥

सबसे प्रथम मन के साधनवाला चेतना-धातु गुण को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है। उसी चेतना धातु को हेतु, कारण, निमित्त, अक्षर, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा, विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुष, प्रभव, अव्यय, नित्य, गुणी (गुणवान्), ग्रहण (भूतों को ग्रहण करने वाला), प्रधान, अव्यक्त, जीव, ज्ञ, पुद्गल, चेतनावान्, विभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा इन पर्य्यायों से कहते हैं ॥ ८ ॥

स गुणोपादानकालेऽन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते; यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतः सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून्वाय्वादींश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून्वाय्वादींश्चतुरः, सर्वमपि तु खल्वेतद् गुणोपादानमणुना कालेन भवति ॥ ९ ॥

वह चेतना धातु गुणों के उत्पत्ति काल में अन्य वायु आदि गुणों से पूर्व, सब से प्रथम अन्तरिक्ष का ग्रहण करता है। क्योंकि प्रलय के अनन्तर सृष्टि के प्रारम्भ में सृष्टि को बनाने की इच्छा वाला प्रधान, अक्षर, पुरुष, सत्त्व को लेकर सब से प्रथम आकाश को बनाता है। इसके बाद क्रम से अधिक व्यक्त गुणों वाले वायु आदि चार धातुओं को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार देह के ग्रहण करने के अवसर में भी प्रवृत्त हुआ आत्मा सबसे पूर्व आकाश को ही ग्रहण करता है, फिर क्रम से उससे अधिक स्पष्ट गुणों वाले वायु आदि चार धातुओं को लेता है। इनके गुणों का पूर्ण रीति से ग्रहण करना बहुत थोड़े समय में ही हो जाता है। [इस प्रकार आकाश में एक गुण, वायु में दो गुण (शब्द, स्पर्श), अग्नि में तीन गुण

(शब्द, स्पर्श, रूप), जल में चार गुण (शब्द, स्पर्श, रूप और रस) और पृथ्वी में पाच गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) उत्पन्न करता है ।] इसी प्रकार शरीर में गुण उत्पन्न करने में प्रवृत्त होने पर भी सब से प्रथम आकाश के गुण को ही उत्पन्न करता है, इसके पीछे क्रम से स्पष्ट गुणवाले वायु आदि भूतों को उत्पन्न करता है । भूतों के गुणों का ग्रहण बहुत ही थोड़े समय मे हो जाता है । [जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि में सूर्य की किरणें आती हुई नही दीखतीं, परन्तु रुई तिनके के जलने से किरणो का आना प्रतीत होता है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर भूतों के कार्य से इनके गुणों का तथा चेतना धातु का अनुमान होता है] ॥ ६ ॥

स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि समूर्च्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः ॥१०॥

द्वितीये मासि घनः संपद्यते—पिण्ड पेश्यर्बुदं वा, तत्र घनः [पिण्डः] पुरुषः, स्त्री पेशी, अर्बुदं नपुंसकम् ॥ ११ ॥

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च योगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते ॥ १२ ॥

गर्भ का प्रथम रूप खेट—सब गुणों वाला यह चेतना धातु गर्भ रूप में होकर प्रथम मास में मूर्च्छित, निश्चेष्ट, गतिरहित अव्यक्त, सम्पूर्ण धातुओं वाला, श्लेष्मा के पिण्ड के समान होता है, उस समय उसका शरीर अस्पष्ट रूप अगों वाला होता है, उस समय उसके अग पृथक् २ नहीं बने होते । उस समय उसका नाम 'खेट' होता है ।

घन—दूसरे मास में यह गर्भ रूप धातु कठिन, पिण्ड गोल गाठ के आकार का वा पेशी—लम्बो मास पेशी के समान वा अर्बुद—गोल और ऊची गाठ के समान बन जाता है । इन में से घन (पिण्ड) रूप हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री, अर्बुद हो तो नपुसक होता है । तीसरे मास में सम्पूर्ण इन्द्रिया और शिर आदि सब अग तथा आमाशय आदि अवयव एक साथ बनने लगते हैं ॥१२॥

तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान् विभज्य पूर्वमुक्ता यथावत्, महाभूतविकारप्रविभागेन त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गावयवान् कांश्चित्पर्यायान्तरेणापरांश्चानुव्याख्यास्यामः—मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव । तत्रास्याऽऽकाशात्मकं—शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च । वाय्वात्मकं—स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीरः । अग्न्यात्मकं—रूप दर्शन प्रकाश. पक्तिरौष्ण्य च । अबात्मक

रसो रसन शैत्य मार्दवः स्नेहः क्लेदश्च । पृथिव्यात्मक गन्धो घ्राण गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्च ॥ १३ ॥

गर्भ के अंग और अवयवों में से कुछ अवयव जो कि माता आदि से उत्पन्न होते हैं, प्रथम कह चुके हैं। उन प्रथम कहे हुए अवयवों को भी अब दूसरे प्रकार से महाभूतों का प्रविभाग करते हुए क्रम से प्राप्त तथा अन्य न कहे हुए अगों (अवयवों) का भी वर्णन करेंगे।

माता आदि से उत्पन्न होने वाले गर्भ के अवयव भी पाचों महाभूतों के विकार ही है। इनमें इस गर्भ के शब्द, श्रोत्र, लघुता, अति सूक्ष्मता और विवेक ये अंश आकाश से उत्पन्न होते हैं। वायु से स्पर्श, त्वचा, रूक्षता, प्रेरण, धातु रचना और शारीरिक चेष्टायें उत्पन्न होती हैं। अग्नि से रूप, चक्षु, प्रकाश, पाचन और उष्णिमा ये अंश उत्पन्न होते हैं। जल से रस, रसना, शीतलता, कोमलता, स्नेह और क्लेद ये अंश उत्पन्न होते है। पृथिवी से गन्ध, नासिका, भारीपन, स्थिरता और कठिनता ये अंश उत्पन्न होते हैं॥ १३ ॥

एवमयं लोकसमितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे, तावन्तो लोके, इति बुधास्त्वेव द्रष्टुमिच्छन्ति ॥ १४ ॥

पुरुष की लोकतुल्यता—इस प्रकार पाच महाभूतों के विकारो से बना होने के कारण यह पुरुष लोक समित अर्थात् लोक के तुल्य है। लोक में जितने भी आध्यात्मिक अथवा अहकार आदि भौतिक पदार्थ विशेष हैं, उतने ही सब पदार्थ इस पुरुष मे भी है और जितने भाव (पदार्थ) पुरुष में हैं, उतने ही इस लोक में हैं। इस प्रकार से लोक और पुरुष की समानता ज्ञानी पुरुष देखना चाहते है ॥ १४ ॥

एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते, अन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकाल जायन्ते, तद्यथा—दन्ता व्यञ्जनानि व्यक्तीभावः, तथायुक्तानि चापराणि, एषा प्रकृतिः, विकृति पुनरतोऽन्यथा। सन्ति खल्वस्मिन् गर्भे केचिच्च नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः केचित्। तस्य य एवाङ्गावयवाः सतिष्ठन्ते, त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुषलिङ्गं नपुंसकलिङ्गं वा बिभ्रति। ततः स्त्रीपुरुषयोर्ये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुणसंश्रयाश्च, तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः। तद्यथा—क्लैब्यं भीरुत्वमवैशारद्यमनवस्थानमधोगुरुत्वमसहनन शैथिल्यं मार्दवं

तथायुक्तानि चापराणि स्त्रीकराणि, अतो विपरीतानि पुरुषकराणि, उभयभागावयवा नपुंसककराणि ॥ १५ ॥

इस प्रकार से इस गर्भ की इन्द्रियां, अंग और अवयव एक साथ बनने प्रारम्भ हो जाते हैं। परन्तु जो पदार्थ इस गर्भ की उत्पत्ति के पीछे बनते हैं, वे गर्भ में बनने आरम्भ नहीं होते। जैसे—दांत, व्यञ्जन, (मूँछ, दाढ़ी आदि) शुक्र और रज की उत्पत्ति तथा स्थूल मांस आदि ये देर में उत्पत्ति के पीछे बनने प्रारम्भ होते हैं। यह तो मनुष्य की प्रकृति अर्थात् स्वभाव है और इसके विपरीत जब कभी दांत आदि गर्भ में ही बन जाते हैं, तब यह विकृति कहाती है। इस गर्भ में कुछ पदार्थ नित्य होते है। जो जब तक शरीर रहता है तब तक रहते हैं जैसे—हाथ, पांव आदि और कुछ भाव अनित्य हैं जो शरीर के साथ सदा नहीं रहते जैसे—दांत आदि। इस गर्भ में शरीर के साथ जो अंग या अवयव रहते हैं वे ही अवयव स्त्रीलिंग पुरुषलिंग या नपुंसकलिंग के लक्षणों को धारण करते हैं। इनमें स्त्री और पुरुष के लक्षणों में जो विशेष लक्षण भेदक होते हैं, वे प्रधान या मुख्य होते हैं, जिन गुणों की प्रधानता या अधिकता रहती है, वही विशेष लिंग या चिह्न बनते हैं। अधिकता न रहने पर वे विपरीत होते हैं। जैसे—क्लीबता, भीरुत्व, मोह, चञ्चलता, कटि से निचले भाग का भारी होना, शरीर का संगठित न होना, शिथिलता, कोमलता तथा स्तन आदि, अन्य जन्म के उपरान्त होने वाले लक्षणों का होना, स्त्रीलिंग की उत्पत्ति में कारण है। इन लक्षणों से विपरीत लक्षणों का होना पुरुष की उत्पत्ति में कारण है। दोनों प्रकार के अवयव वा लक्षण नपुंसक की उत्पत्ति में कारण हैं॥ १५ ॥

तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत्कालमेवास्य चेतसि वेदना निबन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च, तद्द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धा। मातृजं चास्य हृदयं मातृहृदयेनाभिसंबद्धं भवति रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः, तस्मात्तयोस्ताभिर्भक्तिः संपद्यते। तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न द्वैहृदय्यस्य विमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुं, विमानने ह्यस्य दृश्यते विनाशो विकृतिर्वा, समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्थेषु। तस्मात्प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः॥ १६ ॥

गर्भ की इन्द्रियां जिस समय बनती है, उसी समय चित्त में सुख दुःख के ज्ञान का सम्बन्ध भी हो जाता है। इसलिये तब से लेकर गर्भ स्पन्दन (गति)

किया करता है, वह नाना वस्तुओं की याचना करता है। अतः ज्ञानी पुरुष उस समय माता के शरीर में 'द्वैहृदय्य' अर्थात् दो हृदय को बतलाते है। इस गर्भ का हृदय माता से बनता है, गर्भ का हृदय गर्भ का पोषण करने वाली रसवाहिनी नाड़ियों द्वारा माता के हृदय के साथ सम्बन्धित रहता है। इसलिये माता और गर्भ की इच्छा रसवाहिनी नाडी द्वारा मिली रहती है। उस समय माता की इच्छा गर्भ की इच्छा होती है। इसी कारण को देख कर विद्वान् लोग गर्भवती माता की इच्छा का व्याघात करना उचित नहीं जानते। इस माता की इच्छा का विनाश करने से गर्भ की मृत्यु अथवा गर्भ मे विकार आ जाता है। कुछ बातों में माता और गर्भ का योग और क्षेम (सुख और रक्षा आदि) समान होता है। इसलिये कुशल पुरुष प्रिय और हितकारक उपचारों से गर्भिणी का विशेष रूप से उपचार करते हैं ॥१६॥

तस्या गर्भापत्तेर्द्वैहृदय्यस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेनोपदेक्ष्यामः। उपचारसाधनं ह्यस्याज्ञाने दोषः। ज्ञानं च लिङ्गतः। तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः। आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण श्रद्धाप्रणयनं चोच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थं श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्च चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ १७ ॥

दो हृदयो के लक्षण—स्त्री के गर्भ स्थिर हो जाने और उसके द्वैहृदय्य अर्थात् दो हृदय हो जाने को पहचानने के लिये संक्षेप में लक्षण कहते हैं। लक्षणों का ज्ञान होने से ही परिचर्या ठीक २ प्रकार से होती है। विशेष लक्षणों से ही ज्ञान हो सकता है। इसलिये लक्षणों का उपदेश करना आवश्यक है। जैसे—आर्तव का दिखाई न देना, मुख से पानी बहना, भोजन में अनिच्छा, वमन (प्रात काल मे विशेष), अरुचि, खटाई की विशेष इच्छा, नाना खाद्य पदार्थों में इच्छा, शरीर में भारीपन, आँखों में ग्लानि, स्तनों में दूध, ओठ और चूचकों के चारों ओर खूब गहरे काले रंग का निक्षेप होना, पावों मे थोड़ा थोड़ा सूजन, शरीर में रोमाच, योनि में फैलाव ये गर्भ के आने के उपरान्त (दो-हृदय होने) के लक्षण हैं ॥१७॥

सा यद्यदिच्छेत्तत्तदस्य दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः।

उस समय गर्भिणी जो जो वस्तु चाहे वह वह इसको देनी चाहिये, परन्तु गर्भ को हानि पहुचानेवाले कोई पदार्थ नहीं देना चाहिये।

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावाः । तद्यथा—सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णं दारुणाश्च चेष्टाः । इमाश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः—देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि बिभृयान्न मदकराणि चाद्यान्यभ्यवहरेन्न यानमधिरोहेन्न मांसमश्नीयात्सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेद्यच्चान्यदपि किंचित्स्त्रियो विद्युः ॥ १८ ॥

ये नीचे लिखी बातें गर्भ का नाश करनेवाली हैं। जैसे—बहुत गुरु, बहुत गरम और बहुत तीक्ष्ण सब पदार्थ और दारुण दु:खदायी चेष्टायें गर्भ को हानि पहुँचाने वाला हैं। वृद्ध, ज्ञानी पुरुष नीचे लिखी बातों को भी गर्भ को हानि करने वाली बतलाते हैं। जैसे—देवों और राक्षसों के भृत्यो से बचने के लिये गर्भिणी लाल वस्त्रों को न पहिने, मद करने वाले खाद्य पदार्थों को न खावे, सवारी पर न चढे, मांस नहीं खावे, इन्द्रियो के प्रतिकूल सब बातों का दूर से ही छोड़ देवे। इनके अतिरिक्त और भी जिन २ बातो को वृद्ध स्त्रियो बतलावे उनको भी त्याग देव। [जैसे—कुए में झाँकना, कोठे पर ऊँचा चढ़ना, नदी का तैरना आदि] ॥१८॥

तीव्रायां तु खलु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात्प्रार्थनाविनयनार्थमिति। प्रार्थनासंधारणाद्धि वायुः कुपितोऽन्तः शरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात् ॥ १९ ॥

तीव्र माग होने पर अहितकारक वस्तु भी हितकारक पदार्थ के साथ गर्भिणी को देनी चाहिये। जिससे कि माग या इच्छा या चाह को आघात न पहुँचे। क्योंकि इच्छा का विघात होने से वायु कुपित होकर शरीर के अन्दर फिरता हुआ गर्भ को नाश वा विकृत कर देता है ॥१९॥

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्मात्तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण ॥ २० ॥

चतुर्थ मास मे गर्भ स्थिर हो जाता है। इसलिये तब से गर्भिणी का शरीर भारी होने लगता है ॥२०॥

पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्मात्तदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण ॥ २१ ॥

पाचवे मास में गर्भ के अन्दर अन्य मासों की अपेक्षा मांस और रक्त का अधिक सञ्चय होता है। इसलिये इस मास में गर्भिणी विशेष कमजोर हो जाती है ॥ २१ ॥

षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। तस्मात्तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण ॥ २२ ॥

छठे महिने में और मासों की अपेक्षा गर्भ में बल और वर्ण की वृद्धि विशेष रूप से होती है। इसलिये इस मास में गर्भिणी के अन्दर बल और वर्ण की विशेष हानि होती है ॥ २२ ॥

सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्याय्यते, तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति ॥ २३ ॥

सातवें मास मे गर्भ मे मास, रक्त आदि सब पदार्थ एक साथ बढ़ते हैं। इसलिये इस मास में गर्भिणी के अन्दर मास, रक्त आदि सब प्रकार से घट जाते हैं, अतः वह सब प्रकार से कृश हो जाती है ॥ २३ ॥

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिर्मुहुरोजः परस्परत आददातेगर्भस्यासंपूर्णत्वात्, तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च ग्लाना तथा गर्भः, तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्, त चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते कुशलाः ॥ २४ ॥

आठवे मास में रस को ले जाने वाली रसवाहिनी नाड़ियों द्वारा ओज माता से गर्भ में और गर्भ से माता मे बार बार कभी इधर कभी उधर परस्पर आता जाता रहता है। क्योंकि इस समय गर्भ असम्पूर्ण रहता है। इसलिये इस समय गर्भिणी बार बार प्रसन्न और बार बार ग्लान होती है। इसी प्रकार गर्भ भी बार बार प्रसन्न और बार बार ग्लान होता है। जिस समय ओज माता मे रहता है तब माता प्रसन्न और गर्भ ग्लान और जब ओज गर्भ में रहता है उस समय गर्भ प्रसन्न और माता ग्लान रहती है। इसलिये ओज के स्थिर न होने से गर्भ का जन्म आपत्तिजनक होता है। इस मास में जन्मा हुआ गर्भ निश्चित रूप में जीवित उत्पन्न नही होता। गर्भ में ओज हो तब यदि गर्भ बाहर आये तो बालक जीवित बाहर आता है, परन्तु माता की मृत्यु होना सम्भव है। यदि ओज माता में हो तब गर्भ बाहर आये तो मृत बालक बाहर आता है। इस दृष्टि से ज्ञानी पुरुष आठवे मास को गर्भिणी के सामने नही गिनते। क्योंकि यदि इसी मास की उत्पत्ति को गर्भिणी सुन ले तो सम्भवतः डर जाये। इस भय के कारण वायु कुपित होकर गर्भ का नाश कर सकता है ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात्, एतावान्कालः, परं कुक्षावस्थानं गर्भस्य ॥ २५ ॥

एवमनयाऽऽनुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ ॥ २६ ॥

आठवें मास के व्यतीत होने पर एक दिन चढने पर नवम मास से लेकर दस वें मास तक के समय तक 'प्रसव-काल' कहते हैं। [सुश्रुत मे बारहवें मास तक प्रसव काल माना है। साधारणत. २८० दिन के पश्चात् प्रसव काल होता है]। इसके उपरान्त गर्भ का कुक्षि मे अधिक समय रहना दोषयुक्त, रोग आदि के कारण जानना चाहिये। इस प्रकार उपरोक्त क्रम से गर्भ कुक्षि मे बनता और वृद्धि को प्राप्त होता है ॥ २५-२६ ॥

मात्रादीनां तु खलु गर्भकराणां भावानां संपदस्तथा वृत्तस्य सौष्ठवान्मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात्स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति ॥ २७ ॥

गर्भ की वृद्धि के कारण—गर्भ को बनाने वाले माता-पिता आदि कारणों के उत्तम होने से, आचार की श्रेष्ठता से, उपस्नेह तथा उपस्वेद [शरीर की गरमी जैसे की पक्षियों के शरीर की गरमी से अण्डे पोषित होते हैं] इन गुणों से, काल के परिणाम से और स्वभाव से ही गर्भ गर्भाशय से बढता है ॥२७॥

मात्रादीनां तु खलु गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमस्या जन्म भवति ॥ २८ ॥

ये त्वस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्ययादुदरे विनाशमापद्यतेऽथवाऽप्यचिरजातः स्यात् ॥ २९ ॥

गर्भ को बनाने वाले माता पिता आदि कारणों के दूषित होने से गर्भ का जन्म नहीं होता। जो पदार्थ गर्भाशय मे गर्भ की वृद्धि मे कारण बतलाये हैं, इन के विपरीत होने से गर्भ या तो पेट मे नष्ट हो जाता है, अथवा समय से पूर्व उत्पन्न हो जाता है ॥ २८-२९ ॥

गर्भविकृति के कारण—

यतस्तु कार्त्स्न्येनाविनश्यन्विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः—यदा स्त्रिया दोषप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः शोणितगर्भाशयावुपपद्यन्ते न तु कार्त्स्न्येन शोणितगर्भाशयौ दूषयन्ति तदेयं गर्भं लभते स्त्री। यदा गर्भस्य तस्य मातृजानामवयवानामन्यतमोऽवयवो विकृतिमापद्यते एकोऽथवाऽनेके। यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति, यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभा-

गावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति । यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं रान्ता[1] नाम जनयति। ता स्त्रीव्यापदमाचक्षते ॥ ३० ॥

जिस प्रकार गर्भ सम्पूर्ण रूप से नष्ट न होकर विकृति को प्राप्त हो जाता है, उसका वर्णन करते हैं—जिस समय दोषों को प्रकुपित करने वाले कारणों का सेवन करती हुई स्त्री में प्रकुपित हुए दोष शरीर में फैल कर रक्त और गर्भाशय में पहुच जाते है, परन्तु सम्पूर्ण रूप से रक्त और गर्भाशय को दूषित नहीं करते, उस समय यदि स्त्री को गर्भ रह जाये तो माता से उत्पन्न होने वाले गर्भ के अवयवों मे से किसी एक में अथवा बहुतों में विकार उत्पन्न हो जाता है। जिस जिस अवयव के बीज मे अथवा बीज के एक भाग मे दोष प्रकुपित होते हैं, तब उस उस अवयव में विकृति उत्पन्न हो जाता है। जिस समय स्त्री के रक्त में गर्भाशय का बीज (उत्पत्ति कारण) भाग दूषित हो जाता है, तब तब संतान वन्ध्या (बांझ) उत्पन्न होती है और जब स्त्री का रक्त या गर्भाशय के बीज का एक भाग दूषित होता है, तब 'पूति प्रजा' (सड़े अंगों वाली) सन्तान उत्पन्न होती है। जिस समय स्त्री का रक्त और गर्भाशय के बीज का एक भाग तथा स्त्री को बनाने वाले शरीर के बीजभागों का एक भाग दूषित हो जाता है, तब स्त्री के लक्षणों वाली (उपस्थ, स्तन आदि लक्षणों से युक्त) परन्तु असम्पूर्ण लक्षणों वाली 'रान्ता' या वार्ता नाम की प्रजा को उत्पन्न करते हैं। इसको स्त्री व्यापत् अर्थात् स्त्री के आर्त्तव दोष से उत्पन्न व्यापत्ति या स्त्री शरीर की रचना में होने वाली हानि कहते हैं ॥ ३० ॥

एवमेव यदा पुरुषस्य बीजे बीजभाग प्रकोपमापद्यते, तदा वन्ध्य जनयति। यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजा जनयति। यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुष तृणपूलिक नाम जनयति, ता पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार पुरुष के बीज में बीज का भाग दोष युक्त होता है, तब पुरुष वन्ध्य को उत्पन्न करता है और जब पुरुष के बीज मे पुरुष को उत्पन्न करने वाले बीज का एकभाग दूषित होता है तब 'पूति प्रजा' अर्थात् दुर्गन्धयुक्त अंगों वाली संतान उत्पन्न होती है और जब पुरुष के बीज को

---

१ 'वार्ता नाम' इति च पाठः।

उत्पन्न करने वाले बीज का कोई एक भाग का भी कोई अंश दूषित होता है, तथा पुरुष-शरीर को बनाने वाले भागों का एक अंश दूषित हो जाता है, तब पुरुष के समान बहुत सी आकृति वाला, जो वास्तव में पुरुष नहीं होता ऐसे 'तृण पूलिक' नामक संतान को उत्पन्न करता है। इसको पुरुष व्यापत् कहते हैं, [क्योंकि यह पुरुष से प्राप्त होने वाले और पुरुष शरीर को बनाने वाले बीजांश-दोष से गर्भ में विघ्न आता है] ॥ ३१ ॥

एतेन मातृजानां पितृजानां चावयवानां विकृतिव्याख्यानेन सात्म्य-जानां रसजानां सत्त्वजानां चावयवानां विकृतिर्व्याख्याता ॥ ३२ ॥

इस प्रकार माता पिता से उत्पन्न होने वाले अवयवों की विकृति के वर्णन से सात्म्य, रस और सत्त्व इन से होने वाले अवयवों की विकृति का भी वर्णन हुआ जान लेना चाहिए ॥ ३२ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः। सत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः ॥ ३३ ॥

गर्भ आत्मजन्य भी है, परन्तु इस कारण से गर्भ में विकार उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि श्रेष्ठ आत्मा निर्विकार (विकार-रहित) है। वह सब प्राणियों में समान रूप से रहता है। मन और शरीर की विशेषता से इसे सुख-दुःख आदि का विशेष ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

तत्र त्रयस्तु शरीरदोषाः वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीरं दूषयन्ति। द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च, तौ सत्त्वं दूषयतः। ताभ्यां च सत्त्व-शरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम् ॥३४॥

शरीर के तीन दोष होते हैं, वात, पित्त और कफ। ये दोष शरीर को दूषित करते हैं। मन के दो दोष हैं रज और तम। ये दोनों मन (सत्त्व) को दूषित करते हैं। इन दोनों—मन और शरीर के दुष्ट होने से विकार उत्पन्न होता है और इनके दूषित न होने से विकृति भी नहीं होना ॥ ३४ ॥

तत्र शरीरं योनिविशेषाच्चतुर्विधमुक्तमग्रे ॥ ३५ ॥

प्रथम 'खुड्डीका अध्याय' में कह चुके हैं कि योनि भेद से यह शरीर चार प्रकार का (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज) है ॥ ३५ ॥

त्रिविधं खलु सत्त्वं—शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोष-माख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तथा तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥ ३६ ॥

तेषा तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतम-योगाच्छरीर-योनि-विशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च । शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरं । तस्मात्कतिचिच्च सत्त्वभेदाननू- कसादृश्याभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यामः ॥ ३७ ॥

सत्व (मन) तीन प्रकार का है । शुद्ध, राजस और तामस । इनमें शुद्ध (सात्विक) दोषरहित है, क्योंकि यह शुभ (कल्याण) कामना का अश है । राजस दोष युक्त है ? क्योंकि वह रोष का अश है । तामस भी दोष युक्त है क्योंकि वह मोह का अश है । इन तीनों सत्वों में से एक एक के भेद तर, तम, योग से शरीरविशेष, योनि विशेष और एक दूसरे में परस्पर मे मिले होने से असख्य हो जाते है । शरार भी सत्व (मन) के अनुसार होता है और मन शरीर के अनुसार होता है । इनमे से कुछ भेदों की तुल्यता दिखाते हुए यहा पर दृष्टान्त रूप में बतलाते है ॥ ३६-३७ ॥

तद्यथा—शुचिं सत्याभिसंधं जितात्मानं सविभागिनं ज्ञान-विज्ञा-न-वचन-प्रतिवचन-शक्ति-सपन्न स्मृतिमन्तं काम-क्रोध-लोभ-मान-मोहेर्ष्या-हर्षामर्षापेत सम सर्वभूतेषु ब्राह्म विद्यात् ॥ ३८ ॥

सात्विक चित्तो के सात भेद—(१) ब्राह्म—पवित्र, सत्य प्रतिज्ञावाला, जितात्मा, सम्पत्ति और सत्फल को अन्यों में बाटकर भोगने वाला, ज्ञान-विज्ञान, वचन-प्रतिवचन की शक्ति से युक्त, स्मृतिमान्, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, मोह, ईर्ष्या, हर्ष और क्रोध से रहित, सब प्राणियों में सम बुद्धि रखने वाला हो उसे ब्राह्म प्रकृति जाने ॥ ३८ ॥

इज्याध्ययन-व्रत-होम-ब्रह्मचर्य-परमतिथिव्रतमुपशान्त-मद-मान—राग-द्वेष-मोह-लोभ-रोष प्रतिभा-वचन-विज्ञानोपधारण-शक्ति-संपन्नमार्षं विद्यात् ॥ ३९ ॥

(२) आर्ष—जो यज्ञ करने वाला, अध्ययनशील, व्रत का पालक होम-शील ब्रह्मचर्य्य का पालक, अतिथि का पूजक, मद, मान राग, द्वेष, मोह, लोभ और रोष से रहित, प्रतिभा से युक्त वचन, विज्ञान, उपधारण इन शक्तियों से सम्पन्न पुरुष हो उसको आर्ष चित्त वाला जाने ॥ ३६ ॥

ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्य यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लि-ष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात् ॥ ४० ॥

(३) ऐन्द्र—जो ऐश्वर्यवान्, ग्रहण करने योग्य वाक्य वाला, यज्ञ करने वाला, शूर, ओजस्वी, तेज से युक्त, साहसिक (बुरे, दूसरे पर आघात पहुँचाने

वाले) क्रूर कर्मों को न करने वाला, दूरदर्शी, धर्म, अर्थ और काल दत्तचित्त पुरुष को 'ऐन्द्र' समझे ॥ ४० ॥

लेखास्थवृत्तं प्राप्तकारिणमसंप्रहार्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यलम्भिनं व्यपगतराग-द्वेष-मोहं याम्यं विद्यात् ॥ ४१ ॥

(४) याम्य—जो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की मर्यादा के भीतर रहनेवाला, प्राप्तकारी, (अवसर के अनुसार काम करने वाला), असप्रहार्य अर्थात् जिस पर कोई प्रहार न कर सके या जिसकी मार रोकी न जा सके, उन्नतिशील, स्मृतिमान्, ऐश्वर्यशील, राग, द्वेष, मोह से रहित पुरुष हो उसको 'याम्य' जाने ४१

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहार-रतिमक्लिष्टकर्माण स्थानकोपप्रसादं वारुण विद्यात् ॥ ४२ ॥

(५) वारुण—जो शूरवीर, धीर, पवित्र और मैलेपन से द्वेष करनेवाला यज्ञ करने वाला, जल क्रीड़ा में रत, क्लिष्ट कर्मों से भिन्न सुख से होने वाले कर्मों को करने वाला, उचित स्थान में कोप तथा प्रसाद करने वाला पुरुष हो उसको 'वारुण जाने ॥ ४२ ॥

स्थान मानोपभोगपरिवारोपसपन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसाद कौबेरं विद्यात् ॥ ४३ ॥

(६) कौबेर—जो स्थान, मान, उपभोग, सामग्री, परिवार (कुटुम्ब) से युक्त, नित्य धर्म, अर्थ और काम में तत्पर, पवित्र सुखपूर्वक विहार विनोद करने वाला, उचित स्थान पर कोप और प्रसन्नता प्रकट करने वाला पुरुष हो उसको 'कौबेर' प्रकृति का जाने ॥ ४३ ॥

प्रिय-नृत्य गीत-वादित्रोल्लापक-श्लोकाख्यायिकेतिहास-पुराणेषु कुशलं गन्ध-माल्यानुलेप-नव-वसन-स्त्रीविहार-नित्यमनसूयक गान्धर्वं विद्यात्

(७) गान्धर्व—जो नृत्य, गीत, बाजे, स्तोत्र, श्लोक, आख्यायिका, इतिहास, पुराणों को पसन्द करने वाला, इनमें कुशल, सुगन्ध, माला, अनुलेपन, वस्त्र, स्त्रियों के साथ विहार करने वाला, अनिन्द्य पुरुष हो उसको 'गान्धर्व' जाने ॥ ४४ ॥

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य, सप्तविधं भेदांशं विद्यात्कल्याणांशत्वात्, संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ ४५ ॥

ये शुद्ध सत्त्व के सात भेद हैं, ये शुभ या कल्याण के अंश है। इसके सयोग होने से 'ब्राह्म' को ही सब से अधिक शुद्ध निर्दोष जाने ॥ ४५ ॥

राजस सत्त्व के ६ भेद—

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात् ॥ ४६ ॥

(१) आसुर—जो शूरवीर, प्रचण्ड, दूसरे की निन्दा करने वाला, ऐश्वर्यशाली, छल कपट करने वाला, रुद्र के तुल्य कोप से शत्रुओं को रुलाने वाला, भयकर, दूसरों पर दया न करने वाला, अपनी ही बड़ाई चाहने वाला, आत्माभिमानी हो उसको 'आसुर' जाने ॥ ४६ ॥

अमर्षणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतम स्वप्नायासबहुलमीर्षुं राक्षसं विद्यात् ॥ ४७ ॥

(२) राक्षस —जो असहनशील, कारण से कुपित होने वाला, छिद्र अर्थात् शत्रु के कमजोर स्थान पर चोट करने वाला, क्रूर, भोजन में अधिक रुचि रखने वाला, मांस का बहुत प्यारा, खूब सोने और खूब परिश्रम करने वाला, ईर्ष्याशील हो उसको 'राक्षस' चित्त वाला जाने ॥ ४७ ॥

महाशनं(शनं) स्त्रैणं स्त्रीरहस्कामम‌शुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृत-विहाराहार-शील पैशाचं विद्यात् ॥ ४८ ॥

(३) पैशाच—जो बहुत खाने वाला, स्त्री के समान स्वभाव का, स्त्रियों के साथ एकान्त मे रहने की इच्छावाला, अपवित्र, शुद्धता वा स्वच्छता से द्वेष करनेवाला, भीरु, दूसरों को डरानेवाला, विकृत आहार और विकृत विहार वाला हो उसको 'पैशाच' स्वभाव का जाने ॥ ४८ ॥

क्रुद्धं शूरमक्रुद्धं भीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात् ॥ ४९ ॥

(४) सार्प—जो क्रोधित होने पर शूर और अक्रोधित होने पर भीरु, तीखे स्वभाव का, परिश्रम करनेवाला, भययुक्त स्थानों मे भी दीखनेवाला और आहार विहार करने वाला हो उस पुरुष को 'सार्प' स्वभाव का जाने ॥ ४९ ॥

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ॥ ५० ॥

(५) प्रैत—जो सदा भोजन की इच्छा करने वाला, बहुत दु.खकारी शील और आचार और उपचार से युक्त, निन्दा करने वाला, दूसरों को अपने धन में से भाग न देने वाला, बहुत लोभी, कर्म न करने वाला पुरुष हो उसको 'प्रैत' अर्थात् प्रेत स्वभाव का जाने ॥ ५० ॥

अनुषक्तकाममजस्रमाहार-विहार-परमनवस्थितममर्षिणमसंचयं-शाकुनं विद्यात् ॥ ५१ ॥

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विध भेदांशं विद्याद्रोषांशत्वात् ५२

(६) शाकुन—जो कामों में फंसा हुआ, निरन्तर आहार-विहार में लिप्त, चंचल, असहनशील, सञ्चय न करने वाला पुरुष हो उसको 'शाकुन' जाने। इस प्रकार से रोष अर्थात् क्रोध के अंश होने से राजस सत्त्व के ये छः भेद जाने ॥ ५१–५२ ॥

तामस के तीन प्रकार—

निरलंकरिष्णुमधमवेशं जुगुप्सिताचाराहार-मैथुन-परं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात् ॥ ५३ ॥

(१) पाशव—जो शरीर को अलकृत करने की इच्छा न रखने वाला, अपवित्रस्वभाव, निन्दितआचार और भोजनवाला, मैथुनकामी, सोने के स्वभाववाला पुरुष हो उसको 'पाशव' प्रकृति का जाने ॥ ५३ ॥

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्त-काम-क्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥ ५४ ॥

(२) मात्स्य—जो डरपोक, अज्ञानी, भोजन का लोभी, अस्थिरचित्त, चंचल, काम और क्रोध में फंसा हुआ, भ्रमणशील, पानी की अधिक चाह करनेवाला हो उसको 'मात्स्य' प्रकृति का जाने ॥ ५४ ॥

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्या हीनं वानस्पत्यं विद्यात् ५५

इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात् ५६

(३) वानस्पत्य—जो आलसी, केवल भोजन में ही दत्तचित्त, सब प्रकार के ज्ञान या बुद्धि से रहित जड़ पुरुष हो उसको 'वानस्पत्य' अर्थात् स्थावर प्रकृति का जाने। इस प्रकार से मोह का अंश होने से तामस सत्त्व के तीन भेद हैं ॥ ५५–५६ ॥

इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः, शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षि-शक्र-वरुण-यम-कुबेर-गन्धर्व-सत्त्वानुकारेण, राजसस्य षड्विधो दैत्य-राक्षस-पिशाच-सर्प-प्रेत-शकुनि-सत्त्वानुकारेण, तामसस्य त्रिविधः पशु-मत्स्य-वनस्पति-सत्त्वानुकारेण। कथं च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति। केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति गर्भावक्रान्तिसंप्रयुक्तः। तस्यार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्य—गर्भकराणां च भावानामनुसमाधिर्विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥५७॥

इस प्रकार से तीनों प्रकार के सत्त्वों (चित्तों) के असंख्य भेद होने पर भी कुछ भेदों के कुछ अंश की व्याख्या कर दी है। ब्रह्म, ऋषि, शुक्र, यम,

वरुण, कुबेर, गन्धर्व इनके सत्त्व के अनुसार क्रम से शुद्ध सत्त्व के सात भेद हैं। दैत्य, पिशाच, राक्षस, सर्प, प्रेत और शकुनि इनके सत्त्व के अनुसार राजस सत्त्व के छः भेद हैं। पशु, मत्स्य और वनस्पति इनके सत्त्व के अनुसार तामस सत्त्व के तीन भेद हैं। किस प्रकार से इन सत्त्वों के अनुसार प्राणियों के साथ बर्त्ताव हो, इसका दिग्दर्शन करा दिया है। इस प्रकार से प्रतिज्ञानुसार यह गर्भावक्रान्ति प्रकरण सम्पूर्ण रूप मे कह दिया है। इसमें जानने के प्रयोजन, गर्भकारक भावों के अनुष्ठान, गर्भ के नाश करने वाले कारणों को इस अध्याय मे सम्पूर्ण रूप मे कह दिया है ॥५७॥

तत्र श्लोकाः—निमित्तमात्मा प्रकृतिर्वृद्धिः कुक्षौ क्रमेण च।
वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसञ्ज्ञिताः ॥ ५८ ॥
अजन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावपि।
इमांस्त्रीनशुभान् भावानाहुर्गर्भविघातकान् ॥५९॥
शुभाशुभसमाख्यातानष्टौ भावानिमान् भिषक्।
सर्वथा वेद यः सर्वान् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥६०॥
अवाप्त्युपायान् गर्भस्य स एव ज्ञातुमर्हति।
ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्युदारधीः ॥६१॥

गर्भ के लिये पांच बातें शुभ है—गर्भ का कारण, आत्मा, प्रकृति, बुद्धि और गर्भ का कुक्षि में बढने का कारण। ये पांच अर्थ गर्भ के लिये शुभ कहाते हैं। गर्भ के न होने मे कारण, गर्भ के विनाश में तथा विकार में कारण ये तीन बातें गर्भ को नाश करनेवाले 'अशुभ' कहे जाते हैं। जो वैद्य इन शुभ-अशुभ रूपी आठों बातों को भली प्रकार से जानता है, वह राजा की चिकित्सा करने योग्य है। उदार, विशाल बुद्धिवाले वैद्य को गर्भ की रक्षा या प्राप्ति के उपाय तथा गर्भ के नाश करनेवाले कारण भी जानने चाहिये ॥५८-६१॥

इत्यग्निवेश कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने महतीगर्भाव-
क्रान्तिशारीर नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः पुरुषविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'पुरुषविचय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पुरुषोऽयं लोकसंमित इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके, इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतावता वाक्येनोक्तं वाक्यार्थमवगाहामहे, भगवता बुद्धया भूयस्तरमनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामहे—इति।

ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उपदेश किया है कि यह पुरुष लोक के तुल्य है, लोक में जितने भी विशेष भाव (पदार्थ) है, वे सब इस पुरुष (शरीर) में हैं, और जितनी बाते इस पुरुष मे हैं, उतनी ही सब लोक में हैं, इस प्रकार कहते हुए भगवान् पुनर्वसु को शिष्य अग्निवेश ने कहा—हे भगवन् ! इतना कह देने से ही हम सम्पूर्ण वाक्यार्थ नहीं समझ सकते। हे भगवन् ! आपकी बुद्धि से हम अधिक विस्तार में इसको सुनना चाहते हैं।

तमुवाच भगवानात्रेयः—अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषाः, पुरुषावयवविशेषा अप्यपरिसंख्येयाः। तेषां यथास्थूलं भावान् सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः, तानेकमना निबोध सम्यगुपवर्ण्यमानानग्निवेश ! षड्धातवः समुदिता 'लोक' इति शब्दं लभन्ते। तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते ॥ ३ ॥

इस पर अग्निवेश को भगवान् आत्रेय ने कहा—लोक के विशेष अवयव (वृक्ष, तृण, पशु आदि) तथा पुरुष के विशेष अवयव (स्नायु, कण्डरा, धमनी आदि) भी असख्य हैं। परन्तु यहा पर मोटी मोटी बातो का सामान्य रूप से दिग्दर्शन करायेंगे। हे अग्निवेश ! उनका वर्णन एकाग्र-चित्त होकर ध्यान से सुनो ! छ धातुऐ मिलकर एक समुदाय 'पुरुष' नाम से कहे जाते हैं। अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और अव्यक्त ब्रह्म। इन छ धातु का समुदाय मिलकर 'पुरुष' ऐसा कहा जाता है ॥ ३ ॥

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसंतापो, वायुः प्राणो, वियच्छुषिराणि, ब्रह्माऽन्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यस्त्वादानं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादो, वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः, मरुदुत्साहो, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहो, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं,

यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्यं, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति । एवमनुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेश ! सामान्य विद्यात् ॥ ४ ॥

इस पुरुष मे पृथिवी कठिन भाग है, क्लेद अर्थात् जलवाला अंश आप (जल) है, तेज उष्णिमा है, वायु प्राण है, आकाश छिद्ररूप है, ब्रह्म आत्मा है। जिस प्रकार लोक में ब्रह्म की विभूति है उसी प्रकार पुरुष मे अन्तरात्मा की विभूति (ऐश्वर्य) है। लोक मे ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति 'सत्त्व' है। लोक में जो इन्द्र है, पुरुष मे वही अहङ्कार है। लोक में जो आदित्य है, पुरुष में वही आदान है। लोक मे जो रुद्र है पुरुष में वही रोष (क्रोध) है। लोक का सोम पुरुष मे प्रसाद है। लोक में जो वसु हैं, वे पुरुष मे सुख हैं। लोक के दो अश्विनी हैं, पुरुष मे वे दो कान्तिरूप हैं। लोक मे जो मरुत हैं पुरुष मे वह उत्साह है। लोक में जो विश्वेदेव हैं, पुरुष में वे इन्द्रिया और इन्द्रियों के विषय हैं। लोक का तम पुरुष मे मोह है। लोक की ज्योति पुरुष में ज्ञान है। जिस प्रकार लोक में सर्ग अर्थात् सृष्टि का प्रारम्भ है उसी प्रकार पुरुष में गर्भाधान क्रिया है। जिस प्रकार लोक में सतयुग है उसी प्रकार पुरुष में बाल्य-अवस्था है। जिस प्रकार लोक में त्रेतायुग है उसी प्रकार पुरुष में यौवन है। जिस प्रकार लोक में द्वापर है उसी प्रकार पुरुष में बुढापा है। जिस प्रकार लोक में कलियुग है उसी प्रकार पुरुष में रोग है। जिस प्रकार लोक में युग का समाप्ति है उसी प्रकार पुरुष में मृत्यु है। इस प्रकार से हे अग्निवेश ! लोक और पुरुष इन दोनों के उन २ विशेष अवयवों की समानता को अनुमान के द्वारा जान लेना चाहिये जिनका यहा वर्णन नही किया है ॥ ४ ॥

इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—एवमेतत्सर्वमनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम् । किन्वस्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ५ ॥

इस प्रकार से कहते हुए भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने कहा—हे भगवन् ! आपने जो लोक और पुरुष की समानता कही है वह बिना किसी अपवाद के निर्विवाद ठीक है। परन्तु इस समानता के उपदेश का प्रयोजन क्या है ? ॥ ५ ॥

भगवानुवाच—कथमग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके समनुपश्यतः सत्या बुद्धिः समुत्पत्स्यते इति, सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो

भवत्यात्मैव सुखदुःखयो कर्ता नान्य इति, कर्मात्मकत्वाच्च हेत्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञान पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति। तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्द', षड्धातुसमुदायो हि सामान्यत' सर्वलोकः ॥ ६ ॥

भगवान् बोले—हे अग्निवेश क्योंकि–अपने में सम्पूर्ण लोक और सम्पूर्ण लोक में अपनी समानता देख कर 'सत्य बुद्धि' उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण लोक को अपने में देखने से प्रतीत होता है कि अपना आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता है और दूसरा नहीं। कर्म के कारण यह सब कुछ होने से तथा आगे कहे जाने वाले हेतु आदि से 'मैं सम्पूर्ण लोक हू' ऐसा जान लेने पर ही मोक्ष के लिये प्रथम ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यहा 'लोक' शब्द सयोग की अपेक्षा से है। छः धातुओं का समुदाय ही सामान्यत' 'सर्वलोक' है ॥ ६ ॥

तस्य हेतुरुत्पत्तिर्वृद्धिरुपप्लवो वियोगश्च। तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणं, उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराप्यायनं, उपप्लवो दुःखागम। षड्धातुविभागो वियोग', स जीवापगमः, स प्राणनिरोधः, स भङ्ग', स लोकस्वभावः। तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः। प्रवृत्तिर्दुःख निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्य, तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञान, तत्प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति ॥ ७ ॥

उसके उत्पत्ति, वृद्धि, उपप्लव और वियोग ये पाच हेतु हैं। इनमें से उत्पत्ति के कारण को 'हेतु' कहते हैं। उत्पत्ति का अर्थ 'जन्म' है। वृद्धि का अर्थ है बढ़ना। दु ख का आना 'उपप्लव' है, छ धातुओं के विभाग का नाम 'वियोग' है, यही जीव का देह से पृथक् होजाना है। इसी को प्राण का नाश और इसी को 'भग' कहते हैं। यह लोक का स्वभाव है। सब सुख दुःखों की प्रवृत्ति इसका मूल कारण है। सब से उपरम निवृत्ति है। प्रवृत्ति दु.ख है, निवृत्ति सुख है। जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सत्य है। इस सत्य ज्ञान का कारण सम्पूर्ण लोक की समानता का ज्ञान होना है। समानता के उपदेश करने का यही प्रयोजन है ॥ ७ ॥

अथाग्निवेश उवाच—किंमूला भगवन्! प्रवृत्तिर्निवृत्तौ वा उपाय इति ॥ ८ ॥

अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन्? ससाररूप प्रवृत्ति का कारण तथा मोक्ष रूप निवृत्ति का उपाय क्या है? ॥ ८ ॥

भगवानुवाच—मोहेच्छा-द्वेष-कर्म-मूला प्रवृत्तिः, तज्जा ह्यहङ्कार-सङ्ग-संशयाभिसंप्लवाभ्यवपात-विप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुणमिव द्रुम-

मतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ते, यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्तते ।

भगवान् आत्रेय बोले—मोह (मिथ्याज्ञान), इच्छा, द्वेष और कर्म (धर्माधर्म) इनके कारण से प्रवृत्ति होती है। जैसे—एक छोटे वृक्ष को इसी वृक्ष से उत्पन्न बहुत बड़ी बड़ी शाखायें और अन्य अनेक वृक्ष घेर लेते है, उसी प्रकार इन मोह आदि से उत्पन्न अहंकार (मैं हू ऐसा भाव), अच्छा बुरा सग, सशय, अभिसप्लव (अपने को सब कुछ मानना), अभ्यवपात (बाह्य सम्बन्धों की ममता में फसना), विप्रत्यय (विपरीत प्रतीति करना), अविशेष (धर्म अधर्म आदि मे समान प्रतीति) और अनुपाय (स्नान, मार्जन, होम, जप, अग्नि में प्रवेश आदि अवास्तविक उपायो का अवलम्बन) पुरुष को घेर कर स्वय प्रबल हो जाते हैं। इनसे दब कर पुरुष अपनी वास्तविक सत्ता वा प्रवृत्ति के कारण को नहीं जान सकता।

तत्रैवजाति-रूप-वित्त-वृत्त-बुद्धि-शील-विद्याभिजन-वयो-वीर्य-प्रभाव-सपन्नोऽहमित्यहङ्कारः, यद्यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः। कर्मफल-मोक्ष-पुरुष-प्रेत्यभावादयःसन्ति वा नेति सशयः,सर्वास्ववस्थास्वनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरीरेन्द्रिय-बुद्धि-स्मृति-विशेषराशिरिति ग्रहणमभिसप्लवः, मम मातृ पितृ-भ्रातृ-दारापत्य-बन्धु-मित्र-भृत्य-गणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः, कार्याकार्य-हिताहित-शुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः, ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः, प्रोक्षणानशनाग्निहोत्र-त्रिःसवनाभ्युक्षणावाहन-यजन-याजन याचना-सलिल-हुताशन-प्रवेशादयः समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्यनुपायाः।

इस अवस्था मे वह जाति, रूप, वित्त, आचार, बुद्धि, शील, विद्या, कुटुम्ब, वय, वीर्य, प्रभाव से मैं ऐश्वर्यशाली हूँ ऐसा भाव होना 'अहङ्कार' है। मन, वाणी, शरीर के जो कार्य मोक्ष के लिये न हों वह 'सग' है। कर्मों के फल, मोक्ष, पुरुष (आत्मा) प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म आदि है या नहीं इसका नाम 'सशय' है। सब अवस्थाओं में मैं ही एक मात्र हूँ, मैं ही स्रष्टा हूँ, मै स्वभाव से सिद्ध हूँ, मै ही शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्मृति विशेष का समूह हूँ-ऐसा समझना अभिसप्लव है। मेरी माता, मेरे पिता, मेरे भाई, मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरे बन्धु, मेरे मित्र, मेरे भृत्य आदि और मै इनका हूँ, इसी का नाम ममता 'अभ्यवपात' है। कार्य-अकार्य, हित-अहित, शुभ-अशुभ में विपरीत (कार्य में अकार्य और अकार्य में कार्य आदि का) ज्ञान होना 'विप्रत्यय' है। ज्ञानी-अज्ञानी

प्रकृति-विकार, प्रवृत्ति-निवृत्ति इनमे समानता देखना 'अविशेष' है। प्रोक्षण, उपवास, अग्निहोत्र, तीनवार भली प्रकार स्नान, अभ्युक्षण (जल से मार्जन), आवाहन, यजन, याजन, याचना (प्रार्थना) जल में प्रवेश या अग्नि में प्रवेश आदि कर्म परम मोक्ष के उपाय नहीं हैं, तो भी उनको उपाय समझना यह 'अनुपाय' है।

एवमयमधी धृति-स्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः सक्तः ससंशयोऽभिसंप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्त्व-शरीर-दोष-मूलानां मूलं सर्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिं, सा च मूलमघस्य ॥ ९ ॥

इस प्रकार से यह पुरुष बुद्धि, धृति और स्मृति से रहित, अहंकार से अहङ्कारी होकर, मोक्ष से दूर करने वाले कार्यों में फंस कर, कर्मफल, मोक्ष, आत्मा आदि मे सन्देह करता हुआ, अपने को ही कर्त्ता, धर्त्ता आदि सब कुछ समझता हुआ, 'ये मेरे मैं इनका' इस ममता के गढ़े मे गिरा हुआ, अन्यथा-दृष्टि अर्थात् सम्यग् दृष्टि से रहित होकर, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि में विशेष विवेक न करता हुआ, विपरीत मार्ग से चलता हुआ चित्त और शरीर के दोषों से उत्पन्न होने वाले समस्त दुःखों का निवास वृक्ष हो जाता है। इस प्रकार से अहकार आदि आठ दोषों के कारण चक्कर खाता हुआ प्रवृत्ति (ससार), से निकल नही सकता और यह प्रवृत्ति ही पाप का कारण है ॥९॥

निवृत्तिरपवर्गस्तत्परं तत् प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म स मोक्षः। तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि व्याख्यास्यामः—

निवृत्ति का नाम 'अपवर्ग' है। यही परम सर्वश्रेष्ठ शान्त पद है, यही अक्षर, यही ब्रह्म और इसी को मोक्ष कहते है। इस प्रसग में मुमुक्षु पुरुषों के लिये उन्नति के उपायों का उपदेश करते हैं।

तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाऽऽचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानं, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रान्वगमनं[1], तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनमसतां परिवर्जनं, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिष्वात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसंकल्पनमप्रार्थनमनभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका,

१. 'सर्वप्रवृत्तिष्वघसंज्ञा' इति च पाठः।

दण्डधारणं, भैक्ष्यचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्नोऽभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्ण-शुष्क-पर्ण-तृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रा-निद्रालस्यादि-कर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थित-गत-प्रेक्षिताहार-प्रत्यङ्ग-चेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कार-स्तुति-गर्हा-वमान-क्षमत्वं, क्षुत्पिपासायास-श्रम-शीतोष्ण-वात-वर्षा-सुख-दुःख-संस्पर्श-सहत्वं, शोक-दैन्योद्वेग-मद-मान लोभ-रागेर्ष्या-भय-क्रोधादिभिरसचलनम्, अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा, लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहोऽपवर्गाय धी-धृति-स्मृति-बलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि, चेतस आत्मनश्च धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानं, अभीक्ष्णं सर्वं कारणवद् दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्वप्रवृत्तिषु दुःखसंज्ञा[1], सर्वसंन्यासेषु सुखमित्यभिनिवेशः एष मार्गोऽपवर्गाय। अतोऽन्यथा बध्यत इत्युदयनानि व्याख्यातानि ॥ १० ॥

लोक में दोष देख कर मुमुक्षु पुरुष का सब से प्रथम आचार्य के पास जाना, आचार्य के उपदेश के अनुसार आचरण करना, अग्नि और अग्नि के तुल्य आचार्य की सेवा करना, धर्मशास्त्र का सम्पूर्ण अध्ययन करना, धर्मशास्त्र के अर्थ का ज्ञान, अर्थज्ञान में धैर्य, दृढ़ता रखना, शास्त्र के अनुसार क्रिया करना, सत्पुरुषों की सेवा, दुर्जनों का परित्याग, दुर्जन के साथ मेल न करना, मन, वचन से सत्य का पालन, सब प्राणियों का हितकारी रहना, कठोर भाषण न करना, मधुर और समय पर परीक्षा करके बोलना, सब प्राणियों पर अपने समान प्रेम दृष्टि रखना, किसी भी स्त्री का स्मरण न करना, न स्त्रियों का सङ्कल्प करना, न उनसे कोई प्रार्थना करना और न उनसे बातचीत करना, सब प्रकार के परिग्रहों का त्याग, कटि को ढांपने मात्र तथा ब्रह्मचर्य रक्षा के लिये कौपीन का ही धारण करना, कन्था (गूदड़ी) को सीने के लिये सूई और सूई रखने का पात्र, शौच क्रिया के लिये जलपात्र (कमण्डलु), दण्ड का धारण करना, भिक्षा अर्थात् मधुकरी के लिये पात्र, प्राणरक्षामात्र के लिये एक समय अग्राम्य (पवित्र) जैसा प्राप्त हो सके वैसा भोजन, थकान दूर करने के लिये गिरे सूखे पत्ते, तिनकों आदि का बिस्तर और तकिया, ध्यान समाधि के लिये शरीर की रक्षा, जंगलों में बिना घर बनाए रहना, तन्द्रा, निद्रा, आलस्य आदि का परित्याग, इन्द्रियों के विषय, गन्ध आदि में अनुराग न करना, उपताप, उनके न

१. 'धर्मशास्त्रानुगमन' इति च पाठः।

मिलने से प्राप्त द्वेष आदि का निग्रह करना, सोने, बैठने, चलने, देखने, आहार, विहार, अंग, प्रत्यग आदि की चेष्टाओं में 'मै कौन हूँ' किस लिये तप करता हूँ । ऐसा स्मरण करके प्रवृत्त होना, सत्कार, स्तुति आदि मे प्रसन्न न होना, निन्दा और अपमान में क्रोधित न होकर उनको सहना, भूख, प्यास, मेहनत, थकान, शीत, गरमी, वर्षा, वायु, सुख, दुःख आदि को सहन करने की शक्ति का होना, शोक, दीनता, मान, उद्वेग, मद, लोभ, राग, ईर्षा, भय और क्रोध मे चलायमान न होना, उनसे अधीर न होना, अलकार आदि वस्तुओं को अनिष्टकारी विघ्न जानना । लोक और पुरुष दोनों में सृष्टि की आदि से ही समानता को देखना, कार्य का समय न बीत जाये इसमें भय मानना, योगक्रिया मे कभी उदासीन न रहना, प्रत्युत सदा तत्पर रहना, आलस्य न करना, अपवर्ग के लिये सत्त्व और उत्साह रखना, धी (बुद्धि), धृति (धैर्य) और स्मृति का बल बढ़ाते रहना, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोकना, चिन्ता आदि विषयों से चित्त को रोकना, सुख दु ख आदि विषयों से आत्मा को रोकना, बार बार धातुभेद मे शरीरावयवों, रस, मल, स्नायु आदि अवयवों का ठीक २ ज्ञान करना, (जिससे वैराग्य हो), आत्मा से अतिरिक्त उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ दु खों के कारण और अनित्य हैं यह ज्ञान करना, सब प्रकार की प्रवृत्ति को पाप जानना, सब प्रकार के त्यागों में सुख मानना, यह मार्ग अपवर्ग के लिये है । इस मार्ग से विपरीत चलने पर पुरुष बन्धन मे बंध जाता है । ये अभ्युदयके साधन अर्थात् मोक्ष के उपाय कह दिये गये हैं॥१०॥

भवन्ति चात्र—एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति ।
मृज्यमान इवाऽऽदर्शस्तैल-चैल-कचादिभिः ॥ ११ ॥
ग्रहाम्बुद-रजो-धूम-नीहारैरसमावृतम् ।
यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं यथाऽमलम् ॥ १२ ॥
ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्त्व संवृतायने ।
शुद्धः स्थिर प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा ॥ १३ ॥

जिस प्रकार तैल, वस्त्र और हाथ आदि से साफ करने पर दर्पण चमक उठता है, उसी प्रकार इन शुद्धि के उपायों से मलिन सत्त्व (चित्त) भी शुद्ध हो जाता है । जिस प्रकार कि राहु, बादल, धूल, धुवा या बर्फ से रहित सूर्य-विम्ब चमकता है, उसी प्रकार शुद्ध सत्त्व भी प्रकाशित होता है । जिस प्रकार सत्त्व (चित्त) को पाच इन्द्रियाँ ढापती हैं, उसी प्रकार सूर्य को भी राहु आदि पाच वस्तुएँ आवृत करती हैं* । जिस प्रकार सुरक्षित घर में दीपक की

* धूमेनाऽऽव्रियते वह्निः यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भ. तथा तेनेदमावृतम् ॥

ज्योति शुद्ध, स्थिर और प्रसन्न होकर जलती है, उसी प्रकार इन्द्रियों से असक्त आत्मा में नियमित सत्त्व शुद्ध स्थिर होकर प्रकाशित होता है ॥११-१३॥

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्त्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः॥ १४॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया॥ १५॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया।
यया नालम्बते किंचित्सर्वं संन्यस्यते यया॥ १६॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरः शान्तमक्षरम्[1]।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥ १७॥

शुद्ध सत्त्व से जो निर्मल सत्य बुद्धि उत्पन्न होती है, जिस बुद्धि के द्वारा अति बलवान् महा मोहयुक्त अन्धकार का नाश करता है, जिसके द्वारा सब पदार्थों के स्वभाव को जानता है, जिसके द्वारा वह निःस्पृह बनता है, जिसके द्वारा विषयों से हटे मन को आत्मा में लगाकर 'योग' करता है और जिस बुद्धि के द्वारा वह तत्त्वज्ञानी बनता है। जिसके द्वारा वह अहंकार के वश नहीं होता, जिसके द्वारा सुख दुःख के कारणों का सेवन नहीं करता, जिसके द्वारा कहीं भी आश्रय-स्थान नहीं बनाता, जिसके कारण सब कुछ त्याग करता है, जिसके द्वारा नित्य, अजर, शान्त, अव्यय ब्रह्म-मोक्ष को प्राप्त करता है, उसी बुद्धि को विद्या, सिद्धि, मति, मेधा अर्थात् प्रज्ञा और ज्ञान नाम से कहते हैं ॥१४-१७॥

लोके विततमात्मानं लोकं चाऽऽत्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति॥ १८॥

लोक में अपने आत्मा को, तथा अपने आत्मा में लोक को देखनेवाले, तथा परमात्मा और अवर प्रकृति (प्रधान प्रकृति) आदि को देखनेवाले पुरुष में ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुई शान्ति कभी नष्ट नहीं होता ॥१८॥

पश्यतः सर्वभावान् हि[2] सर्वावस्थासु सर्वदा।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते॥ १९॥

सब अवस्थाओं में, सब भावों पदार्थों को देखते हुए इनमें राग और द्वेष न करने से समबुद्धि रहने के कारण ब्रह्म रूप हुए शुद्ध सत्त्व के साथ [धर्म और अधर्म का] संयोग नहीं होता ॥१९॥

---

१. शान्तमव्ययम् इति च पाठः।
२. 'सर्वं भूतानि' इति च पाठः।

नाऽऽत्मनः कारणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
स सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ २० ॥

मुक्त पुरुष के इन्द्रिय आदि करण न होने से मुक्त पुरुष का कोई लक्षण नहीं मिलता। इस मुक्तात्मा पुरुष के साथ मन, इन्द्रिय आदि करणों का योग नहीं होता, इसीलिये उसको 'मुक्त' कहते हैं ॥२०॥

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥ २१ ॥
एतत्तत्सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीत-मोह-रजः-स्पृहाः ॥ २२ ॥

विपाप (पापरहित), विरज (रजोगुण से रहित), शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण, शान्ति इत्यादि पर्य्यायों से मोक्ष को कहते हैं। हे सौम्य ! जिस विज्ञान को जान कर संशय, मोह, रज और स्पृहा से रहित होकर मुनि लोगों ने शान्ति प्राप्त की है वह यही विज्ञान है ॥ २२ ॥

तत्र श्लोकौ—सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च ।
सामान्यं मूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च ॥ २३ ॥
शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी ।
विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा ॥ २४ ॥

लोक और पुरुष की समानता, इस समानता का प्रयोजन, उत्पत्ति का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व का रूप, मोक्षसाधक सत्यबुद्धि और मोक्ष का रूप, यह सब परमर्षि आत्रेय ने इस 'पुरुष विचय' अध्याय में कह दिया है ॥ २३-२४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने पुरुष-
विचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः शरीरविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'शरीर-विचय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते भिषग्विद्याया, ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्व शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचय प्रशसन्ति कुशलाः ॥ ३ ॥

शरीर का विचय अर्थात् रचनाविज्ञान (प्रविभाग रूप से ज्ञान) शरीर के उपकार के लिये आवश्यक है। शरीर का यथार्थ तत्त्व जान कर ही शरीर के लिये उपयोगी पदार्थों में ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये बुद्धिमान् शरीर के रचनाविज्ञान को श्रेष्ठ बतलाते हैं ॥ ३ ॥

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि। यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेश विनाश वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूना वृद्धि ह्रासगमनमकात्स्न्येंन प्रकृत्या च ॥ ४ ॥

इसमे शरीर शब्द से अभिप्राय आत्मा (चेतना) के आश्रय स्थान, पञ्च महाभूतों के विकारों का समुदाय तथा धातुओं के उचित प्रमाण में (समयोग में) मेल को धारण करने वाला शरीर है। जिस समय इस शरीर के भीतर रस, रक्त आदि धातु विषम हो जाते है, उस समय शरीर में क्लेश होता है, अथवा शरीर विनष्ट हो जाता है। धातुओं मे सम्पूर्ण रूप में अथवा एकांश में वृद्धि और ह्रास होना 'धातुओं का विषम होना' कहाता है ॥ ४ ॥

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः। यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्ततो विपरीतगुणस्य धातोः प्रत्यवायकरं संपद्यते ॥५॥

उपयुक्त भैषज्य से परस्पर विरोधी धातुओं की वृद्धि और ह्रास एक साथ होता है। जो औषध जिस धातु की वृद्धि करने वाली है वह औषध उस धातु से विपरीत गुणवाली धातु मे ह्रास करती है। [जैसे—दूध, कफ और शुक्र आदि की वृद्धि करता है साथ ही अपने से विरोधि गुणवाले पित्त और रक्त का ह्रास भी करता है। कहीं २ सजातीय होकर गुण विपरीत होने से धातु का ह्रास करता है जैसे—गोमूत्र द्रव होकर भी कटु उष्ण है वैसे कफनाशक भी है] ॥ ५ ॥

तदेवं तस्माद्भेषजं सम्यगवचार्यमाणं युगपन्न्यूनातिरिक्तानां धातूना साम्यकरं भवति। अधिकमपकर्षति, न्यूनमाप्याययति ॥ ६ ॥

इसलिये भली प्रकार से प्रयोग की हुई औषध एक समय में ही न्यून तथा बढी हुई धातुओं को समान करती है और बढ़ी हुई धातु को कम करती है और कम हुए धातु को बढ़ाती है ॥ ६ ॥

एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठाने च यावद्धातूनां साम्यं स्यात् । स्वस्था ह्यपि धातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रसगुणानाहारविकारांश्च पर्यायेणेच्छन्त्युपयोक्तुं, सात्म्यसमाज्ञातानेकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरसमाज्ञातया चेष्टया सममिच्छन्ति कर्तुम् ॥ ७ ॥

औषध प्रयोग तथा स्वस्थ-वृत्त के पालने का यही फल है कि धातुओं की समानता रहे। बुद्धिमान् पुरुष स्वस्थ अवस्था में भी धातुओं मे समता रखने के लिये मधुरादि रस, गुरु आदि गुणों को तथा यवागू आदि आहार के विकारों का क्रम से उपयोग करते हैं। अर्थात् मधुर रस खाने से उत्पन्न हुए कफ की वृद्धि को शान्त करने के लिये कटु रस आदि का उपयोग करते हैं। गुरु आदि गुण के पदार्थों के सेवन के पीछे लघु गुण वाले पदार्थों का उपयोग, यवागू (लप्सी), आदि खा कर इसके पाक के लिये पेया आदि का उपयोग करते हैं, यह क्रम है। सात्म्य (अनुकूल) रूप से जाने गये अनेक प्रकार के वा बहुत से पदार्थों का उपयोग करते हुए उससे विपरीत गुण करनेवाली चेष्टा से पुनः समान करने की इच्छा करते हैं। [जैसे—मधुर प्रकार के आहार को खाने से मधुर के समान कफकी वृद्धि होने से कफ का क्षय करनेवाली विपरीत व्यायाम क्रिया करते हैं। इससे समानता आ जाती है] ॥ ७ ॥

देश-कालात्म-गुण-विपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगःसम्यक् सर्वातियोगसंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां साहसानां च वर्जनं स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते ॥ ८ ॥

संक्षेप में स्वस्थवृत्त—देश विपरीत कर्म (मरु देश में सोना), काल विपरीत कर्म (वसन्त में व्यायाम), आत्म विपरीत कर्मों (स्थूल शरीर मे व्यायाम, जागरण आदि) तथा आहार-विकारों की क्रियाओं का ठीक प्रकार से उपयोग, काल, बुद्धि और इन्द्रियों के अर्थों के मिथ्यायोग (अतियोग, मिथ्यायोग तथा अयोग) का परित्याग, गतिशील मल (पाखाना), आदि के उपस्थित वेगों को न रोकना, साहसिक कर्मों का परित्याग करना यह स्वस्थवृत्त है। यह स्वस्थवृत्त धातुओं की समानता के लिये ही उपदेश किया जाता है ॥ ८ ॥

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्यभ्यस्यमानैः ॥ ९ ॥

धातु अपने समान गुणों से तथा अपने अधिक समान गुणवाले आहार विहार के निरन्तर सेवन करने से बढ़ते हैं और अपने विपरीत गुणों से तथा

अपने अधिक विपरीत गुणवाले आहार-विहार के निरन्तर सेवन से शरीर के धातु घटते हैं॥ ६॥

तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः। तद्यथा—गुरु-लघु-शीतोष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मन्द-तीक्ष्ण-स्थिर-सर-मृदु-कठिन-विशद-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-खर-सूक्ष्म-स्थूल-सान्द्र-द्रवाः।तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते लघवश्च ह्रसन्ति, लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते गुरवश्च ह्रसन्ति। एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः। एतस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण॥ १०॥

शरीर धातुओं के गुण, संख्या (गणना), तथा सामर्थ्य करने वाले हैं। जैसे—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सान्द्र और द्रव। इनमें जो गुण गुरु हैं वे गुरु आहार के गुणों के निरन्तर सेवन करने से बढ़ते हैं और लघु गुणों को घटाते हैं। जो लघु गुण हैं वे लघु आहार के गुणों से निरन्तर बढ़ते हैं और गुरु गुणों को घटाते हैं। इसी प्रकार सब धातुओं के गुण अपने समान गुणों के योग से बढ़ते हैं और अपने विपरीत गुणों से कम होते है। इसलिये शरीरस्थ मांस-धातु मांस से अन्य सब शरीर धातुओं की अपेक्षा अधिक बढ़ता है। इसी प्रकार रक्त, रक्त से अधिक बढ़ता है। मेद मेद से, वसा वसा से, अस्थिया तरुणास्थियों से, मज्जा मज्जा से, शुक्र शुक्र से, गर्भ आमगर्भ से अधिक बढ़ता है॥ १०॥

यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसांनिध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्। तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्।

तद्यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुर-स्निग्ध-समाख्यातानां चापरेषामेव द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरस-वारुणी मण्ड-द्रव-मधुराम्ल-लवणोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये कुल्माष-माष-कुष्कुण्डाज मध्य-यव शाक-धान्याम्लानां, वातक्षये कटुक-तिक्त-कषाय-रूक्ष-लघु-शीतानां, पित्तक्षयेऽम्ल-लवण-कटुक-क्षारोष्ण-तीक्ष्णानां, श्लेष्मक्षये स्निग्ध-गुरु-मधुर-

सान्द्र-पिच्छिलानां द्रव्याणाम् । कर्मापि च यद्यदस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्त-दासेव्यम् । एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ । इति सर्वधातूनामेकैकशोऽभिसमस्तशश्च वृद्धिह्रासकराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ ११ ॥

समान गुणवाले विजातीय पदार्थो मे वृद्ध—जहां पर कि इस प्रकार के लक्षणों वाले समान गुण के आहार विकारों का प्राप्त होना सम्भव न हो, अथवा प्राप्त होने पर भी घृणा आदि के कारण अथवा धर्म आदि के कारण उपयोग करने में बाधा पड़ती हो वहां पर विजातीय समान गुण के आहार-विकारों का उपयोग करना चाहिये। जिससे कि इच्छित धातु [जिसके लिये समान गुण वाले आहार विकार घृणा अथवा धर्म के कारण असेव्य हैं उस धातु] की वृद्धि हो। जैसे—शुक्र का क्षय होने पर दूध और घी का उपयोग, तथा मधुर और स्निग्ध विजातीय दूसरे पदार्थों का उपयोग करना। मूत्र का क्षय होने पर गन्ने का रस, वारुणी, मण्ड तथा कुल्माष, उड़द, कुष्कुण्ड (साप की छतरी), बकरी का मध्य भाग, जौ, शाक, धान्य और अम्ल आदि वस्तुओं का उपयोग करना चाहिये। वात का क्षय होने पर कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु, शीत वस्तुओं का उपयोग करना चाहिये। पित्त का क्षय होने पर अम्ल, लवण, कटु, क्षार उष्ण, तीक्ष्ण वस्तुओं का और कफ का क्षय होने पर स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्र और पिच्छिल द्रव्यो का उपयोग करना चाहिये। द्रव्यो की भांति धातु की वृद्धि करनेवाले समान गुण के अचिन्त्य प्रभाव रूपी कर्म का भी उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार से अन्य शरीर धातुओं को भी सामान्य और विपर्यय द्वारा समयानुसार बढ़ाना अथवा घटाना चाहिये। इस प्रकार से सब धातुओं के पृथक् पृथक् तथा समग्र रूप में वृद्धि तथा ह्रास के कारणों की व्याख्या कर दी गई है ॥ ११ ॥

कार्त्स्न्येन शरीरवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद्यथा—कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहारसौष्ठवमविघातश्चेति । बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद्यथा—बलवत्पुरुषे देशे जन्म, बलवत्पुरुषे काले च । सुखश्च कालयोगो, बीज-क्षेत्र-गुण संपच्चाऽऽहारसंपच्च, शरीरसंपच्च, सात्म्यसंपच्च, सत्त्वसंपच्च, स्वभावसंसिद्धिश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति ॥ १२ ॥

निम्न बातें सम्पूर्ण रूप में सारे शरीर की वृद्धि करते है। जैसे—वृद्धिकारक यौवनादि का समय, स्वभाव, अर्थात् अदृष्ट के कारण वृद्धि, उत्तम आहार और अविघात (अतिव्यवाय या मनोविघात आदि का न होना),

ये वस्तुएं सम्पूर्ण शरीर में वृद्धि करती हैं। निम्न बातें शरीर में बल की वृद्धि करती हैं। जैसे—बलवान् पुरुषों वाले देश में उत्पन्न होना, बलवान् माता पिता से, बलवान् काल हेमन्त या शिशिर में उत्पन्न होना। साधारण समय का योग, बीज, शुक्र, क्षेत्र, आर्त्तव और गर्भाशय के उत्तम गुण, उत्तम गुणयुक्त आहार, उत्तम शरीर, उत्तम सात्म्य, उत्तम सत्त्व, स्वभाव से सिद्धि अर्थात् स्वभावत: शरीर की अदृष्टवश उत्तम बढ़ती या बल को उत्पन्न करने वाले कर्म का सेवन, यौवनावस्था और व्यायाम आदि कर्म इनसे बल उत्पन्न होता है॥ १२॥

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति। तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति। तद्यथा—ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्त्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः संपद्यते॥ १३॥

निम्न बातें आहार को पचाने वाली हैं। जैसे—उष्णिमा, वायु, क्लेद, स्नेह, पाक काल और प्रकृति आदि आठ बातों का समयोग आहार सम्पत् को उत्पन्न करता है। आहार को भली प्रकार पचाने में उष्णिमा आदि निम्नलिखित कार्य करते हैं। जैसे—उष्णिमा भोजन को पचाती है। वायु उष्णिमा से दूर स्थित भोजन को उष्णिमा के पास लाता है। क्लेद शिथिलता को उत्पन्न करता है। स्नेह कोमलता को पैदा करता है। समय तृप्ति को पैदा करता है। समयोग इनमें परिणाम तथा धातुओं की समता को उत्पन्न करता है॥ १३॥

परिणामतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम्॥ १४॥

आहार के परिपाक होने पर भोजन के गुण अपने समान शरीर के गुणों में बदल जाते हैं। जैसे—आहार का कठिन भाग मांस, अस्थि आदि शरीर के कठिन भाग का पोषण करता है और द्रव भाग रक्त आदि रूप में बदल जाता है। शरीर गुणों के विरोधी आहार-गुण विरुद्ध गुणों को नष्ट करते हैं। इस प्रकार से नष्ट हुए गुण शरीर को नष्ट कर देते हैं। [जैसे—दूध और मछली आदि विरुद्ध आहार के कारण नष्ट हुए गुण शरीर को नष्ट कर देते हैं]॥१४॥

शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण—मलभूताः, प्रसादभूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य आबाधकराः स्युः। तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वात-

पित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान्मले संप्रचक्ष्महे, इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ॥ १५ ॥

संक्षेप से शरीर के धातु दो प्रकार के हैं। जैसे—मलरूप और प्रसाद रूप। इनमें जो शरीर में पीड़ा उत्पन्न करते हैं वे मलरूप हैं। जैसे—जन्म से पृथक् या शरीर से बाहर निकलने वाले या शरीर के छिद्रों में लगे (जैसे—नाक का मल आदि), पाक होकर पूय बने धातु (रक्त आदि), कुपित वात, पित्त, कफ (बढ़े या घटे वातादि), इनके अतिरिक्त और भी जो वस्तुएं शरीर में रह कर शरीर की नाशकारक होती हैं, उन सबको 'मल' शब्द से कहते हैं। इनसे भिन्न वस्तुओं को 'प्रसाद' कहते हैं। गुरु से लेकर द्रव तक कहे गुणों को और रस से लेकर शुक्र तक कहे द्रव्यों को भी प्रसाद-धातु कहते हैं ॥ १५ ॥

तेषां सर्वेषामेव वात-पित्त-श्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्, वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे प्रदुष्टाना विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि। एतावत्येव दुष्टदोषगतिर्यावत्त्वं स्पर्शहीनाच्छरीरधातूनाम्। प्रकृतिभूतानां खलु वातादीना फलमारोग्यं, तस्मादेषा प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिः ॥ १६ ॥

अपने कारणों से कुपित हुए वात, पित्त, कफ इन सबों को दूषित कर देते हैं। क्योंकि दोष का स्वभाव (प्रकृति) ही दूषित करने का है। वात आदि और रस आदि धातुओं के दूषित होने के लक्षण 'विविधाशित पीतीय' अध्याय में कह दिये हैं। दुष्ट हुए वात आदि की केश, श्मश्रु आदि में गति नहीं है, क्योंकि इनमें त्वचा का स्पर्श नहीं है। जहा जहा पर स्पर्शेन्द्रिय का सम्बन्ध है वहा वहा पर दूषित वात आदि की गति होती है। प्रकृति में रहते हुए वात आदि शरीर-धातुओं का फल 'आरोग्य' है। इसलिये बुद्धिमानों को इनको प्रकृति में रखने का प्रयत्न करना चाहिये ॥१६॥

भवति चात्र—सर्वदा सर्वथा सर्व शरीरं वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ १७ ॥ इति ॥

जो वैद्य सम्पूर्ण शरीर को भली प्रकार सब समयों में सब प्रकारों से जानता है, वह लोक को सुख देने वाले आयुर्वेद को भी सम्पूर्ण रूप में जानता है ॥१७॥

तमेवमुक्तवन्तं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—श्रुतमेतद्यदुक्तं भगवता शरीराधिकारे वचः, किंनु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, कुतोमुखः कथं वा चान्तर्गतस्तिष्ठति, किमाहारश्च वर्तयति,

कथंभूतश्च निष्क्रामति, कैश्चायमाहारोपचारैर्जातः सद्यो हन्यते, जातस्तु केरव्याधिरभिवर्धते,किं चास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः सभवन्ति, आहोस्विन्न, किंचास्य कालाकालमृत्य्वोर्भावाभावयोर्भगवानध्यवस्यति, किंचास्य परमायुः, कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥ १८ ॥

गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न—इस प्रकार से उपदेश करते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने कहा—हे भगवन् ! आपने शरीर के अधिकरण में जा कुछ कहा वह सुन लिया। (१) अब बतलाइये कि गर्भाशय में गर्भ का प्रथम कौन सा अंग बनता है ? (२) गर्भ का मुख किधर रहता है और (३) गर्भाशय के भीतर गर्भ किस स्थिति में रहता है ? (४) किस आहार से जीता है और (५) किस प्रकार से बाहर आता है ? (६) किन २ प्रकार के आहार उपचारों से उत्पन्न हुआ यह शीघ्र मर जाता है ? (७) उत्पन्न होकर नीरोग अवस्था में किन से बढ़ता है ? (८) क्या इस गर्भ को देवता आदि के प्रकोप के कारण होनेवाले विकार होते हैं वा नहीं ? (९) क्या इस गर्भ में भी काल मृत्यु और अकाल-मृत्यु के होने और न होने का भगवान् निश्चय करता है। (१०) इस गर्भ की परम आयु क्या है और (११) परमायु के क्या कारण हैं ॥१८॥

तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—पूर्वमुक्तमेतद् गर्भावक्रान्तौ यथाऽयमभिनिवर्तते कुक्षौ, यच्चास्य यदा संतिष्ठतेऽङ्गजातम्। विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधा सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति सर्वेषां, तानपि निबोधोच्यमानान्—शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा। हृदयमिति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात्। नाभिरिति भद्रकाप्यः, आहारागम इति कृत्वा। पक्वाशयगुदमिति भद्रशौनक, मारुताधिष्ठानत्वात्। हस्तपादमिति बडिशः, तत्करणत्वात्पुरुषस्य। इन्द्रियाणीति जनको वैदेह, तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा। परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचि कश्यपः, सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरि, तदुपपन्नं सिद्धत्वात्, सर्वाङ्गानां तस्य हृदयं मूलमधिष्ठानं च केषांचिद्भावानां, न च तस्मात्पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषां, तस्माद्धृदयप्रभृतीनां सर्वाङ्गाना तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः। सर्वभावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धाः। तस्माद्यथाभूतं दर्शन साधु ॥ १९ ॥

इस प्रकार से कहते हुए अग्निवेश को भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—जिस प्रकार से गर्भ गर्भाशय में बढ़ता है यह बात पीछे 'गर्भावक्रान्ति' अध्याय

में कह चुके हैं। इस गर्भ की अगरचना मे सूत्रकार ऋषियो के बहुत प्रकार के मतभेद हैं। उन सब को भी सुनो—कुमारशिरा भरद्वाज का दर्शन है कि गर्भाशय में गर्भ का प्रथम शिर बनता है, क्योंकि यही शिर सब इन्द्रियो का आश्रय स्थान है। बाह्लीक भिषक् काङ्कायन का मत यह है कि सबसे प्रथम हृदय बनता है, क्योंकि हृदय ही चेतना का स्थान है। भद्रकाप्य का कथन है कि सबसे प्रथम नाभि बनती है क्योंकि आहार प्राप्ति का यही मार्ग है। भद्रशौनक का मत है कि प्रथम पक्वाशय, गुदा बनती है, क्योंकि यही वायु का स्थान है। बडिश का कथन है कि प्रथम हाथ पाव बनते हैं, क्योंकि ये ही पुरुष के करण (साधन) हैं। वैदेह जनक ऋषि का मत है कि इन्द्रियाँ सबसे प्रथम बनती हैं, क्योंकि ये इन्द्रियाँ ही बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय स्थान हैं। मारीचि कश्यप का कहना है कि परोक्ष ज्ञान के कारण कौन सा अग प्रथम बनता है यह कुछ नहीं कहा जा सकता, यह अचिन्त्य विषय है। धन्वन्तरि का मत है कि सब अग एक साथ मे बनते हैं। यह बात ठीक भी है। ऐसा ही प्रमाणो से सिद्ध होता है। गर्भ के सब अगों का तथा कुछ अन्य वस्तुओं का मूल आश्रयस्थान हृदय है। इसलिये इस हृदय से पूर्व अन्य अग नहीं बन सकते। अतः हृदय आदि सब अगो का निर्माण एक साथ में ही होता है। सब पदार्थ परस्पर एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। इसलिये यह यथार्थ दर्शन (धन्वन्तरि का मत) ही ठीक है ॥ १९ ॥

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः संकुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ ॥२०॥

गर्भाशय में गर्भ माता की पीठ की ओर मुख किये हुए रहता है। गर्भ का शिर ऊपर (गर्भाशय के शिखर में) रहता है और अङ्ग सकुचित अवस्था में रहते हैं ॥२०॥

व्यपगत-पिपासा-बुभुक्षस्तु खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिः, मातरमाश्रित्य वर्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्या गर्भस्तु सदसद्भूताङ्गावयवः, तदनन्तर ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चिन्नाभिनाड्ययनैः। नाभ्या ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, सा नाभ्या चापरा, अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसम्प्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः, स तस्य रसो बलवर्णकरः सम्पद्यते, स च सर्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये स्तन्याय गर्भवृद्धये च, स तेनाहारेणोपष्टब्ध परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्तयत्यन्तर्गतः ॥२१॥

गर्भ को भूख प्यास का अनुभव नहीं होता। वह तो माता के आश्रित रहता है, इसी लिये पराधीन रहता है। जब तक अंगों का निर्माण नहीं होता, वह माता के आश्रय से ही उपस्नेहन, उपस्वेदन द्वारा जीता है इसके अनन्तर अंग प्रत्यंग बन जाने पर लोम कूप के मार्गों से तथा नाभि नाड़ी के मार्ग से उपस्नेहन लेता है। इस गर्भ की नाभि में नाड़ी लगी होती है और यह नाड़ी नाभि में तथा अपरा में लगी होती है। अपरा माता के हृदय (गर्भाशय के ऊर्ध्व शिखर) में लगी रहती है। माता का हृदय इस अपरा की बहती हुई सिराओं द्वारा गर्भ तक पहुंचता है [माता के विचार इन सिराओं द्वारा बच्चे में आते हैं]। माता का यह रस गर्भ में बल वर्ण को उत्पन्न करता है। वह सब प्रकार के रसों से उत्पन्न होता है। जो गर्भवती स्त्री भोजन करती है, उसके आहार रस के तीन भाग हो जाते हैं। (१) गर्भिणी के शरीर की पुष्टि के लिये (२) दूध के लिये और (३) गर्भ को बढ़ाने के लिये। यह गर्भ इस आहार के आश्रय से पराधीन होकर माता के ऊपर निर्भर रह कर गर्भाशय में जीवन धारण करता है। २१॥

स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूति-मारुत-योगात्परिवृत्त्याऽवाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। परं स्वतः स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥२२॥

प्रसव काल के समीप आने पर वायु के बल से शिर घूम कर नीचे की ओर सन्तान निकलने के मार्ग में आ जाता है और योनिमार्ग से बाहर निकल जाता है। यह तो प्रकृति है, इससे विपरीत अवस्था का नाम विकृति है। बाहर आने पर गर्भ स्वतन्त्र रूप से जीवन धारण करता है ॥२२॥

तस्याऽऽहारोपचारौ जातिसूत्रीयोपदिष्टावविकारकरौ चाभिवृद्धिकरौ भवतः। ताभ्यामेव च (सेविताभ्यां) विषमाभ्यां जातः सद्यो हन्येत तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलः ॥ २३ ॥

स्वतन्त्र वृत्ति होने पर जातिसूत्रीय (शारीरस्थान अ० ८) अध्याय में कहे हुए आहार और उपचार इसकी वृद्धि करते हैं और किसी प्रकार का रोग या विकार उत्पन्न नहीं करते। उत्पन्न हुआ शिशु आहार और उपचार के विषम होने से शीघ्र ही ऐसे मर जाता है जैसे कि तत्काल लगा हुआ वृक्ष बिना जड़ पकड़े हुए वायु और धूप से शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ २३ ॥

आप्तोपदेशादद्भुतरूपदर्शनात्समुत्थान-लिङ्ग-चिकित्सित-विशेषाच्चादोषप्रकोपानुरूपा देवादि-प्रकोप-निमित्ता विकाराः समुपलभ्यन्ते ॥ २४ ॥

ब्रह्मा आदि से प्रणीत कुमारतन्त्रों के आप्तोपदेश से, अमानुषीय बल, रूप आदि आश्चर्यकारक बातों के देखने से, समुत्थान (रोगोत्पत्ति) के कारणों के विशेष होने से, लक्षणों के विशेष तथा चिकित्सा में भेद होने से और दोष प्रकोप से हुए रोगों के विपरीत धर्मवाले लक्षणो को देखने से ज्ञात होता है कि देव आदि के प्रकोप से भी अनेक रोग गर्भ को होते है ॥ २४ ॥

कालाकालमृत्य्वोस्तु खलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः—यः कश्चिन्म्रियते स काल एव म्रियते, न हि कालच्छिद्रमस्तीत्येके। तच्चा सम्यक्, न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते, कालस्वलक्षण-स्वभावात्।

काल और अकाल मृत्युओं के होने न होने के विषय में हमारा यह निश्चित सिद्धान्त है कि 'जो कोई मरता है, वह काल में ही मरता है। कइयों का विचार है कि काल मे कोई छेद (अवकाश) नहीं है जो कि इस अवकाश को प्राप्त करके मरे।' यह मत ठीक नहीं। काल में सच्छिद्रता या अच्छिद्रता नहीं है, क्योंकि काल के अपने लक्षण मे सच्छिद्रता या अच्छिद्रता नहीं घटती।

तथाऽऽहुरपरे—यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकालः। स सर्वभूतानां सत्यः, समक्रियत्वादिति।

दूसरे विचारकों का कथन है कि जो जब मरता है वह उसका निश्चित काल होता है यह कालमृत्यु है। यह सब प्राणियों के लिये ठीक है, क्योंकि काल सब प्राणियों में समान क्रियावाला है। काल से सभी मरते हैं काल को किसी मे राग या द्वेष नहीं है।

एतदपि च अन्यथाऽर्थग्रहणं, न हि कश्चिन्न म्रियत इति समक्रियः। काल· पुनरायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते। यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते तस्य स नियतो मृत्युकाल इति, तस्य सर्वभावा यथास्वं नियतकाला भविष्यन्ति। तच्च नोपपद्यते—प्रत्यक्षं ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टं विपर्यये चेष्टम्। प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालव्यक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य। तद्यथा—कालोऽयमस्य तु व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य चाकालो वेति। लोकेऽप्येतद्भवति काले देवो वर्षत्यकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्य काले तपति, काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च। नैकान्तिकं। यदि ह्यकाले मृत्युर्नस्यान्नियत-काल-प्रमाणमायुः सर्वं स्यात्। एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्प्रत्यक्षानु-

मानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युर्ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु, यैरायुष्यानायुष्याणि चोपलभ्यन्ते। वाग्वस्तुमात्रमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते यदुच्यते— नाकालमृत्युरस्तीति ॥ २५ ॥

यह भी पक्ष ठीक नहीं है। बिना काल के कोई नहीं मरता, इसलिये काल समान क्रियावाला है। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहां पर 'काल' शब्द आयु के प्रमाण की अपेक्षा से कहा है। जो यह मानता है कि जो मनुष्य जब मरता है वही उसका नियत मृत्युकाल है, उसके मत में मृत्यु से अतिरिक्त आहार, वचन आदि भी सब नियत कालवाले हो जायेंगे। परन्तु ये ऐसे नहीं होते, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि अकाल में किये भोजन तथा अकाल में कहे हुए वचन का फल बुरा होता है और समय पर किये भोजन तथा समय पर कहे वचन का फल अच्छा होता है और यह भी हम देखते है कि प्रत्येक अवस्था में काल और अकाल का विचार करते हैं। जैसे—यह इस रोग का समय है, यह आहार का समय है, यह औषध का समय है, यह प्रतिकर्म का काल है, यह विसर्ग काल है। इसी प्रकार यह रोग का, भोजन का, औषध का, प्रतिकर्म का और विसर्ग का समय नहीं है। लोक में भी ऐसा होता है। समय पर मेघ बरसता है, अकाल में भी बादल बरसता है। काल में शीत और अकाल मे भी शीत होता है। काल में सूर्य तपता है और अकाल मे भी सूर्य तपता है। काल में फूल फल होते हैं और अकाल में भी फूल फल होते हैं। इसलिये दोनों ही बाते है, काल में भी मृत्यु है और अकाल में भी मृत्यु है एक ही बात ठीक नहीं है। यदि अकाल में मृत्यु न हो तो सब पुरुषों की आयु का समय और मान नियत होना चाहिये। इस प्रकार होने से हित अहित का ज्ञान निष्फल हो जाता है। प्रत्यक्ष अनुमान, आप्तोपदेश जो कि सब तन्त्रों में प्रमाणभूत हैं वे सब तथा आयुष्यकारक और अनायुष्यकारक सब बातें व्यर्थ हो जायेगी। 'अकाल मृत्यु नहीं है' इस कथन को ऋषि लोग केवल कहने भर के लिये ही मानते हैं, वास्तव में इसमें कुछ सार या सत्यता नही है ॥ २५ ॥

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले ॥ २६ ॥

तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसंपत्सात्म्योपसेवनं चेति ॥ २७ ॥

इस कलियुग में आयु का परिमाण सौ साल है। इसका कारण उत्तम प्रकृति, उत्तम गुण, उत्तम आत्मा और उत्तम सात्म्य का सेवन है। [उत्तम प्रकृति जैसे—सम वात आदि प्रकृति का होना, उत्तम गुण जैसे—सार-संहनन आदि का होना, उत्तम आत्मा के धर्म, दान, यज्ञ आदि] ॥ २६–२७ ॥

तत्र श्लोकाः—शरीरं यद्यथा तच्च वर्तते क्लिष्टमामयैः ।
यथा क्लेशं विनाशं च याति ये चास्य धातवः ॥ २८ ॥
वृद्धिह्रासौ यथा तेषां क्षीणानामौषधं च यत् ।
देहवृद्धिकरा भावा बलवृद्धिकराश्च ये ॥ २९ ॥
परिणामकरा भावा या च तेषां पृथक् क्रिया ।
मलाख्याः संप्रसादाख्या धातवः प्रश्न एव च ॥ ३० ॥
नवको निर्णयश्चास्य विधिवत्संप्रकाशितः ।
तथ्यः शरीरविचये शारीरे परमर्षिणा ॥ ३१ ॥

शरीर जिस प्रकार से रहता है, जिस प्रकार से क्लेश या विनाश को प्राप्त होता है, शरीर के धातु, इन धातुओं की वृद्धि और ह्रास क्षीण धातुओं का औषध, देह की वृद्धि करनेवाले और बल को बढ़ाने वाले कारण, परिणाम-कारक भाव, इनकी पृथक् पृथक् क्रिया, मल और प्रसाद रूप धातु, नव प्रश्न तथा इन प्रश्नों का समुचित निर्णय 'शरीर विचय' नामक अध्याय में परमर्षि आत्रेय ने प्रकाशित किया है ॥ २८–३१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने शरीरविचय-
शारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः शरीरसंख्याशारीरं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'शरीरसंख्या' नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

शरीरसंख्यामवयवशः (कृत्स्नं) शरीरं प्रविभज्य सर्व-शरीर-संख्यान-प्रमाण-ज्ञान-हेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ ॥ ३ ॥

अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से सम्पूर्ण शरीर की संख्या, परिमाण और नाम आदि ज्ञान करने के लिये अवयव रूप में शरीर का विभाग करके शरीर संख्या नाम शारीर प्रकरण के सम्बन्ध में प्रश्न किया—

तमुवाच भगवानात्रेयः—शृणु मत्तोऽग्निवेश ! सर्वशरीरमभिचक्षाणाद्यथाप्रश्नमेकमना यथावत् ॥ ४ ॥

अग्निवेश को भगवान आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! सम्पूर्ण शरीर के प्रकरण को उपदेश करते हुए मुझ से अपने प्रश्न के अनुसार एकाग्र चित्त होकर सुनो ॥ ४ ॥

शरीरे षट् त्वचः । तद्यथा—उदकधरा त्वग्बाह्या, द्वितीया त्वगसृग्धरा, तृतीया सिध्म-किलास-सम्भवाधिष्ठाना, चतुर्थी दद्रुकुष्ठसम्भवाधिष्ठाना, पञ्चम्यलजी-विद्रधी-सम्भवाधिष्ठाना, षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति, यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते पर्वसु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानि चेति षट् त्वचः । एताः षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

शरीर की छः त्वचाएं—शरीर में छः त्वचायें हैं । जैसे—(१) बाह्य त्वचा, उदकधारा जिसमें जल रहता है । (२) दूसरी त्वचा असृग्धारा जिसमें रुधिर रहता है । (३) तीसरी त्वचा जो सिध्म, किलास आदि रोगों की उत्पत्ति का आश्रय स्थान है । (४) चौथी त्वचा जो दद्रु (दाद) और कुष्ठ (कोढ़) रोग का आश्रय है । (५) पांचवीं त्वचा जो अलजी और विद्रधिरोग का आश्रयभूमि है । (६) छठी त्वचा जिसके कटने पर पुरुष मूर्छित होता है और अन्धे की भांति अन्धकार में घुसता है—उसे कुछ नहीं दीखता और जिस त्वचा का आश्रय लेकर अवयव सन्धियों में काले, लाल, स्थूल मूल वाले ऐसे व्रण उत्पन्न होते हैं जिनकी चिकित्सा करना बहुत कठिन होता है । ये छः त्वचायें छः अगों वाले शरीर को ढक के रहती हैं[१] ॥ ५ ॥

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः । तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवं, अन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ ६ ॥

शरीर के छः अग—शरीर के अगों का विभाग इस प्रकार से है जैसे—दो बाहुएं, दो टांगें, शिर, ग्रीवा और बीच का मध्य भाग, ये छः अग हैं ॥ ६ ॥

त्रीणि [२]षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नां सह [३]दन्तोलूखलनखैः । तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः विंशतिः

---

१ सुश्रुत में सात त्वचायें और ३०० अस्थियां मानी हैं ।

२ षष्ठानि इति च पाठः ।

३ 'द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि, विंशतिर्नखाः, षष्टिः पाणिपादाङ्गुल्यस्थीनि, विंशतिः पाणिपादशलाका , चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, द्वौ मणिकौ हस्तयोः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुकपालिके, द्वावूरुनलकौ, द्वौ बाहुनलकौ, द्वावंसौ, द्वे

पाणिपादशलाकाः, चत्वार्यधिष्टानान्यासा, चत्वारि पाणिपादपृष्ठानि, षष्टिरङ्गुल्यस्थीनि, द्वे पार्ष्ण्योः, द्वे कूर्चाधः, चत्वारः पाण्योर्मणिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनोः, द्वे कूर्परयोः, द्वे ऊर्वोः, द्वे बाह्वोः, सांसयोर्द्वे, द्वावक्षकौ, द्वे तालुनी, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पुसां मेढ्रास्थि एकं, त्रिकसंश्रितमेकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशास्थीनि ग्रीवायां, द्वे जत्रुणी, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोः, गण्डयोर्द्वे, नासिकाया त्रीणि घोणाख्यानि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशति पञ्जरास्थीनि च पार्श्वकानि, तावन्ति चैषां स्थालिकान्यर्बुदाकाराणि तानि द्विसप्ततिः, द्वौ शङ्खकौ, चत्वारि शिरःकपालानि, वक्षसि सप्तदश, इति त्रीणि षष्ट्यधिकादि शतान्यस्थ्नामिति ॥ ७ ॥

तीन सौ साठ हड्डिया—दात, दन्त कोशों और नखों को मिला कर इस शरीर मे तीन सौ साठ अस्थिया हैं। जैसे—३२ दात,, ३२ दातो के उलूखल (कोश), २० नख, २० हाथ और पावों की शलाकाएं, ६० हाथ पाव की अगुलियों की अस्थिया, ४ हाथ और पावों की पीठ की हड्डिया, ४ इन शलाकाओं के आश्रयस्थान। ६० अगुलियों की हड्डिया, २ पार्ष्णियों (एडियों) की, २ कूर्चाध। ४ पावों में गुल्फ, २ हाथों के मणिक, ४ प्रकोष्ठ की अस्थियॉ, ४ टागो की अस्थिया, २ जानुकपाल, २ कूर्पर, २ जाघों की अस्थिया, २ बाहु की अस्थिया, २ कन्धे की अस्थिया, २ असफलक, २ अक्षक, २ तालु की अस्थिया, २ श्रोणिफलक (कूल्हे की हड्डिया), १ भगास्थि, १ पुरुषों के लिंग की अस्थि, त्रिक (कूल्हों) के नीचे का आश्रय रूप गुदा के पास १ अस्थि, ३५ पीठ की अस्थिया, १५ अस्थिया गर्दन में, २ जत्रु (हसली) की हड्डी, १ ठोडी की अस्थि, ठोड़ी के मूल में बाधने वाली २ अस्थि, ललाट की २ अस्थिया, २ ऑख की, २ कपोलों (गालों) की, ३ अस्थि नासिका में है जिनका नाम 'घोण' है, दोनों पार्शों की २४ अस्थिया, पञ्जर की और पसुलिया, उतने ही उनके

अक्षफलके, द्वावक्षकौ, एकं जत्रु, द्वे तालुषके, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पञ्चचत्वारिंशत्पृष्ठगतान्यस्थीनि, पञ्चदश ग्रीवायां, चतुर्दशोरसि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः, पार्श्वयोस्तावन्ति चैव स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, एकास्थि नासिकागण्डकूटललाट, द्वौ शङ्खौ, चत्वारि शिरःकपालानीति, एवं त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्ना सह दन्तनखेनेति' च पाठः।

अर्बुद अर्थात् शंख प्रदेश मे २, शिर कपाल ४, वक्ष में १७, इस प्रकार से ३६० अस्थिया पूरी होती हैं। २४-२४ अर्बुद के २४ स्थालक हैं ये सब मिलाकर ७२ हैं ॥ ७ ॥

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि। तद्यथा—त्वग्, जिह्वा, नासिका, अक्षिणी, कर्णौ च ॥ ८ ॥

इन्द्रियों के आश्रय पाच हैं। जैसे—त्वचा, जिह्वा, नासिका, दो आख और दो कान ॥ ८ ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। तद्यथा—स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, दर्शनं श्रोत्रमिति ॥ ९ ॥

ये पाच बुद्धि इन्द्रिया हैं। जैसे-स्पर्श, रसन, घ्राण दर्शन और श्रोत्र ॥९॥

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। तद्यथा—हस्तौ, पादौ, पायुरुपस्थो, जिह्वा चेति ॥ १० ॥

पाच कर्मेन्द्रिया हैं। यथा—दो हाथ, दो पाव, पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग) और जिह्वा ॥१०॥

हृदय चेतनाधिष्ठानमेकम् ॥ ११ ॥

हृदय एक है, वह चेतना का स्थान है ॥११॥

दश प्राणायतनानि। तद्यथा—मूर्धा कण्ठो हृदयं नाभिः गुदं बस्तिरोजः शुक्रं शोणितं मांसमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि ॥१२॥

प्राण के आयतन स्थान दस हैं। यथा—मूर्द्धा (सिर), कण्ठ, हृदय, नाभि, गुदा (मलाशय), बस्ति (मूत्राशय), ओज, शुक्र, रक्त और मास। इनमें प्रथम छ मर्म गिने जाते हैं* ॥१२॥

पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि। तद्यथा—नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति ॥१३॥

कोष्ठ के पन्द्रह अग हैं। जैसे—नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, वुक्क (वृक्क, गुर्दे) बस्ति, पुरीषाधार (मलाशय), आमाशय, पक्वाशय, उत्तर गुदा, अधरगुदा, क्षुद्रान्त्र, बृहदान्त्र और वपावहन ॥ १३ ॥

---

* दश प्राणायतनीय अध्याय में—दो शख, तीन मर्म, कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज और गुदा ये दस गिने हैं। नाभि और मास के गिनने से ये भी मर्म प्राणायतन मानने चाहियें। यहा पर शंख नहीं गिना।

षट्पञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि षट्स्वङ्गेषूपनिबद्धानि यानि यान्यपरिसंख्यातानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमानेषु तानि तान्यन्यैः पर्यायैरिह प्रकाश्य व्याख्यातानि भवन्ति। तद्यथा—द्वे जङ्घापिण्डिके, द्वे ऊरुपिण्डिके, द्वौ स्फिचौ द्वौ वृषणौ, एकं शेफ, द्वे उखे, द्वौ वङ्क्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, एकं वस्तिशीर्ष, एकमुदरं, द्वौ स्तनौ, द्वौ भुजौ[1], द्वे बाहुपिण्डिके, चिबुकमेकं, द्वावोष्ठौ, द्वे सृक्किण्यौ, द्वौ दन्तवेष्टकौ, एकं तालु, एका गलशुण्डिका, द्वे उपजिह्विके, एका गोजिह्विका, द्वौ गण्डौ, द्वे कर्णशष्कुलिके, द्वौ कर्णपुत्रकौ, द्वे अक्षिकूटे, चत्वारि अक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, एकोऽवटुः, चत्वारि पाणिपादहृदयानि ॥१४॥

प्रत्यग ५६ है। ये प्रत्यंग उपरोक्त छ॰ अगो मे सम्बद्ध है। आगे कहे जाने वाले ५६ प्रत्यग पूर्वोक्त हाथ आदि छः पूर्व गिने हुए अङ्ग से सम्बद्ध है, उन अस्स्थ प्रत्यगों को अन्य अन्य पर्य्यायों मे कहा जाता है जैसे—दो जंघा की पिण्डिकायें, दो टागों की पिण्डिकाये, दो नितम्ब (कूल्हे), दो वृषण, एक लिंग, कक्षा के पार्श्वों में दो कक्षाये, दो वक्षण (काखे), दो कुकुन्दर (नितम्ब के ऊपर उन्नत भाग), एक बस्ति का शीर्ष, एक उदर, दो स्तन, कण्ठ के पार्श्व मे स्थित दो कठिन भाग, दो बाहु-पिण्डिकाये, एक ठोडी, दो ओंठ, दो सृक्किणी (ओठो के प्रान्त), दो मसूड़े, एक तालु, एक गलशुण्डी, दो उपजिह्विका, एक गोजिह्विका, दो गण्ड, दो कर्ण-शष्कुली, दो कर्णपुत्रक (कान का लटकन), दो अक्षिकूट, चार आख के पलक, दो आख की कनीनिका, दो भ्रुवे, एक अवटु (घाटा), पाव और हाथ के चार तलुवें, ये ५६ प्रत्यग है ॥१४॥

नव महान्ति छिद्राणि—सप्त शिरसि, द्वे चाधः, एतावद् दृश्यं शक्यमभिनिर्देष्टुम् ॥ १५ ॥

नौ महान् छिद्र हैं। जैसे—सात शिर में (दो आख, दो कान, दो नाक और एक मुख) और दो छिद्र अधोभाग में (गुदा और उपस्थ के)। ये त्वग् आदि प्राय॰ सब आखों से दीखते हैं। इनको स्पष्ट बतलाया जा सकता है ॥१५॥

अनिर्देश्यमत॰ परं तर्क्यमेव। तद्यथा—नव स्नायुशतानि, सप्त सिराशतानि, द्वे धमनीशते, चत्वारि पेशीशतानि, सप्तोत्तरं मर्मशतं, द्वे पुनः संधिशते, एकोनत्रिंशत्सहस्राणि[2] नव च शतानि षट्पञ्चाशत्कानि सिराधमनीनामणुशःप्रविभज्यमानानां मुखाग्रपरिमाणं, तावन्ति

१. 'द्वौ श्लेष्मभुवौ' इति च पाठः।

२ 'एकोनत्रिंशत्' इति च पाठः।

चैव केश-श्मश्रु-लोमानीत्येतद्यथावद्यत्संख्यात त्वक्प्रभृति दृश्यं, अत. पर तर्क्यम् । एतदुभयमपि न विकल्प्यते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य ॥ १६ ॥

इसके आगे जो देखी नहीं जा सकतीं, या दिखलाई नहीं देतीं वे सब अनिर्देश्य हैं । अत: उनको अनुमान द्वारा ही जाना जाता है । जैसे—९०० स्नायु, ७०० सिरायें, २०० धमनियां, ४०० पेशियां, १०७ मर्म, २०० सन्धियां, २९-९५६ सिरा-धमनियों के मुखों के अग्रभाग और इतने ही २९९५६ केश, श्मश्रु और शरीर के बाल हैं । ये यहां ठीक २ प्रकार से गिना दिये गये । इनमें त्वचा आदि दृश्य है । इससे आगे सब अनुमान गम्य हैं । यह दृश्य और तर्क्य दोनों प्रकार का मान शरीर के अविकृत होने से विकल्पित नहीं होता । शरीर के विकृत होने पर त्वचा आदि का मान भी विकृत हो जाता है ॥ १६ ॥

यत्त्वञ्जलिसंख्येय तदुपदेक्ष्यामः, तत्पर प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धि ह्रास-योगि, तर्क्यमेव । तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन यत्तत् प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा मूत्र रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून, यत्तत् सर्वशरीरचरं बाह्याऽत्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्द लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्ध लोमकूपेभ्यो निष्पतत्स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणम् । नवाञ्जलयः पूर्वस्याऽऽहार-परिणाम-धातोर्यं त रस इत्याचक्षते, अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसायाः, द्वौ मेदसः, एको मज्ज्ञः, मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इत्येतच्छरीरतत्त्वमुक्तम् ॥ १७ ॥

शरीर में जो वस्तु अञ्जलि से मापने योग्य है उसका वर्णन करते हैं । इस परिणाम की वृद्धि या ह्रास भी अनुमान द्वारा ही जाना जाता है । प्रत्येक मनुष्य की अपनी अञ्जलि की अपेक्षा से शरीर के अन्दर उदक की मात्रा दस अञ्जलियां है । यह जल अधिक होने पर पुरीष के साथ, मूत्र, रक्त और शरीर के अन्य धातुओं के साथ मिल कर बाहर आता है और जो जल त्वचा के अन्दर व्रण में पहुंचाता है, उसे 'लसीका' कहते हैं और जो जल शरीर की गरमी के साथ मिल कर लोम कूपों से निकलता है, उसे 'स्वेद' कहते हैं । यह सब जल दस अञ्जलि परिमाण है । आहार के प्रथम परिणाम धातु रस की नौ अञ्जलियां हैं । रक्त की आठ अञ्जलियां हैं । मल की सात, कफ की छः, पित्त की पांच, मूत्र की चार, वसा की तीन, मेद की दो मज्जा की एक, मस्तिष्क की आधी अंजलि, शुक्र की भी आधी अञ्जलि और

कफ और ओज की भी आधी २ अजलि है। इस प्रकार से शरीर के तत्त्व कह दिये ॥ १७ ॥

तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद् गुरु-खर-कठिनमङ्गं नखास्थि-दन्तवेष्ट-मांस-चर्म-वर्च-केश-श्मश्रु-लोम-कण्डरादि तत्पार्थिवं गन्धो घ्राणं च, यद्-द्रव-सर-मन्द स्निग्ध-मृदु-पिच्छिलं रस-रुधिर-वसा-कफ-पित्त-मूत्र स्वेदादि तदाप्य रसो रसनं च। यत्पित्तमूष्मा यो या च भाः शरीरे, तत्सर्वमाग्नेय रूप दर्शन च, यदुच्छ्वास-प्रश्वासोन्मेष-निमेषा-कुञ्चन-प्रसारण-गमन-प्रेरण-धारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च, यद्वि-विक्तमुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि, तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च। यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधान बुद्धिर्मनश्चेति शरीवयवसंख्या यथास्थूलभेदेनाव-यवानां निर्दिष्टा ॥ १८ ॥

शरीर मे जो अग विशेषत स्थूल, स्थिर, कठिन, गुरु, खर, कठोर हैं, नख, अस्थि, दन्तवेष्ट माढ, चर्म, वर्चस्, केश, श्मश्रु, लोम, कण्डरा आदि यह तथा गन्ध और नासिका यह सब पार्थिव अश हैं। जो भाग द्रव, सर, मन्द, स्निग्ध, मृदु, पिच्छिल, रस, रुधिर, वसा, कफ, पित्त, मूत्र, स्वेद आदि तथा रस और जिह्वा यह सब जलीय अश हैं। जो पित्त, गरमी, शरीर में जो कान्ति रूप और आख है वह अग्नि के अश हैं। जो उच्छ्वास, प्रश्वास, उन्मेष निमेष, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन, प्रेरण, धारण आदि कर्म तथा स्पर्श और त्वचा हैं, यह सब वायु के अश है। शरीर में जो छेद महान् या सूक्ष्म हैं, ये सब प्रकार के स्रोतस्; शब्द और कान हैं यह आकाश के अश हैं। जो इनका प्रयोग करता है, वह प्रधान बुद्धि और मन हैं यह शरीर के अवयवों की सख्या स्थूल दृष्टि भेद से अवयवों की सख्या कह दी गई है ॥ १८ ॥

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसख्येया भवन्त्यतिबहुत्वाद-तिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। तेषा सयोगविभागे परमाणूनां कारण वायु- कर्म स्वभावश्च ॥ १९ ॥

शरीर के अवयव परमाणु भेद से असख्य हैं। क्योंकि बहुत अधिक हैं, वे अति सूक्ष्म होने से वा अतीन्द्रिय होने से असख्य हैं। शरीर के इन परमा-णुओं के संयोग और विभाग में कारण वायु, कर्म और स्वभाव है ॥ १६ ॥

तदेतच्छरीर सख्यातमनेकावयवं दृष्टमेकत्वेन सङ्गः, पृथक्त्वेनाप-वर्गः। तत्र प्रधानमसक्त सर्वसन्ताननिवृत्तौ निवर्तत इति ॥ २० ॥

इस संख्यात शरीर को जो वास्तव में अनेक अवयवों से युक्त है मोहवश एक रूप में देख कर राग-बुद्धि (आसक्ति) उत्पन्न होती है। एक रूप में शरीर को देख कर इसके उपकार में प्रवृत्ति नहीं होती है जिससे मनुष्य राग-द्वेष मे फस जाता है। शरीर को पृथक् २ अग २ रूप में समझने से ममता नहीं होती, इसी लिये प्रवृत्ति के शान्त होने पर धर्माधर्म के न होने से अपवर्ग होता है। प्रधान आत्मा, राग द्वेष से रहित है। वह सब प्रकार के उपकारक और अपकारक भावों से निवृत्त होकर ससार से भी निवृत्त-मुक्त हो जाता है॥२०॥

तत्र श्लोकौ—शरीरसख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक्।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥ २१॥
अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते।
निर्दोषो नि स्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः॥ २२॥

जो भिषक् (वैद्य) शरीर के सम्पूर्ण अवयवो की सख्या जानता है, वह वैद्य मिथ्याज्ञान के कारण मोह में नही फँसता। ज्ञानी पुरुष मोह (राग द्वेष) के कारण दोषों से कभी भी पराजित नहीं होता। इसलिये दोषरहित, नि:स्पृह होकर सब क्रियाओ के शान्त होने से शान्त हो जाता है फिर इसका पुनर्जन्म नहीं होता॥२१-२२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने शरीरसंख्या-
शारीर नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः॥ १॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २॥

अब इसके आगे 'जाति-सूत्रीय' नामक शरीर का व्याख्यान करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १-२॥

स्त्रीपुंसयोरव्यापन्न-शुक्र शोणित-गर्भाशययो श्रेयसीं प्रजामिच्छ-तोस्तदर्थाभिनिर्वृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः॥ ३॥

जिसके शुक्र में दूषण न हो ऐसा पुरुष और जिसके आर्त्तव और गर्भाशय मे दोष न हो ऐसी स्त्री जो श्रेष्ठ सतान की कामना करनेवाले हों उन स्त्री-पुरुषों के लिये गुणवती प्रजा के उत्पादक कर्मों का उपदेश करते हैं:—॥ ३॥

अथाप्येतौ स्त्रीपुंसौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य क्रमेण प्रकृतिमापादयेत्, संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेत्, उपचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां घृतक्षीराभ्यां पुरुषं, स्त्रियं तु तैलमाषाभ्याम्[1] ॥ ४ ॥

उक्त गुणोंवाले पुरुष और स्त्री को वैद्य स्नेहन और स्वेदन कर्म कराके पीछे से वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध करे। पीछे पेया आदि देकर क्रमशः प्रकृति में लाये। इस प्रकार शुद्ध होने पर आस्थापन और अनुवासन कर्म करावे। मधुर औषधियों से संस्कृत या जीवनीय गण की औषधियों से घृत, दूध से पुरुष का, तथा तैल और माष (उड़द की दाल) से स्त्री को पुष्ट करे। [पुरुष को सौम्य औषधियों से संस्कृत अन्न दे, क्योंकि पुरुष की प्रकृति सौम्य है, इसलिये शुक्र की वृद्धि होगी। स्त्री की प्रकृति उष्ण है, इसलिये उसको उष्ण पदार्थो से संस्कृत अन्न दे] ॥ ४ ॥

रजस्वला के कर्त्तव्य—

ततः पुष्पात्प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमजर्जरपात्रे[2] भुञ्जाना न च काञ्चिन्मृजामापद्येत, ततश्चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत्पुरुषं च ततः शुक्लवाससौ स्रग्विणौ सुमनसावन्योन्यमभिकामौ संवसेतामिति ब्रूयात् ॥ ५ ॥

पुष्प दर्शन (रजोदर्शन) होने पर तीन रात तक स्त्री (रजोधर्म के दिनों में) ब्रह्मचर्य्य-व्रत का पालन करे। जमीन पर सोये, न फूटे हुए बर्त्तनों में हाथों से भोजन करे, [चम्मच आदि से भोजन न करे] किसी भी प्रकार का शरीर पर भूषण या सजावट, स्नान-लेपन आदि नहीं करे। चौथे दिन ऋतु समाप्त होने पर भली प्रकार स्नान करे, शिर को भी साफ करे, श्वेत वस्त्र पहिने। पुरुष भी स्नान करके श्वेत वस्त्र ही पहिने। इसके अनन्तर स्त्री और पुरुष दोनों श्वेत वस्त्रों को पहिने हुए, मालाओं को धारण किये हुए, प्रसन्न मन, परस्पर की कामना करते हुए मैथुन करे, वैद्य ऐसा उपदेश दे ॥ ५ ॥

स्नान के उपरान्त कर्त्तव्य—

स्नानात्प्रभृति युग्मेष्वहःसु संवसेतां पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ६ ॥

---

१. 'तैलमाषाभ्याम्' इति क्वचित् पाठः।

२ 'अजर्जरात् पात्राद्' इति च पाठः।

स्नान करने के उपरान्त पुत्र की कामना से युग्म (दूसरे, चौथ, छठे आदि) दिनो मे और कन्या की कामना से अयुग्म (पहले, तीसरे, पाचवे सातवें आदि) दिनो में मैथुन करे ॥ ६ ॥

गर्भाधान काल मे स्त्री की उचित स्थिति—

न च न्युब्जां पार्श्वगता वा संसेवेत । न्युब्जाया वातो बलवान् स योनि पीडयति, पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपिद्धाति गर्भाशयं[1], वामे पित्तं पार्श्वे । तस्याः पीडितं विदहति रक्त शुक्रम् । तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात् । तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः । पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत् ।

नीचे मुख की हुई, औंधी या पार्श्व में लेटी स्त्री के साथ सम्भोग नहीं करे क्योंकि अधोमुख स्थिति मे वायु बलवान् होता है, यह वायु योनि का पीड़न करता है । दक्षिण पार्श्व मे लेटने से श्लेष्मा (कफ) स्रवित होकर गर्भाशय को ढाप लेता है । वाम पार्श्व में लेटने से पित्त कुपित होकर रक्त और शुक्र को दूषित कर देता तथा उष्ण कर देता है । इसलिये स्त्री उतान पीठ के बल चित्त लेटकर बीज का योनि मे ग्रहण करे । इस स्थिति में दोष वात आदि अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं । मैथुन की समाप्ति पर स्त्री को शीतल जल से स्नान करावे ।

तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धाऽन्यं च पुमासमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा नारी न गर्भं धत्ते । विगुणां वा प्रजा जनयति । अतिबालामतिवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टा वर्जयेत् । पुरुषेऽप्येत एव दोषाः ।

गर्भाधान के अयोग्य स्त्री-पुरुष—बहुत भोजन करने पर, भूखे होने पर, प्यास लगी होने पर, डरी होने पर, मन प्रसन्न न होने पर या अन्य वस्तु में मन लगे होने पर, शोकयुक्त, क्रुद्ध, अन्य पुरुष को चाहने वाली, अधिक सम्भोग को चाहने वाली स्त्री गर्भ धारण नहीं करती । यदि भाग्य से गर्भ रह भी जाये तो गुणरहित सतान उत्पन्न होती है । इसी प्रकार बहुत छोटी आयु वाली, अति वृद्ध, चिरकाल से रोगिणी, अथवा अन्य किसी रोग से आक्रान्त स्त्री को भी गर्भाधान क्रिया मे अयोग्य जानना चाहिये । इसी प्रकार के पुरुष भी गर्भाधान क्रिया में अयोग्य होते हैं ।

---

१. 'गर्भं' इति च पाठः ।

अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्री पुरुषौ संसृज्येयाताम् । संजातहर्षौ मैथुने चानुकूलाविष्टगन्धं स्वास्तीर्णं सुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनमशित्वा नात्यशितौ । दक्षिणपादेन पुमान् वामपादेन स्त्री चारोहेत् । तत्र मंत्रं प्रयुञ्जीत—

गर्भाधान के नियम—इसलिये सब प्रकार के दोषों से रहित स्त्री और पुरुष ही गर्भाधान करें। मैथुन की इच्छा उत्पन्न होने पर प्रसन्न चित्त, अनुकूल सुगन्धि से युक्त, मन के अनुकूल, स्वच्छ, बिछे बिस्तर पर, हितकारी भोजन खा कर, दक्षिण पाव को पुरुष और वाम पाव को स्त्री प्रथम रख कर शय्या पर चढे। वे दोनों भोजन बहुत अधिक न खावें। इस समय निम्नलिखित मन्त्र बोले।

अहिरसि आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठाऽसि ।
धाता त्वा दधातु विधाता त्वा दधातु
ब्रह्मवर्चसा भवेदिति ॥ १ ॥
ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—तू अहि है, तू आयु है, तू सब स्थान मे प्रतिष्ठित है, धाता, तुझे धारण करे, विधाता तुझको धारण करे, तू ब्रह्म तेज से युक्त हो ॥ १ ॥

ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, दोनों अश्वी, भग, मित्र और वरुण मुझको वीर पुत्र धारण करावें ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा संवसेताम् ॥ ३ ॥

यह मन्त्र पढ़ कर वे दोनों मैथुन कर्म करे ॥ ३ ॥

सा चेदेवमाशासीत बृहन्तमवदातं हर्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्त्वसंपन्नं पुत्रमिच्छेयमिति शुद्धस्नानात्प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातयवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गाः सरूपवत्सायाः पयसाऽऽलोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत्पानाय, प्रातश्च शालियवान्नविकारान् दधि-मधु सर्पिर्भिः पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत. तथा सायमवदात-शरण-शयनासन यान-वसन-भूषणा च स्यात्, सायं प्रातश्च शश्वच्छ्वेतं महान्तमृषभमाजानेयं हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत, सौम्याकृति-वचनोपचार-चेष्टांश्च स्त्री-पुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्, सहचर्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुः तथा भर्ता। न च मिश्रीभावमापद्येयाताम् ।

पुत्रेष्टि—यदि स्त्री चाहे कि मेरा पुत्र बड़ा शुद्ध चरित्र, प्रतिभाशाली, सिंह के समान पराक्रमी, पवित्र और बलसम्पन्न हो तो—ऋतुकाल के उपरान्त स्नान करने पर लगातार सातदिनों तक समय २ पर [प्रातः साय दोनों समय] स्त्री शुद्ध साफ (तुषों से रहित) किये जौ के मन्थ को मधु और घी में मिला कर श्वेत सुन्दर बछड़े वाली श्वेत गाय के दूध में घोल कर चादी या कासे के पात्र मे खावे और प्रातःकाल हेमन्त-धान्य (चावल) तथा जौ से बने खाद्य पदार्थों को दही, मधु और घी के साथ अथवा दूध के साथ मिलाकर खाना चाहिये। और सायकाल निर्मल घर, बिस्तर, आसन, वस्त्र और भूषणों का उपयोग करे। सायं प्रातः निरन्तर, श्वेत, बड़े, आच्छा नसल के, श्वेत चन्दन से लिप्त अंगों वाले बैल का दर्शन करे, सौम्य एव मनोहर अनुकूल कथाओं द्वारा पुरुष स्त्री को प्रसन्न करे। वह स्त्रा सौम्य आकृति वाली, सौम्य वचन, सौम्य आचार और सौम्य चेष्टा वाले स्त्री पुरुषों को तथा अन्य इन्द्रियों के निर्मल ग्राह्य पदर्थों को देखे। इस स्त्री की प्रिय और हितकारी बातों से सहेलिया सदा सेवा करती रहें। इसी प्रकार पति भी अपना आहार-विहार करे। वे दोनो इस अवसर में सम्भोग न करें ॥

इत्यनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वाऽष्टमेऽहन्याप्लुत्याद्भिः सशिरस्कं भर्त्रा सह चाहतानि वस्त्राण्याच्छादयेदवदातानि। अवदाताश्च स्रजो भूषणानि बिभृयात् ॥ ७ ॥

इस प्रकार उपरोक्त विधि से सात रात तक रह कर आठवें दिन पति के साथ शिर आदि सब अगों सहित स्नान करके पवित्र, नये निर्मल वस्त्रों को धारण करे। वे सुन्दर माला और आभूषणो को धारण करें ॥ ७ ॥

तत ऋत्विक्प्रागुत्तरस्या दिश्यागारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्या स्थण्डिलमुपसलिप्य, प्रोक्ष्य चोदकेन वेदिमस्मिन् स्थापयेत्। ता पश्चिमेनानाहतवस्त्रसंचये श्वेतार्षभे वाऽप्यजिन उपविशेत् ब्राह्मणप्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानुडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे बास्ते वा। तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय, कुशैः परिस्तीर्य, परिधिभिश्च परिधाय, लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभि सुमनोभिरुपाकिरेत्। तत्र प्रणीतोदपात्रं पवित्र पूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत्।

इसके पश्चात् यज्ञ कराने वाला ऋत्विग् घर के पूर्व या उत्तर दिशा में अथवा पूर्व या उत्तर की ओर को ढाल लिये देश को देख कर उसे गोबर से लेप कर स्थान तैयार करे। इस स्थान को पानी छिड़क कर यहां पर वेदी का स्थापन करे। वेदी की पश्चिम दिशा में नूतन वस्त्रो की बनी गद्दी पर अथवा श्वेत बैल के चर्म पर यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण बैठे। यदि पुत्रेष्टि के लिये क्षत्रिय यज्ञ करा रहा हो तो वह व्याघ्र के या बैल के चर्म पर बैठे, वैश्य द्वारा प्रयुक्त हो तो रुरु (मृग) के या बकरे के चर्म पर बैठे। वहां बैठकर ढाक, इगुदी (हिंगोट), गूलर और महुवा की समिधाओं से अग्नि को प्रज्वलित करके, चारों ओर कुशाओं को बिछा कर परिधिया (केले के चार खम्बे) लगा कर, लाजा डाल कर, सफेद लाजा और गन्ध वाले फूलो को वेदी के चारो ओर बिखेर देवे। इसके पीछे मन्त्र से पवित्र जल पात्र को रख कर पवित्र, उपसस्कृत मंत्र आदि से सस्कृत घी को यज्ञ के लिये रक्खे और उत्तम वर्ण के उत्तम तथा नसल के बैलो आदि को भी चारों ओर बैठवादे ॥ ७ ॥

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपविश्यान्वालभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना, ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्वपेत् 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यनया ऋचा, ततश्चैवाऽऽज्येन स्थालीपाकमभिघार्य त्रिर्जुहुयात्, यथाम्नायं चोपमंत्रितमुदकपात्रं तस्यै दद्यात्सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति।

इसके पीछे पुत्र की कामनावाली स्त्री अग्नि के पश्चिम में और ब्राह्मण के दक्षिण में बैठ कर पति के साथ यथेष्ट पुत्र की कामना करती हुई समस्त विधि करे। स्त्री के यथेष्ट पुत्र की कामना करते हुए ऋत्विक् प्रजापति को लक्ष्य करके, स्त्री के गर्भ मे उसकी इच्छा परिपूर्ण होने के अर्थ और गर्भ स्थिर रहने के लिये पुत्र काम्येष्टि करे। वह 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु'०* इस मन्त्र से आहुति करे। इसके पीछे घी से स्थालीपाक का सचिन कर शास्त्रानुसार तीन आहुति देवे। उपमन्त्रित जलपात्र उस स्त्री को देवे और आदेश कर दे कि सब जल के कार्य तू इसी पानी से कर।

ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत्, ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा सह भर्त्राऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात्। पूर्वं पुमान् पश्चात्स्त्री। न चोच्छिष्टमवशेषयेत्। ततस्तौ सह संवसेतामष्टरात्रं तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां, तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ॥८॥

* विष्णुर्योनिं कल्पयतु० ऋग्वेद मण्डल १० । सू० १८४ । १ ॥

पुत्रेष्टि यज्ञ की विधि समाप्त होने पर प्रथम दक्षिण पात्र को आगे रख कर स्त्री अग्नि की प्रदक्षिणा करे। इसके पीछे ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके पति के साथ अवशिष्ट आज्यशेष (बचा हुआ घी) खावे। इसमें भी पहिले पुरुष खाये और पीछे स्त्री। अवशिष्ट कुछ भी शेष न रक्खे। दोनों परस्पर अगले आठ रात्रि शयन करे। जिस प्रकार के पुत्र की कामना हो उसी प्रकार के (वर्ण) के वस्त्र पहिने। इससे मनोवाञ्छित सतान उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहुं च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं कृष्ण-मृदु-दीर्घ-केशं शुक्लाक्षं शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम्। एष एवानयोरपि होमविधिः। किंतु परिबर्हवर्ज्यं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीः परिबर्होऽन्यः कार्यः स्यात् ॥ ९ ॥

जो स्त्री काले, लाल आखों वाले, चौड़ा छाती और विशाल बाहु वाले पुत्र की कामना करे, अथवा काले रंग के, काले, कोमल लम्बे २ बालों वाले, सफेद आख के, सफेद दातों वाले, तेजस्वी और जितेन्द्रिय पुत्र को चाहे तो इन दोनों के लिये भी यही विधि है। किन्तु शयन, आसन, पुष्प आदि परिच्छद भिन्न हैं। जैसे वर्ण के पुत्र की चाह हो वैसा ही परिच्छद पोशाक और बिछावन करे। इष्ट पुत्र के वर्ण के अनुरूप सब वस्त्रादि होना चाहिये ॥ ९ ॥

शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्याद्देवाग्नि द्विज गुरु-तपस्वि-सिद्धेभ्यः ॥१०॥

शूद्रा स्त्री मन्त्र-विधि से होम न करके देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, सिद्ध और तपस्वियों को नमस्कार मात्र ही करे [क्योंकि शूद्रा मूर्ख होने से यज्ञादि ठीक प्रकार से करने मे असमर्थ होती है] ॥ १० ॥

या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्। तानुनुपरिक्रम्य या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानामाहार-विहारोपचार-परिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्। इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥११॥

जो जो स्त्री जिस जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा करे उस उस की उस उस प्रकार के पुत्र की इच्छा को सुन कर उन नाना जनपदों में उस स्त्री को मन द्वारा भ्रमण करावे, उनका अनेक बार चिन्तन कराये। जो जो स्त्री जिन २ जनपदों के राष्ट्रनिवासियों के सदृश पुत्र को चाहे वह इन देशवासियों जैसा जैसा आहार-विहार, उपचार, परिच्छद आदि करते हैं वैसा

करने को कहे। यह सब पुत्र को चाहने वाली स्त्रियों के आशानुरूप समृद्धि करने वाले पुत्र के अनुकूल कर्म का उपदेश कर दिया है ॥ ११ ॥

न तु खलु केवलमेतदेव कर्म वर्णवैशेष्यकरं भवति, अपि खलु तेजोधातुरप्युदकान्तरिक्ष-धातु-प्रायोऽवदात-वर्णकरो भवति। पृथिवी-वायु-धातु-प्रायः कृष्णवर्णकरः सम-सर्व धातु-प्रायः श्यामवर्णकरः ॥१२॥

केवल इतना ही कर्म वर्ण की विशेषता को उत्पन्न नहीं करता। बल्कि तेजो धातु, जल और अन्तरिक्ष धातु अधिक मात्रा में वर्ण को चमकीला, स्वच्छ कान्तिमान् बनाते हैं। यही तेजो धातु पृथ्वी, वायु की अधिकता के कारण वर्ण को काला कर देता है। सब धातुओं की समान मात्रा वर्ण को श्याम (सावला) करती है ॥ १२ ॥

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्ण स्वोचित च कर्म सत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति ॥१३॥

उन उन प्राणियों के माता पिता के सत्त्व, गर्भिणी का सत्त्व, बार बार बातों का सुनना, गर्भ के पूर्व जन्म के सचित कर्म, जन्मान्तर में जिस प्रकार के सत्त्व का पुरुष अभ्यास करता है यह बातें सत्त्व (मन) की विशेषता को उत्पन्न करती हैं ॥ १३ ॥

यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोर्मिश्रीभावमापन्नयो शुक्रं शोणितेन सह समेत्याऽव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे-गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्तयत्येकान्तेन। तद्यथा निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रञ्जनं समुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत्। यथा वा क्षीरं दध्नाऽभिषुतमभिषवणाद्विहाय स्वभावमापद्यते दधिभावं शुक्र तद्वत् ॥ १४ ॥

उपरोक्त विधि के अनुसार संस्कृत शरीर वाले स्त्री पुरुषों के परस्पर सयुक्त होने पर शुक्र आर्त्तव के साथ मिल कर निर्दोष शुक्र निर्दोष आर्त्तव से, नीरोग-स्वस्थ योनि में मिल कर, निर्दोष गर्भाशय में-सम्पूर्ण रूप में गर्भ को बनाता है। जिस प्रकार निर्मल, स्वच्छ, अच्छी प्रकार से धोये वस्त्र पर थोड़ा सा भी उत्तम रंग गिरने पर रग चढा देता है, उसी प्रकार शुद्ध निर्मल गर्भाशय में निर्दोष शुक्र आर्त्तव से मिल कर गर्भ को उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार थोड़ी सी दही, बहुत से दूध के साथ मिल कर उसको भी दही रूप में कर देती है, उसी प्रकार थोड़ा सा शुक्र भी गर्भ को स्वभावतः उत्पन्न कर देता है ॥ १४ ॥

एवमभिनिर्वर्त्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः ॥ १५ ॥

यथा हि बीजमनुपतप्तमुप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयेते ॥ १६ ॥

इस प्रकार से बनते हुए गर्भ में कन्या या पुत्र की उत्पत्ति का कारण हमने प्रथम ही कह दिया है। [रक्त की अधिकता से कन्या और शुक्र की अधिकता से पुत्र उत्पन्न होता है।] जिस प्रकार निर्दोष अथवा दूषित बीज अपनी अपनी प्रकृति का अनुसरण करके धान्य से धान्य और जौ के बीजों से जौ को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार कन्या और पुत्र की उत्पत्ति में भी स्त्री और पुरुष अपने २ कारणानुसार कार्य करते हैं ॥ १५–१६ ॥

तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक् । कर्मणां हि देशकालसंपदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वं, तथेतरेषामितरत्वम् । तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्—गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गे अनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां संपदुपेताभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्ये पिबेत्, तथैवापराञ्जीवकर्षभकापामार्ग–सहचर–कल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्य पयसा, कुड्यकीटकं मत्स्यकं चोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्ये पिबेत्, तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण, पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं देहलीमुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत्पिचुना । इति पुंसवनानि। यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्ता वा पुंसवनमिष्टं तच्चानुष्ठेयम्॥१७॥

पुंसवन विधि—वेदोक्त कर्म के अनुसार ठीक प्रकार से कार्य अनुष्ठान करने का भेदक लक्षणों के उत्पन्न होने से पूर्व ही लिंगादि में परिवर्तन करना सम्भव है। उत्तम गुणयुक्त देश, काल में किये कर्मों में इष्ट फल अवश्य प्राप्त होता है। उत्तम देश काल के गुणों से रहित कर्मों में इष्ट फल नहीं मिलता। इस लिये स्त्री में गर्भ रहने पर गर्भ के लक्षणों के स्पष्ट होने से पूर्व ही गर्भ में पुंसवन करने का प्रयोग करना चाहिये। [गर्भ के लिंग विभेदक लक्षण दूसरे महीने में स्पष्ट होते हैं। अतः दूसरे मास से पूर्व पुंसवन कर्म का प्रयोग करे] (१) गौओं के बैठने के स्थान में लगे बड़ वृक्ष की उत्तर और पूर्व की दिशा की ओर लगी दो शाखाओं से दो शुंग (फुनगो) तोड़ कर उत्तम गुण वाले उड़द

या श्वेत सरसों के दो दो दानों के साथ दही में मिलाकर पुष्य नक्षत्र में पान करे[1]। (२) दूसरी विधि—जीवक, ऋषभक, अपामार्ग, सहचर इनके कल्क को सब के साथ अथवा अलग अलग दूध के साथ इच्छानुसार संस्कृत कर लेना चाहिये । फिर कुड्यकीट (भित्तिमत्स्य)[2], मत्स्यकोड (मत्सक), इनको चुल्लू भर पानी में मिला कर पुष्य नक्षत्र में पीना चाहिये । (३) तीसरी विधि—स्वर्ण, चांदी या लोहे से बहुत सूक्ष्म मनुष्य की आकृति बना कर आग में लाल करके, दही दूध या चुल्लू भर पानी में बुझाना चाहिये । फिर पुष्य नक्षत्र में इसका सम्पूर्ण रूप में पी लेना चाहिये । (४) चतुर्थ विधि—पुष्य नक्षत्र में ही पकते हुए शाली के आटे की गरमी को सूघ कर और उसी चून को जल में मिला कर उसके रस को देहली पर शिर रख कर अपने दक्षिण नासापुट में रुई के फाये द्वारा सिंचन करे (जिससे कि मुख में आ जाये)। यह पुंसवन के अनेक प्रकार हैं । इनके अतिरिक्त और भी जिस २ पुंसवन या इष्ट कर्म का ब्राह्मण या वृद्ध विद्वान् उपदेश करे उनको भी करे[3] (जसे—लक्ष्मणा ओषधि के रस को दक्षिण नासा पुट में डालना आदि) ॥ १७ ॥

अत ऊर्ध्वं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः—ऐन्द्री-ब्राह्मी-शतवीर्या-सहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा शिवा-बलाऽरिष्टा-वाट्यपुष्पी-विष्वक्सेनकान्ता च । आसामोषधीनां शिरसा दक्षिणेन पाणिना धारण, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिषो वा पानं, एताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नान, सदा समालभेत च ताः, तथा सर्वासां जीवनीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तैरुपयोगविधिभिः। इति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति १८

इसके आगे गर्भस्थापन विधियों का उपदेश करते है—ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या, सहस्रवीर्या (दूब के भेद), अमोघा (पाटला), अव्यथा (गिलोय) शिवा (हरीतकी), अरिष्टा (कटुरोहिणी), वाट्यपुष्पी (पीतबला), विष्वक्सेनकान्ता (प्रियगु), इन ओषधियों को शिरमें तथा दक्षिण हाथ में धारण करना चाहिये । इन ओषधियो से संस्कृत दूध वा घी का पान करना चाहिये । इन ओषधियों के क्वाथ से प्रत्येक पुष्य नक्षत्र में स्नान करना चाहिये । इन

१ धान्यमाष शब्देन—व्रीहि माष ग्राहयन्ति, स्वर्णमाष च व्यावर्त्तयन्ति । चक्रपाणि. ।

२ कुड्यकीट—दिवार में मिट्टी से जो कीड़ा घर बनाता है,

३ गर्भाधान और पुंसवन विधि के लिये संस्कारविधि तथा बृहदारण्यकोपनिषद में पुत्रेष्टि-प्रकरण (बृहद्० उप० अ० ६ । ब्रा० ४ ॥)

औषधियों को सदा पास में रखे। इसी प्रकार जीवनीय गण में कही हुई सम्पूर्ण औषधियो का नाना प्रकारों से सदा उपयोग करते रहना चाहिये। यह गर्भ स्थापन विधियां कह दी है ॥ १८ ॥

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद्यथा—उत्कटुक-विषम-कठिनासन-सेविन्या वात-मूत्र-पुरीष-वेगानुपरुन्धत्या दारुणानुचित-व्यायाम-सेविन्यास्तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याश्च गर्भो म्रियतेऽन्तः कुक्षेरकाले वा स्रंसते शोषी वा भवति, यथाऽभिघातप्रपीडनैः श्वभ्र-कूप-प्रपातदेशावलोकनैर्वाऽभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले, तथाऽतिमात्रसंक्षोभिभिर्यानैरप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा। प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति विवृतशायिनी नक्तचारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपस्मारिणं पुनः कलिकलहशीला । व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा। शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा। अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा । स्तेनात्यायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा। अमर्षिणी चण्डमौपधिकमसूयकं वा । स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा । मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा। गोधा-मांस-प्रिया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनं वा । वराहमांसप्रिया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा । मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा। मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा । अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा। लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा। कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा। तिक्तनित्या शोषिणमबलमपचितं वा । कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा, यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तद्विकारबहुलमपत्यं जनयति। पितृजास्तु शुक्रदोषा मातृजैरपचारैर्व्याख्याताः। इति गर्भोपघातकरा भावा भवन्त्युक्ताः ॥ १९ ॥

निम्नलिखित बातें गर्भ का नाश करनेवाली हैं। यथा—उकड़ू (घुटनों के बल) अथवा विषम, टेढ़े मेढ़े, ऊंचे नीचे या कठिन आसन या स्थिति में बैठने, वात, मूत्र और मल के वेग को रोकने, दारुण या अनुचित व्यायाम का करने, अति तीक्ष्ण या अति उष्ण पदार्थों का सेवन, और भूख से कम (प्रमित) भोजन करने से गर्भ गर्भाशय में मर जाता है, अथवा बिना समय के बह जाता है, या अन्दर ही सूख जाता है। इसी प्रकार चोट लगने से, दबने से, माता के गहरे गड्ढे में, कुए में, जल-प्रपात के स्थान को बार बार देखने से अकाल

में गर्भ गिर जाता है। बहुत अधिक हिलने डुलनेवाली सवारी पर चलने से, अप्रिय बातों के बहुत सुनने से, निरन्तर उतान (चित) सोने से, गर्भ की नाभि में लगी नाड़ी गर्भ के गले में लिपट जाती है। खुले स्थान में, मैदान मे सोनेवाली या रात मे घूमनेवाली स्त्री के नित्य पागल सतान उत्पन्न होती है, झगड़ालु स्त्री अपस्मार रोगवाली सतान उत्पन्न करती है। मैथुनशील स्त्री बुरे शरीर वाले, निर्लज्ज या स्त्री-प्रकृति के सतान को उत्पन्न करती है। नित्य शोकातुर रहनेवाली स्त्री भीत, निर्बल अथवा थोड़ी उमरवाले सतान को जन्म देती है, मन से द्रोह करनेवाली, दूसरे को पीड़ित करनेवाले, ईर्षालु या स्त्री-प्रकृति के सतान को जन्माती है, चोरी के स्वभाववाली स्त्री बहुत मेहनत करनेवाले, अतिद्रोही अथवा कर्म न करनेवाले सतान को पैदा करती है। क्रोधशील स्त्री चण्ड, शठ या निन्दा करने वाले सतान को उत्पन्न करती है। नित्य सोने वाली माता आलसी, मूढ अथवा मन्दाग्नि सतान को उत्पन्न करती है। मद्यपान करने वाली स्त्री पिपासा वाले, थोड़ी स्मृति और चचल मन वाले सतान को उत्पन्न करती है *। गोधा (गोह) के मास को खाने वाली स्त्री शर्करामेही, पथरी के रोगी या शनैःमेही को जन्म देती है, सूअर के मास में रुचि करने वाली स्त्री लाल आखों वाले वा अकस्मात् जिसका श्वास बन्द हो जाये, ऐसे, कठोर बालों वाले सतान को जन्म देती है। मछलियों के मास में रुचि करने वाली स्त्री देर मे पलक गिराने वाले, अथवा बे झपक आख वाले सतान को पैदा करती है। मधुर रस (दूध को छोड़कर शेष मधुर) को खाने वाली स्त्री प्रमेही, गूगी या बहुत मोटे सतान को जन्म देती है। अम्ल रस का सेवन करने वाली रक्तपित्त के रोगी वा त्वचा और आख के रोगी को जन्म देती है। लवण रस को सेवन करने वाली स्त्री शीघ्र बलि (झुरिया) या पलित (सफेद बाल वाले) तथा गजे सतान को जन्म देती है। कटु रस को सेवन करने वाली स्त्री दुर्बल अल्पशुक्रवाली या सतान रहित सतति को उत्पन्न करती है। तिक्त रस को सेवन करने वाली स्त्री शोषरोगी, निर्बल या छोटी सतति को उत्पन्न करती है। कषाय रस को सेवन करने वाली स्त्री श्याव (काले) आनाह वा उदावर्त्त रोगी

---

* रौटेण्डा अस्पताल में एक नव जात बच्चा लगातार चार पाच दिन तक रोता रहा। इसको चुप कराने क लिये सब उपायें किये गये। प्यास के लिये पानी भी दिया, दूध भी दिया, पर चुप न हुआ। अन्त मे मद्य देने पर ही चुप हुआ। इस कारण को ढूढने पर पता चला कि इसकी माता शराब पीती थी।

संतान को उत्पन्न करती है। जिस जिस रोग के जो जो कारण कहे हैं, उन २ कारणों को सेवन करने वाली माता उसी उसी रोग से ग्रस्त संतान को उत्पन्न करती है गर्भ का नाश करने वाले पिता के शुक्र दोषों की व्याख्या माता के किये अपचारों से कर दी है॥ १९ ॥

तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासंपदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चाऽऽत्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ॥२०॥

इसलिये जो स्त्री यह चाहे कि उसकी संतान गुणवती हो वह अहितकारी आहार-विहार का विशेष रूप से त्याग करदे। वह साधु आचार से रह कर हितकारी आहार-विहार का सेवन करे ॥ २० ॥

व्याधींश्चास्या मृदु-मधुर-शिशिर-सुख सुकुमार-प्रायैरौपधाहारोपचारैरुपचरेत्। न चास्या वमन-विरेचन-शिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकाल च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः। अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्, पूर्णमिव तैलपात्रमसक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या ॥ २१ ॥

गर्भिणी के रोगों की चिकित्सा मृदु, मधुर, शीतल, सुख और सुकुमारप्राय औषधियों और ऐसे ही आहार विहारों से करनी चाहिये। गर्भिणी को वमन, विरेचन अथवा शिरोविरेचन नही देने चाहिये। रक्तमोक्षण भी नहीं करना चाहिये। कोई खास रोग को छोड़ कर हर समय आस्थापन या अनुवासन क्रिया भी नहीं बरतनी चाहिये। आठवा मास लग जाने पर यदि कोई ऐसा रोग आ पड़े जिसमें कि वमन आदि क्रिया आवश्यक ही हो, तब कोमल रूप में वमन आदि क्रियाओं को करावे, अथवा ऐसी ही क्रिया करने वाले अन्य उपाय करने चाहियें। गर्भ को तैल से भरे पात्र के समान जान कर क्षोभ आदि उत्पन्न न करते हुए गर्भिणी का उपचार करना चाहिये ॥ २१ ॥

सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्। अजातसारा हि तस्मिन् काले भवन्ति गर्भाः ॥२२॥

यदि अपचार के कारण दूसरे या तीसरे मास में गर्भिणी को रजोदर्शन हो जाय तो समझना चाहिये कि इसको गर्भ नहीं रहेगा, क्योंकि इस समय तक गर्भ मे सार उत्पन्न नही होता ॥ २२ ॥

सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोध-शोकासूयेर्ष्या-भय-त्रास-व्यवाय-व्यायाम-सक्षोभ-संधारण-विषमासन-शयन-स्थान-क्षुत्पिपासाद्यतियोगात्कदाहाराद्वा पुष्पं पश्येत्तस्या गर्भ-स्थापन-विधिमुपदेक्ष्यामः।

यदि गर्भिणी को चौथे आदि मासों में क्रोध, शोक, ईर्ष्या, भय, त्रास, मैथुन, व्यायाम, विक्षोभ, वेगों के रोकने, विषम आसन, विषम शयन, विषम स्थान, भूख, प्यास के अति वेग से अथवा कुत्सित आहार के कारण पुष्प दर्शन होने लगे उसके लिये गर्भ स्थापन विधि का उपदेश करते हैं ॥

पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात् शयनं तावन्मृदु-सुख-शिशिरास्तरण संस्तीर्णमीषदवनतशिरस्क प्रतिपद्यस्वेति, ततो यष्टी-मधुक-सर्पिर्भ्यां परम-शिशिर वारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाक्षाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत्तस्याः । तथा शतधौत-सहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधो नाभेः सर्वतः प्रदिह्यात् ; गव्येन चैनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा न्यग्रोधादिकषायेण वा परिषेचयेदधो नाभेः । उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्, क्षीरिणां कषायद्रुमाणां च स्वरसपरिपीतानि चेलानि ग्राहयेत् । न्यग्रोधादिसिद्धयोर्वा क्षीरसर्पिषोः पिचुं ग्राहयेत्, अतश्चैवाक्षमात्रं प्राशयेत् । प्राशयेद्वा केवलं च क्षीरसर्पिः । पद्मोत्पल-कुमुद-किञ्जल्कांश्चास्य समधुशर्करान् लेहार्थं दद्यात् । शृङ्गाटक-पुष्करबीज-कशेरुकान् भक्षणार्थं, गन्ध-प्रियङ्गु सितोत्पल-शालूकोदुम्बर-शलाटु-न्यग्रोध शुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयसा । पयसा चैनां बलातिबला-शालि-षष्टिकेक्षुमूल-काकोली-शृतेन समधुशर्करं रक्तशालीनामोदनं मृदु-सुरभि-शीतं भोजयेत् । लाव-कपिञ्जल-कुरङ्ग-शम्बर-शश-हरिणैण कालपुच्छक-रसेन वा घृत-सलिल-सिद्धेन सुख-शिशिरोपवात-देशस्थां भोजयेत्, तथा क्रोध-शोकायास-व्यवाय-व्यायामेभ्यश्चाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत, तथाऽस्या गर्भस्तिष्ठति ॥ २३ ॥

पुष्प दर्शन (रजोदर्शन) होने पर वैद्य इस गर्भिणी को आदेश देवे— बिस्तर कोमल, सुखकारक, शीतल गद्देदार बनावे । इसका शिरोभाग पांयते से जरा नीचे रखे । फिर मुलहठी और घी को मिला कर बहुत ठण्डे पानी में रख कर ठण्डा होने पर इससे फाया भिगो कर योनि में रखे । शतधौत या सहस्रधौत (पानी में सौ बार या हजार बार धोये) घी को नाभि के नीचे के प्रदेश में चारों ओर लगा देना चाहिये । नाभि के निचले भाग पर गाय के दूध से अथवा मुलहठी के ठण्डे क्वाथ से या बट आदि के शीतल कषाय से परिसेचन करना चाहिये । अथवा खूब शीतल जल में बिठावे । दूध वाले (बड़-पीपल, गूलर आदि) वृक्षों के या कषाय वृक्ष (जामुन, पिलखन आदि) के स्वरस में भीगे हुए कपड़ों को रखवावे । बड़, पीपल, गूलर आदि के कोमल शुंगों (फुनगियों) से सिद्ध घी और दूध के फाये को रखवावे । इसी सिद्ध घी

की चार तोला मात्रा चाहिये । अथवा केवल दूध से निकाले घी का सेवन करावे । पद्म (कमल) उत्पल, कुमुद इनका पराग मधु और शर्करा के साथ मिला कर चाटने के लिये देना चाहिये । सिंघाड़ा, कमलगट्टा, कसेरू ये पदार्थ खाने के लिये देना चाहिये । गन्ध प्रियंगु, मिश्री, शालूक कन्द, गूलर के कच्चे फल और वट के शुंग (फुनगी) इनको पीसकर बकरी के दूध के साथ पिलाना चाहिये । बला, अतिबला, शालि, साठी धान्य, गन्ने की जड़ और काकोली द्वारा संस्कार कर दूध के साथ लाल चावलों के मृदु मधुर और शीतल भात को मधु और शर्करा के साथ खिलाना चाहिये । बटेर, कपिञ्जल, कुरङ्ग, शम्बर (हरिण भेद), खरगोश, हरिण, ऐणक, कालपुच्छ इनके मांस-रस के साथ अथवा पानी में सिद्ध किये घी के साथ, सुखदायक, शीतल वायु वाले स्थान में बिठा कर भोजन करना चाहिये । क्रोध, शोक, मेहनत, मैथुन और व्यायाम आदि से बचाना चाहिये । मन के अनुकूल प्रिय कथाओं से इसका मन बहलाना चाहिये । इस प्रकार करने से गर्भ स्थिर हो जाता है ॥ २३ ॥

यस्याः पुनरामान्वयात्पुष्पदर्शनं स्यात्, प्रायस्तत्तस्या गर्भबाधकं भवति, विरुद्धोपक्रमत्वात्तयोः । यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति सञ्जातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिप्रस्रावः, तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात् । स कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित् । उपवास-व्रत-कर्म-परायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्याः वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परिशुष्कत्वात् । स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, अस्पन्दनश्च[1] भवति, तं तु नागोदरमित्याचक्षते ॥ २४ ॥

जिस गर्भिणी में आम को उत्पन्न करने वाले कारण से पुष्प दर्शन होता है उसका गर्भ नष्ट ही हो जाता है । क्योंकि इनकी चिकित्सा परस्पर विरोधी पड़ती हैं । गर्भस्राव में स्तम्भन औषध बरती जाती है । स्तम्भन औषध शीत, मृदु और मधुर होती है और इधर शीत, मृदु और मधुर औषध आम दोष को उत्पन्न करती है । इसलिये असाध्य है । जिस गर्भिणी में उष्ण, तीक्ष्ण वस्तुओं के सेवन से, गर्भ के अन्दर सार उत्पन्न होने पर पुष्पदर्शन अथवा आर्त्तव के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का योनि-स्राव होने लगे, तब गर्भ की वृद्धि रुक जाती है । क्योंकि बहने से पोषक पदार्थ के बाहर आ जाने से यह गर्भ बहुत

---

१ अतिमात्रस्पन्दश्च भवति, यह भी पाठ है, परन्तु सुश्रुत में मन्द स्पन्दते दिया है, इसलिये अस्पन्दनश्च भवति ठीक है ।

समय तक रुक जाता है। इसको 'उपविष्टक' कहते है। और जो गर्भिणी प्राय. उपवास करती है या कुत्सित आहार का सेवन करती है, घी आदि स्नेह से द्वेष करती है, वात-प्रकोपक कारणों का सेवन करती है, उसका भी गर्भ वृद्धि को प्राप्त नही होता, क्योंकि वह गर्भ शुष्क हो जाता है। वह गर्भ बहुत समय तक गर्भाशय में रुका रहता है। इसके अन्दर हरकते नहीं होती। इसको 'नागोदर' कहते है ॥ २४ ॥

नार्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः—भौतिक-जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहर-सिद्धाना सर्पिषामुपयोगः, नागोदरे तु योनिव्यापन्निदिष्टपयसामामगर्भाणा गर्भवृद्धिकराणा च, सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभिक्षायाः, अभीक्ष्ण यान-वाहनावमार्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति ॥ २५ ॥

उपरोक्त दोनों प्रकार की स्त्रियो की विशेष चिकित्सा का उपदेश करते है - भूतों (सूक्ष्म जन्तुओं को दूर करन) के लिये उपयोगी गुग्गुलु सरसों आदि अथवा महापैशाचादि घृत, जीवनीय, बृहणीय, मधुर और वातहर ओषधियों से सिद्ध घृत का उपयोग करना चाहिये। नागोदर गर्भ को अवस्था मे योनि व्यापत् अधिकार में कहे घृता का तथा आम-गर्भ और गर्भ को वृद्धि करने वाले भोजनों का उपयोग और इनसे ही सिद्ध घृतों का उपयोग करना चाहिये। यान, वाहन, शरीर शुद्धि, जृम्भण आदि कर्मों को बार बार करना चाहिये ॥ २५ ॥

यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते ता श्येन-मत्स्य-गवय तित्तिर-ताम्रचूड-शिखिनामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदन मृदु-मधुर-शीतल भोजयेत्, तैलाभ्यङ्गेन चास्या अभीक्ष्णमुदरवक्षणोरु-कटी-पार्श्व-पृष्ठ-प्रदेशानीषदुष्णेनोपाचरेत् ॥ २६ ॥

जिस गर्भिणी मे सोया हुआ गर्भ गति न करे उस स्त्री को श्येन, मछली, गवय, मोर कुक्कुट या तीतर इनके मास रस के साथ घी अथवा माषयूष के साथ पर्याप्त घी, मूली के यूप के साथ लाल चावलों का मधुर, मृदु, शीतल भात खिलाना चाहिये। इस स्त्री के शरीर पर तैल की मालिश करके हलके गरम पानी से उदर, पेट, जांघ, कटी, पीठ और पार्श्व का बार बार स्नान कराना चाहिये ॥ २६ ॥

यस्याः पुनरुदावर्त-विबन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासनसाध्यं मन्येत, ततस्तस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपकल्पयेन्निरूहम् । उदावर्तो ह्युपे-

क्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत् । तत्र वीरण-शालि षष्टिक-कुश-काशेक्षुबालिका - वेतस - परिव्याध - मूलानां भूतीकानन्ता-काश्मर्य-परूषक-मधुक-मृद्वीकाना च पयसाऽर्धोदकेनोद्गमय्य रस प्रियाल-बिभीतक-मज्ज-तिलकल्क - संप्रयुक्तमीषल्लवणमनत्युष्ण निरूहं दद्यात् । व्यपगतविबन्धां चैना सुख-सलिल-परिषिक्ताङ्गीं स्थैर्यकरमविदाहिनमाहार भुक्तवतीं साय मधुकसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । न्युब्जां त्वेनामास्थापनानु वासनाभ्यामुपचरेत् ॥ २७ ॥

जिस स्त्री का आठवे मास में उदावर्त्त रोग आ पड़े और अनुवासन बस्ति का प्रयोग उचित न हो, तो इस रोग को मिटाने के लिये उचित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। उपेक्षा किया हुआ यह उदावर्त्त रोग अचानक ही गर्भ के साथ गर्भिणी का अथवा गर्भ को ही नष्ट कर देता है। उदावर्त्त रोग की शान्ति के लिये वीरण, शालिधान्य, कुश, काश, गन्ना, वेतस, परिव्याध (वेतस का भेद) इनकी जड़, भूताक, सारिवा, गम्भारी, फालसा, मुलैहटी, किशमिश इनके पानी से आधे दूध मे क्वाथ तैय्यार करना चाहिये। इस क्काथ में पियाल, बहेड़ा की मज्जा और तिल इनका कल्क डाल कर सिद्ध किये तथा कुछ नमकीन बना कर अल्प गरम बस्ति (निरूह) देनी चाहिये। रुकावट हट जाने पर थोड़े गरम पानी से स्नान कराके, स्थिरता करने वाला, अविदाही भोजन खिलाना चाहिये। सायकाल (मधुक) मुलेहेठी सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देना चाहिये। औंधी लेटी गर्भिणी का आस्थापन तथा अनुवासन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। [उदर शूल के कारण गर्भिणी की यह स्थिति स्वय हो जाती है] ॥२७॥

यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद्वा तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेवनाद्वा वात-मूत्र पुरीष-वेग-धारणैर्वा विषमासन-शयन - स्थान - सम्पीडनाभिघातैर्वा क्रोध-शोकेर्ष्या सूया-भय-त्रासादिभिर्वा साहसैर्वाऽपरैः कर्मभिरन्तः कुक्षेर्गर्भो म्रियते, तस्याः स्तिमित स्तब्धमुदरमातत शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्य स्पन्दनो गर्भः शूलमधिकमुपजायते। न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति। योनिर्न प्रस्रवत्यक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतस्ताम्यति व्यथते भ्रमते श्वसित्यरतिबहुला च भवति। न चास्या वेगप्रादुर्भावो यथावदुपलभ्यत इत्येवलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भेयमिति विद्यात् ॥ २८ ॥

जिस गर्भिणी में दोषों के अधिक सञ्चय होने से अथवा अति तीक्ष्ण या अति उष्ण पदार्थों के सेवन से, वायु, मूत्र, मल के वेगों को रोकने से, विषम

आसन, विषम शयन, विषम स्थान, पीड़न या चोट आदि से, क्रोध, शोक, भय, ईर्षा, त्रास आदि से अथवा अन्य साहसिक कार्यो के कारण गर्भ गर्भाशय के भीतर ही मर जाता है, उसमें इसके कारण पेट, चमड़े से ढपा, जैसा निश्चल, फैला, शीतल हो जाता है। उदर में पत्थर सा पड़ा हुआ प्रतीत होता है। गर्भ में स्पन्दन नहीं होता, दर्द बहुत बढ़ जाती है। प्रसवकालिक दर्द उत्पन्न नहीं होतीं। योनि से किसी प्रकार का स्राव नहीं आता। आंखे अपने आप बाहर निकलती है, स्त्री भय से कातर हो जाती है। अन्धकार सा दीखता है, पीड़ा होती है, चक्कर आते हैं, श्वास बहुत जोर से चलता है। ठीक प्रकार से वेगों की उत्पत्ति नहीं होती। इन लक्षणों से समझ लेना चाहिये कि इस स्त्री का गर्भ मर गया है॥ २८॥

तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके। मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके। परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्राऽऽहरणमित्येके॥ २९॥

व्यपगतगर्भशल्या तु स्त्रियमामगर्भां सुराशीध्वरिष्ट मधु-मदिरासवानामन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेद् गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमार्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थं च। अतः परं बृंहणैर्बलानुरक्षिभिरस्नेह-संप्रयुक्तैर्यवाग्वादिभिर्वा तत्कालयोगिभिराहाररुपाचरेद्दोष-धातु-क्लेद-विशोषणमात्रं कालम्। अतः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारविधिभिश्च दीपनीय-जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहर-समाख्यातैरुपचरेत्। परिपक्वगर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरेव स्नेहोपचारः स्यात्॥ ३०॥

इस मृत गर्भ रूपी शल्य को बाहर करने के लिये जरायु को निकालने की विधि बरतनी चाहिये ऐसा कइयों का मत है। अथर्ववेदोक्त मन्त्रों से कार्य करना चाहिये यह दूसरों का मत है। जिस वैद्य ने इस कर्म को देखा हुआ हो शल्य निकालने वाले उस वैद्य द्वारा यह काम करवाना चाहिये यह तीसरों का मत है। दोष, धातु, क्लेद इनकी समय पर शान्ति रहे, इसलिये कच्चे गर्भ (शल्य) के निकल जाने पर स्त्री को प्रथम सुरा, शीधु, अरिष्ट, मधु, मदिरा, आसव इनमें से कोई एक पदार्थ शक्ति अनुसार पिला देना चाहिये। जिससे कि गर्भाशय की शुद्धि हो जाये तथा दर्द को भूल जाये और मन में प्रसन्नता आ जाये। इसके पीछे बल की रक्षा करने वाली घी आदि स्नेह से रहित यवागू, आदि तत्कालोचित आहार तब तक देवें जब तक दोषयुक्त धातु की क्लिन्नता न सूख जाये। इसके पश्चात् स्नेह-पान स्नेह वस्तिया, तथा दीपनीय,

जीवनीय, बृंहणीय, मधुर और वातनाशक आहार देना चाहिये। जिस स्त्री का गर्भ-शल्य पूर्ण परिपक्व होकर फिर निकले उस स्त्री को उसी दिन (जिस दिन मृत गर्भ बाहर आवे) स्नेह क्रिया (स्नेह पान, स्नेहयुक्त भोजन) देनी चाहिये ॥ २९–३० ॥

परमतो निर्विकारमाप्यायमानस्य गर्भस्य मासे मासे कर्मोपदेक्ष्यामः। प्रथमे मासे शङ्किता चेद् गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृत मात्रावच्छीतं काले काले पिबेदन्तर्वत्नी, सात्म्यमेव च पुनर्भोजन साय प्रातश्च भुञ्जीत। द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धम्, तृतीये मासे क्षीर मधुसर्पिर्भ्यामुपसस्सृज्य। चतुर्थे मासे तु क्षीरनवनीतमक्षमात्रमश्नीयात्। पञ्चमे मासे क्षीरसर्पि.। षष्ठे मासे क्षीर-सर्पि-मधुरौषध-सिद्धम्। तदेव सप्तमे मासे। तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुर्विदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भाषन्ते, तन्नेति भगवानात्रेय.। किंतु गर्भोत्पीडनाद्धि वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदहन्ति। ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला च किक्किशावाप्तिर्भवति। तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्र काले कालेऽस्यै दद्यात्। चन्दन-मृणाल-कल्कैश्चास्याः स्तनोदर विमृद्नीयात् शिरीष धातकी-सर्षप-मधुक-चूर्णैःकुटजार्जक-बीज-मुस्तहरिद्रा-कल्कैर्वा निम्ब-कोल-सुर-मञ्जिष्ठा-कल्कैर्वा पृषत हरिण-शश-रुधिरयुतया त्रिफलया वा। करवीरपत्रसिद्धेन वा तैलेनाभ्यङ्ग, परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा। जातकण्डूश्च कण्डूयन वर्जयेत्त्वग्भेद-वैरूप्य-परिहारार्थं, असह्याया तु कण्ड्वामुन्मर्दनोद्धर्षणाभ्या परिहारः स्यात्। मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमस्नेहलवणमल्पोदकानुपान च भुञ्जीत। अष्टमे मासे क्षीरयवागू सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत्।

इसके आगे स्वस्थ गर्भ के लिये प्रत्येक मास में करने योग्य कर्मों का उपदेश करते है। यदि प्रथम मास में गर्भ रह जाने की शङ्का हो तो गर्भवती स्त्री कच्चे दूध को मात्रा मे थोड़ा थोड़ा करके दिन मे कई बार पीये। प्रातः और साय काल सात्म्य भोजन करे। दूसरे महीने में मधुर (मुलहठी आदि) औषधियो से सिद्ध दूध का पान करे। तीसरे मास में दूध को मधु और घी के साथ मिलाकर सेवन करे। चौथे मास में दूध को तोले भर मक्खन के साथ खाये। पाचवे मास मे घी और दूध को। छठे मास में मधुर औषधियों से सिद्ध घी, दूध का सेवन करे। यही सातवें मास में खाये। गर्भ के उत्पन्न होते हुए केश माता के देह में जलन उत्पन्न करते हैं—ऐसा स्त्रिया कहती हैं। भगवान् आत्रेय का कहना है कि यह ठीक नहीं है, [क्योंकि अग प्रत्यगों के बनने के साथ

तीसरे मास में ही केश बनने आरम्भ हो जाते है, सातवें मे नही] परन्तु गर्भ के उत्पीडन के कारण वात, पित्त, कफ छाती में आकर जलन उत्पन्न करते है। इस जलन से खाज उत्पन्न होती है । खाज के कारण ही किक्किश अर्थात् चर्म का फटना होता है। इसके लिये बेर के पत्तों के पानी से मधुर औषधियो से सस्कृत मक्खन की पाणितल (चुल्लू भर) मात्रा को थोड़ी थोड़ी देर मे देना चाहिये। चन्दन, और बिस इनके कल्क से स्तन और उदर के बीच में लेप करना चाहिये। अथवा शिरस, धाय के फूल, सरसो, महुवा, इनके चूर्णो से, या कुड़े, अर्जक बीज, मुस्ता, हल्दी इनके कल्क से, अथवा नीम, बेर, तुलसी, मजीठ इनके कल्क से, या पृषत्-हरिण, खरगोश इनके रक्त में मिले त्रिफला से स्तन और उदर पर लेप करना चाहिये। अथवा कनेर के पत्तों से सिद्ध तैल की मालिश करनी चाहिये। चमेली, मुलैइठी से सस्कृत पानी में स्नान कराना चाहिये। खाज उठने पर स्त्री नही खुजावै जिससे कि त्वचा न फटे या रंग परिवर्त्तित न हो। यदि खाज असह्य हो तो मर्दन या उद्घर्षण (उबटन आदि) से शान्त करनी चाहिये। खाने के लिये मधुर वातनाशक, थोड़े स्नेहवाला, नमकीन आहार, थोड़े पानी के साथ खाना चाहिये। आठवे मास में घी से युक्त दूध में बनी यवागू खावे।

तन्नेति भद्रकाप्यः, पैङ्गल्याबाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति । अस्त्वत्र पैङ्गल्याबाध इत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः, नत्वेवैतन्न कार्यं, एवं कुर्वती ह्यरोगाऽऽरोग्य-बल-वर्ण-स्वर-संहनन-सपदुपेतं ज्ञातीना श्रेष्ठमपत्य जनयति । नवमे तु खल्वेना मासे मधुरौषधासिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अतश्चैवास्यास्तलपिचु योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम् । यदिद कर्म प्रथम मासमुपादायोपदिष्टमानवमान्मासात्। तेन गर्भिण्या गर्भसमये गर्भधारणे कुक्षिकटीपार्श्वपृष्ठं मृदु भवति। वातश्चानुलोमः संपद्यते, मूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गावापद्येते, चर्मनखानि च मार्दवमुपयान्ति, बलवर्णौ चोपचीयेते, पुत्रं चेष्ट सपदुपेत सुखिन सुखेनैषा काले प्रजायत इति ॥ ३१ ॥

भद्रकाप्य ऋषि का कहना है कि यह ठीक नही है। क्योंकि इस प्रकार करने से गर्भ की आखें पीली हो जाएगी। भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का कथन है कि भले ही गर्भ मे पिंगलता का दोष आजाये तथापि आठवे मास में घी युक्त यवागू ही देनी चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से रोगरहित नीरोग, बल, वर्ण स्वर, शरीर इनके उत्तम गुणों से युक्त, बान्धवों में श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न होती

हैं। [पिंगलता दोष की चिकित्सा उत्तर काल में सुगम है ।] नवम मास में मधुर ओषधियों से सिद्ध तैल से अनुवासन बस्ति देनी चाहिये । मधुर औषध मे सिद्ध इसी तैल के फोये को योनि में रखे जिससे गर्भ के आने के मार्ग में स्नेहन (चिकनापन) हो जाये । * जो गर्भिणी प्रथम मास से लेकर नवम मास तक इस ऊपर कहे अनुसार कार्य करती रहती है उस स्त्री के कुक्षि, कटि, पीठ और पार्श्व गर्भ समय मे और गर्भ धारण काल में कोमल रहते हैं । वायु का अनुलोमन होता है । मल मूत्र स्वस्थ रूप में सुखपूर्वक बाहर आते हैं । त्वचा और नख भी कोमल रहते हैं । बल वर्ण बढ़ता है, वाञ्छित, ऐश्वर्य-शाली, सुखी पुत्र सुखपूर्वक ठीक समय मे उत्पन्न होता है ॥ ३१ ॥

प्राक्चैवास्या नवमान्मासात्सूतिकागारं कारयेदपहृतास्थिशर्करा-कपाले देशे प्रशस्त-रूप-रस-गन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा बैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदकानां भल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा । यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदः, तद्वसनालेपनाच्छादना-पिधान-संपदुपेतं वास्तुविद्या-हृदय-योगाग्नि-सलिलोलूखल-वर्चः स्थान-स्नान-भूमिमहानसमृतुसुखं च सेवयेत् ॥ ३२ ॥

गर्भिणी के नवां मास लगने से पूर्व ही ऐसा सूतिकागार बनवाले जिस स्थान में हड्डी, मट्टी या ठीकरे आदि न हो । श्रेष्ठ रूप, रस, गन्धवाली भूमि में पूर्व या उत्तर की ओर घर का मुख हो और जिसके चारों ओर तिन्दुक या इंगुदी अथवा भिलावे या खैर की लकड़ी से या बिल्व की लकड़ी से चारों ओर का घेरा बनाया जाये । इनके अतिरिक्त अथर्ववेद को जानने वाला ब्राह्मण जो जो बतावे वह करे । घर में गर्भिणी के वस्त्र, आलेपन, बिस्तर, किवाड़ आदि होने चाहिये । मकान को बनाने की कला के अनुसार आग, जल, ऊखल और मल त्याग के स्थान हों, स्नानगृह, रसोई आदि प्रत्येक ऋतु में सुखकारक बनावे और उनका उपयोग करें ॥ ३२ ॥

तत्र सर्पिस्तैल-मधु-सैन्धव-सौवर्चल-काल-विड्-विडङ्ग-कुष्ठ-किलिम-नागर-पिप्पली-पिप्पलीमूल-हस्ति-पिप्पली-मण्डूकपर्ण्येलालाङ्गली-वचा-चव्यचित्रक-चिरबिल्व-हिङ्ग-सर्षप-लशुन-कतक-कण-कणिकानी-पातसी-वल्वज-भूर्ज-कुलत्थ-मैरेय-सुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽश्मानौ द्वौ, द्वे च कुण्डमुसले, द्वे उलूखले, खरो वृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ,

* जिससे वायु का शमन हो, प्रसव वेदना कम हो ।

तैन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठान्यग्निसंधुक्षणानि, स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशला प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादा क्लेशसहिन्योऽभिमताः, ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविदो यच्चान्यदपि तत्र समर्थं मन्येत, यच्चान्यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धाः, तत तत् कार्यम् ॥ ३३ ॥

इस सूतिकागार में घी, तैल, शहद, सैन्धा नमक, सौवर्चल, काला नमक विडूर-नमक विडग, कूठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, मण्डूकपर्णी, एला, लागली, वच, चव्य, चित्रक, करञ्ज, हींग, सरसों, लहसुन, निर्मली कण, कणिका (मोटे चावल, चावलों की कणिया), कदम्ब, अलसी, बल्वज, भोजपत्र, कुलत्थी, मैरेय, सुरा आसव ये वस्तुए पास मे होनी चाहियें । द पत्थर, दा छोटे मूसल, दो ऊखल, चण्ड वृषभ, दो तीक्ष्ण सूई रखने के पात्र (सूई समेत), सोना चादी से बने शस्त्र, तीक्ष्ण लोहे से बने औज़ार, बेल की लकड़ी से बने दो पलग, अग्नि मे जलाने के लिये तिन्दुक और हिंगोट की लकड़िया । जिन्होंने बहुत सी सतान उत्पन्न की हो, स्नेह करने वाली, सौहार्द युक्त, न घबराने वाली, कर्म मे कुशल उत्तम सूझ वाली, स्वभाव से प्रेम रखने वाली, आलस्य रहित, क्लेश को सहन करने वाली ऐसी अनेक स्त्रिया रहनी चाहियें । अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मण और अन्य ब्राह्मण और वृद्ध स्त्रिया जो २ बतायें वह २ करना चाहिये ॥३३॥

ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्ति कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान्सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वा, उदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्, ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत्सूतिकागारं, तत्रस्था च प्रसवकाल प्रतीक्षेत ॥ ३४ ॥

नवम मास आरम्भ होने पर पवित्र दिन में, प्रशस्त नक्षत्र के साथ भगवान् चन्द्रमा का योग होने पर, कल्याणकारी मित्र मुहूर्त में, शान्ति होम करके गाय, ब्राह्मण, अग्नि और पानी का प्रथम प्रवेश करावे । गायों को घास, पानी और शहद तथा लाजा देनी चाहिये । ब्राह्मणों को आसन पर बैठा कर अक्षत, फल, नान्दीमुख श्राद्ध मे उपयोगी फल (खजूर आदि) जल सहित प्रदान करके आचमन करके स्वस्तिवाचन करावे । इसके पीछे मांगलिक शब्दों के

साथ, गौ, ब्राह्मण के पीछे चलती हुई स्त्री भली प्रकार से सूतिकागार में प्रवेश करे, वहां पर प्रसव काल की प्रतीक्षा करे ॥ ३४ ॥

तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति। तद्यथा—क्लमो गात्राणां, ग्लानिराननस्य, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनं, अधो गुरुत्वं, वङ्क्षण-बस्ति-कटी-कुक्षि-पार्श्व-पृष्ठ-निस्तोदो, योनेः प्रस्रवणं, अनन्नाभिलाषश्चेति। ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य ॥ ३५ ॥

प्रसव काल उपस्थित होने पर निम्न लक्षण उपस्थित होते हैं। जैसे—शरीर में श्रान्ति, चेहरे और आंखों में ग्लानि (विवर्णता), बन्धन मुक्त होता प्रतीत होता है, गर्भाशय का नीचे को आना, निचले अंगो में भारीपन वंक्षण, बस्ति, कटि, कुक्षि, पार्श्व और पीठ में वेदना, योनि से स्राव और भोजन में अनिच्छा होती है। इसके अनन्तर प्रसव काल की वेदना आरम्भ हो जाती है और गर्भ का जल बहने लगता है ॥ ३५ ॥

आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नम्। तदध्यासीत सा। तां ताः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीभिः सान्त्वनीयाभिः ॥ ३६ ॥

प्रसव काल की वेदनाओं के आरम्भ होने पर भूमि पर कोमल बिस्तर लगा देना चाहिये। इस बिस्तर पर वह बैठ कर जाये। इसको चारों ओर से स्त्रियां (पूर्वोक्त गुणोवाली) घेर ले और शान्ति और आश्वासन देनेवाले वचनों से सान्त्वना देती रहे ॥ ३६ ॥

सा चेदावीभिः संक्लिश्यमाना न प्रजायेताथैनां ब्रूयात्—उत्तिष्ठ मुसलमन्यतरत् गृह्णीष्व, अनेनवदुदूखलं धान्यपूर्णं मुहुर्मुहुरभिजहि मुहुर्मुहुरवजृम्भस्व चङ्क्रमस्व चान्तरान्तरा, इत्येवमुपदिशन्त्येके ॥ ३७ ॥

वेदनाओं के कारण पीड़ित होने पर भी यदि बच्चा पैदा न हो तो इसको आदेश करे कि उठ, दोनों में से किसी एक मूसल को लेकर धान्य से परिपूर्ण ऊखल को बार बार कूट, बार बार अंगडाई और जम्भाई ले, बार बार बीच में चल फिर। ऐसा कई आचार्य कहते हैं ॥ ३७ ॥

तन्नेत्याह भगवानात्रेयः—दारुण-व्यायाम-वर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते, विशेषतश्च प्रजननकाले प्रचलित-सर्वधातु-दोषायाः सुकुमार्या नार्या मुसल-व्यायाम समीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात्, दुष्प्रतीकारा हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिणी, तस्मा-

न्मुसलग्रहणं परिहार्यमृषयो मन्यन्ते, जृम्भणं चङ्क्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति ॥ ३८ ॥

भगवान् आत्रेय का कहना है कि यह ठीक नहीं है। क्योंकि गर्भिणी स्त्री के लिये कठोर व्यायाम करना सब अवस्थाओं में निषिद्ध है। खास कर प्रसव के समय जब कि शरीर के सब धातु, दोष अस्थिर होते है, उस समय सुकुमार शरीर वाली स्त्री का मूसल लेकर धान कूटने से वायु कारण को पा कर प्राणों का नाश कर दे और उस समय गर्भिणी विशेष रूप से चिकित्सा के लिये कृच्छ्रसाध्य होती है। इसलिये ऋषियों का मत है कि मूसल ग्रहण नही करना चाहिये। अगड़ाई या चलना फिरना अवश्य करना चाहिये ॥ ३८ ॥

अथास्यै दद्यात्कुष्ठैला लाङ्गलिकी-वचा-चित्रक-चिरबिल्व-चूर्णमुपाघ्रातुं सा तन्मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्, तथा भूर्जपत्रधूमं शिंशपाधूमं वा, तस्याश्चान्तरान्तरा कटी-पार्श्व-पृष्ठ-सक्थि-देशानीषदुष्णेन तैलेनाऽभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्, इत्यनेन तु कर्मणा गर्भोऽवाक्प्रतिपद्यते ॥३९॥

इसको सूघने के लिये कूठ, इलायची, कलिहारी, वच, चित्रक, करज और चविका इनका चूर्ण देना चाहिये। इस चूर्ण को स्त्री बार बार सूघे। इसी प्रकार भोज पत्र के या शीशम के पत्तों का धुवा देना चाहिये। बीच बीच में गर्भिणी की कटि, पार्श्व, पीठ, टागो को गुनगुने तैल से धीरे धीरे मलना चाहिये। इस प्रकार करने से गर्भ नीचे की ओर आ जाता है ॥ ३९ ॥

स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः, परिवर्तते अधो गर्भ इति, अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितुमुपक्रामयेत्, कर्णे चास्या मन्त्रमिममनुकूला स्त्री जपेत् ॥ ४० ॥

जिस समय यह पता लगे कि गर्भ उदर से पृथक् हो गया, गर्भ का शिर बस्ति में घुस रहा है, प्रसवकाल की वेदनायें जल्दी जल्दी होने लगी हैं, गर्भ नीचे की ओर घूम रहा है तब इस अवस्था मे स्त्री को पलग पर लेटा कर प्रवाहण (बलपूर्वक मूत्र करने का सा जोर लगाने) के लिये कहे। इस स्त्री के कानों में एक परिचित हितैषिणी स्त्री निम्नलिखित मन्त्र का जप करे ॥४०॥

'क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥४१॥
प्रसुव त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्' ॥४२॥ इति

पृथ्वी, जल आकाश, अग्नि, वायु, विष्णु और प्रजापति तुझ सगर्भा का सदा पालन करें और तुझे शल्यरहित करें। हे शुभ सुन्दर मुख वाली! तू विना किसी कठिनाई के क्लेशरहित गर्भ का प्रसव कर। तू स्कन्द से अभिरक्षित, स्कन्द के समान तेजवाले पुत्र को उत्पन्न कर॥ ४१ ४२॥

ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः—अनागतावीमां प्रवाहिष्ठाः, या ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति। प्रजा चास्या अविकृता विकृतिमापन्ना वा श्वास-कास-शोष-प्लीह-प्रसक्ता वा भवति। यथा हि क्षवथूद्गार-वात-मूत्र-पुरीष-वेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाप्यवाप्नोति तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा, तथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां संधारणमुपघातायोपपद्यते तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणं, सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या, तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं बलवत्तरं, तस्यां च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः 'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्र'-मिति, तथाऽस्या हर्षेणाऽऽप्यायन्ते प्राणाः॥ ४३॥

पूर्वोक्त गुणो वाली स्त्रिया इस स्त्री को शिक्षा देवें कि विना वेदनाओं के उत्पन्न हुए प्रवाहण (जोर) मत करना। जो स्त्री वेदनाओं के उत्पन्न हुए विना प्रवाहणकरती (जोर लगाती) है उसका श्रम व्यर्थ जाता है। इस स्त्री की स्वस्थ प्रजा विकृत हो जाती है अथवा इस सतान को श्वास, कास, शोष, प्लीहा आदि रोग लग जाते हैं। जिस प्रकार कि न उपस्थित हुए छींक, उद्गार, वायु, मूत्र और मल के वेगों को बलपूर्वक बाहर नहीं कर सकते अथवा कठिनाई से थोड़ा बाहर करते हैं, उसी प्रकार विना समय के गर्भ को प्रवाहण करने से बाहर नहीं निकाल सकते। जिस प्रकार कि छींक आदि के उपस्थित वेग को रोकने से पीड़ा होती है, उसी प्रकार बाहर आते हुए गर्भ को रोकने में भी कष्ट होता है। इसलिये इसे निर्देशानुसार करने के लिए कहना चाहिये। इस प्रकार विधि अनुसार करने मे प्रथम धीरे धीरे बल लगावे। इसके पीछे अधिक बल लगावे। बल लगाते (प्रवाहण के) समय स्त्रिया शब्द करें, "पैदा हुआ, पैदा हुआ भाग्यशाली पुत्र, भाग्यशाली पुत्र पैदा हुआ।" इस प्रकार प्रसन्नता के द्वारा प्राणों को बल प्राप्त होता है, उसका उत्साह बना रहता है॥ ४३॥

यदा च प्रजाता स्यात्तदैनामवेक्षेत काचिदस्या अपरा प्रपन्ना अप्रपन्ना वेति। तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निपीड्य सव्येन पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धूतं

निर्धुनुयात्, अथास्याः पादपार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेत्, तस्याः स्फिचावुपसंगृह्य सुपीडितं पीडयेत्। अथास्या बालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत्। भूर्जपत्र-काचमणि-सर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्। कुष्ठतालीशकल्कं बल्वजयूषे मैरेयसुरामण्डे तीक्ष्णे कौलत्थे वा मण्डूकपर्णीपिप्पलीसंपाके वा संप्लाव्य पाययेदेनां, तथा सूक्ष्मैला-किलिम-कुष्ठ-नागर-विडङ्ग-कालागुरु-चव्य-पिप्पली-चित्रकोपकुञ्चिका कल्कं खरवृषभस्य वा जीवतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य दृषदि जर्जरीकृत्य बल्वजयूषादीनामासावनानामन्यतममस्मिन् प्रक्षिप्याऽऽलोड्य मुहूर्तस्थितमुद्धृत्य तदासावनं पाययेदेनां शतपुष्पा-कुष्ठ-मदन-हिङ्गु-सिद्धस्य चैनां तैलस्य पिचुं ग्राहयेत्। अतश्चैवानुवासयेत्, एतैरेव चाऽऽस्रावनैः फल-जीमूत-केक्ष्वाकु-धामार्गव-कुटज-कृतवेधन-हस्ति-पिप्पल्युपहितैरास्थापयेत्, तदास्थापनमस्या हि सह वात-मूत्र-पुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां वायोरनुलोमगमनात्। अन्यान्यपि हि वात-मूत्र-पुरीषाणि बहिर्गमनशीलानि सज्जन्ति ॥ ४४ ॥

जिस समय गर्भ उत्पन्न हो जाये उस समय देखे कि उसकी अपरा अर्थात् (आवल नावल, जेर) बाहर आ गई वा नहीं ? यदि अपरा बाहर न आई हो तो कोई एक स्त्री दायें हाथ से नाभि के ऊपर जोर से दबावे और बायें हाथ से पीठ को पकड़ कर खूब अच्छी प्रकार झटके देवे, कपाव। पाव की एड़ी से इस गर्भिणी की कमर पर दबाव दे। बालों से बनी वेणी द्वारा इसके कण्ठ और तालु को स्पर्श करे (जिससे कि खाज होकर अपान वायु प्रबल होवे)। भोजपत्र, काचमणि, साँप की कैंचुली का धुवां योनि में देना चाहिये। कूठ, तालीसपत्र के कल्क को, बल्वज के क्वाथ में या मैरेय, सुरा, मण्ड में या कुलत्थी के तीक्ष्ण क्वाथ में, या मण्डूकपर्णी तथा पिप्पली के सम्मिलित कषाय में घोलकर पिलावे। इसी प्रकार छोटी इलायची, देवदारु, कूठ, सोंठ, विडंग, पिप्पली, काला अगरु, चविका, चित्रक, काला जीरा इनके कल्क को अथवा जीते हुए तीक्ष्ण वृषभ के दक्षिण कान को काट कर पत्थर पर पीस कर बल्वज क्वाथ आदि में से किसी एक क्वाथ में घोल कर कुछ देर रख कर फिर छान कर पिलावे। सौंफ, कूठ, मैनफल, हींग इनमें सिद्ध तैल के कषाय के फाये को योनि में रखे। इसके उपरान्त अनुवासन बस्ति देवे। बल्वजादि क्वाथों के साथ मदनफल, जीमूत इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन, हस्तिपिप्पली के (कल्पस्थान में कहे) कल्पों से आस्थापन करना चाहिये। इस आस्थापन क्रिया करने से फंसी हुई अपरा, वायु, मूत्र, मल के साथ बाहर आ जाती है। वायु के प्रतिलोम होने

से अन्य बाहर निकलने वाले वायु, मूत्र, मल भी अन्दर रुक जाते हैं। वे आस्थापन से बाहर आ जाते हैं ॥ ४४ ॥

तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रेऽस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। तद्यथा—अश्मनोः सङ्घट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखेन परिषेकः, तथा संक्लेशविहतान् प्राणान् पुनर्लभेत, कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुनीयुर्यद्यचेष्टः स्याद्यावत्प्राणानां प्रत्यागमनं तत्र प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणाभ्यामुपपादयेत्।

अपरा को गिराने के लिये उपयुक्त कर्म करते हुए उत्पन्न हुए बच्चे के निम्न कार्य करने योग्य होते है यथा—कानों के पास म [श्रवण शक्ति को जागृत करने के लिये] पत्थरों का बजाना। ऋतु भेद से गरमियों मे शीतल जल से, सर्दियों मे गरम जल से स्नान कराना चाहिये। इस प्रकार करने से योनिच्छिद्र में से आने के कारण पीड़ित क्लेश अनुभव करने वाले प्राणों को पुनः सुख प्राप्त कराता है। यदि शिशु चेष्टारहित हो तो उस को सींक से बने छाज से हवा करनी चाहिये, जब तक कि श्वास न आजाये। श्वास आने पर तथा स्वस्थ अवस्था में देख कर उसको स्नान कराना तथा उसके मलमार्ग स्वच्छ करने चाहिये।

अथास्य ताल्वोष्ठ-कण्ठ-जिह्वा-प्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधान-कार्पास-पिचुमत्या, प्रथम प्रमार्जितस्य चास्य शिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिच्छादयेत्, ततोऽस्यानन्तरं कार्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छर्दनम् ॥ ४५ ॥

इस बच्चे के तालु, ओठ, कण्ठ, जिह्वा को साफ करना प्रारम्भ करे, इसके लिये जिसके नख कटे हों वह उस से अंगुली धोई हुई स्वच्छ रुई के फाये द्वारा उसे साफ करे, नहाये बच्चे के प्रथम मुख को साफ करे और शिरतालु के ऊपर तैल में भीगे रुई के फाये को रखे। इसके पीछे सैन्धव मे मिले घी के द्वारा वमन करावे जिससे कफ निकल जाये ॥ ४५ ॥

अथ नाड्यास्तस्य कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः—नाभिबन्धनात्प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्धधारेण छेदयेत्ताम्। अग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठेऽस्य शिथिलमवसृजेत्। तस्य चेन्नाभिः पच्येत, तां लोध्र-मधुक-प्रियङ्गु-देवदारु-हरिद्रा-कल्क-सिद्धेन तैलेनाभ्य-

ज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्, एष नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक् ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् नाड़ी के काटने की विधि का उपदेश करते हैं। नाभिबन्ध से लेकर आठ अंगुल ऊपर एक, और उससे जरा ऊपर दूसरा बन्धन लगा कर उन दोनों बन्धनों के बीच के अन्तर में मध्यभाग को धीरे से पकड़ कर स्वर्ण, चांदी या लोहे के बने किसी एक तेज अर्धधार शस्त्र से नाड़ी काट दे। नाल के अग्रभाग में धागा बांधकर धीरे से (ढीली) गले में बाँध देनी चाहिये। यदि बच्चे की नाभि पक जाए तो—लोध, मुलहठी, फूलप्रियगु, देवदारु हल्दी इनके कल्क द्वारा संस्कृत तैल को लगाकर इन्हीं औषधियों के चूर्ण को ऊपर से छिड़क देना चाहिये। यह नाड़ी कल्पन करने की विधि कह दी है ॥ ४६ ॥

असम्यक्कल्पेन हि नाड्या आयाम-व्यायामोत्तुण्डिका-पिण्डलिका-विनामिका-विजृम्भिका-बाधेभ्यो भयम्। तत्राविदाहिभिर्वात-पित्त-प्रशमनरभ्यङ्गोत्सादन-परिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरुलाघवमभिसमीक्ष्य ॥ ४७ ॥

नाडी के भली प्रकार न काटने से नाड़ी की आयाम (लम्बाई), व्यायाम चौड़ाई (विस्तार), तुण्डिका, [लम्बा और मोटापन], पिण्डलिका [गोल चक्कर के आकार की], विनामिका [किनारों से उची, बीच में दबी], विजृम्भिका [बार बार बढ़ने घटने वाली] आदि रोग हो जाते हैं। दोषों की गुरुता लघुता देख कर दाह उत्पन्न न करने वाले वात पित्त को शान्त करने वाले घृतों से तैलमर्दन, उबटन और स्नान आदि करावे ॥ ४७ ॥

ततोऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यम्। तद्यथा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुमस्मै दद्यात्, स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात्प्रयच्छेत्, अथातः शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्भं मन्त्रोपमन्त्रितम्। अथास्य रक्षां विदध्यात्—आदनीखादिर-कर्कन्धु-पीलु-परूषक-शाखाभिरस्य गृहं भिषक्समन्ततः परिवारयेत्, सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसी-तण्डुल-कण-कणिकाः प्रकिरेयुः, तथा तण्डुल-बलि-होमः सततमुभयतः काल क्रियेताऽऽनामकर्मणः। द्वारे च मुसलं देहलीमनुतिरश्चीनं न्यस्तं कुर्यात्, वचा-कुष्ठक्षौमक-हिङ्गु-सर्षपातसी-लशुन-कण-कणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानां चौषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः स्थाल्युदक-कुम्भ-पर्यङ्केष्वपि तथैव च, द्वयोर्द्वारपक्षयोः

कणकाम्लेन्धनवानग्निस्तिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्य स्यात्, स्त्रियश्चेना यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृयुः, दशाहं द्वादशाहं वाऽनुपरत-प्रदान-मङ्गलाशीः-स्तुति गीत-वादित्रमन्नपानविशद-मनुरक्त-प्रहृष्ट-जन-संपूर्णं च तद्वेश्म कार्यं, ब्राह्मणश्चाथर्ववेदविरसतत-मुभयतः काल शान्ति जुहुयात्स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः। इत्येतद्रक्षाविधानमुक्तम् ॥ ४८ ॥

इसके पश्चात् बच्चे का जातकर्म संस्कार करना चाहिये यथा—मन्त्रों द्वारा उपमन्त्रित मधु और घी का (असमान मात्रा में मिला कर) वेदोक्त विधि से सबसे प्रथम खाने के लिये देवे। इसी प्रकार स्तन को भी विधि पूर्वक मन्त्रपूर्वक पीने को देना चाहिये, पहिले दक्षिण स्तन को पीने के लिये देवे। इसके सिराहने की ओर मन्त्रों से उपमन्त्रित जलकुम्भ (जल घट) रखे। इसके पश्चात् बालक की रक्षा का उपाय करे। कड़ुवी तुम्बी, खैर, बेर, पीलु, फालसा इनकी शाखाओं से घर को चारों ओर से घेर देवे। सूतिकागार के चारों ओर सरसों अलसी के कण तथा चावलों की कणिया बिखेर देवे। नामकरण संस्कार (दसवे दिन) तक दोनों समय प्रातः सायं चावलों की बलि से होम करना चाहिये। दर्वाजे में देहली पर तिरछा मुसल रखना चाहिये। बच, कूठ, क्षौमक (रेशम), हींग, सरसों, अलसी, लहसुन की कणिकायें और रक्षो-नाशक गुग्गुल आदि औषधियों की पोटली बाँध कर सूतिकागार के उत्तर दिशा की देहली में लटका देनी चाहिये। माता तथा पुत्र के गले में, स्थाली, जल के घड़े तथा पलंग के ऊपर भी यह पोटली बाँध देनी चाहिये। दोनों दर्वाजों के पास (अन्दर बाहर) सूतिकागार के अन्दर तिन्दुक वृक्ष की लकड़ियों से आग को जलाये रखना चाहिये। पूर्वोक्त गुणों वाली स्त्रियाँ तथा मित्र सदा पास में रहें। दस दिन या बारह दिन तक बिना आलस्य के मंगल आशीर्वाद, स्तुति, गीत हों, बाजे बजते रहने चाहियें। अच्छे मनोनुकूल खान पान करना चाहिये। स्नेही, मिलनसार प्रसन्न रहने वाले मनुष्यों से घर को भरा रखना चाहिये। अथर्ववेद को जानने वाले ब्राह्मण निरन्तर दोनों समय प्रातःकाल कुमार और माता के कल्याण के लिये शान्तिपाठ करते रहें। यह रक्षा-विधि कह दी है ॥ ४८ ॥

सूतिका तु खलु बुभुक्षिता विदित्वा स्नेहं पाययेत् प्रथमं परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसा मज्जानं वा सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्य पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-शृङ्गवेर-चूर्ण-सहितम्। स्नेहं पीतवत्याश्च

सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महता वाससा, तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात् । जीर्णे तु स्नेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुस्निग्धां द्रवां मात्रशः पाययेत्, उभयतः कालमच्छेन चोष्णोदकेन परिषेचयेत्प्राक्स्नेहयवागूपानाभ्याम् । एवं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं वानुपाल्य ततः क्रमेणाप्याययेत् । स्वस्थवृत्तमेतावत्सूतिकायाः ॥ ४९ ॥

जच्चा स्त्री को भूख लगने पर शक्ति के अनुसार खूब यत्न से स्नेहपान कराना चाहिये । घी, तैल, वसा या मज्जा जो स्नेह जच्चा के प्रकृति के अनुकूल हो, उसके साथ पिप्पलीमूल, चविका, चित्रक और सोंठ का चूर्ण मिला कर देना चाहिये । स्नेहपान करते समय पेट पर घी या तैल मल कर भारी वस्त्र लपेट देना चाहिये । इस प्रकार करने से उदर में वायु विकार उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि वायु को अवकाश नहीं मिलता । स्नेह के जीर्ण होने पर पिप्पलीमूल आदि से सिद्ध की हुई, घृत युक्त, पतली यवागू को थोड़ी मात्रा में प्रातः और सायं दोनों समय देना चाहिये । स्नेह और यवागू पिलाने से पूर्व निर्मल गरम पानी से स्नान करवा देना चाहिये । इस प्रकार पांच या सात रात्रि तक इस विधि को बरत कर पीछे क्रम से [साधारण आहार-विहार] बढ़ाना चाहिये । यह सूतिका स्त्री का स्वस्थवृत्त है ॥ ४९ ॥

तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धि क्षयित-शिथिल-सर्वशरीर-धातुत्वात्प्रवाहण-वेदना-क्लेदन-रक्त-निःस्रुति-विशेष-शून्य-शरीरत्वाच्च, तस्मात्तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत् । भौतिक जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहर-सिद्धैरभ्यङ्गोत्सादन-परिषेकावगाहनान्नपान-विधिभिर्विशेषतश्चोपचरेत् । विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति ॥ ५० ॥

प्रसूता स्त्री को विपरीत आहार विहार के कारण जो रोग उत्पन्न हो जाता है, वह कष्टसाध्य अथवा असाध्य होता है । क्योंकि गर्भ की वृद्धि के कारण अन्य धातुओं का पोषण न होने से सब धातु क्षीण और शिथिल हो जाते हैं । इसी प्रकार गर्भ के प्रवाहण के कारण उत्पन्न वेदना, क्लेदन (स्राव), तथा रक्त के विशेष रूप में निकलने से सम्पूर्ण शरीर शून्य, नि सत्त्व बना होता है । भूतहर गुग्गुलु, महापैशाचादि घृत, जीवनीय, बृंहणीय, मधुर और वातहर ओषधियों से सिद्ध स्नेह-पान, अभ्यंग, उत्सादन, परिषेक, अवगाहन, खान-पान विधि विशेष रूप से बरतनी चाहिये । इस विधि के सेवन से अचेत हुई स्त्रियों में भी चेतना आ जाती है ॥ ५० ॥

दशम्यां निश्यतीतायां सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपैश्च स्नात्वा लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्ट लघु-विचित्र-भूषणवती च सस्पृश्य मङ्गलान्युचितान्यर्चयित्वा च देवता शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा, कुमारमहतेन शुचिवाससाऽऽच्छादयेत् प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा सवेश्य, 'देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमती'-त्युक्त्वा, कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च। तत्राभिप्रायिकं नाम घोषवदाद्यन्तस्थान्तमूष्मान्तं वा वृद्धत्रिपुरुषानुकमनवप्रतिष्ठितं, नाक्षत्रिकं तु नक्षत्र-देवतासमानाख्यं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा ॥ ५१ ॥

दसवें दिन स्त्री पुत्र के साथ सम्पूर्ण गन्ध युक्त ओषधियों से तथा श्वेत सरसों के उबटन से स्नान करके लघु (हलके), नवीन और पवित्र वस्त्र को धारण करे। पवित्र, मन चाहे लघु, विचित्र आभूषणों को धारण करे। मंगल जनक (घी, दही आदि) वस्तुओं को स्पर्श करके, इष्ट देव की पूजा करके शिखा वाले, शुक्ल वस्त्र पहिने, व्यंगरहित, शोभन आकृतिवाले ब्राह्मणों से स्व-स्ति पाठ करावे, कुमार के लिये नवीन वस्त्रों का संग्रह करे। शिशु का सिर पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा की ओर करके, कहे कि बालक देवों और विद्वानों को नमस्कार करता है ऐसा कह कर शिशु का पिता नक्षत्र देवता वाला [जिस नक्षत्र में कुमार उत्पन्न हुआ है उस नक्षत्र के संकेत वाला] शिशु का नाम करे। बच्चे के दो प्रकार के नाम करे, एक नक्षत्र-देवता के नाम पर और दूसरा अभिप्राय अर्थात् अर्थयुक्त। इनमें अभिप्राय वाला नाम घोषवर (वर्ग का चौथा अक्षर—घ, झ, ढ, ध, भ,), अन्तस्थ (य र ल व) और उष्मान्त (श, ष, स, ह,), और कुल के वृद्ध तीन पुरुषों के नामों में से किसी एक के समान, निन्दारहित नाम करना चाहिये। नक्षत्र देवतावाला नाम नक्षत्र देवता के समान होना चाहिये। नाम दो अक्षर वाला अथवा चार अक्षरों वाला रखना चाहिये ॥ ५१ ॥

कृते च नामकर्मणि कुमारं परीक्षितुमुपक्रमेदायुषः प्रमाणज्ञान-हेतोः। तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति। तद्यथा एके-कजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते, स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्या, प्रकृतिसुसम्पन्नमीषत्प्रमाणातिवृत्तमनुरूपमात-पत्रोपमं शिरः, व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्ट-शङ्ख-सन्ध्यूर्ध्व-व्यञ्जनमुपचितं बिलनमर्धचन्द्राकृति ललाटं, बहलौ विपुलसमपीठौ नीचैर्वृद्धौ पृष्ठतोऽ-

वनतौ सुश्लिष्ट-कर्ण पुत्रकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ, ईषत्प्रलम्बिन्यावसङ्गते समे संहते महत्यौ भ्रुवौ, समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे बलवती तेजसोपपन्ने स्वङ्गापाङ्गे चक्षुषा, ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसंपन्नेषदवनताग्रा नासिका, महदृजु-सुनिविष्टदन्तमास्य, आयामविस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतिवर्णयुक्ता जिह्वा, श्लक्ष्ण युक्तोपचयमूष्मोपपन्न रक्तं तालु, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः, नातिस्थूलौ नातिकृशावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ, महत्यौ हनू, वृत्ता नातिमहती ग्रीवा व्यूढमुपचितमुरः, गूढ जत्रु पृष्ठवंशश्च, विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ, असम्पातिनी स्थिरे पार्श्वे, वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू, सक्थिनी अङ्गुलयश्च, महदुपचित पाणिपाद, स्थिराः वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः, प्रदक्षिणावर्ता सोत्सङ्गा च नाभिः, उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी, वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ स्फिचौ, अनुपूर्ववृत्तावुपचययुक्तावूरू, नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे प्रगूढसिरास्थि सन्धी जङ्घे, नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ, पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ, प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषाणि तथा स्वप्नजागरणायास-स्मित-रुदित-स्तनग्रहणानि। यच्च किंचिदन्यदप्यनुक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतियुक्तमिष्टम्, विपरीत पुनरनिष्टम्। इति दीर्घायुर्लक्षणानि ॥ ५० ॥

नामकरण संस्कार हो चुकने पर आयु के प्रमाण ज्ञान के लिये कुमार की परीक्षा करनी चाहिये। आयुष्य वाले कुमारों के निम्न लक्षण होते हैं। यथा—एक एक पृथक्, कोमल, छोटे, स्निग्ध, दृढमूल वाले काले बाल उत्तम हैं। स्थिर, स्वाभाविक त्वचा प्रशस्त है। प्रकृति (छ अगुल ऊंचा, ३२ अगुल चौड़ा) सम्पन्न, शरीर के अनुरूप, छाते के समान गोल शिर प्रशस्त है। चौड़ा दृढ, समान शंख संधि से भली प्रकार जुड़ा, ऊपर को उठा, बलवान्, अर्द्धचन्द्राकार ललाट प्रशस्त है। बड़े, विशाल, समान पीठ वाले, नीचे को ओर बड़े, पीछे से नीचे, खूब मिले कर्णपुत्रक, प्रशस्त है। बहुत बड़े छिद्रों वाले, थोड़े लटकते हुए कान (जैसे कि कान भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियों मे बने होते हैं) प्रशस्त है। परस्पर न मिलीं परन्तु परस्पर समान एक दूसरे के तुल्य बड़ी भौंहे प्रशस्त हैं। समान तुल्य, उत्तम दृष्टि युक्त, काला और श्वेत भाग स्पष्ट दीखता हो, बलवान्, तेज से युक्त, अपने अग और उपाग युक्त आंखें प्रशस्त हैं। सीधी, बड़े उच्छ्वास से युक्त, उन्नत वंश वाली आगे से थोड़ी, झुकती नासिका प्रशस्त है। महान, सरल, खूब एक समान जुड़े हुए दान्तों वाला मुख उत्तम है।

लम्बाई और विस्तार से युक्त, चिकनी, पतली, स्वाभाविक वर्ण से युक्त जीभ प्रशस्त है। चिकना, ठीक प्रमाण में बढा, गरमी से युक्त, लाल तालु प्रशस्त है। नदी के आवाज के समान महान्, स्निग्ध, प्रतिध्वनि युक्त, गम्भीर और धीर स्वर प्रशस्त है। न तो बहुत मोटे और न बहुत पतले, मुख को ढापने वाले लाल ओठ प्रशस्त है। बड़ी हनु (जबाड़े) गाल बहुत बडे न हों, छोटी ग्रीवा प्रशस्त है। चौडी उन्नत छाती प्रशस्त है। गूढ छिपे हुए जत्रु (अंश सन्धि) पृष्ठ वंश, उत्तम है—जत्रु और पृष्ठ वंश की अस्थियां छूने पर प्रतीत न हों। दूर दूर अन्तरवाले स्तन प्रशस्त हैं। कक्षा से बाहर निकले स्थिर पार्श्व प्रशस्त है। गोल, परिपूर्ण, लम्बे बाहू, टांगे और अंगुलियां प्रशस्त हैं। बडे २ भरे हुए हाथ और पांव प्रशस्त हैं। स्थिर गोल, स्निग्ध ताम्र रंग के उन्नत, कछुए के समान उठे हुए नख प्रशस्त हैं। दक्षिण आवर्त्त वाली और उन्नत नाभि प्रशस्त है। छाती से एक तिहाई कम, समान, उपचित मांस वाली कटि प्रशस्त है। गोल, स्थिर, उन्नत मांस वाले न तो बहुत उन्नत और न बहुत नीचे कूल्हे प्रशस्त हैं। गोल, स्थिर, मांस से भरी टांगें प्रशस्त हैं। न तो बहुत बढे हुए और न बहुत घटे हुए, हरिणी की जंघा के समान छिपी सिरा, अस्थि, और सन्धि वाली जंघाएं प्रशस्त हैं न तो बहुत मोटे, और न बहुत दबे हुए गुल्फ प्रशस्त हैं। पूर्वोक्त गुणों से युक्त, कछुवे के आकार के (महराबदार) पांव प्रशस्त हैं। स्वाभाविक रूप में वायु, मूत्र, मल का आना और नींद, जागरण, आयास, हास्य, रोदन, स्तनपान आदि बातों का प्रकृतिसिद्ध, स्वाभाविक रूप में होना उत्तम है। इनके अतिरिक्त और जो बातें यहां पर नहीं कही, वे भी स्वाभाविक रूप में होनी चाहियें यही इष्ट है। प्राकृतिक बातों से विपरीत होना बुरा, अनिष्टकारक है। ये दीर्घायु कुमारों के लक्षण हैं ॥ ५२ ॥

अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः—अथ ब्रूयात् धात्रीमानयतेति, समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुलेजातां वत्सलां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तां[1]मशायिनीमनुच्चारशायिनीमनन्त्यावशायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति ॥ ५३ ॥

इसके अनन्तर धात्री की परीक्षा का उपदेश करते हैं। अब आज्ञा देवे कि धात्री (धाई) को लाओ धात्री माता की समान जाति वाली, युवती, नम्र-

१. 'अप्रमत्तामनन्त्यावशायिनीं' इतिपाठः।

स्वभाव, नीरोग, सुन्दर अगों वाली, सब प्रकार के व्यसनों से रहित, सुन्दर—रूपवती, घृणायोग्यरूप से रहित, जो मैली कुचैली न रहती हो, समान देश वाली, उदार चित्त वाली, घिनौने कर्माने विचारों और कर्मों से रहित, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल मे उत्पन्न, बच्चे से प्यार करने वाली, प्रमाद से रहित, न सोनेवाली, बालक को मलमूत्रादि में न लेटाने वाली, नीच, चण्डाल कुलों से भिन्न कुल की, सेवा मे कुशल, पवित्र, स्वच्छ, अपवित्रता से द्वेष करने वाली, स्तन और दूध के उत्तम गुणों से युक्त, स्त्री को धात्री के रूप में नियुक्त करें। [धात्री को तभी नियुक्त करना चाहिये जब बच्चे की माता अति निर्बल हो, दूध काफ़ी न उतरता हो, या दूध बालक के अनुकूल न पड़ता हो।]॥५३॥

तत्रेयं स्तनसंपत्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति स्तनसंपत् ॥ ५४ ॥

स्तन के उत्तम लक्षण—स्तन न बहुत ऊंचे, न बहुत लटकने वाले, न बहुत कृश, न बहुत मोटे, उत्तम चूचुक (घुण्डियों) वाले, ऐसे हों जिन से बच्चा सुख से दूध पी सके, ये स्तन के उत्तम लक्षण हैं ॥ ५४ ॥

स्तन्यसंपत्तु—प्रकृत वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शमुदपात्रे दुह्यमानमुदकव्येति प्रकृतिभूतत्वात्, तत्पुष्टिकरमारोग्यकर चेति स्तन्यसंपत् ॥५५॥

दूध के उत्तम लक्षण—दूध का स्वाभाविक वर्ण हो, स्वाभाविक गन्ध हो, स्वाभाविक रस हो और स्वाभाविक स्पर्श हो, यदि दूध को जल के पात्र मे दुहा जाय तो वह सारे जल में फैल जावे। क्योंकि यह दूध का स्वाभाविक गुण है। इसके अतिरिक्त दूध पुष्टिकारक और आरोग्यकारक होना आवश्यक है, ये दूध के उत्तम लक्षण हैं ॥५५॥

अतोऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयम्। तस्य विशेषाः—श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनतिलक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिल लघ्वतृप्तिकर कर्षणं, वातविकाराणां कर्तृ वातोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम्। कृष्ण-नील-पीत-ताम्रावभासं तिक्ताम्लकटुकानुरस कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्त-विकाराणा कर्तृ पित्तोपसृष्ट क्षीरमभिज्ञेयम्। अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्न लवणानुरसं घृत-तैल-वसा-मज्ज-गन्धि पिच्छिल तन्तुमदुदपात्रेऽवसीदच्छ्लेष्म विकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥५६॥

इन लक्षणों से विपरीत दूध दूषित समझना चाहिये। इसके विशेष लक्षण ये हैं—वात विकार वाली स्त्रियों का वात से दूषित दूध, श्याव (लाल-काले) रंग का, कषाय अनुरस वाला, विशद (फुटकी वाला), स्पष्ट गन्ध से रहित,

रूक्ष, द्रव, झाग वाला, हलका, पीने पर पूर्ण तृप्ति नहीं करने तथा शिशु को सुखाने वाला होता है। ऐसा दूध वात के विकारों को उत्पन्न करता है। वह वात से दूषित दूध होता है। पित्त से दूषित दूध—काला, नीला, पीला, ताम्बे के रंग का, तिक्त, अम्ल, कटु अनुरस वाला, दुर्गन्ध या रक्त की गन्ध वाला, बहुत गरम होता है। कफ विकार वाला वा कफ से दूषित दूध—बहुत सफेद, बहुत मधुर, पीने पर पिछे मे नमकीन स्वाद वाला, घी, तेल, वसा, मज्जा की गन्ध से युक्त, पिच्छिल, धागे या सूतों वाला, जो पानी के पात्र में नीचे बैठ जाता है, ऐसे दूध को कफ के विकारों को उत्पन्न करनेवाला, कफ से दूषित जानना चाहिये ॥५६॥

तेषां त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रति प्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय।

इन तीनों प्रकार के दूध के दोषों में वात, पित्त, कफ प्रत्येक दोष के अनुसार अपने अपने दोष के लक्षणों को देख कर वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन आदि का विभाग करके उचित रूप में शान्ति के लिये व्यवहार करना चाहिये।

पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यव-गोधूम-शालि षष्टिक-मुद्ग-हरेणुक-कुलत्थ सुरा सौवीरक-तुषोदक मैरेय-मेदक-लशुन-करञ्ज-प्रायः स्यात्, क्षीरदोष-विशेषाश्चावेक्ष्यावेक्ष्य तत्तद्विधानं कार्यं स्यात्, पाठा-महौषध-सुरदारु-मुस्त-मूर्वा-गुडूची-वत्सक-फलकिरात - तिक्त - कटुक - रोहिणी-सारिवा-कषायाणां च पानं प्रशस्यते। तथाऽन्येषां तिक्त-कषाय-कटुक-मधुराणां द्रव्याणां प्रयोग इति क्षीर-विकार-विशेषानभिसमीक्ष्य मात्रां कालं चेति क्षीरविशोधनानि ॥ ५७ ॥

दूषित दूध वाला स्त्री के दूध के शोधने लिये खान पान विधि—जिस स्त्री का दूध दूषित हो उसे जौ, गेहूँ, हेमन्त धान्य, साठी चावल, मूग, हरेणु, कुलत्थी, सुरा, सौवीरक, धान्याम्ल, तुषोदक, मैरेय, मेदक, लशुन, करंज आदि का सेवन करना चाहिये। दूषित क्षीर के विशेष २ लक्षणों को (वात आदि को) देख २ कर उनकी यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिये। पाठा, सोंठ, देवदारू, नागरमोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजौ, चिरायता, कुटकी, सारिवा इन पदार्थों के कषायों का पान उत्तम है। इसी प्रकार अन्य तिक्त, कषाय, कटु और मधुर रस वाले द्रव्यों का प्रयोग दूध के विकारों के कारणों को जान कर मात्रा में समय पर करना चाहिये। यह दूधको साफ़ करने वाले उपायोंका बर्णन कर दिये हैं।

क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि ग्राम्यानूपौदकानि च शाक-धान्य मांसानि द्रव-मधुराम्ल-भूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरिण्यश्चौषधयः क्षीरपानं चानायासश्चेति, वीरण-शालि-षष्टिकेक्षुवालिका-दर्भ-कुश-काश-गुन्द्रेत्कट-मूल कषायाणां च पानमिति क्षीरजननान्युक्तानि ॥ ५८ ॥

दूध-वर्धक पदार्थ—सीधु नामक मद्य को छोड़ कर शेष सब मद्य, ग्राम्य और आनूप देशों में उत्पन्न शाक, धान्य या मांस, द्रव, मधुर, अम्ल, लवण, बहुत भोजन, दूध-वर्धक ओषधियां, दूध का पान और मेहनत न करना। वीरण, साठी, हेमन्त धान्य, गन्ना, दाभ, कुश, काश गुन्द्रा, इत्कट इनकी जड़ों के कषायों को पिलाना दूध-वर्धक है ॥५८॥

धात्री तु यदा स्वादु-बहुल-शुद्ध-दुग्धा स्यात्तदा स्नातानुलिप्ता शुक्ल वस्त्रं परिधायैन्द्री ब्राह्मी शतवीर्यामोघामव्यथा शिवामरिष्टा वाट्यपुष्पी विष्वक्सेनकान्ता वा बिभ्रत्योषधि कुमारं प्राङ्मुखं प्रथमं दक्षिणं स्तनं पाययेदिति धात्रीकर्म ॥ ५९ ॥

धात्री की नियुक्ति—जिस समय धात्री का दूध बहुत स्वाद, बहुत शुद्ध हो, उस दिन स्नान कराके, चन्दन लगाकर सफेद वस्त्रों को पहिनाकर ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या, सहस्रवीर्या, अमोघा, गिलोय, शिरा, वाट्यपुष्पी, अरिष्टा, विष्वक्सेन-कान्ता आदि ओषधियों को धारण कराके, शिशु का शिर पूर्व की ओर करके प्रथम दक्षिण स्तन पीने के लिये देना चाहिये। यह धात्री-कर्म का उपदेश कर दिया है ॥५९॥

अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः—वास्तु-विद्या-कुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगत-श्वापद-पशु दंष्ट्रि-मूषिक पतङ्गं सुसंविभक्त-सलिलोदूखल-मूत्र-वर्चः-स्थान-स्नान-भूमि-महानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात्तथा सुविहित-रक्षा-विधान-बलि-मङ्गल-होम प्रायश्चित्तं शुचि-वृद्ध-वैद्यानुरक्त-जन-सम्पूर्णमिति कुमारागारविधिः ॥ ६० ॥

कुमारागार विधि—इसके आगे कुमारागार विधि का वर्णन करते हैं। मकान की रचना को जानने वाला वास्तुविद्या में कुशल पुरुष उत्तम, सुन्दर, प्रकाशयुक्त, वायुदार (परन्तु जोर से चारों ओर की वायु न आये), मजबूत, गाय, बकरी, पशु आदि और बिल्ली आदि दाढ़ वाले पशु, चूहे, पतंग आदि से रहित, पानी, उलूखल, मूत्रस्थान, मलस्थान, स्नानगृह, रसोई आदि पृथक् पृथक् ऋतु के अनुकूल, ऋतु के अनुसार, बिस्तर आसन, बिछौने से युक्त घर

को सजावे। इस घर मे भली प्रकार से रक्षा का प्रबन्ध करे। बलि, मगल, होम, प्रायश्चित्त आदि किया करे। पवित्र, वृद्ध, वैद्य, स्नेही मित्रों से भरा रहे। यह कुमारागार विधि है ॥ ६० ॥

शयनासनास्तरण-प्रावरणानि कुमारस्य मृदु लघु शुचि-सुगन्धीनि स्युः। स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः ॥६१॥

असति संभवेऽन्येषा तान्येव च सुप्रक्षालितोपधूपितानि सुशुद्ध-शुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः ॥ ६२ ॥

कुमार के बिस्तर, आसन, बिछौने आदि कोमल, हलके, पवित्र और सुगन्धियुक्त हों, वे पसीने, जू आदि वाले तथा मूत्र मल वाले न हों। यदि अन्य दूसरे वस्त्र न हों तो इन्हीं वस्त्रों को भली प्रकार धोकर सुखा कर (धुवा देकर) साफ और शुष्क करके काम में लाया जावे ॥ ६२ ॥

धूपनानि पुनर्वाससा शयनास्तरणप्रावरणानां च यव-सर्षपातसी-हिङ्गु गुग्गुलु-वचा चोरक-वयःस्था-गोलोमी-जटिला पलङ्कषाशोक-रोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतसक्तानि स्युः ॥ ६३ ॥

वस्त्रों के रोगनाशक धूम—बिस्तर, आसन, बिछौने चादर आदि कपड़े को धुवा देने के लिये जौ, सरसों अलसी, हींग, गुग्गुल, वच, चोरक, ब्राह्मी, श्वेत दूब, जटामासी, गुग्गुलु, अशोक, कुटकी और सांप की कैंचली इनको घी में मिला कर इनसे धुआ देना चाहिये ॥ ६३ ॥

मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य खड्ग-रुरु-गवय-वृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्यस्त्वग्राणि गृहीतानि स्युः। मन्त्राद्याश्चौषधयो जीवकर्षभकौ यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः प्रशंसेयुरथर्ववेदविदः ॥ ६४ ॥

बालक के आभूषण—शिशु को नाना प्रकार की मणियां, जीवित गैंडा रुरु (मृग), गवय (नीलगाय) और सांड के दक्षिण सींग के अगले भागों को लेकर धारण कराने चाहिये। मंत्र आदि, जीवक, ऋषभक आदि ओषधियों को तथा अन्य जिन २ वस्तुओं को अथर्व वेद के जानने वाले विद्वान् ब्राह्मण बतावें वे २ पदार्थ धारण करावे ॥ ६४ ॥

क्रीडनकानि खल्वस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाण्यगुरूण्यतीक्ष्णाग्राण्यनास्यप्रवेशीन्यप्राणहराण्यवित्रासनानि च स्युः ॥ ६५ ॥

बच्चे के खिलौने—कुमार के खिलौने विचित्र रूप के, शब्द करने वाले, सुन्दर, हलके, जिनके अग्रभाग तीखे न हों, जो बच्चे के मुख में न जा सकें,

बच्चों का प्राणहरण करने वाले न हों तथा बच्चों को भय देने वाले न हों ऐसे होने चाहिये ॥ ६५ ॥

न ह्यस्य वित्रासनं साधु तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र वाऽविधेयतां गच्छति राक्षस-पिशाच-पूतनाद्यानां नामानि चाऽऽह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥ ६६ ॥

शिशु को भय देना—शिशु को डराना, भय दिखाना अच्छा नहीं, रोते हुए भोजन न करने पर अथवा अन्य इसी प्रकार की अवस्था में जब बालक काबू में न आवे तो शिशु को डराने के लिये राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नहीं लेना चाहिये ॥ ६६ ॥

यदि त्वातुर्यं किंचित्कुमारमागच्छेत्तत्प्रकृति-निमित्त-पूर्वरूप-लिङ्गोपशय-विशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषध-देश-कालाश्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुर-मृदु-लघु-सुरभि-शीत-शङ्करं कर्म प्रवर्तयन्, एवं सात्म्या हि कुमारा भवन्ति, तथा ते शर्म लभन्तेऽचिराय। अरोगेष्वरोगवृत्तमातिष्ठेत् ॥ ६७ ॥

यदि कभी शिशु रोगी हो जाये तो वात आदि प्रकृति, कारण, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय आदि से रोग का वास्तविक रूप जान कर रोगी सम्बन्धी सब बातों की देश, काल और शरीर को देखकर चिकित्सा आरम्भ करे। चिकित्सा में मधुर, मृदु, लघु, सुगन्धित, शीतल, कल्याणकारी कर्म (औषध) करना चाहिये। कुमार भी इसी सात्म्य के (मधुर, मृदु, शीतल, लघु) होते हैं, ऐसी ही औषध उनको लाभदायक है। इस प्रकार से बालक शीघ्र ही सुखी, नीरोग हो जाते हैं। स्वस्थ अवस्था में स्वस्थ वृत्त का पालन करना चाहिये ॥६७॥

देश-कालात्म-गुण-विपर्ययेण वर्तमानः क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत्। तथा बलवर्णशरीरायुषां संपदमवाप्नोतीति ॥ ६८ ॥

देश, काल और आत्मा इनके गुणों के विपरीत अवस्था मे कुमार को असात्म्य देश, काल से क्रमश सात्म्य देश, काल, आत्म-गुणों पर बदलना चाहिये। सब प्रकार के अहित वस्तुओं का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार से उत्तम बल, वर्ण शरीर और उत्तम आयु प्राप्त होती है ॥ ६८ ॥

एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनाच्चानुपालयेत्।

इस प्रकार से कुमार की यौवनावस्था के आने तक धर्म, अर्थ, कौशल उत्पन्न होने तक रक्षा करनी चाहिये।

इति पुत्राशिषा समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातम्। तदाचरन् यथोक्तैर्विधिभिः पूजा यथेष्टं लभतेऽनसूयक इति ॥ ६९ ॥

पुत्र को चाहने वालों के लिये फलकारक और समृद्धिकारक कर्म का उपदेश कर दिया है। बच्चों को देखकर चित्त में बुरा भाव न रखने और पुत्र को अत्यन्त उत्तमता को चाहने वाला मनुष्य यथोक्त विधि से इन कर्मों का करता हुआ, यथेष्ट फल और पूजा (आदर) को प्राप्त करता है ॥ ६९ ॥

तत्र श्लोकौ।

पुत्राशिषा कर्म समृद्धिकारकं यदुक्तमेतन्महदर्थसंहितम्।
तदाचरन् ज्ञो विधिभिर्यथातथं पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः ॥७०॥
शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा।
सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ ७१ ॥

पुत्र की प्रार्थनानुरूप फलकारक, समृद्धिकारक, बहुत अर्थ से परिपूर्ण जो कार्य कहा है, जो बुद्धिमान् मनुष्य इस कर्म को विधिपूर्वक करता है वह परम समृद्धि को देख कर न कुढने वाला भला आदमी यथेष्ट आदर को प्राप्त करता है। देवता और मनुष्यों के उत्तम २ लक्षणों सहित सब प्रकार से यहां सम्पूर्ण शरीर का विचार करते हैं। इसलिये यह शारीरस्थान महाप्रकरण कहा जाता है ॥ ७०-७१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने जातिसूत्रीयशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

॥ इति शारीरस्थानं समाप्तम् ॥

इन्द्रियस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'वर्णस्वरीय इन्द्रिय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

[शारीरस्थान के पीछे चिकित्सास्थान आना आवश्यक है । परन्तु चिकित्सा साध्य-रोगो मे ही कही जाती है, असाध्य रोगों मे नहीं । क्योंकि असाध्य रोग मे चिकित्सा करने से धन, विद्या और यश की हानि और बदनामी होती है । इन्द्रिय का अर्थ है रिष्ट । जब रोगी मरणासन्न होता है उस समय के विशेष लक्षणों को 'रिष्ट' वा 'अरिष्ट' कहा जाता है । विना रिष्ट ज्ञान के साध्य और असाध्य का ज्ञान भी नही हो सकता । इस लिये चिकित्सा के पूर्व इन्द्रिय-स्थान कहा गया है ।]

इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च घ्राणं च रसनं च स्पर्शनं च सत्त्वं च भक्तिश्च शौचं च शीलं चाचारश्च स्मृतिश्चाऽऽकृतिश्च बलं च ग्लानिश्च तन्द्रा चाऽऽरम्भश्च गौरवं च लाघवं चाऽऽहारगुणाश्चाऽऽहारपरिणामश्चोपायश्चापायश्च व्याधिश्च व्याधिपूर्वरूपं च वेदनाश्चोपद्रवाश्च छाया च प्रतिच्छाया च स्वप्नदर्शनं च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकाश्चाऽऽतुरकुले भावावस्थान्तराणि च भेषजसंवृत्तिश्च भेषज-विकारयुक्तिश्चेति परीक्ष्याणि प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः प्रमाण-विशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा ॥ ३ ॥

रोगी के आयुष्य को विशेष रूप से जानने की इच्छा रखने वाले वैद्य के लिये आवश्यक है कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त (शब्द) प्रमाण द्वारा रोगी के वर्ण, स्वर, गन्ध, रस, स्पर्श, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्श, सत्त्व (मन), भक्ति (इच्छा), शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, बल, ग्लानि, तन्द्रा (नींद), आरम्भ, [अरिष्ट-व्याधि में उत्पत्ति का प्रारम्भ], भारीपन, लघुता, आहार, आहार का परिणाम, उपाय (उपगमन), अपाय (अपगमन),

व्याधि, व्याधि के पूर्वरूप, वेदना, उपद्रव, शरीर की छाया, (शारीरिक), प्रतिछाया, स्वप्न-दर्शन, दूताधिकार, मार्ग के उपद्रव के दृश्य, रोगी के घर की अवस्था, इसके भाव, औषध-सफलता और औषध की रोग सम्बन्ध में योजना—इन सब बातों की अवश्य परीक्षा करे। इनका विस्तार आगे यथास्थान किया जायेगा ॥ ३ ॥

तत्र खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित्पुरुषमनाश्रितानि कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तान्युपदेशतो युक्तितश्च परीक्षेत, पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितश्च विकृतितश्च ॥ ४ ॥

इन उपरोक्त परीक्षा करने योग्य बातों मे से कुछ बातें तो पुरुष में आश्रित हैं और कुछ बातें पुरुष मे आश्रित नहीं हैं। इसलिये जो परीक्षायें पुरुष में आश्रित नहीं हैं, उनकी परीक्षा आप्तजनों के उपदेश से जाननी चाहिये और जो परीक्षायें पुरुष के शरीर मे आश्रित हैं उनकी परीक्षा प्रकृति और विकृति से करनी चाहिये ॥ ४ ॥

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता च । जाति-कुल-देश-काल-वयः-प्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥ ५ ॥

इनमे प्रकृति छः प्रकार की है—(१) जाति से प्राप्त (२) काल से प्राप्त (३) देशानुसार (४) कालानुसार (५) वय के अनुसार और (६) प्रतिव्यक्ति नियत जाति, देश, कुल, काल, आयु और प्रत्येक पुरुष की भिन्नता के कारण पुरुषों की प्रकृति भिन्न २ हो जाती है ॥ ५ ॥

[जाति—जापानी लोगों को हैजा कम होता है, हिन्दुओं और यहूदियों को 'मधुमेह' अधिक होता है। कुल—जिस कुल में क्षय या अर्श रोग चलता हो, उसमें विवाह सम्बन्ध का शास्त्र ने निषेध किया है। देश—मरुस्थल प्रदेश में कफजन्य रोग बहुत कम होते हैं। मदुरा में हाथीपग (पील-पाव) और उड़ीसा मे अण्ड-वृद्धि बहुत है। काल—वसन्त ऋतु मे चेचक रोग तथा टायफाइड (आन्त्रज्वर) फैलता है। वयस्—प्लेग और क्षय जवान (१८ से २८ तक) पुरुषो को ही होते हैं। प्रत्यात्म—जिस आदमी को एक बार चेचक हो जाती है, उसको फिर नहीं होती और कई आदमी जन्म से ही किसी किसी रोग के लिये प्रतिशक्त होते हैं। (२) इसका अर्थ यह भी है कि कइयों में

शौच आदि गुण प्रकृति से होते है यथा—ब्राह्मण में। कई कुलों में, कई जातियों में शौच गुण (स्वच्छता) विशेष रहता है]।

विकृति पुनर्लक्षणनिमित्ता च लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानुरूपा च। तत्र लक्षणनिमित्ता नाम सा, यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति दैवात्। लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि भवन्ति, यानि हि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्राधिष्ठानमासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति। लक्ष्यनिमित्ता तु सा, यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तं निदानेषु। निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थकारिणी या। तामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिङ्गानुरूपाम्। यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः। यामधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः इत्युद्देशः। तद्विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥

विकृति तीन प्रकार की है। यथा—(१) लक्षण के निमित्त से, (२) लक्ष्य के निमित्त से और (३) निमित्तों के अनुरूप ॥ ६ ॥

(१) लक्षणनिमित्ता—जिसके दैववश हेतु रूप लक्षण ही शरीर में उत्पन्न होते हैं। कई एक लक्षण शरीर से ही सम्बद्ध रहते हैं। वे भिन्न २ अनेक समयों में अपना आश्रय बना कर भिन्न २ विकृति (विकार, रोग, पीड़ा) को उत्पन्न करते हैं। हाथों में नख रेखा-पद्मादि सामुद्रिक लक्षण होना।

(२) लक्ष्यनिमित्ता—जैसा निदानों में निमित्त बतलाया है। तदनुसार जिसका निमित्त उपलब्ध होता है।

(३) निमित्तानुरूप—विकृति वह है जो निमित्त के कार्य रूप पयोजन को पूरा करती है, उस निमित्त से भिन्न विकृति को भी वैद्य लोग आयु के परिमाण ज्ञान का निमित्त मानते हैं, और जिसका, समाप्त होने वाली आयु के ज्ञान के लिये विद्वान् लोग उपदेश करते हैं। जिसका प्रकरण उठा कर पुरुष मे आश्रित, मरणासन्न पुरुषों के लक्षणों का हम उपदेश करेंगे। यह उद्देश अर्थात् अभी नाममात्र कहा है। अब इसका विस्तार से वर्णन करेंगे ॥ ६ ॥

तत्राऽऽदित एव वर्णाधिकारः, तद्यथा—कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति, यांश्चापरानुपेक्षमाणो विद्यादनूकतोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः। नील-श्याम-ताम्र-हरित-शुक्लाश्च वर्णा शरीरस्य वैकारिका भवन्ति। यांश्चापरानुपेक्षमाणो विद्यात्, प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान्। इति प्रकृतिवर्णा भवन्त्युक्ताः शरीरस्य ॥ ७ ॥

सबसे प्रथम वर्णाधिकार कहते हैं जैसे—कृष्ण (काला) कृष्णश्याम (काला-सावला) और श्याम-अवदात (श्याम-गोर) और अवदात (शुद्धगौर) ये चार शरीर के प्राकृतिक वर्ण हैं। इनके सिवाय जिन वर्णों का यहा वर्णन नहीं किया और जो इन वर्णों के अनुकूल समान रूप लक्षणो से मिलें वा जिनका विद्वान् मनुष्य वर्णन करे उनको भी प्रकृतिवर्ण जानना चाहिये। नीला, श्याम, ताम्बे का रग, हरा और श्वेत ये शरार के वैकारिक (विकृति से उत्पन्न होने वाले) वर्ण हैं। इसी प्रकार उपरोक्त प्राकृतिक वर्णों से भिन्न वर्ण जिनको प्रत्यक्ष देख कर जान लें अथवा पहिले कभी उत्पन्न न हुए, बाद में उत्पन्न हुए हों ऐसे जो वर्ण हों उनको वैकृतिक वर्ण समझना चाहिये। इस प्रकार से प्राकृतिक और वैकृतिक वर्ण कह दिये हैं ॥ ७ ॥

तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे विकृतिवर्णमर्धशरीरे द्वावपि वर्णौ मर्यादा-विभक्तौ दृष्ट्वा यद्येव सव्य-दक्षिण-विभागेन यद्येव पूर्व-पश्चिम-विभागेन यदुत्तराधरविभागेन यदन्तर्बहिर्विभागेनाऽऽतुरस्य रिष्टमिति विद्यात् ।८।

जिस मनुष्य के आधे शरीर मे प्रकृति वर्ण और आधे शरीर में विकृति का वर्ण हो और शरीर मे दानो का विभाग पृथक् २ स्पष्ट दीखता हो, या वाम और दक्षिण भाग में अथवा ऊपर नीचे के भाग में, या अन्दर बाहर के विभाग में हो तो इनको रोगी की मृत्यु का लक्षण समझे ॥८॥

एवमेव वर्णभेदो मुखेऽप्यन्तो वर्तमानो मरणाय भवति ॥ ९ ॥

वर्णभेदेन ग्लानि-हर्ष-रौक्ष्य-स्नेहा व्याख्याताः ॥ १० ॥

इसी प्रकार मुख में दूसरा बदला हुआ वर्ण मृत्यु के लिये होता है। वर्ण के भेद से, ग्लानि, हर्ष, रूक्षता और स्नेह का भी उपदेश समझे। [अर्थात् शरीर के आधे भाग में रूक्षता आदि और आधे में स्नेह आदि का होना मृत्यु का सूचक है।] ॥ ९–१० ॥

तथा पिप्लु-व्यङ्ग-तिलकालक-पिडकानामानने जन्माऽऽतुरस्यैवमेवा-प्रशस्तं विद्यात् ॥ ११ ॥

नख-नयन-वदन-मूत्र-पुरीष-हस्त-पादौष्ठादिष्वपि च वैकारिकोक्तानां वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीन-बल-वर्णेन्द्रियेषु लक्षणमायुषः क्षयस्य भवति ॥ १२ ॥

जिस रोगी के मुख पर सहसा पिप्लु, व्यग, तिल, कालक अथवा पिडिका निकल आये, इसको भी बुरा लक्षण समझे। इसी प्रकार नख, आंख, मुख, मूत्र, पुरीष (मल), हाथ, पाव, ओंठ आदि अगों में वैकारिक रंगों में से किसी एक

रग का उत्पन्न हो जाना, बल वर्ण और इन्द्रियों में हीनता का आ जाना, ये आयु के क्षय के लक्षण हैं ॥ ११-१२ ॥

यच्चान्यदपि किञ्चिद्वर्णवैकृतमभूतपूर्वं सहसोत्पद्येतानिमित्तमेव हीयमानस्याऽऽतुरस्य शश्वत्, तच्चारिष्टम् । इति वर्णाधिकारः ॥ १३ ॥

इनके अतिरिक्त और जो कोई वैकृतिक वर्ण, जो पहिले कभी भी नहीं था ऐसा बिना कारण के सहसा उत्पन्न हो जाये, इसको निश्चय रूप से मृत्यु का लक्षण समझना चाहिये ॥ १३ ॥

यह वर्णाधिकार समाप्त हुआ ।

स्वराधिकारस्तु—हंस-क्रौञ्च-नेमि दुन्दुभि-कलविङ्क-काक-कपोत-झर्झरानुकाराः प्रकृतिस्वरा भवन्ति, याश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यादनूकतोऽन्यथा वाऽपि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः ॥ १४ ॥

स्वराधिकार—मनुष्यों का जो स्वर हंस, क्रौञ्च, नेमि, दुन्दुभि, कलविङ्क-आदि के स्वर और कौवा, कबूतर इनके स्वर के समान हो, उसको प्राकृतिक स्वर समझना चाहिये । इनके अतिरिक्त इन स्वरों के समान जो प्रकृति स्वर यहां पर नहीं कहे गये और देखने में आवें या सादृश्य से या जिनको तत्त्वज्ञानी लोग बतलावें उनको भी जाने ॥ १४ ॥

एडक-कल-ग्रस्ताव्यक्त-गद्गद-क्षाम दीनानुकीर्णास्त्वातुराणां स्वरा वैकारिका भवन्ति । याश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यात्प्रागविकृतानभूत्वोत्पन्नान् । इति प्रकृतिविकृतिस्वरा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

वैकृतिक स्वर—रोगी का स्वर एडक (मेडा) के समान, मे मे की सी आवाज़ हो, अस्पष्ट, गद्गद (भरा हुआ), क्षाम (निर्बल), दीन (दुःख से बोला जाने वाला), कल (सूक्ष्म), ग्रस्त (निगली सी आवाज, मुख से शब्द न निकले), रोगियों के इस प्रकार के शब्द विकृति के होते हैं । इसी प्रकार जो स्वर प्राकृतिक स्वर से विपरीत अथवा नये प्रकार के देखने में आवें जो पहिले कभी न उत्पन्न हुए हों, उनको भी वैकृतिक स्वर समझे । इस प्रकार से प्राकृतिक और वैकृतिक स्वरों का वर्णन कर दिया ॥ १५ ॥

तत्र प्रकृतिवैकारिकाणां स्वराणामाशुभिनिर्वृत्तिः स्वरानेकत्वमेकस्य चानेकत्वमप्रशस्तम् । इति स्वराधिकारः ॥ १६ ॥

जो स्वर प्रकृति और वैकृतिक स्वरों का शीघ्र उत्पन्न होना अथवा एक स्वर का कभी एडक की भांति और कभी दीन या क्षाम हो जाना, यह अमगल सूचक है । यह स्वराधिकार समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

इति वर्णस्वराधिकारौ यथावदुक्तौ मुमूर्षता ज्ञानार्थमिति ॥१७॥

मरणोन्मुख रोगी के लक्षणों को जानने के लिये वर्ण और स्वर के लक्षण यथावत् कह दिये हैं ॥ १७ ॥

भवन्ति चात्र—यस्य वैकारिको वर्णः शरीर उपजायते ।
अर्धे वा यदि वा कृत्स्ने निमित्त न च नास्ति सः ॥ १८ ॥

जिस रोगी के आधे या सम्पूर्ण शरीर में निमित्त के बिना वैकृतिक वर्ण उत्पन्न हो जाता है तो वह मनुष्य के मरने का लक्षण ही है ॥ १८ ॥

नीलं वा यदि वा श्यावं ताम्रं वा यदि वाऽरुणम् ।
मुखार्धमन्यथा वर्णौ मुखार्धेऽरिष्टमुच्यते ॥ १९ ॥

जिस रोगी का आधा मुख नीला, काला, ताम्बे के रंग का अथवा लाल रंग का हो जाता है और आधा मुख दूसरे प्रकार का रंग का हो, यह लक्षण मृत्यु का है ॥ १९ ॥

स्नेहो मुखार्धे सुव्यक्तो रौक्ष्यमर्धमुखे भृशम् ।
ग्लानिरर्धे तथा हर्षो मुखार्धे प्रेतलक्षणम् ॥ २० ॥

यदि मुख के आधे भाग में स्नेह दीखता हो और आधे में रूक्षता दीखता हो, आधे मुख में ग्लानि और आधे मुख पर हर्ष के चिह्न हों तो यह मरने वाले के लक्षण हैं ॥ २० ॥

तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गा राजयश्च पृथग्विधाः ।
आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान्मुमुक्षतः ॥ २१ ॥

प्राण त्यागने वाले रोगी के मुख पर तथा मुख के अन्दर तिल, फुन्सी (पिप्लु), व्यंग, भिन्न २ प्रकार की रेखायें शीघ्र उत्पन्न होती हैं ॥ २१ ॥

पुष्पाणि नखदन्तेषु वा पङ्को वा दन्तसंश्रितः ।
चूर्णको वाऽपि दन्तेषु लक्षणं मरणस्य तत् ॥ २२ ॥

जिस रोगी के नख या दांतों पर फूल, दांतों में मैल और चूर्ण उत्पन्न हो जाता है, यह मरने का लक्षण है ॥ २२ ॥

ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्र-पुरीषयोः ।
नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत्क्षीणबलेऽन्तकृत् ॥ २३ ॥

क्षीण हुए रोगी के ओंठ, पांव हाथ, आंख मूत्र और मल तथा नख इनमें रंग परिवर्तन होना रोगी का अन्त कर देता है ॥ २३ ॥

यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजाम्बव-सन्निभौ ।
मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरो धीरो गतायुषम् ॥ २४ ॥

जिस रोगी के दोनों ओठ नीले रंग के अथवा पके जामुन के समान हो जावे, उसको मरने वाला समझना चाहिये, इसकी आयु समाप्त हो गई है ॥२४॥

एको वा यदि वाऽनेको यस्य वैकारिकः स्वरः ।
सहसोत्पद्यते जन्तोर्हीयमानस्य नास्ति सः ॥ २५ ॥

जिस रोगी में वैकारिक स्वर एक या अनेक प्रकार के स्वर उत्पन्न हो जाते हैं, वह क्षीण होता हुआ रोगी जीवित नहीं रहता ॥ २५ ॥

यच्चान्यदपि किञ्चित्स्याद्वैकृतं स्वरवर्णयोः ।
बलमांसविहीनस्य तत्सर्वं मरणोदयम् ॥ २६ ॥

बल, मांस से विहीन रोगी में इनके अतिरिक्त स्वर और वर्ण में कुछ वैकारिक भाव आ जाये तो यह सब मृत्यु के सूचक हैं ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकः—इति वर्णस्वरावुक्तौ लक्षणार्थं मुमूर्षताम् ।
यस्तु सम्यग्विजानाति नाऽऽयुर्ज्ञाने स मुह्यति ॥ २७ ॥

जो वैद्य मरणोन्मुख पुरुषों के वर्ण स्वर के इन लक्षणों को भली प्रकार जानता है, वह आयु के परिज्ञान में कभी धोखा नहीं खाता ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयमिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः पुष्पितमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'पुष्पितक इन्द्रिय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।
तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥ ३ ॥
अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् ।
फलं चापि भवेत्किंचिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ ४ ॥
न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार भविष्य में होने वाले फल का पूर्वरूप 'पुष्प' होता है, उसी प्रकार मरणोन्मुख पुरुष के लक्षण 'अरिष्ट' नाम से होते हैं ।

अपवाद—ऐसे पुष्प भी होते हैं जिनमें फल उत्पन्न नहीं होता और कई ऐसे फल होते हैं जिनमें पहिले फूल नही आता [जैसे बेंत मे बिना फूल आए ही शाखा से ही फल पैदा होता है, इसी प्रकार गूलर में भी फूल नहीं होता], परन्तु अरिष्ट लक्षणों में ऐसा नहीं होता। ऐसा मरण नही जिसके पूर्व अरिष्ट लक्षण उत्पन्न नहीं होते और अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होने के बाद मरण हुए विना नही रहता। [अरिष्ट लक्षण दो प्रकार के हैं। (१) नियत और (२) अनियत। नियत अरिष्ट वे हैं जिनसे मृत्यु का होना निश्चित ही है, अनियत (अनिश्चित) वे हैं जिनसे मरण सदेह में होता है। रसायन और तप द्वारा इन लक्षणो को दूर भी किया जा सकता है।] ॥ ३–५ ॥

मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता।
अरिष्टं वाऽप्यसबुद्धमेतत्प्रज्ञापराधजम् ॥ ६ ॥

अरिष्ट लक्षणो को यथार्थ न समझना, न उत्पन्न हुए अरिष्ट लक्षणों को बुद्धि दोष से अरिष्ट लक्षण समझ लेना, अथवा उत्पन्न हुए अरिष्ट लक्षणो को न पहिचान सकना, ये सब बुद्धिदोष से होता है ॥ ६ ॥

ज्ञानसबोधनार्थं तु लिङ्गैर्मरणपूर्वजैः।
पुष्पितानुपदेक्ष्यामो नरान् बहुविधैर्बहून् ॥ ७ ॥
नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य वाति दिवानिशम्।
पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ ८ ॥
तमाहुः पुष्पित धीरा नरं मरणलक्षणं।
स ना सवत्सरादेहं जहातीति विनिश्चयः ॥ ९ ॥

पुष्पित का लक्षण—

ज्ञान कराने के लिये मृत्यु से पूर्व होने वाले लक्षणों द्वारा 'पुष्पित' अरिष्ट युक्त नानाप्रकार के रोगियो का वर्णन करते है। (१) जिस पुरुष के शरीर से नाना प्रकार के वृक्ष लताओं से भरे वन की भाति नाना प्रकार के फूलो की गन्ध के तुल्य गन्ध रात दिन बहती है, उस पुरुष को बुद्धिमान् पुरुष 'पुष्पित' कहते हैं, ये मृत्यु के लक्षण हैं। इन लक्षणो से मनुष्य एक साल के भीतर ही प्राणों को छोड़ता है ॥ ७–९ ॥

एवमेकैकशः पुष्पर्यस्य गन्धः समो भवेत्।
इष्टैर्वा यदि वाऽनिष्टैः स च पुष्पित उच्यते ॥ १० ॥
समासेनाशुभान् गन्धानेकत्वेनाथ वा पुमान्।
आजिघ्रेद्यस्य गात्रेषु तं विद्यात्पुष्पितं भिषक् ॥ ११ ॥

आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः ।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते ॥ १२ ॥

(२) इसी प्रकार जिस मनुष्य के शरीर से अच्छी या बुरी, किसी एक फूल की गन्ध के समान गन्ध आये, इसको भी 'पुष्पित' कहा जाता है। संक्षेप से, (३) जिस पुरुष के शरीर से नाना प्रकार की अशुभ गन्धों को वैद्य सूंघ ले उसे भी 'पुष्पित' ही जाने। (४) स्नान किये अथवा बिना ही स्नान किये जिसके शरीर से सुगन्ध या दुर्गन्ध आये, वह पुष्पित' कहा जाता है [अर्थात् स्नान करने पर अशुभ और स्नान न करने पर शुभ गन्ध आये तो 'पुष्पित' समझना चाहिये] ॥ १२ ॥

तद्यथा चन्दनं कुष्ठं तगरागुरुणी मधु ।
माल्यं मूत्रपुरीषे च मृतानि कुणपानि च ॥ १३ ॥
ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः ।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः ॥ १४ ॥
इदं चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गन्धसंश्रयम् ।
वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषङ् मरणमादिशेत् ॥ १५ ॥
वियोनिर्विदुरो यस्य गन्धो गात्रेषु दृश्यते ।
इष्टो वा यदि वाऽनिष्टो न स जीवति तां समाम् ॥ १६ ॥
एतावद् गन्धविज्ञानम् ।

चन्दन, कूठ, तगर, मधु, फूल, मूत्र, मल, मुर्दे या दूसरे सड़े गन्ध अथवा नाना प्रकार के जो अन्य नाना पदार्थों से उत्पन्न होते हैं उन गन्धों को भी अनुमान से विकारजन्य जानना चाहिये। गन्ध के आश्रित लक्षणों को भी विस्तार से कहेंगे; जिनको जान कर वैद्य रोगी के मरण को बतला सके। जिस रोगी के शरीर से विना कारण के स्थिर गन्ध अथवा अच्छी या बुरी गन्ध आती हो, वह एक सालमें अवश्य मर जाता है। गन्ध-विज्ञान प्रकरण इतना ही है॥१६॥

रसज्ञानमतः परम् ।

आतुराणां शरीरेषु वक्ष्यामो विधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसंभवः ।
स एषां चरमे काले विकारान् भजते द्रुतम् ॥ १८ ॥
कश्चिदेवास्य वैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते ।
स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥ १९ ॥

अब रोगी के शरीर में रस ज्ञान को विधिपूर्वक कहते हैं। मनुष्यों के शरीर में प्रकृति-अवस्था में जो रस रहता है, वह रस मृत्यु के समय दो रूपों में से किसी एक रूप में बदल जाता है। अर्थात् किसी रोगी के मुख का स्वाद बहुत अधिक बदल जाता है, बिगड़ जाता है और किसी के मुख का स्वाद बहुत अधिक मात्रा में स्वादु बन जाता॥ १७-१६ ॥

समनेनानुमानेन विद्याद्विकृतिता गतम्।
मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्॥ २० ॥

विकृत हुए रस को अनुमान द्वारा जानना चाहिये। क्योंकि इसके सिवाय मनुष्य दूसरे मनुष्य की रस-परीक्षा और किस प्रकार से कर सकता है? ॥२०॥

मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह।
विरसादपसर्पन्ति जन्तोः कायान्मुमूर्षतः॥ २१ ॥
अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः।
अपिस्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः॥ २२ ॥

मरणोन्मुख मनुष्य के शरीर पर से विरसता के उत्पन्न होने से मक्खियां, जुएं, डास और मच्छर आदि भी दूर भागने लगते हैं। मरणासन्न रोगी का शरीर बहुत मधुर हो, तो स्नान करके चन्दन लगा देने पर भी मक्खियां इसके शरीर पर मडराती हैं॥ २१-२२ ॥

तत्र श्लोकः—यान्येतानि मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः।
पुष्पितस्य नरस्यैतत्फलं मरणमादिशेत्॥ २३ ॥

पुष्पित मनुष्य के शरीर में जो रस और गन्ध के लक्षण कहे हैं, इनसे मनुष्य का मरण-फल समझना चाहिये॥ २३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पुष्पितकेन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातः परिमर्शनीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २ ॥

इसके आगे अब 'परिमर्शनीय इन्द्रिय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १-२ ॥

वर्णे स्वरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक्।
लिङ्गं मुमूर्षतां सम्यक स्पर्शेष्वपि निबोधत॥ ३ ॥

मरणोन्मुख रोगी के वर्ण, स्वर गन्ध और रस का पृथक् पृथक् वर्णन कर दिया है, अब स्पर्श सम्बन्धी लक्षणों को कहते हैं ॥ ३ ॥

स्पर्शप्राधान्येनैवाऽऽतुरस्याऽऽयुष प्रमाणविशेषं जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना केवलमस्य शरीरं स्पृशेत् विमर्शयेद्वाऽन्येन ॥ ४ ॥

परिमृशता तु खल्वातुरशरीरमिमे भावास्तत्र तत्रावबोद्धव्या भवन्ति। तद्यथा—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानां स्तम्भः, नित्योष्मणां शीतीभावः, मृदूनां दारुणत्वं, श्लक्ष्णानां खरत्वं, स्थूलानां वृषणादीनां सतामसद्भावः, सन्धीनां स्रस-भ्रंश-च्यवनानि१ । मांसशोणितयोर्वीतीभावो दारुणत्वं, स्वेदानुबन्धः स्तम्भो वा । यच्चान्यदपि किंचिदीदृशं स्पर्शानां लक्षणमनिमित्तं स्यात् । इति लक्षणानां संग्रहः स्पर्शानाम् ॥ ५ ॥

स्पर्श की प्रधानता से रोगी के आयु का परिणाम जानने की इच्छा से, वैद्य अपने स्वस्थ हाथ से रोगी के सम्पूर्ण शरीर को स्पर्श करे अथवा किसी दूसरे व्यक्ति से (जिसका स्वस्थ हाथ हो) स्पर्श करवावे । स्पर्श करते हुए रोगी के शरीर में निम्न बातें जाननी चाहियें । यथा—निरन्तर स्पन्दन करने वाले शरीर के भागों का स्पन्दन करने से रुक जाना, शरीर में जो अंग सदा गरम रहते हैं उनका शीतल हो जाना, कोमल अंगों का कठोर हो जाना, चिकने अंगों का कर्कश हो जाना, वृषण आदि स्थूल अंगों का लुप्त हो जाना, सन्धियों का स्रंसन (गिर जाना), भ्रंशन (खिसक जाना), च्यवन (दूसरे स्थानों में चले जाना), मांस और रक्त का बहुत क्षीण हो जाना और कठोर (घट्ट) बन जाना, पसीने का अधिक आना या बिल्कुल न आना । इसी प्रकार के अन्य अकारण स्पर्श जन्य लक्षण जो भी उत्पन्न हों उनकी स्पर्श द्वारा परीक्षा करनी चाहिये । ये संक्षेप में स्पर्श-लक्षणों का संग्रह किया है ॥ ४ ५ ॥

तद् व्यासतोऽनुव्याख्यास्यामः—तस्य चेत्परिमृश्यमानं पृथक्त्वेन पाद–जङ्घोरु–स्फिगुदर–पार्श्व–पृष्ठेषिका–पाणि–ग्रीवा–ताल्वोष्ठ–ललाटं स्विन्नं शीतं स्तब्धं दारुणं वीत-मांस-शोणितं वा स्यात्, परासुरयं पुरुषो नचिरात्कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ६ ॥

उसीको विस्तार से आगे कहते हैं । रोगी के भिन्न २ अंगों में स्पर्श करने से यदि पांव, जंघा, ऊरु, नितम्ब, उदर, पार्श्व, पृष्ठ वंश के मणके, हाथ, ग्रीवा, तालु, ओष्ठ, ललाट ये अवयव पसीने से युक्त, शीतल या जड़ या कठोर अथवा मांस या रक्त से रहित हो तो समझ लेना चाहिये कि रोगी पुरुष बहुत दिनों तक नहीं जीयेगा, उसकी मृत्यु शीघ्र ही होगी ॥ ६ ॥

१ 'स्रसभ्रंशव्यवनानि' इति पाठः ।

तस्य चेत्परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फ-जानु-वङ्क्षण-गुद-वृषण-मेढ्र-नाभ्यंस-स्तन-मणिक-पर्शुका-हनु-नासिका-कर्णाक्षि-भ्रू-शङ्खादीनि स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि वा स्थानेभ्यः स्युः, परासुरयं पुरुषो न चिरात्कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ७ ॥

भिन्न २ अवयवों के स्पर्श करने पर यदि गुल्फ (टखने), जानु, वङ्क्षण, गुदा, वृषण, शिश्न, नाभि, अंस, स्तन, हाथ (कलाई), पसुलियां, हनुसन्धि (जबाड़ा), नासिका, कान, आंख, भौंह, शंख आदि सन्धियां व्यस्त अवस्था मे या इधर उधर अपने स्थानों से खिसकी हों तो समझ लेना चाहिये कि पुरुष शीघ्र ही मर जायेगा ॥ ७ ॥

तथाऽस्योच्छ्वास-मन्या-दन्त-पक्ष्म-चक्षुः-केश-लोमोदर-नखाङ्गुलिगणं च लक्षयेत्। तस्य चेदुच्छ्वासोऽतिदीर्घोऽतिह्रस्वो वा स्यात् परासुरिति विद्यात्। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। तस्य चेद्दन्ताः परिकीर्णाः श्वेता जातशर्कराः स्युः, परासुरिति विद्यात्। तस्य चेत्पक्ष्माणि जटाबद्धानि स्युः, परासुरिति विद्यात्।

इसी प्रकार रोगी पुरुष के उच्छ्वास, मन्या (गले के पार्श्व में जाने वाली दो धमनियां), दांत, पक्ष्म (पलक), आंख, केश, लोम, पेट, नख और अंगुली की भी परीक्षा करनी चाहिये। जिस रोगी को श्वास, प्रश्वास, बहुत लम्बा या छोटा हो जावे, उसे मरा हुआ जाने। जिस रोगी के मन्या धमनियों में धड़कन प्रतीत न हो, उसे प्राणशून्य जाने। जिसके दांत मैल से भरे, श्वेत अथवा शर्करायुक्त हो जाये, उसे प्राणरहित जाने। रोगी पुरुष की पलकों के बाल आपस मे चिपटे (गुझले हुए) हुए हों, उसे भी प्राणरहित जाने ॥

तस्य चेच्चक्षुषी प्रकृतिहीने विकृतियुक्तेऽत्युत्पिण्डितेऽतिप्रविष्टेऽतिजिह्मेऽतिविषमेऽतिप्रस्रुतेऽतिविमुक्तबन्धने सततोन्मिषिते, सततनिमेषिते, निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते, विभ्रान्तदृष्टिके, विपरीतदृष्टिके, व्यस्तदृष्टिके, नकुलान्धे, कपोतान्धेऽलातवर्णे, कृष्ण-नील-पीत-श्याव-ताम्र-हरित-हारिद्र-शुक्ल-वैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनातिसंप्लुते वा स्यातां, परासुरिति विद्यात्।

रोगी की आंखें प्रकृतिहीन और विकृति से युक्त अर्थात् बाहर को बहुत निकलीं, चक्षु गोलकों में अन्दर धसी, बहुत कुटिल, बहुत विषम अथवा एक आंख खुली और एक बन्द, आंख की मांसपेशियां बहुत ढीली हों, बहुत शिथिल, निरन्तर खुली या बन्द रहे, अथवा जल्दी जल्दी खुलें और बन्द हों, भ्रमयुक्त

दृष्टि, अशुद्ध देखने वाली (विपरीत देखने वाली), हीनदृष्टि (जो दूर से न देख सके), नकुलान्ध कपोतान्ध अलातवर्ण, अगारे के समान आख लाल ही दीखे या काला, पीला, नीला, श्याम, ताम्बे के समान, हरा, श्वेत इन वैकारिक वर्णों में से किसी एक वर्ण से आक्रान्त हो तो रोगी को मरा हुआ जानना चाहिये।

अथास्य केशलोमान्यायच्छेत्—तस्य चेत्केशलोमान्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन्न च वेदयेयुः परासुरिति विद्यात्।

शिर के बाल या शरीर के बाल खींचने पर उखड़ आयें और रोगी को इनके उखड़ने का पता न लगे (दर्द न हो) तो उसको मरा हुआ जानना चाहिये।

तस्य चेदुदरे सिराः प्रदृश्येरन् श्याव-ताम्र-नील-हारिद्र-शुक्ला वा स्युः परासुरिति विद्यात्।

यदि रोगी के पेट की शिरायें दीखने लगे अथवा इनका रंग काला, ताम्बे का रंग, हल्दी के समान पीला या श्वेत हो जाये तो उसे मरा हुआ ही जाने।

तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णाः स्युः, परासुरिति विद्यात्।

जिस रोगी के नखों का मांस और रक्त क्षीण हो जाये, पकी हुई जामुन के समान नख काले नीले हो जायें तो उसे मरा हुआ समझें।

अथास्याङ्गुलीरायच्छेत्तस्य चेदङ्गुलय आयम्यमाना न चेत्स्फुटेयुः, परासुरिति विद्यात्॥ ८॥

रोगी पुरुष की अंगुलियों को पकड़कर खींचे और यदि उसकी अंगुलियों में चटकने की आवाज़ न आये, तो उसे गतायु (मृत) ही समझे॥ ८॥

भवति चात्र—एतान् स्पृश्यान् बहून् भावान् यः स्पृशन्नावबुध्यते।
आतुरे न स संमोहमायुर्ज्ञानस्य गच्छति॥ ९॥

वर्णन किये हुए स्पृश्य अंगों को स्पर्श करके सम्पूर्ण लक्षणों को जो वैद्य भली प्रकार से जान लेता है, वह रुग्ण पुरुष के आयुर्ज्ञान मे कभी धोखा नहीं खाता॥ ९॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
परिमर्शनीयेन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् ।
कृष्णं वा यदि वा शुक्लमग्नौ वसति[1] सप्तमीम् ॥ ११ ॥
मरीचीनसतो मेघान्मेघान्वाप्यसतोऽम्बरे ।
विद्युतो वा विना मेघात् पश्यन्मरणमृच्छति ॥ १२ ॥
मृण्मयीमिव यः पात्रीं कृष्णाम्बरसमावृताम् ।
आदित्यमीक्षते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति ॥ १३ ॥
अपर्वणि यदा पश्येत्सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहम् ।
अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ १४ ॥
नक्तं सूर्यमहश्चन्द्रमनग्नौ धूममुत्थितम् ।
अग्निं वा निष्प्रभं रात्रौ दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १५ ॥
प्रभावतः प्रभाहीनान्निष्प्रभान् वा प्रभावतः ।
नरा विलिङ्गान् पश्यन्ति भावान् प्राणाञ्जिहासवः ॥ १६ ॥
व्याकृतानि विवर्णानि विसङ्ख्योपगतानि च ।
विनिमित्तानि पश्यन्ति रूपाण्यायुःक्षये नराः ॥ १७ ॥
यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै दृश्यान् यश्च न पश्यति ।
तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमालयमसंशयम् ॥ १८ ॥

अब इन्हीं का आगे विस्तार से वर्णन करते हैं—

(१) जो रोगी आकाश को ठोस (कठिन) रूप में देखता है, अथवा पृथ्वी को आकाश की भांति शून्यरूप मे देखता है, दोनों प्रकार का विपरीत दर्शन करता हुआ पुरुष मृत्युको प्राप्त होता है ।

(२) जिस रोगी को आकाश में बहने वाली (अदृश्य) वायु दिखाई देने लगे और जलती हुई आग दिखाई न देवे उस रोगी का आयु समाप्त हुआ जाने ।

(३) शुद्ध निर्मल जालरहित जल मे जाल(- तन्तु) देखे और स्थिर पानी को चलता (बहता) देखे वह भी शीघ्र ही प्राणत्याग करेगा ।

(४) जो रोगी मनुष्य जागता हुआ प्रेत, राक्षस अथवा अन्य किसी प्रकार का आश्चर्यकारक पदार्थ देखता है वह रोगी जीने में समर्थ नहीं है ।

(५) जो रोगी प्रकृति में स्थित (लाल, कपिल वर्ण की) अग्नि को नीली और कान्ति से रहित, काली या श्वेत वर्ण की देखता है, वह सातवीं रात्रि में स्वयं अग्नि (चिता) मे वास करता है ।

(६) जो रोगी आकाश में सूर्य की किरणों के न होने पर भी किरणों को,

१. 'निशा व्रजति, इति च पाठः', वह सातवीं रात चक बसता है ।

मेघों के न होते हुए मेघों को आकाश मे देखे, अथवा बिना बादलों के बिजली को देखे, उसे मरणोन्मुख समझना चाहिये।

(७) जो रोगी मेघ आदि से न छिपे, शुद्ध सूर्य या चन्द्रमा को काले वस्त्रों से ढपे कटोरे या मिट्टी के बर्तन के रूप मे देखता है, वह नहीं जीता।

(८) जो मनुष्य ग्रहण-योग के बिना सूर्य या चन्द्रमा में ग्रहण देखता है, उस स्वस्थ या रोगी पुरुष की आयु समाप्त समझनी चाहिये।

(९) जिस रोगी को रात्रि में सूर्य, दिन में चन्द्रमा और विना आग के धुआ तथा रात्रि मे प्रभा के बिना आग दीखे [दिन मे आग का निष्प्रभ दीखना अरिष्ट नहीं] उस रोगी को गतायु (मृत) समझना चाहिये।

(१०) जिन पुरुषों ने अञ्जन आदि नहीं लगाया उनमें अञ्जन आदि देखे (बिना कान्ति के पुरुषों में कान्ति का दीखना), तथा प्रभावान् पुरुषों को निष्प्रभ देखना, इस प्रकार स्वाभाविक लक्षणों से रहित पुरुषों को प्राणों को छोड़ने वाला पुरुष ही देखता है।

(११) आयु के क्षय होने पर रोगी मनुष्य पदार्थों के विकृत रूप, विपरीत रग, अशुद्ध सख्या से युक्त, बिना कारण के आकृति मे परिवर्त्तन देखता है।

(१२) जो मनुष्य अदृश्य रूपों को देखता है और आख से दीखने वाले पदार्थों को नहीं देखता, वे दोनों निश्चय से शीघ्र ही यमलोक मे जाते हैं ॥६–१८॥

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान् यश्च न बुध्यते।
द्वावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता ॥ १९ ॥
सवृत्त्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं य आतुरः।
न शृणोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ २० ॥

(१३) जो मनुष्य बिना शब्द के शब्द सुने और शब्द को नहीं सुनता, इन दोनों मनुष्यों को प्रेत के समान गिनने चाहिये (मरे हुए समझने चाहिये)।

(१४) अगुलियों से कानों को बन्द करने पर जिस रोगी को कानों में 'ज्वाला-शब्द' 'घनघन' आवाज सुनाई न देवे उसे मरा हुआ समझना चाहिये, उसकी चिकित्सा न करे ॥ १९–२० ॥

विपर्ययेण यो विद्याद् गन्धाना साध्वसाधुताम्।
न वा तान् सर्वशो विद्यात्त विद्याद् विगतायुषम् ॥ २१ ॥

(१५) जो मनुष्य शुभ गन्ध को अशुभ और अशुभ गन्ध को शुभ इस प्रकार विरुद्ध रूप से तथा जो मनुष्य सर्वथा गन्ध को नहीं पहिचानता, इन दोनों को मरणासन्न समझना चाहिये ॥ २१ ॥

यो रसान्न विजानाति न वा जानाति तत्त्वतः ।
मुखपाकादृते पक्वं तमाहुः कुशला नरम् ॥ २२ ॥

(१६) जो मनुष्य 'मुख-पाक' के बिना ही रसों को नहीं जानता अथवा रसों को उनके स्वकीय रूप (जैसे हैं वैसे रूप) में नहीं पहिचानता, वह शीघ्र मर जाता है, कुशल पुरुष उसकी आयु को पूर्ण हुई कहते हैं ॥ २२ ॥

उष्णाञ्छीतान् खरान् श्लक्ष्णान्मृदूनपि च दारुणान् ।
स्पृश्यान् स्पृष्ट्वा ततोऽन्यत्वं मुमूर्षुस्तेषु मन्यते ॥ २३ ॥

(१७) जो मनुष्य उष्ण, शीत, खर, श्लक्ष्ण, चिकने, कोमल या कठोर पदार्थों को स्पर्श करके विपरीत रूप में (यथा उष्ण को शीत और शीत को उष्ण) जानता है वह मरणासन्न है ऐसा समझना चाहिये ॥ २३ ॥

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ।
इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ २४ ॥
इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थांश्च पश्यति ।
विपर्ययेण यो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥ २५ ॥
स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम् ।
पश्यन्ति ये सुबहुशस्तेषां मरणमादिशेत् ॥ २६ ॥

(१८) जो मनुष्य तीव्र तप के बिना अथवा विधिपूर्वक योगसमाधि से ज्ञान प्राप्त किये बिना, साधारण मनुष्यों से अधिक इन्द्रिय ज्ञान देखता है, वह मरणासन्न है । [समाधि-ज्ञान तथा तीव्र तप ही अतीन्द्रिय ज्ञान करा सकते हैं] ।

(१९) जो मनुष्य इन्द्रियों की शक्ति से अप्राप्य पदार्थों को इन्द्रियों द्वारा देखने या प्राप्त करने लगता है वह जीवित नहीं रहता है ।

(२०) नीरोग, स्वस्थ पुरुष जो कि बुद्धिदोष के कारण प्रायः करके (एक बार नहीं) इन्द्रियों के विषयों को विपरीत रूप में अथवा असद् रूप में देखते हैं वे शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ २४-२६ ॥

तत्र श्लोकाः—एतदिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथातथम् ।
मरणं जीवितं चैव स भिषग्ज्ञातुमर्हति ॥ २७ ॥

जो पुरुष इस इन्द्रिय विज्ञान को भली प्रकार से देखता है, वह वैद्य मृत्यु और जीवन दोनों को भली प्रकार से जान सकता है ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
इन्द्रियानीकमिन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'पूर्वरूपीय इन्द्रिय' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

पूर्वरूपाण्यसाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् ।
भिन्नाभिन्नानि वक्ष्यामो भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥ ३ ॥
पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ ४ ॥
अन्यान्यपि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।
विशन्त्येतेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ ५ ॥

वैद्यों के ज्ञान बढ़ाने के लिये असाध्य रोगों के भिन्न भिन्न पूर्वरूप पृथक् पृथक् रूप से कहेंगे। ज्वर में कहे हुए पूर्वरूप जिस ज्वर रोगी में सम्पूर्ण रूप में या बहुत अधिक प्रमाण में प्रविष्ट होते हैं, उसमें ज्वर साक्षात् मृत्यु रूप से घुस जाता है। इसी प्रकार अन्य किसी भी रोग में पूर्वरूप सम्पूर्ण रूप से या बहुत प्रमाण में रोगी में दिखाई दें, तो उसकी भी निश्चय मृत्यु होती है ॥३-५॥

पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्यामोऽन्यान् सुदारुणान् ।
ये रोगाननुबध्नन्ति मृत्युर्यैरनुबध्यते ॥ ६ ॥
बलं च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्धते ।
तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते ॥ ७ ॥
श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम् ।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥ ८ ॥

इसके आगे रोगों के भयंकर पूर्वरूपों के एक अंश का वर्णन करते हैं, जो रोगों के साथ दिखाई देते हैं तथा जिनके साथ मृत्यु का निश्चय सम्बन्ध है।

(१) जिस क्षय रोगी का बल घट गया हो और प्रतिश्याय (कफ) बढ़ रहा हो, ऐसी अवस्था में भी रोगी स्त्री-संग का व्यसनी हो तो क्षय रोग उसकी मृत्यु के लिये होता है।

(२) जो क्षयरोगी स्वप्न में कुत्ते, ऊंट, गधे आदि पर चढ़ कर दक्षिण दिशा में गमन करता हो वह रोगी कभी जीता नहीं बच सकता ॥६-८॥

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना ।
सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमवसृज्जते ॥ ९ ॥

(३) जो रोगी नींद में प्रेतों के साथ मद्यपान करे और स्वप्न मे जिसको कुत्ते घसीटते हो वह रोगी पुरुष घोर ज्वरी होकर जीता नहीं बच सकता ॥९॥

लाक्षारक्ताम्बराभं य पश्यत्यम्बरमन्तिकात् ।
स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते ॥ १० ॥
रक्तस्रग् रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् ।
यः स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्तं प्राप्य सीदति ॥ ११ ॥

(४) जो रोगी समीप में ही आकाश को लाख के रस या मेंहदी के रंग में रंगे कपड़े के समान लाल देखे, वह रक्तपित्त रोग में ग्रस्त होकर उसी रोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

(५) जो रोगी स्वप्न में लाल माला पहिने, सब अंगों को लाल देखे, लाल कपड़ा पहिने, बार बार हसता हुआ, स्त्री से कहीं अन्यत्र ले जाया जाये, वह पुरुष रक्त पित्त का रोगी हो कर मर जाता है ॥ १०–११ ॥

शूलाटोपान्त्रकूजाश्च दौर्बल्य चातिमात्रया ।
नखादिषु च वैवर्ण्य गुल्मेनान्तकरो ग्रहः ॥ १२ ॥
लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते ।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्वाय क्रूरो विशति मानवम् ॥ १३ ॥

(६) जिस रोगी को शूल, आध्मान (अफारा), आंतों का कूजना शब्द, और बहुत अधिक दुर्बलता हो, तथा नख आदि जिसके श्वेत हो जाये उस रोगी का गुल्म ही मृत्युकारी होता है ।

(७) जिस रोगी के हृदय में स्वप्न में कांटेदार बेल उत्पन्न हो, उस रोगी को गुल्म रोग मृत्युरूप से आता है ॥ १२–१३ ॥

कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्यते ।
क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम् ॥ १४ ॥
नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥ १५ ॥

(८) जिस रोगी के शरीर पर थोड़ा सा स्पर्श किया हुआ बहुत अधिक घाव कर देता है, तथा जिसके व्रण नहीं भरते, वह मनुष्य कुष्ठ रोग के कारण मरता है ।

(९) जो मनुष्य स्वप्न में नंगा होकर, अंगों पर घी लगा कर बिना ज्वाला के अग्नि में हवन करता या जिसके हृदय में से कमल उत्पन्न होता है, वह कुष्ठ रोग से मरता है ॥ १४–१५ ॥

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः ।
स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते ॥ १६ ॥
स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत् ।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥ १७ ॥

(१०) जिस मनुष्य के स्नान करने और चन्दन का लेप करने पर भी मक्खियां शरीर पर से नहीं उड़तीं वह प्रमेह का रोगी होकर उसी से मृत्यु को प्राप्त होता है।

(११) जो मनुष्य स्वप्न में नाना प्रकार के स्नेहों का चाण्डालों के साथ पान करता है, वह प्रमेह के रोग से आक्रान्त होकर प्रमेह से मरता है ॥१६–१७॥

ध्यानायासौ तथोद्वेगो मोहश्चास्थानसंभवः ।
अरतिर्बलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः ॥ १८ ॥
आहारद्वेषिणं पश्येल्लुप्तचित्तमुदर्दितम् ।
विद्याद्धीरो मुमूर्षुं तमुन्मादेनातिपातिना ॥ १९ ॥
क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम् ।
मूर्च्छापिपासाबहुलं हन्त्युन्मादः शरीरिणम् ॥ २० ॥
नृत्यन् रक्षोगणैः सार्धं यः स्वप्नेऽम्भसि सीदति ।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ॥ २१ ॥

(१२) जिसको ध्यान और श्रम, उद्वेग और मोह आदि बिना अवसर के (समय के बिना जहां नहीं करने चाहिये वहां) हों, उदासीनता और बलहानि हो जाये, उसकी मृत्यु उन्माद रोग से होती है।

(१३) भोजन से द्वेष करनेवाला, जिसका चित्त नष्ट हो गया हो, (अस्थिर चित्त), तथा ऊर्ध्व वात से पीडित हो, ऐसा रोगी उन्माद रोग से मरता है।

(१४) अत्यन्त क्रोधी, बहुत डरने वाला, एकदम सहसा हंसने लगे, अतिशय मूर्छा प्यासवाला रोगी उन्माद से मरता है।

(१५) जो मनुष्य स्वप्न में राक्षसों के साथ नृत्य करता हुआ पानी में डूब जाता है, वह तीव्र उन्माद रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १८–२१ ॥

असत्तमः पश्यति यो यः शृणोत्यसतः स्वरान् ।
बहून् बहुविधाञ्जाग्रत्सोऽपस्मारेण बध्यते ॥ २२ ॥
मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम् ।
स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २३ ॥

(१६) अन्धकार के विना जो अन्धकार को देखता है और जागता हुआ भी विना शब्दों के जो अनेक शब्द सुनता है, यह रोगी अपस्मार से मारा जाता है।

(१७) स्वप्न में मत्त होकर, नाचता हुआ प्रेत जिस मनुष्य को सिर नीचा करके हर लेते हैं उसकी मृत्यु अपस्मार से होती है ।। २२–२३ ।।

स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनू मन्ये तथाऽक्षिणी ।
यस्य तं बहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम् ।। २४ ।।
शष्कुलीरप्यपूपान् वा स्वप्ने खादति यो नरः ।
स चेत्तादृक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ।। २५ ।।

(१८) जिस रोगी के जागते समय हनु (जबड़े), मन्या, सिरा तथा आखें स्तम्भित (जड़) रह जायें, वह रोगी 'बहिरायाम' नाम (वात व्याधि से) मरता है । [इस रोग में प्राण बाहर के बाहर ही रह जाते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते ।]

(१९) जो मनुष्य स्वप्न में पूरी, पूए आदि वस्तु खाये और जागने पर उसी प्रकार का फिर वमन करे, वह नहीं जीता । वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है ।। २४–२५ ।।

एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते ।
स एषामनुबन्धं च फलं च ज्ञातुमर्हति ।। २६ ।।

जो वैद्य इन पूर्वरूपों को भली प्रकार से समझता है, वह इनके अनुबन्ध और फलों को भली प्रकार से कह सकता है ।। २६ ।।

य इमांश्चापरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत् ।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ।। २७ ।।
यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।
वयांसि च विलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यमियाच्च यः ।। २८ ।।
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते ।
रक्षःप्रेत-पिशाच-स्त्री-चण्डाल-द्रविडान्धकैः ।। २९ ।।
वंश-वेत्र-लता-पाश-तृण-कण्टक-सङ्कटे ।
प्रमुह्यति[1] हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ।। ३० ।।
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि ।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ।। ३१ ।।

---

१ 'स सज्जति हि यः' इति च पाठः ।

कलुषेऽम्भसि पङ्के वा कूपे वा तमसाऽऽवृते ।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्रोतसा ह्रियते च यः ॥ ३२ ॥
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्धपराजयौ ।
हिरण्यलाभः कलहः प्रच्छर्दनविरेचने ॥ ३३ ॥
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः ।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥ ३४ ॥
दन्त-चन्द्रार्क-नक्षत्र-देवता-दीप-चक्षुषाम् ।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥ ३५ ॥
रक्तपुष्प वन भूमिं पापकर्मालया चिताम् ।
गुहान्धकारसबाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥ ३६ ॥
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणा दिशम् ।
दारुणामटवीं स्वप्ने कपियुक्त [1] प्रयाति वा ॥ ३७ ॥
कषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ।
कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥ ३८ ॥
कृष्णा पापा निराचारा दीर्घकेशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥ ३९ ॥
इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥ ४० ॥

नीचे कहे जाने वाले दूसरे भयकर स्वप्न जो रोगियों को दिखाई देते हैं, वे स्वप्न मृत्यु अथवा बहुत कष्ट देने के लिये होते हैं।

(१) जिस रोगी के सिर पर स्वप्न में बास, पौदे, बेल आदि उत्पन्न हो जाते हैं, स्वप्न मे जिसके शरीर में पक्षी प्रवेश करते हैं, स्वप्न में जिसका सिर मुड जाये, स्वप्न में जिसको गीध, उल्लू, कुत्ते, कौवे आदि घेर लेते हैं, राक्षस, प्रेत, पिशाच, स्त्री, चाण्डाल, अन्धे आदि जिसको रोक लेते हैं, स्वप्न में जो बास, बेंत, लता जाल, तृण, काटे आदि में फस जाता है, जो स्वप्न में जाता जाता रेत, धूल से युक्त भूमि पर, बल्मीक या राख में गिर पड़ता है, जो स्वप्न मे श्मशान, देवालय, या गड्ढे मे घुसता है, जो दूषित पानी में, कीचड़ में, अन्धकार से भरे कुएं मे, जो स्वप्न में डूबता है (या स्नान करता है), अथवा— जो स्वप्न में धार में बह जाता है, स्वप्नावस्था मे जो स्नेह पान करे, मालिश करे, वमन करे, विरेचन करे, स्वर्णलाभ हो, झगड़ा हो, स्वप्न में बन्धन और

---

१. 'कपियुक्तेन याति यः' इति च पाठः ।

पराजय हो, दोनों जूतों को खो देवे, या धूल या चमड़े पर गिरे, स्वप्न में हर्ष हो, क्रोधित पितरों से धिक्कारा जावे, दांत, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, देवता, दिया या आख अथवा पर्वत को गिरता देखे, या उनका नष्ट होना अथवा फटना आदि स्वप्न में देखे, लाल फूलों से भरा जगल देखे, वध करने अथवा अन्य पाप कर्म के स्थान या चिता मे या गाढे अन्धकार मे घुसे, नींद में लाल माला पहिन कर, जोर से हंसता हुआ, नगा होकर दक्षिण दिशा में जावे, बन्दरों से युक्त घने जंगल मे जावे तो ये स्वप्न रोगियो को विनाश या भारी कष्ट के लिये होते हैं।

कषाय, भगवें वस्त्र पहिने, उग्र, नगे, दण्ड धारण किये, काले लाल आँखों वाले ऐसे अशुभ मनुष्यों का दर्शन, काली, पापी, अनाचारी, लम्बे बाल, नख और स्तनों वाली, लाल माला तथा लाल वस्त्र पहिने हुई ऐसी स्त्री का दर्शन कालनिशा के समान है (ये सब दारुण, भयकर स्वप्न हैं, जिनको देख कर रोगी मर जाता है। नीरोग मनुष्य यदि इस प्रकार के स्वप्न देखे तो उसका जीवन सन्देह में पड़ जाता है। इस प्रकार के अशुभ स्वप्नों को देख कर कोई विरला ही बचता है) ॥२७-४०॥

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।
स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ ४१ ॥
नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ ४२ ॥

स्वप्न दर्शन का कारण—जिस समय कुपित हुए तीनों वात आदि दोष शरीर के मनोवह स्रोतों को भर देते हैं, उस समय मनुष्य को शुभ या अशुभ स्वप्नों का दर्शन होता है। जिस समय मनुष्य पूर्ण गहरी नींद में नहीं होता है, उस समय सफल या निष्फल होने वाले अनेक स्वप्नों को इन्द्रियों के स्वामी चित्त के द्वारा देखा करता है ॥ ४१-४२ ॥

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा ।
भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ ४३ ॥

स्वप्न के भेद—स्वप्न सात प्रकार के हैं। जैसे—(१) दृष्ट, आख से देखा, (२) श्रुत, कान से सुना, (३) अनुभूत, शेष इन्द्रियों से जाना, (४) प्रार्थित, देवता से मागा या चाहा हुआ (५) कल्पित, मन से कल्पना किया, (६) भाविक, भावी शुभ अशुभ फल का सूचक, (७) दोषज, तीव्र वात आदि दोष से उत्पन्न ये सात प्रकार के स्वप्न हैं ॥ ४३ ॥

तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत् ।
दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं तथैव च ॥ ४४ ॥
दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् ।
न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ ४५ ॥
अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ।
पश्येत्सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ ४६ ॥

इनमें से प्रथम पांच प्रकार के स्वप्नों को वैद्य व्यर्थ या निष्फल समझें। इसी प्रकार दिन का स्वप्न तथा रात में आया बहुत छोटा या बहुत बड़ा स्वप्न व्यर्थ होता है। रात्रि के प्रथम भाग में जो स्वप्न आता है, वह भी निष्फल होता है। जिस स्वप्न को देख कर फिर नींद न आये, वह स्वप्न शीघ्र ही बड़े फल को देनेवाला होता है। जो मनुष्य पहिले तो अशुभ स्वप्न को देखे, फिर इसी प्रसंग में सौम्य और शुभ स्वप्न को देख ले तो इस स्वप्न का शुभ फल समझना चाहिये ॥ ४४-४६ ॥

तत्र श्लोकः—पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान्वेत्ति दारुणान् ।
न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ॥ ४७ ॥

जो वैद्य इन पूर्वरूपों को तथा भयानक स्वप्नों को जानता है, वह कभी भी आलस्यवश प्रमाद से असाध्य अवस्था में चिकित्सा कर्म आरम्भ नहीं करता ॥ ४७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
पूर्वरूपीयमिन्द्रियं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः

अथातः कतमानि शरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

पूर्वरूपों के अनन्तर भावी व्याधि के आश्रय स्थानों के अरिष्ट लक्षण बतलाने के लिये 'कतमानि-शरीरीय' इन्द्रिय अध्याय का व्याख्यान करेंगे, जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

कतमानि शरीराणि व्याधिमन्ति महामुने ।
यानि वैद्यः परिहरेद्येषु कर्म न सिध्यति ॥ ३ ॥

अग्निवेश ने पूछा—हे महामुने! वे कौन से रोगी शरीर हैं, जिनमें चिकित्सा कर्म सफल नहीं होता, जिनको वैद्य छोड़ दे और चिकित्सा न करे ॥३॥

इत्यात्रेयोऽग्निवेशेन प्रश्नं पृष्टः सुदुर्वचम्।
आचचक्षे यथा तस्मै भगवांस्तन्निबोधत ॥ ४ ॥

इस प्रकार अग्निवेश के प्रश्न पूछने पर भगवान् आत्रेय ने उसे उपदेश किया, उसको आप भी सुनो और जानो ॥ ४ ॥

यस्य वै भाषमाणस्य रुजत्यूर्ध्वमुरो भृशम्।
अन्नं च च्यवते भुक्तं स्थितं चापि न जीर्यति ॥ ५ ॥
बलं च हीयते यस्य तृष्णा चाभिप्रवर्धते।
जायते हृदि शूलं च तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥
हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितं चातिसार्यते।
न तस्मै भेषजं दद्यात्स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥ ७ ॥
आनाहश्चातिसारश्च यमेतौ दुर्बलं नरम्।
व्याधितं विशतो रोगौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ८ ॥
आनाहश्चैव तृष्णा च यमेतौ दुर्बलं नरम्।
विशतो विजहत्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम् ॥ ९ ॥

(१) जिस पुरुष के बोलते समय छाती के ऊपर का भाग बहुत दर्द करे, खाया हुआ अन्न पेट में न ठहरे और पेट में गया हुआ अन्न न पचे, जिसका बल दिन प्रति दिन कम हो रहा है और प्यास बढ़ती जा रही है, तथा हृदय में में वेदना होती है, ऐसे रोगी को वैद्य छोड़ देवे।

(२) भगवान् आत्रेय के उपदेश को स्मरण रख-कर जिस रोगी को नाभि प्रदेश से हिचकी उत्पन्न हो और जिसको रक्तातिसार हो, इन दोनों को औषध नहीं दे।

(३) जिस निर्बल रोगी को आनाह (पेट का फूलना) और अतिसार (पहले पानी वाले दस्त) रोग उत्पन्न हो जायें, उसका जीना कठिन है।

(४) जिस निर्बल रोगी को आनाह (पेट का अफ़ारा) और तृष्णा रोग उत्पन्न हो जाता है, वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है ॥ ५-९ ॥

ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः।
[ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः।]
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ १० ॥

(५) जिस रोगी को दिन के पूर्वभाग में ज्वर आता है, तथा भयकर सूखी खासी हो [वा जिसको दिन के उत्तर भाग में ज्वर आवे और बलगमदार खासी का भयकर वेग हो] और शरीर मे बल और मास क्षीण हो गये हो, ऐसा रोगी प्रेत के समान मरा हुआ ही है ॥ १० ॥

यस्य मूत्रं पुरीष च ग्रथित संप्रवर्तते ।
निरुष्मणो जठरिणः श्वसनो न स जीवति ॥ ११ ॥

(६) जिस उदर-रोगी का मल और मूत्र घना (गाठ सा), तथा ठण्डा होता है ? वह रोगी सास लेता हुआ भी नहीं जीता ॥ ११ ॥

श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्था हस्तपादं विसर्पति ।
ज्ञातिसघ स सक्लेश्य तेन रोगेण हन्यते ॥ १२ ॥
श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके ।
सीदतश्चाप्युभे शङ्खे तं भिषक्परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥
शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम् ।
हीनवर्णबलाहारमौषधैर्नोपपादयेत् ॥ १४ ॥

(७) जिस पुरुष की कोख (उदर) में शोथ उत्पन्न होकर हाथ, पाव की ओर फलने लगता है, वह भाई बन्धुओं को बहुत कष्ट देकर मरता है, वह स्वयं भी बहुत दुःख भोगता है और अन्त मे मरता है ।

(८) जिस रोगी के पाओं में शोथ उत्पन्न हो, पिण्डलियां ढीली पड़ जायें तथा दोनों शख प्रदेश दब जाये, वैद्य ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करे ।

(९) जिस रोगी के हाथ, पाव, गुह्य प्रदेश (लिङ्ग) तथा पेट सूज जायें और वर्ण, बल और आहार क्षीण हो जाये, वैद्य ऐसे रोगी को औषध न देवे ॥ १२-१४॥

उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः ।
सतत च्यवते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥
हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शूनः कासज्वरार्दितः ।
क्षीणमासो नरो दूराद्वर्ज्यो वैद्येन जानता ॥ १६ ॥
त्रय. प्रकुपिता यस्य दोषाः कष्टाभिलक्षिताः ।
कृशस्य बलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ १७ ॥
ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये ।
दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते ॥ १८ ॥

(१०) जिसकी छाती में सञ्चित हुआ बहुत कफ नीले पीले रक्त के साथ निरन्तर निकलता रहता है, ऐसे रोगी को दूर से ही छोड़ दे ।

(११) जिसका मूत्र गाढ़ा हो, शरीर पर रोमाञ्च हो अंगों पर सूजन आ जाये खांसी और ज्वर से पीड़ित शरीर का मांस क्षीण हो गया हो, ऐसे रोगी को वैद्य जान बूझ कर दूर से ही छोड़ दे ।

(१२) जिस कृश, बलहीन पुरुष के तीनों दोष कुपित होकर भिन्न २ पीड़ा के कारण हों उस पुरुष को चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । [कहीं 'कोष्ठा भिलक्षिताः' पाठ है, वहां अर्थ है—तीनों दोष कोठे में देखे जायें] ।

(१३) जिस निर्बल मनुष्य को सूजन के पीछे ज्वर और अतिसार हों, अथवा ज्वर और अतिसार के पीछे जिसको सूजन हो जाय, वह उसकी मृत्यु का कारण होता है ॥ १५-१८ ॥

पाण्डुरश्च कृशोऽत्यर्थं तृष्णयाऽभिपरिप्लुतः ।
डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजानता ॥ १९ ॥

(१४) पाण्डु रोगी, अति कृश, अत्यन्त प्यास से पीड़ित हो, डम्बरी अर्थात् जिसकी आंखें स्थिरता से घूर कर देखें और जिसका श्वास कुपित हो, ऐसा रोगी भी जवाब देने योग्य है, चिकित्सा के लिये अयोग्य है ॥ १९ ॥

हनुमन्याग्रहस्तृष्णा बलह्रासोऽतिमात्रया ।
प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ २० ॥
ताम्यत्यायच्छते शर्म न किंचिदपि विन्दति ।
क्षीणमांसबलाहारो मुमूर्षुरचिरान्नरः ॥ २१ ॥

(१५) जिस रोगी को हनुग्रह (जबाड़ों का बन्द होना), मन्याग्रह (गर्दन की मन्या नामक शिराओं का अकड़ना), तृष्णा और शक्ति का अति ह्रास हो, तथा जिसकी छाती में सांस रुक रहे हों, ऐसे रोगी को छोड़ देना चाहिये ।

(१६) जिस रोगी में बेहोशी रहती हो, जिसको किसी भी प्रकार चैन न पड़ती हो, जिस रोगी के मांस, बल और आहार क्षीण हो गये हों वह रोगी जल्दी ही मर जाता है ॥ २०-२१ ॥

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम् ।
वर्धन्ते दारुणा रोगाः शीघ्रं शीघ्रं स हन्यते ॥ २२ ॥
बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी मांसशोणितम् ।
एतानि यस्य क्षीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते ॥ २३ ॥

विकारा यस्य वर्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते ।
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ २४ ॥

(१७) जिसके शरीर में विरोधी कारणों से रोग उत्पन्न हुए हों और जिनकी चिकित्सा परस्पर विपरीत पड़े और रोग बड़े वेग से बढ़े वह शीघ्र ही मर जाता है ।

(१८) जिस रोगी का बल, ज्ञान, आरोग्य, ग्रहणी मांस और रक्त क्षीण हो गये हों, वह रोगी शीघ्र ही मर जाता है ।

(१९) जिस रोगी का आरोग्य दिन पर दिन घट रहा हो, तथा प्रकृति स्वभाव (अथवा जन्म की 'कफ प्रकृति' आदि प्रकृति) बदलती जा रही हो उस रोगी के जीवन को मृत्यु एकाएक हर लेता है ॥ २२-२४ ॥

तत्र श्लोकः—इत्येतानि शरीराणि व्याधिमन्ति विवर्जयेत् ।
न ह्येषु धीराः पश्यन्ति सिद्धिं काञ्चिदुपक्रमात् ॥ २५ ॥

वर्णन किये हुए इन रोगी शरीरों का परित्याग करे, क्योंकि इनमें चिकित्सा करने से विद्वान् लोग कुछ लाभ नहीं देखते ॥ २५ ॥

इत्यग्निवेशकृत तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने कतमानि
शरीरीयमिन्द्रियं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अथातः पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे छाया-प्रतिच्छाया के विनाश रूप अरिष्ट को बतलाने के लिये 'पन्नरूपीय इन्द्रिय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे । जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

दृष्ट्वा यस्य विजानीयात्पन्नरूपां कुमारिकाम् ।
प्रतिच्छायामयीमक्ष्णोर्नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ ३ ॥
ज्योत्स्नायामातपे दीपे सलिलादर्शयोरपि ।
अङ्गेषु विकृता यस्य च्छाया प्रेतस्तथैव सः ॥ ४ ॥
छिन्ना भिन्नाकुला छाया हीना वाऽप्यधिकाऽपि वा ।
नष्टा तन्वी द्विधा छिन्ना विशिरा विकृता च या ॥ ५ ॥

एताश्चान्याश्च याः काश्चित्प्रतिच्छाया विगर्हिताः ।
सर्वा मुमूर्षतां ज्ञेया न चेल्लक्ष्यनिमित्तजाः ॥ ६ ॥

(१) जिस रोगी मनुष्य की प्रतिविम्ब छाया दूसरे मनुष्य की आंख की पुतली में अथवा अन्य की प्रतिविम्ब रूप छाया जिस रोगी मनुष्य की पुतली में पड़ना बन्द हो जावे वैद्य ऐसे पुरुष की चिकित्सा करने की इच्छा न करे। जिस मनुष्य को चादनी, धूप, दीपक के प्रकाश, पानी और शीशे (दर्पण) में अपनी छाया और प्रतिबिम्ब मे विकृति दिखाई दे, वह प्रेत के समान होता है। जिस मनुष्य को अपनी छाया छिन्न-भिन्न, अनिश्चित प्रतिविम्ब वाली, हीन, अथवा अधिक, नष्ट, पतली दो भागों मे विभक्त बिगड़ी हुई, बिना शिरोभाग के दीखने वाली तथा अन्य निन्दित दूसरी सब प्रतिच्छाया मरने वालों की जाननी चाहिये बशर्ते ये प्रतिच्छाया किसी कारण से उत्पन्न न हुई हों ॥ ३-६ ॥

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभया तथा ।
छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः ॥ ७ ॥

जिस स्वस्थ पुरुष की छाया, संस्थान (आकृति) प्रमाण (लम्बाई चौड़ाई) वर्ण (रंग) और प्रभा (कान्ति) में अन्य प्रकार की हो जाती है, वह पुरुष प्रेत के समान है ॥ ७ ॥

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या ।

संस्थान—संस्थान का अर्थ है आकृति। वह आकृति दो प्रकार की होती है। (१) सुषमा और (२) विषमा।

मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ॥ ८ ॥

प्रमाण तीन प्रकार का है। (१) मध्य, (२) अल्प और (३) महान् ॥८॥

प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु ।
छाया या सा प्रतिच्छाया-

प्रतिच्छाया—प्रमाण और संस्थान के अनुकूल जो छाया जल, दर्पण या धूप आदि में दीखती है, उसको 'प्रतिच्छाया' कहते हैं।

छाया वर्णप्रभाश्रया ॥ ९ ॥

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः ।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥ १० ॥
रूक्षा श्यावाऽरुणा या तु वायवी सा हतप्रभा ।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥ ११ ॥

शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता ।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ॥१२॥
वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः ।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ १३ ॥

छाया—वर्ण प्रभा के साथ रहती है । आकाश आदि पाच महाभूतों के अनुसार छाया भी पाच प्रकार की होती है, क्योंकि शरीर भी पाच महाभूतों से मिल कर बना है । इसलिये इन महाभूतों की छाया भी पाच प्रकार की पड़ती है । इनमें आकाश की छाया निर्मल, नीली, स्नेह और प्रभा (कान्ति) से युक्त होती है । वायु की छाया रूक्ष, श्याम, लाल और कान्तिहीन होती है । अग्नि की छाया शुद्ध लाल, दीप्त कान्ति, देखने मे आखों को प्रिय और जल की छाया शुद्ध वैदूर्य के समान साफ, निर्मल, स्निग्ध होती है । पृथिवी की छाया स्थिर, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण, श्याम (सावली) काली और श्वेत होती है । इनमें वायवी छाया निन्दित, नाशकारक और अत्यन्त कष्टदायक होती है । शेष चार छायाए सुखदायक होती हैं ॥ ६-१३ ॥

स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता ।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥ १४ ॥
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः ।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ १५ ॥
वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी ।
आसन्ना लक्ष्यते छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते ॥ ॥ १६ ॥
नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाच्चिह्नयन्ति तु ।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः ॥ १७ ॥

प्रभा के सात प्रकार—सब प्रकार की प्रभाए तैजस हैं । यह प्रभा सात प्रकार की हैं । यथा—लाल, पीली, श्वेत, काली, हरी, पाण्डुर (धूसर) और असित (एकदम काली) । इनमें जो प्रभा विकासिनी (फैलने वाली), स्निग्ध, और बड़ी हो, वे सब शुभ फलदायक हैं । जो रूक्ष मलिन और सक्षिप्त (सकुचित) हैं ये सब अशुभ फल दायक है ।

छाया—छाया से अक्रान्त होने पर वर्ण उपलब्ध नहीं होता । प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है । छाया समीप से देखी जाती है [यथा चित्र की छाया समीप से दीखती है], प्रभा दूर से खूब चमकती है [यथा, मणि, मुक्ता आदि की प्रभा दूर से दीखती है] । कोई भी मनुष्य एकाएक छायाहीन या

प्रभाहीन नहीं हो सकता। मृत्यु के समीप आने पर प्रभा पर आश्रित छाया मनुष्य के शुभाशुभ को प्रकाशित कर देती है॥ १४-१७॥

कामलाक्ष्णोर्मुखं पूर्णं गण्डयोर्मुक्तमांसता।
संत्रासश्चोष्णगात्रं च यस्य तं परिवर्जयेत्॥ १८॥
उत्थाप्यमानः शयनात्प्रमोहं याति यो नरः।
मुहुर्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति विकत्थनः॥ १९॥

(१) जिस रोगी की आखे कामला रोगी के समान पीली, मुख से लार गिरना, गण्डस्थल गालों पर मास की वृद्धि (गालों पर मास की अधिकता) हो जिसको देखकर डर लगे, और शरीर में उष्णता हो, ऐसे रोगी को त्याग दे, उसकी चिकित्सा स्वीकार न करे। (२) जो रोगी प्रातःकाल बिस्तरे से उठते समय मूर्च्छित हो जाता हो, और बार बार अपना शेखी मारता रहे या निरन्तर गालिया बोले वा बड़बड़ावे वह सात दिन में मर जाता है॥ १८-१६॥

संसृष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः।
व्यापन्ना ग्रहणी प्रायः सोऽर्धमास न जीवति॥ २०॥
उपरुद्धस्य रोगेण कर्षितस्याल्पमश्नतः।
बहुमूत्रपुरीषं स्याद्यस्य तं परिवर्जयेत्॥ २१॥
दुर्बलो बहु भुक्ते यः प्राग्भुक्तादन्नमातुरः।
अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः॥ २२॥
इष्टं च गुणसंपन्नमन्नमश्नाति यो नरः।
शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति॥ २३॥

(३) जिस रोगी में प्रतिलोमगामी और अनुलोमगामी दोनों प्रकार के रोग मिले हुए हों, और जिस की ग्रहणी दूषित हो, (अन्नपाक होना बन्द हो जाये) वह पन्द्रह दिन से अधिक नहीं जीता। (४) रोग से पीडित दुर्बल व्यक्ति तथा थोड़ा खाने पर जिसको मल और मूत्र अधिक परिमाण में आये, वह रोगी त्याज्य है। (५) जो रोगी निर्बल होकर पहिले की अपेक्षा अधिक भोजन करे, जिसको मल और मूत्र कम परिमाण में आता हो, वह प्रेत के समान है। (६) जो रोगी मन चाहा और गुणकारी अन्न को खाये, तो भी, बल और वर्ण निरन्तर क्षीण होता जाये, वह नहीं बचता॥ २०-२३॥

प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलं चातिसार्यते।
बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति॥ २४॥

ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः।
मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः ॥ २५ ॥
ऊर्ध्वं च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते।
हीनवर्णबलाहारो यो नरो न स जीवति ॥ २६ ॥

(७) जो रोगी कराहे, ऊंचा-गहरा सांस ले और पतला मल प्रवाहित करे, बल से क्षीण, प्यास से पीड़ित हो, मुख सूखता हो, ऐसा रोगी नहीं बचता।

(८) जिस रोगी का श्वास बहुत अल्प होगया है, और जिसका हृदय कुटिल अनियमित रूप से स्पन्दन (धड़कन) करता है, ऐसे रोगी को आत्रेय पुनर्वसु ने मृतक तुल्य ही कहा है।

(९) जो रोगी ऊंचा गहरा श्वास ले जिस में कफ का भी प्रकोप हो और जिसके बल, वर्ण और आहार कम हो गये हों वह मनुष्य नहीं बचता ॥ २६ ॥

ऊर्ध्वाग्रे नयने यस्य मन्ये चानतकम्पने।
बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २७ ॥
यस्य गण्डावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ।
शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन् कर्म न सिध्यति ॥ २८ ॥
व्यावृत्तमूर्धजिह्वास्यो भ्रुवौ यस्य च विच्युते।
कण्टकैश्चाचिता जिह्वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २९ ॥

(१०) जिस रोगी की आखें ऊपर को चढ़ गईं, मन्या सिरायें निरन्तर कांपे, जो बलहीन और पिपासा से पीड़ित हो, जिसका मुख सूखता हो वह रोगी नहीं बचता।

(११) जिस रोगी के गण्डस्थल ऊंचे, मोटे फूले हों, जिसको ज्वर और खांसी विकट हो, सारे पेट में शूल चलते हों, जो अन्न से द्वेष करता हो, ऐसे रोगी में चिकित्सा सफल नहीं होती।

(१२) जिस रोगी के मूर्धा (तालु) जीभ और मुख फट गये हों, भौंहें टेढ़ी पड़ गई हों, जीभ कांटों से भरी हो वह रोगी मृत के समान है ॥२७-२९॥

शेफश्चात्यर्थमुत्सिक्तं निःसृतौ वृषणौ भृशम्।
अतश्चैव विपर्यासो विकृत्या प्रेतलक्षणम् ॥ ३० ॥

(१३) जिसका लिंग इन्द्रिय एकदम अन्दर घुस जाये और अण्डकोश बहुत बाहर निकल आये (बढ जाये), अथवा इसके विपरीत लिंग आगे निकल आये और अण्डकोश अन्दर घुस जाये इस प्रकार के विकार से रोगीको मृत के समान ही जानना चाहिये ॥ ३० ॥

निचितं यस्य मांसं स्यात्त्वगस्थि चैव दृश्यते ।
क्षीणस्यानश्नतस्तस्य मासमायुः परं भवेत् ॥ ३१ ॥

(१४) जिस रोगी का मांस क्षीण होजावे, शरीर में केवल त्वचा का ही अस्थिपञ्जर दीखे क्षीण तथा भोजन न खाने वाला, ऐसा रोगी एक मास से अधिक नहीं जीता ॥ ३१ ॥

तत्र श्लोकः—इदं लिङ्गमरिष्टाख्यमनेकमभिजज्ञिवान् ।
आयुर्वेदविदित्याख्यां लभते कुशलो जनः ॥ ३२ ॥

जो कुशल पुरुष इन कहे हुए अरिष्ट लक्षणों को भली प्रकार जानता-पहचानता है, वही कुशल पुरुष 'आयुर्वेद-वित्' इस उपाधि को प्राप्त करता है ॥३२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पन्नरूपीय-
मिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातोऽवाक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'पाव ऊपर शिर नीचे किये' छाया आदि के अरिष्ट बतलाने के लिये अवाक् शिरसीय नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे । जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

अवाक्शिरा वा जिह्मा वा यस्य वा विशिरा भवेत् ।
जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ ३ ॥
जटीभूतानि पक्ष्माणि दृष्टिश्चापि निगृह्यते ।
यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत् ॥ ४ ॥
यस्य शूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः ।
चक्षुषी चोपदिह्येते यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ५ ॥
भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमान्तावर्तकान् बहून् ।
अपूर्वानकृतान् [1]व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ ६ ॥
त्र्यहमेतेन जीवन्ति लक्षणेनाऽऽतुरा नराः ।
अरोगाणां पुनस्त्वेतत्षड्रात्रं परमुच्यते ॥ ७ ॥

१. 'असज्ञानकृतान्' इति च पाठः ।

(१) जिस रोगी की छाया या प्रतिबिम्ब के शिर नीचे और पाद ऊपर (अवाक्-शिर) हो, अथवा जिसकी छाया वा प्रतिबिम्ब कुटिल हो, या जिस में शिर का भाग न दीखता हो, वैद्य उस रोगी की चिकित्सा न करे।

(२) जिस रोगी की दोनों पलकों के रोम जटा के समान गुझला जाये तथा आखें बन्द हो जायें, ऐसे रोगी का औषध से उपचार न करे, ऐसे को औषध देना व्यर्थ होता है।

(३) जिस रोगी की आंखें, नाक, कान आदि सूज जायें और फिर अच्छी न हों वा अपने स्थान में न समावे, तथा आखे लिपसी जावें, वह रोगी प्रेत (मृत) के समान होता है।

(४) जिस रोगी के भोहों में या शिर के बालों में चमत्कारिक सीमन्त (माग जैसी रेखा) या बहुत से भवर (गोल चक्कर) बिना बनाये, अकारण ही आ जाये उसे मरणासन्न कहे।

(५) ये लक्षण यदि रोगी पुरुष में दीखे, तो वह तीन दिन से अधिक नहीं जीता, और यदि स्वस्थ पुरुष म ये लक्षण हों तो वह छ रात से अधिक नहीं जीता ॥ ३–७ ॥

आयम्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते।
अनातुरो वा रोगी वा षड्रात्रं नातिवर्तते ॥ ८ ॥
यस्य केशा निरभ्यङ्गा दृश्यन्तेऽभ्यक्तसन्निभाः।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ९ ॥

(६) जो स्वस्थ या रोगी पुरुष सिर के बालों का खींचकर उखाड़ने पर भी नहीं जाने वह छ दिन से अधिक नहीं जीता।

(७) शिर के बालों पर तैल न लगाने पर भी जिस रोगी के बालों मे तैल की-सी चमक दिखाई दे, उसकी आयु समाप्त जान कर बुद्धिमान् पुरुष उसकी चिकित्सा न करे ॥ ८–९ ॥

ग्लायतो नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति।
अशूनः शूनसङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥ १० ॥
अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता।
जिह्मा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥ ११ ॥

(८) जिस रोगी का नासिका वंश निर्बल होकर नम जाये, या बहुत मोटा वा बड़ा हो जाये वास्तव में सूजन न होने पर सूजा हुआ लगे, वह रोगी त्याज्य है। (९) जिस रोगी की नासिका बहुत फैल जाये या बहुत सकुचित, तग हो जाये, कुटिल हो जाये वा सूख जाये वह रोगी अधिक नहीं जीता ॥१०–११॥

मुखं शब्दश्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ ।
विकृतौ यस्य वा नीलौ न स रोगाद्विमुच्यते ॥ १२ ॥

(१०) जिस रोगी का मुख, दोनों कान और दोनों ओठ (विकार के कारण) श्वेत, काले, लाल, या नीले हो जाते हैं, वह रोग से मुक्त नहीं होता, वह मर जाता है ॥ १२ ॥

अस्थिश्वेता द्विजा यस्या पुष्पिताः पङ्कसंवृताः ।
विकृत्या न स रोगं तं विहायाऽऽरोग्यमश्नुते ॥ १३ ॥

(११) जिस रोगी के दांत विकार से अस्थि के समान श्वेत, पुष्पित अथवा कीचड़ या मैल से ढक जाते हैं, वह रोगी रोग से छूट कर कभी आरोग्य लाभ नहीं करता ॥ १३ ॥

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकापचिता भृशम् ।
श्यावा शुष्काऽथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥ १४ ॥

(१२) जिस रोगी की जीभ स्तब्ध,—जड़, कड़ी, चेतना रहित, भारी और बहुत से कांटों से भर जाये, काली, लाल, सूखी या सूजी हुई अथवा बाहर को निकल २ आवे, यह जिह्वा मृतपुरुष का लक्षण है ॥ १४ ॥

दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं नरो निःश्वस्य ताम्यति ।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

(१३) जोर से बाहर सांस फेंक कर जो रोगी अन्दर छोटा (थोड़ा वायु) सांस लेता है, और सांस लेते समय कष्ट अनुभव करता या मूर्छित हो जाता है, उस रोगी की आयु मरणासन्न समझकर उसे त्यागना चाहिये ॥ १५ ॥

हस्तौ पादौ च मन्ये च तालु चैवातिशीतलम् ।
भवत्यायुःक्षये क्रूरमथवाऽतिभवेन्मृदु ॥ १६ ॥

(१४) जीवन के नाश के समय हाथ, पांव, गले की नसें, तालु बहुत ठंडे या बहुत कठोर अथवा बहुत कोमल हो जाते हैं ॥ १६ ॥

घट्टयञ्जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन् ।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १७ ॥

(१५) जो रोगी घुटनों से घुटनों को रगड़ता है, पांव को ऊपर उठाकर जमीन पर पटकता है, बार-बार मुख को इधर-उधर चलाता है वह रोगी नहीं बचता ॥ १७ ॥

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि नखैश्छिन्दञ्छिरोरुहान् ।
काष्ठेन भूमिं विलिखन्न रोगात्परिमुच्यते ॥ १८ ॥

दन्तात् खादति यो जाग्रदसाम्ना विरुदन् हसन् ।
विजानाति न चेद् दुःख न स रोगाद्विमुच्यते ॥ १९ ॥
मुहुर्हसन्मुहुः क्ष्वेडञ्छय्यां पादेन हन्ति यः ।
उच्चैश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति ॥ २० ॥

(१६) जो रोगी दांतों से नखो को काटता है, और नखो से बालों को नोचता है और लकड़ी से भूमि पर कुरेदता है, वह रोगी रोग से नहीं बच सकता । (१७) जो रोगी जागता हुवा दांतों को नष्ट करता है और बेमतलब जोर से रोता या हँसता हुआ दुःख का अनुभव नहीं करता, वह रोग से मुक्त नहीं होता । (१८) जो रोगी क्षण मे हसता, क्षण मे रोता, बकवाद करता है, पलग पर पाव पटकता है, हाथों को ऊचा करके नाक, कान, आख के छिद्रों को स्पर्श करता है वह रोगी नहीं बचता ॥ १८–२० ॥

यैर्विन्दति पुरा भावे समेतैः परमा रतिम् ।
तैरेवारममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत् ॥ २१ ॥

(१९) जिन वस्तुओं से पहिले रोगी का विशेष प्रेम हो और पीछे उन्हीं पदार्थों से वह द्वेष, घृणा प्रकट करे तो ऐसे रोगी की मृत्यु ही हुई बतलावे ॥२१॥

न बिभर्ति शिरोग्रीव न पृष्ठं भारमात्मन ।
न हनू पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः ॥ २२ ॥

(२०) जो रोगी अपनी गर्दन या शिर को, अथवा अपनी पीठ के भार को न सम्भाल सके, जो मुख में स्थित ग्रास को जबड़ों मे न सम्भाल सकें, (जबाड़े खुले रहे), वह रोगी नहीं बचता ॥ २२ ॥

सहसा ज्वरसंतापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः ।
विश्लेषणं च संधीना मुमूर्षोरुपजायते ॥ २३ ॥
गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभ तस्य जीवितम् ॥ २४ ॥

(२१) मरणासन्न रोगी को एक दम से ज्वर, सन्ताप, प्यास, मूर्च्छा, बलनाश, अर्थात् सन्धियां शिथिल हो जाती हैं । (२२) लेप ज्वर (प्रलेपक ज्वर), थोड़ी सी सर्दी से कफ ज्वर हो के रोगी के मुख पर यदि प्रातः काल के समय बहुत पसीना आये, तो उसका बचना असम्भव है ॥ २४ ॥

नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च ।
आयुष्यन्तं गते जन्तोर्बल च परिहीयते ॥ २५ ॥

(२३) जिस रोगी की आयु समाप्त हो जाता है, उसके गले में पहुचा

हुआ भोजन भी नीचे नहीं उतरता, और जीभ कण्ठभाग में आ लगती है तथा बल नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ।
ललाटप्रस्रुतस्वेदो मुमूर्षुश्च्युतबन्धनः ॥ २६ ॥

(२४) जो रोगी बड़े कष्ट से पीड़ित होकर अपने दोनों कलाईयों या कोहनियों को छोड़कर शिर को इतना धुनता-पटकता है कि माथे से पसीना टपकने लगे और सन्धिबन्ध ढील पड़ जायें वह रोगी मरने वाला होता है ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकः ।

इमानि लिङ्गानि नरेषु बुद्धिमान्विभावयेतावहितो मुहुर्मुहुः ।
क्षणेन भूत्वा ह्युपयान्ति कानिचिन्न चाफलं लिङ्गमिहास्ति किंचन ॥२७॥

बुद्धिमान् मनुष्य को मरणोन्मुख रोगियों में होने वाले लक्षण खूब ध्यान से देखने चाहियें। क्योंकि कितने लक्षण क्षणभर में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, इस प्रकरण में कहा एक भी लक्षण निष्फल नहीं ॥ २७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने अवाक्शिरसीयमिन्द्रियं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथातो यस्य श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'श्याव-निमित्तीय' नामक इन्द्रिय-अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरिते चापि दर्शने ।
आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञेयस्तस्य विजानता ॥ ३ ॥

(१) जिस रोगी की दोनों आखें काली, लाल रंग की, नष्टप्राय, हरे रंग की हो जाये विद्वान् वैद्य उस रोगी की व्याधि प्राण नाश के लिये जाने ॥ ३ ॥

निःसंज्ञः परिशुष्कास्यः संविद्धो व्याधिभिश्च यः ।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ४ ॥
हरिताश्च सिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः ।
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ॥ ५ ॥

(२) जो रोगी अचेत हो, जिसका मुख सूखता हो, अनेक रोगों से आक्रान्त हो उस, रोगी की आयु को समाप्त हुआ जान कर बुद्धिमान् मनुष्य उसकी चिकित्सा न करे। (३) जिस रोगी की सिराये (त्वचा) हरी पड़ जाये, जिसके लोम छेद बन्द हो गये हों (पसीना नहीं आता हो), खट्टे रस की चाह रखता हो ऐसा रोगी पित्त से ही मरता है ॥ ४-५ ॥

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरं चोपशुष्यति।
बलं च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम् ॥ ६ ॥
अंसाभितापो हिक्का च छर्दनं शोणितस्य च।
आनाहः पार्श्वशूलं च भवत्यन्ताय शोषिणः ॥ ७ ॥

(४) जिस रोगी के हाथ पाव अच्छे दिखाई देते हैं, और शरीर सूखता जाता है, शरीर का बल दिन पर दिन घटता जाता है वह रोगी राजयक्ष्मा से मरता है। (५) जिस रोगी को हिचकी आवे और कन्धे भी दुखें, रक्त का वमन हो, पेट में अफारा और पार्श्व मे तीव्र वेदना (शूल) हो, ये लक्षण शोष-रोगी की मृत्यु के लिये होते हैं ॥ ६-७ ॥

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी तथोदरी।
गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥ ८ ॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति।
अन्येष्वपि विकारेषु तान्भिषक्परिवर्जयेत् ॥ ९ ॥
विरेचनहृतानाहो यस्तृष्णानुगतो नरः।
विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ १० ॥
पेयं पातुं न शक्नोति कण्ठस्य च मुखस्य च।
उरसश्च विशुष्कत्वाद्यो नरो न स जीवति ॥ ११ ॥
स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिं च बलवर्णयोः।
रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ १२ ॥
ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम्।
शर्म चानाधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥
अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः।
श्रोतारं चाप्यशब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

(६) वात रोगी, अपस्मार रोगी, कुष्ठी, शोफयुक्त, उदर रोगी, गुल्मी, मधुमेही और राजयक्ष्मा से पीड़ित मनुष्य बल और मांस के क्षय होने पर असाध्य हो जाते हैं। इसके सिवाय इन रोगियों को अन्य कोई दूसरे भी रोग हो जायें

तो भी असाध्य हैं। (७) जिस रोगी का विरेचन के द्वारा पेट फूलने का रोग शान्त करने पर प्रबल तृष्णा उत्पन्न हो जाये, अथवा विरेचन के पीछे पुन अनाह (अफारा) हो जाये वह रोगी प्रेत के समान है। (८) जो रोगी कण्ठ, मुख, छाती, के शुष्क होने के कारण जल वा दूध भी नहीं पी सके वह रोगी नहीं बचता। (९) आवाज कमजोर पड जाये, बल और वर्ण मे न्यूनता आ जाये, अनुचित रूप से रोग बढ़ जाये, तो ऐसे रोगी का मरण ही कहे। (१०) जिस रोगी को ऊर्ध्व श्वास आरम्भ हो जाये, अंग ठण्डे हो जाये, वक्षण प्रदेश में खूब शूल रहे, किसी भी प्रकार से रोगी को शान्ति न मिले बुद्धिमान् ऐसे रोगी को छोड़ दे। (११) जो रोगी विकृत स्वर से अपनी आई मृत्यु को बतला रहा हो, जो विना शब्द के भी शब्द सुने, उस रोगी को वैद्य दूर से ही त्याग दे ॥ ८—१४ ॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ १५ ॥
अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचरेन् प्रणिपाततः ।
रसेनाद्यादिति ब्रूयान्नास्मै दद्याद्विशोधनम् ॥ १६ ॥
मासेन चेन्न दृश्येत विशेषस्तस्य शोभन ।
रसैश्चान्यैर्बहुविधैर्दुर्लभ तस्य जीवितम् ॥ १७ ॥
निष्ठ्यूत च पुरीषं च रेतश्चाम्भसि मज्जति ।
यस्य तस्याऽऽयुष· प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १८ ॥
निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक् ।
तच्च सीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति ॥ १९ ॥

(१२) जिस निर्बल हुए रोगी को रोग एकदम से छोड़ जाये, ऐसे रोगी के जीवन को भगवान आत्रेय संशय-ग्रस्त मानते हैं। (१३) जिस रोगी के सब सम्बन्धी बहुत नम्रता और विनय के साथ चिकित्सा करने की प्रार्थना करे, चिकित्सा के समय वैद्य इस रोगी को मास रस देने को कहे। परन्तु साथ मे विरेचन या वमन रूप संशोधन कार्य नही करे। इस प्रकार एक मास तक चिकित्सा करने पर भी कुछ शुभ परिवर्त्तन न दीखे, इसी प्रकार अनेक प्रकार के मास रस देने पर भी जब फायदा न हो, तो उस रोगी का जीवन दुर्लभ है।

(१४) जिस रोगी का थूक (कफ), मल और वीर्य पानी में डूब जाता है, बुद्धिमान् लोग उसकी आयु को समाप्त हुआ बतलाते हैं। (१५) जिस रोगी के कफ में नाना प्रकार के बहुत से रंग दिखाई देते हैं और वह कफ पानी में डूब जाता हो तो वह रोगी जीने मे असमर्थ है ॥ १५-१९ ॥

पित्तमूष्मानुगं यस्य शङ्खौ प्राप्य विमूर्च्छति ।
स रोगः शङ्खको नाम्ना त्रिरात्राद्धन्ति जीवितम् ॥ २० ॥
सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात्प्रमुच्यते ।
शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयः स तादृशः ॥ २१ ॥
बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ।
यस्याऽऽतुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान्न स जीवति ॥ २२ ॥

(१६) उष्मा से मिला पित्त जिस समय शङ्ख प्रदेश (कनपटियों) में आकर रुक जाता है, उस समय 'शङ्खक' नाम का रोग उत्पन्न होता है । इस रोग से तीन दिन में रोगी मर जाता है । (१७) जिस रोगी के मुख से झागदार रक्त गिरता है, और पेट या पार्श्व में तीव्र वेदना रहती हो, उस रोगी को असाध्य समझना चाहिये । (१८) जिस रोगी में तीव्रता (शीघ्रता) से बल और मांस का क्षय हो रहा हो, रोग में वृद्धि हो, अरुचि हो, वह रोगी तीन पक्ष से अधिक नहीं जाता ॥ २०–२२ ॥

तत्र श्लोकौ—विज्ञानानि मनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते ।
भवन्त्येतानि सपश्येदन्यान्येवंविधानि च ॥ २३ ॥
तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते न तु सर्वाणि मानवम् ।
विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद्बोध्यानि सर्वशः ॥ २४ ॥

मरणोन्मुख मनुष्यों में इस प्रकार के तथा अन्य इसी तरह के दूसरे नाना प्रकार के लक्षण होते हैं । सब लक्षण होते तो अवश्य हैं, परन्तु एक ही रोगी में सब लक्षण स्पष्ट नहीं होते । सब लक्षण एक साथ पुरुष में नहीं आते, इसलिये इनको विशेष रूप से जानना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने यस्य श्याव-
निमित्तीयमिन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातः सद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'सद्यो-मरणीय इन्द्रिय' नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १–२ ॥

सद्यस्त्विति ततः प्राणांल्लक्षणानि पृथक् पृथक् ।
अग्निवेश प्रवक्ष्यामि संस्पृष्टो येन जीवति ॥ ३ ॥
वाताष्ठीला सुसंवृत्ता तिष्ठन्ती दारुणा हृदि ।
तृष्णयाऽभिपरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ४ ॥
पिण्डिके शिथिलीकृत्य जिह्मीकृत्य च नासिकाम् ।
वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ५ ॥

हे अग्निवेश ! शीघ्र प्राण छोड़ने वाले रोगी के लक्षणों को पृथक् पृथक् कहता हूं, जिनसे युक्त होने पर रोगी नहीं बचता*। (१) वाताष्ठीला कठोर रूप से व्याप्त होकर हृदय-प्रदेश में आकर रुक जाये, रोगी को प्यास बहुत लगती हो तो उस रोगी का जीवन बहुत शीघ्र हर लेती है। (२) वायु पिण्डलियों को शिथिल बना दे और नासिका को टेढ़ी कर दे तथा सम्पूर्ण शरीर में वायु दौड़ता फिरे तो वह रोगी का जीवन हर लेता है ॥३-५॥

भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः ।
तस्य हिक्काकरो रोगः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥

(३) जिस रोगी की भौंहें अपने स्थान से स्खलित हो जायें, शरीर में बहुत तीव्र, कष्टदायी दाह (जलन) हो, और उसका रोग हिचकियें पैदा कर दे तो वह उसके प्राण को हर लेता है ॥ ६ ॥

क्षीणशोणितमांसस्य वायुरूर्ध्वगतिश्चरन् ।
उभे मन्ये समे यस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ७ ॥
अन्तरेण गुदं गच्छन्नाभिं च सहसाऽनिलः ।
कृशस्य वंक्षणौ गृह्णन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ८ ॥
वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः ।
स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ९ ॥
हृदयं च गुदं चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।
दुर्बलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १० ॥
वङ्क्षणं च गुदं चोभे गृहीत्वा मारुतो बली ।
श्वासं संजनयञ्जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ११ ॥
नाभिं मूत्रं बस्तिशीर्षं पुरीषं चापि मारुतः ।
विबध्य जनयञ्छूलं सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १२ ॥

* 'सद्यः' शब्द से कुछ तो सात दिन गिनते हैं और कुछ आचार्य तीन दिन मानते हैं ।

भिद्येते वङ्क्षणौ यस्य वातशूलैः समन्ततः ।
भिन्नं पुरीष तृष्णा च सद्य. प्राणाञ्जहाति सः ॥ १३ ॥
आप्लुतं मारुतेनेह शरीरं यस्य केवलम् ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १४ ॥
शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः ।
भिन्नं पुरीष तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १५ ॥

(४) शरीर में रक्त और मांस क्षीण हो जाये, वायु ऊर्ध्व गति करे, दोनों मन्यायें (ग्रीवा की सिरायें) एक समान हो तो वायु उस रोगी का जीवन शीघ्र हर लेता है । (५) जिस निर्बल रोगी में वायु गुद द्वार से प्रवेश करके नाभि प्रदेश में पहुँच कर वक्षण प्रदेश को पीड़ित करता है वह वायु रोगी का जीवन शीघ्र ही हर लेता है । (६) जिस रोगी में वायु उरो-भाग (छाती) में पहुँच कर पर्शुकाओं के अग्र भागों को दबाता है और रोगी स्तब्ध तथा आखें फैलाये हों, तो वायु उसके शीघ्र प्राण ले लेता है । (७) जिस निर्बल शरीर वाले रोगी के हृदय और गुदा इन दोनों अवयवों मे बलवान् वायु व्याप्त हो जाता है, वह रोगी शीघ्र मर जाता है । (८) बलवान् वायु वक्षण और गुदा को पीड़ित करके ऊर्ध्व श्वास उत्पन्न करदे तो रोगी के प्राणो को वायु शीघ्र ही हर लेता है । (९) वायु, नाभि, मूत्र, बस्ति, शिर और मल इनको बन्द करदे अथवा इन स्थानों पर काटने के समान (छदन के समान) शूल उत्पन्न कर दे तो वायु उसके प्राणों को शीघ्र हर लेता है । (१०) वात-शूल के कारण जिस रोगी के वक्षण प्रदेशों में सर्वत्र और भिन्न भिन्न प्रकार की वेदना होती रहती है, रोगी को अतिसार और प्यास रहती हो तो वह प्राणों को शीघ्र छोड़ देता है । (११) जिस रोगी के सम्पूर्ण शरीर में वायु व्याप्त हो जाये, अतिसार तथा प्यास हो वह रोगी शीघ्र ही प्राण त्याग देता है । (१२) जिस रोगी का शरीर वायु के शोफ के कारण सूज जाये, रोगी को अतिसार हो तथा प्यास रहे वह शीघ्र प्राणों को छोड़ देता है ॥ ७–१५ ॥

आमाशयसमुत्थाना यस्य स्यात्परिकर्तिका ।
तृष्णा गुदग्रहश्चाग्रः सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १६ ॥
पक्वाशयमधिष्ठाय हत्वा सञ्ज्ञां च मारुतः ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥ १७ ॥
दन्ताः कर्दमचूर्णाभा मुखं चूर्णकसन्निभम् ।
सिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥ १८ ॥

तृष्णा-श्वास-शिरोरोग-मोह-दौर्बल्य-कूजनैः ।
स्पृष्टः प्राणाञ्जहात्याशु शकृद्भेदेन चाऽऽतुरः ॥ १९ ॥

(१३) जिस रोगी के आमाशय मे काटने के समान (परिकर्त्तिका) वेदना उत्पन्न हो, प्यास हो, गुदा का अवरोध हो, वह रोगी शीघ्र मर जाता है। (१४) वायु पक्वाशय का आश्रय लेकर संज्ञा (चेतना) को नष्ट करदे, तथा गले में घुर्घर शब्द उत्पन्न हो जाये तो रोगी शीघ्र मर जाता है। (१५) दान्तों मे कीचड के लेप के समान और मुख (चेहरा) चूने के समान सफेद हो जाये और शरीर के अगों पर पसीना (सिप्रा नदी के समान) आने लगे वा वे ढोले पड़ जावें तो ये शीघ्र मरने वाले के लक्षण हैं। (१६) जिस रोगी को प्यास, श्वास, शिरोरोग, मोह, दुर्बलता, अगो मे कूजन तथा अतीसार हो, वह रोगी शीघ्र मर जाता है ॥ १६ १९ ॥

तत्र श्लोक —एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते ।
स जीवितं च मर्त्यानां मरणं चावबुध्यते ॥ २० ॥

जो वैद्य इन लक्षणों को भली प्रकार जानता है वह मनुष्यो के जीवन और मरण को भली प्रकार जानता है ॥ २० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने सद्योमरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातोऽणुज्योतीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'अणुज्योतीय' (मन्दाग्नि) अथवा 'शरीर का मन्द-तेज' नामक इन्द्रिय-अध्याय का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था।१-२।

अणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा ।
रतिं न लभते याति परलोकं समान्तरम् ॥ ३ ॥
बलिं बलिभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।
लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ ४ ॥
सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।
संवत्सरान्ते जन्तुः स संपश्यति महत्तमः ॥ ५ ॥

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभामुपचयं धनम् ।
प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं समान्तं न स जीवति ॥ ६ ॥

वर्षान्त अरिष्ट—

(१) अणुज्योति अर्थात् मन्द जाठराग्नि वाला व्याकुल चित्त, अशुभ छाया वाला, निर्बल दुःखी मनवाला, जो किसी भी प्रकार से सुख अनुभव नहीं करता, ऐसा पुरुष एक वर्ष के अन्दर २ मर जाता है। (२) जिस रोगी की दी हुई बलि (अन्न) को कौवे आदि पक्षी नहीं खाते, वह एक साल के अन्दर परलोक में पिण्ड (कर्मफल) का भोग करता है। (३) जो सप्तर्षियों के पास स्थित अरुन्धती नाम नक्षत्र को नहीं देखता, वह एक साल के अन्दर महा-अन्धकार (मृत्यु) को देखता है। (४) जो मनुष्य विना किसी कारण शोभा (शरीर की पुष्टि, अथवा धन सञ्चय को या इनके सहसा विनाश को पाता है वह एक साल पर्यन्त भी नहीं जीता ॥ ३-६ ॥

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः ॥ ७ ॥
धमनीनामपूर्वाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षण्मासान्न स जीवति ॥ ८ ॥
लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते ।
यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥ ९ ॥

(५) षण्मासान्त अरिष्ट—छः मास में मरने वाले मनुष्य के छः गुण भक्ति—इच्छा, शील स्वभाव, स्मृति, त्याग, बुद्धि और बल विना कारण के ही नष्ट हो जाते हैं। (६) जिस रोगी के माथे पर नाड़ियों का सुन्दर जाल दीखने लगे (जो पहिले न हों), वह छः मास के पीछे नहीं जीता। (७) जिसके माथे पर द्वितीया या तृतीया के चन्द्रमा के समान टेढी रेखायें दीखने लगें, उसकी आयु छः मास में समाप्त हुई बतला दे ॥ ७–९ ॥

शरीरकम्पः संमोहो गतिर्वचनमेव च ।
मत्तस्येवोपलक्ष्यन्ते यस्य मासं न जीवति ॥ १० ॥
रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चाम्भसि ।
स मासाज्जनन्द्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति ॥ ११ ॥
हस्तपादं मुखं चोभौ विशेषाद्यस्य शुष्यतः ।
शूयेते वा विना देहात्स च मासं न जीवति ॥ १२ ॥

(८) मासान्त अरिष्ट—जिसके शरीर में कम्पन, मूर्छा और चाल और वाणी शराबी की भांति हो जाती हैं, वह मास भर भी नहीं जीता। (९) जिस-

का वीर्य, मूत्र और मल पानी में डूब जाता है, जो स्वबन्धुओं से द्वेष करता हो, वह व्यक्ति एक मास के भीतर मृत्यु के पानी में डूब जाता है। (१०) जिसके हाथ, पाव और मुख बिना दाह के शुष्क होने लगें वह एक मास से अधिक नहीं जीता ॥ १०-१२ ॥

ललाटे मूर्ध्नि बस्तौ च नीला यस्य प्रकाशते ।
राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥ १३ ॥
प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्र मसूरिकाः ।
उत्पद्याशु विनश्यन्ति न चिरात्स विनश्यति ॥ १४ ॥
ग्रीवावमर्दो बलवाञ्जिह्वाश्वयथुरेव च ।
ब्रध्नास्यगलपाकश्च यस्य पक्व तमादिशेत् ॥ १५ ॥
सम्भ्रमोऽति प्रलापोऽति भेदोऽस्थ्नामतिदारुणः ।
कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत्प्रवर्तते ॥ १६ ॥

(११) सद्योमरण के अरिष्ट—जिस रोगी के माथे, शिर और बस्ति मे मे नवीन चन्द्रमा के समान टेढ़ी नीली रेखाये दीखती हैं उसकी मृत्यु निकट समझनी चाहिये। (१२) जिस रोगी के शरीर पर मूगे के समान फुन्सिया (मसूरिका चेचक) निकल कर शीघ्र ही फिर नष्ट हो जायें वह शीघ्र ही मरता है। (१३) जिस रोगी की ग्रीवा में अकड़ान (दर्द) बहुत अधिक हो, जीभ पर सूजन हो जाये, गुदा, गला, और मुख पक जाये वह शीघ्र मर जाता है। (१४) भ्रम, प्रलाप और भयकर रूप में अस्थियों का टूटना हो, काल के पाश में फसे मनुष्य में ये तीन लक्षण होने लगते हैं ॥ १३-१६ ॥

प्रमुह्य लुञ्चयेत्केशान् परिगृह्णात्यतीव च ।
नरः स्वस्थवदाहारमबलः कालचोदित· ॥ १७ ॥
समीपे चक्षुषोः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीकरम् ।
स्मयतेऽपि च कालान्ध ऊर्ध्वेगानिमिषेक्षणः ॥ १८ ॥
शयनादासनादङ्गात्काष्ठात्कुड्यादथापि वा ।
असन्मृगयते किंचित्स मुह्यन्कालचोदितः ॥ १९ ॥
अहास्यहासी संमुह्यन् प्रलेढि दशनच्छदौ ।
शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति ॥ २० ॥
आह्वयन्तं समीपस्थं स्वजनं जनमेव वा ।
महामोहावृतमनाः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २१ ॥

(१४) जो रोगी बेसुध होकर बालों को खींचता तथा स्वस्थ पुरुष के समान भोजन करता है वह काल से प्रेरित होता है। (१५) जो मनुष्य आख

के समीप और अगुलियों को रखकर फिर उनको खोजता, ऊपर को देखता, हैरान होता है, वह मानों काल के कारण अन्धा है। जो बिस्तर, आसन, अंग, लकड़ी अथवा भित्ति पर कुछ न होते हुए भी कुछ टटोलता रहता है, वह काल (मृत्यु) से प्रेरित होकर मोह में पड़कर ऐसा करता है। (१६) जो हंसने का कारण न रहने पर भी हंसे, ओठों को चाटता रहे, हाथ पांव और श्वास ठंडे हों, और ऊर्ध्व श्वास चलता हो तो वह रोगी नहीं बचता। (१७) अपने बान्धव या अन्य मनुष्य को समीप में खड़े, उसे बुलाते हुए को न देखे, न सुने वह बड़े भारी अन्धकार से घिरा होने के कारण देखता हुआ भी नहीं देखता॥२१॥

अयोगमतियोगं वा शरीरे मतिमान् भिषक्।
खादीनां युगपद् दृष्ट्वा भेषजं नावचारयेत्॥ २२॥
अतिप्रवृद्धया रोगाणां मनसश्च बलक्षयात्।
वासमुत्सृजति क्षिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम्॥ २३॥
वर्णस्वराग्निबलं वागिन्द्रियमनोबलम्।
हीयतेऽसुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा॥ २४॥

(१८) आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी इन भूतों का शरीर में अयोग या अतियोग दीखने लगे, तब वैद्य चिकित्सा नहीं करे। (१६) रोग के बहुत बढ जाने से तथा मानसिक बल के क्षय होने से, मनुष्य उस शरीर के वासस्थान को शीघ्र छोड़ देता है, मर जाता है। (२०) मरणासन्न मनुष्य में वर्ण, स्वर, अग्नि, बल, वाणी, इन्द्रिय और मन का बल कम हो जाता है और रोगी को या तो नींद खूब आती है अथवा आती ही नहीं॥ २२-२४॥

भिषग्भेषज-पानान्न गुरु-मित्र द्विषश्च ये।
वशगाः सर्व एवैते बोद्धव्याः समवर्तिनः॥ २५॥
एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते।
नैषामन्नानि भुञ्जीत न चोदकमपि स्पृशेत्॥ २६॥
पादाः समेताश्चत्वारः संपन्नाः साधकैर्गुणैः।
व्यर्था गतायुषो द्रव्यं विना नास्ति गुणोदयः॥ २७॥
परीक्ष्यमायुर्भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च।
आयुर्ज्ञानफलं [1]कृत्स्नमायुर्ज्ञे ह्यनुवर्तते॥ २८॥

(२१) वैद्य, औषध खान, पान, गुरु और मित्र से जो रोगी द्वेष करें तो समझना चाहिये कि ये यम के वश में हैं, वे मरनेवाले हैं। ऐसे रोगियों

१. 'आयुर्वेदफलं' इति च पाठः।

के रोग भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी बढ़ते हैं, औषध कुछ काम नहीं करती। इन रोगियों का न तो अन्न खाना चाहिये और न पानी छूना चाहिये।

गतायुष मनुष्य में सारक गुणों से युक्त चिकित्सा के भी चारों चरण व्यर्थ होते हैं। जिस प्रकार गुण द्रव्य के आश्रय से रहते और प्रकट होते हैं, उसी प्रकार चिकित्सा का गुण आयुष्य के कारण से ही प्रकट होता है। वैद्य को चाहिये कि वह रोगी और स्वस्थ दोनों व्यक्तियों की आयु की परीक्षा करे। आयु का जानना ही आयुर्वेद का फल है, आयु ही आयुष्य का सहचारी है ॥२८॥

तत्र श्लोकः—क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुता।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ॥ २९ ॥

जब सब दोष चिकित्सा कर्म के मार्ग को लांघ कर शरीर में व्याप्त होकर लक्षणों को प्रकट करते हैं, तब इन लक्षणों को 'अरिष्ट' कहते हैं ॥ २९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थानेऽणुज्योतीय-
मिन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातो गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'गोमयचूर्णीय' नामक इन्द्रिय स्थान का व्याख्यान करेंगे जैसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १-२ ॥

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ ३ ॥
निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति।
विकृत्या न स लोकेऽस्मिँश्चिरं वसति मानवः ॥ ४ ॥
यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम्।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति ॥ ५ ॥
यमुद्दिश्याऽऽतुरं वैद्यः संवर्तयितुमौषधम्।
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ६ ॥

विज्ञातं बहुशः सिद्ध विधिवच्चावचारितम् ।
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ७ ॥
आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम् ।
यः फलं तस्य नाऽऽप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ८ ॥

(१) जिस रोगी के सिर पर गोमय (गोबर) के चूर्ण के समान भुरभुरा चूर्ण उत्पन्न हो, रूक्षता आ जाये और शिर पर तेल या चिकनाई के साथ नीचे बह आवे, उसका जीवन एक मास तक ही होता है। (२) जो मनुष्य पाव को जमीन पर घिस कर चलता है और विकृति के कारण जिसके कन्धे बैठ गये हों या जो कन्धों को आगे झुका कर (छाती को अन्दर की ओर दबा कर) दौड़ता है, वह मनुष्य देर तक इस लोक में नहीं रहता, वह शीघ्र मर जाता है। (३) जिस मनुष्य के स्नान करने के उपरान्त चन्दनादि के लेप करने पर भी पहिले छाती पर लगा लेप सूखता है और शेष अंगों पर लेप गीला रहता है वह पन्द्रह दिन भी नहीं जीता। (४) जिस रोगी को लक्ष्य कर वैद्य अति प्रयत्न करने पर भी औषध तैयार नहीं कर पाता उस रोगी का जीना बहुत कठिन है। (५) बहुत प्रकार से जानी हुई नियमपूर्वक रोगो पर सफलता पूर्वक प्रयोग की हुई, विधिपूर्वक दी हुई औषध भी जिस रोगी पर फल न देवे, सफल न हो, उस रोगी का बचना असम्भव है। (६) वैद्य द्वारा उत्तम रीति से बनाये भोजन का उपयोग करता हुआ भी जो रोगी उत्तम फल न पाये उस रोगी का जीवित रहना असम्भव है ॥ ३–८ ॥

दूताधिकारे वक्ष्यामो लक्षणानि मुमूर्षताम् ।
यानि दृष्ट्वा भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्यायादसशयम् ॥ ९ ॥
मुक्तकेशेऽथवा नग्ने रुदत्यप्रयतेऽथवा ।
भिषगभ्यागत दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ॥ १० ॥
सुप्ते भिषजि ये दूताश्छिन्दत्यपि च भिन्दति ।
आगच्छन्ति भिषक् तेषा न भर्तारमनुव्रजेत् ॥ ११ ॥
जुहृत्यग्नि तथा पिण्ड पितृभ्यो निर्वपत्यपि ।
वैद्ये दूता य आयान्ति ते घ्नन्ति प्रजिघांसव. ॥ १२ ॥
कथयत्यप्रशस्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः ।
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ॥ १३ ॥
मृतदग्धविनष्टानि भजति व्याहरत्यपि ।
अप्रशस्तानि चान्यानि वैद्ये दूता मुमूर्षताम् ॥ १४ ॥

दूतारिष्ट—(१) वैद्यगत अरिष्ट लक्षण—

इसके आगे दूताधिकार में मरणोन्मुख रोगियो के लक्षण कहते हैं, जिनको देख कर बुद्धिमान् वैद्य मरणोन्मुख रोगी को तत्काल निश्चय से पहिचान कर उनकी चिकित्सा न करे। (१) यदि वैद्य के बाल खोले हुए, नग्न अवस्था में, रोते हुए अथवा अपवित्र अवस्था मे, वैद्य को दूत बुलाने आवे तो वैद्य दूत को देख कर रोगी की मृत्यु बतलावे। (२) वैद्य के सोते हुए जो दूत तोड़ फोड़ कर घर में आते हैं, इन दूतो के स्वामी को वैद्य देखने न जाये (उनको मृतप्राय जाने)। (३) वैद्य यदि अग्नि में हवन कर रहा हो अथवा पितरों को पिण्डदान कर रहा हो, ऐसी अवस्था में जो दूत बुलाने आते हैं वे रोगी को मारने वाले होते हैं। [यद्यपि दूत स्वय रोगी की हितचिन्ता से आते हैं, वे स्वयं रोगी को नही मारते तो भी ऐसे दूत रोगी की मृत्यु की सूचना देते हैं, रोगी के मरण के पूर्व ऐसे दूतों के आने और दूतों के पूर्वभावी होने से उपचार ने कारणरूप मान लिया है]। (४) वैद्य के अशुभ बातचीत करते हुए अथवा चिन्ता करते समय दूत द्वारा वैद्य को बुलाने वाले रोगी अति शीघ्र मरने वाले होते हैं। (५) वैद्य किसी मृत पुरुष के सम्बन्ध में या जली अथवा नष्ट वस्तु के विषय में या इसी प्रकार की किसी अशुभ घटना के विषय मे बातचीत कर रहा हो, ऐसी अवस्था में जो दूत बुलाने आते हैं, वे मरणासन्न रोगियों के ही होते हैं। उनका रोगी मृत्यु के मुख में रहता है ॥ ९-१४ ॥

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक्।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नाऽऽतुरं तमुपाचरेत् ॥ १५ ॥
दीन-भीत-द्रुत-त्रस्त मलिनामसतीं स्त्रियम्।
त्रीन् व्याकृतांश्च षण्ढांश्च दूतान्विद्यान्मुमूर्षताम् ॥ १६ ॥

(२) देश काल गत अरिष्ट लक्षण—

(६) रोग के समान गुणवाले देश या काल में यदि दूत आवे तो उस रोगी के पास दूत के बुलाने पर न जाये उनकी चिकित्सा न करे। [रोग के समान गुणवाला देश जैसे रक्त-पित्त रोग मे अग्नि के समीप स्थान हो, काल जैसे रक्त-पित्त का मध्याह्न काल है]। (७) मलिन, असती (वेश्या आदि) स्त्री, दीनता से युक्त, भयभीत, भागती हुई, घबड़ाई हुई वा तीन मनुष्य एक साथ या एक के पीछे एक लगातार और नपुसक दूत बुलाने आयें तो समझना चाहिये कि उनके रोगी मरना ही चाहते हैं ॥ १५-१६ ॥

अङ्गव्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं व्याधितं तथा।
संप्रेक्ष्य चोग्रकर्माणं न वैद्यो गन्तुमर्हति ॥ १७ ॥

आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ट्ररथवाहनम् ।
दूतं दृष्ट्वा भिषग्विद्यादातुरस्य पराभवम् ॥ १८ ॥
पलाल-वुस-मांसास्थि-केश-लोम-नख-द्विजान् ।
मार्जनीं मुसलं सूर्पमुपानच्चर्म विच्युतम् ॥ १९ ॥
तृण-काष्ठ-तुषाङ्गार स्पृशन्तो लोष्ठमश्म च ।
तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुमूर्षताम् ॥ २० ॥
यस्मिश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।
पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद्भिषक् ॥ २१ ॥
तथा व्यसनिनं प्रेतं प्रेतालङ्कारमेव वा ।
भिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥ २२ ॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वाऽन्यदशुभं भवेत् ॥ २३ ॥

(३) दूतगत अरिष्ट लक्षण—

(८) जिस दूत के नाक, कान आदि कोई अंग कटा फटा हो, संन्यासी, रोगी,वध आदि उग्र काम करने वाले दूत को देख कर वैद्य को रोगी के घर जाना ठीक नहीं । (९) दूत यदि गधे, ऊंट या रथ या सवारी पर चढ़ कर बुलाने के लिये आवें, तो वैद्य समझ ले कि रोगी का मरण होगा । (१०) पलाल (पुराली), भूसा, मांस, अस्थि, केश, लोम, नख, दांत, झाड़ू, मूषण, छाज, जूता, चमड़ा, टूटी या गिरी हुई वस्तु, तिनका, काठ, लकड़ी, तुष, अंगार, मिट्टी का ढेला, पत्थर इन वस्तुओं का प्रथम प्रवेश काल मे ही स्पर्श करते हुए दूत मरने वाले रोगी की सूचना देते है । (११) रोगी के सम्बन्ध में बात करते हुए जिस दूत में वैद्य को अशुभ लक्षण दिखाई देवे, उस रोगी के घर वैद्य न जावे । (१२) अशुभ लक्षण—दूत में किसी प्रकार का व्यसन (शराब पीना या जुआ खेलना), मृत मनुष्य की कथा का कहना, मृतक के अलंकार धारण करना, टूटी, जली अथवा नष्ट हुई वस्तु की बातचीत, कटु रस या तीव्र (इन्द्रियों को उद्विग्न करने वाला) गन्ध, अथवा मुर्दे की दुर्गन्ध, तीव्र या उग्र स्पर्श, क्रूर अन्य इसी प्रकार के अशुभ लक्षण हों तो इनको अशुभ जाने ॥१७-२३॥

तत्पूर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा पुनः ।
दूतानां व्याहृतं कृत्वा धीरो मरणमादिशेत् ॥ २४ ॥
इति दूताधिकारोऽयमुक्तः कृत्स्नो मुमूर्षताम् ।

(४) पूर्वापर लक्षण—

(१३) दूत के वचन से पूर्व मृतकाल के द्योतक वचनों में रोगी को

अवस्था का श्रवण करना अथवा रोगी का वर्णन करते समय भूतकाल की क्रियाओं को सुनना अशुभ लक्षण हैं। ऐसा सुन कर रोगी की मृत्यु समझनी चाहिये। इस प्रकार से मरणोन्मुख रोगियों के दूतों का वर्णन सम्पूर्ण रूप में कह दिया ॥ २४ ॥

पथ्यातुरकुलानां च वक्ष्याम्यौत्पातिकं पुनः ॥ २५ ॥
अवक्षुतं तथोत्क्रुष्टं स्खलनं पतनं तथा ।
आक्रोशः संप्रहारो वा प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥ २६ ॥
वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्गच्छत्रोपानद्युगाश्रयम् ।
व्यसनं दर्शनं चापि मृतव्यसनिनां तथा ॥ २७ ॥
चैत्यध्वजपताकानां पूर्णानां पतनानि च ।
हतानिष्टप्रवादाश्च दूषणं भस्मपांसुभिः ॥ २८ ॥
पथश्छेदो बिडालेन शुना सर्पेण वा पुनः ।
मृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दीप्तां दिशं प्रति ॥ २९ ॥
शयनासनयानानामुत्तानानां प्रदर्शनम् ।
इत्येतान्यप्रशस्तानि सर्वाण्याहुर्मनीषिणः ॥ ३० ॥
एतानि पथि वैद्येन पश्यताऽऽतुरवेश्मनि ।
शृण्वता च न गन्तव्यं तदागारं विपश्चिता ॥ ३१ ॥
इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगर्हितम् ।

(५) मार्ग के लक्षण—

रोगी के घर जाते समय रास्ते में जो अरिष्ट सूचक लक्षण (अशुभ चिह्न) होते हैं उनको कहते हैं—छींक का आना, डर कर रोना, फिसलना, गिरना, चिल्लाना, चोट लगना, प्रतिषेध (मत जाओ ऐसी रुकावट होना), निन्दा, वस्त्र, पगड़ी, चादर (दुपट्टा), छत्री, जूता इन पदार्थों का फट जाना, मार्ग में दुःखी अथवा मृत या कान, नाक अथवा अंग से हीन व्यक्ति का दर्शन होना, चैत्य (मन्दिर), ध्वजा, पताका अथवा पानी से भरे घड़ों का गिरना; मरना या कोई अनिष्ट बात, या वस्तु का नाश सुनाई देना; राख या रेत-मट्टी इन सहित दीखना; बिल्ली, सांप या कुत्ता इनका रास्ता काट कर जाना; जिस दिशामें सूर्य हो उधर ही शृगाल, गीदड़, गीध आदि क्रूर पशु पक्षी चिल्ला रहे हों; बिछौना, आसन, गाड़ी आदि वस्तुएं उत्तान रूप से रास्ते में पड़ी हों तो बुद्धिमान् इनको अशुभ लक्षण समझें। * रोगी के घर में जाते समय ये लक्षण हों तो रोगी के घर नहीं जाना चाहिये। वैद्य के लिए निन्दित इन 'औत्पातिक' लक्षणों को कह दिया ॥ २५-३१ ॥

---

* दीप्ता दिक्—'दक्षिण दिशा' भी अर्थ है।

इमामपि च बुध्येत गृहावस्थां मुमूर्षताम् ॥ ३२ ॥
प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम् ।
वृषब्राह्मणरत्नान्नदेवतानां विनिर्गतिम् ॥ ३३ ॥
अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च ।
भिषग् मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥ ३४ ॥
छिन्नभिन्नविदग्धानि भग्नानि मृदितानि च ।
दुर्बलानि च सेवन्ते मुमूर्षोर्वैश्मिका जनाः ॥ ३५ ॥
(शयनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम् ।
श्रूयतेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ३६ ॥)
शयनं वसनं यानमन्यद्वापि परिच्छदम् ।
प्रेतवद्यस्य कुर्वन्ति सुहृदः प्रेत एव सः ॥ ३७ ॥
अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थं ज्योतिश्चैवोपशाम्यति ।
निवाते सेन्धनं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥ ३८ ॥
आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ३९ ॥

निम्नलिखित लक्षणों से भी मरने वाले रोगी के घर की अवस्था का ज्ञान कर लेना चाहिये । (१) घर में घुसने के समय पानी से भरे पात्र, आग, मिट्टी, बीज, फल, घी, बैल (गाय), ब्राह्मण, रत्न, अन्न या देवताओं की प्रतिमा आदि को यदि घर से बाहर कोई ले जा रहा हो, अग्नि से भरे पात्र अथवा टूटे और खाली पात्रों को वैद्य रोगी के घर में घुसते देखे तो अशुभ है । (२) इसी प्रकार मिट्टी के टूटे-फूटे, जले बर्त्तन दिखाई दें, घर के आदमी निर्बल, तेजहीन दिखाई दें, तो रोगी नहीं बचता । (३) जिस रोगी का बिस्तर (उत्तर को सिर, दक्षिण दिशा में पांव) वस्त्र, यान अथवा अन्य सामान मृतक के समान किया जा रहा हो, तो उसे भी मृतक का भाई गिनना चाहिये । (४) जिस रोगी का आहार अत्यन्त बिगड़ा हुआ हो, और वायु के झोंके से रहित स्थान में ईंधन के होने पर भी आग बुझती हो, वह रोगी चिकित्सा के अयोग्य है । (५) जिस रोगी के घर में थाली, कटोरे आदि पात्र बहुत करके टूटते या गिरते हों, उस रोगी का जीवन कठिन है ॥ ३२–३९ ॥

भवन्ति चात्र—यद् द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकीर्तितम् ।
मुमूर्षतां मनुष्याणां लक्षणं जीवितान्तकृत् ॥ ४० ॥
तत्समासेन वक्ष्यामः पर्यायान्तरमाश्रितम् ।
पर्यायवचनं ह्यर्थविज्ञानायोपपद्यते ॥ ४१ ॥

इत्यर्थं पुनरेवेयं विवक्षा नो विधीयते ।
तस्मिन्नेवाधिकरणे यत्पूर्वमभिदर्शितम् ॥ ४२ ॥

इन बारह अध्यायों में मरणोन्मुख रोगी के लक्षणों को विस्तार से कह दिया है। अब संक्षेप में इनके पर्य्याय कहते हैं। पर्य्याय द्वारा अर्थ का ज्ञान भली प्रकार से हो जाता है। इसलिये इसी विस्तार को अब संक्षेप में कहते हैं—इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं मानना ॥ ४०-४२ ॥

वसतां चरमे काले शरीरेषु शरीरिणाम् ।
अभ्युग्राणां विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सताम् ॥ ४३ ॥
इष्टास्तितिक्षता प्राणान् कान्तं वासं जिहासताम् ।
तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम् ॥ ४४ ॥
विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च ।
भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथादेशं यथागमम् ॥ ४५ ॥
प्राणाः समुपतप्यन्ते विज्ञानमुपरुध्यते ।
वमन्ति बलमङ्गानि चेष्टा व्युपरमन्ति च ॥ ४६ ॥
इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभवति चेतना ।
औत्सुक्यं भजते सत्त्वं चेतो भीराविशत्यपि ॥ ४७ ॥
स्मृतिस्त्यजति मेधा च ह्रीश्रियौ चापसर्पतः ।
उपप्लवन्ते पाप्मान ओजस्तेजश्च नश्यति ॥ ४८ ॥
शीलं व्यावर्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च परिवर्तते ।
विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्छायाश्च विकृतिं प्रति ॥ ४९ ॥
शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः ।
क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छन्त्यसृगुपक्षयम् ॥ ५० ॥
ऊष्माणः प्रलयं यान्ति विश्लेषं यान्ति संधयः ।
गन्धा विकृततां यान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा ॥ ५१ ॥
वैवर्ण्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुष्यति ।
धूमः संजायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णकः ॥ ५२ ॥
सततस्पन्दना देशाः शरीरे येऽभिलक्षिताः ।
ते स्तम्भानुगताः सर्वे न चलन्ति कथंचन ॥ ५३ ॥
गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः ।
विपर्यासेन वर्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः ॥ ५४ ॥
नखेषु जायते पुष्पं पङ्को दन्तेषु जायते ।
जटाः पक्ष्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्धनि ॥ ५५ ॥

भेषजानि न संवृत्तिं प्राप्नुवन्ति यथारुचिम् ।
यानि चाप्युपपद्यन्ते तेषां वीर्यं न सिध्यति ॥ ५६ ॥
नानाप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः ।
क्षिप्रं समभिवर्तन्ते प्रतिहत्य बलौजसी ॥ ५७ ॥
शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धश्चेष्टा विचिन्तितम् ।
उत्पद्यन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु ॥ ५८ ॥
दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना दौरात्म्यमुपजायते ।
प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ॥ ५९ ॥
प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्धते ।
कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमरिष्टमुपलक्ष्यते ॥ ६० ॥
इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनशिष्यताम् ।
लक्षणानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ॥ ६१ ॥

अन्तकाल अर्थात् मृत्यु के समय में प्रिय प्राणों के निकलते समय, शरीर के सिरा, स्नायु आदि में जो परिवर्त्तन होते हैं, शरीर के नाश होने के समय जो व्याकुल दशा होती है, इनके कारण शरीर क अवयवों की जो दशा होती है, उसका शास्त्रानुसार वर्णन करते हैं:—

प्राण पीड़ित होते है, ज्ञान की गति बन्द हो जाती है, अंगों का बल नष्ट हो जाता है, क्रियायें बन्द (नष्ट) हो जाती है, चेतना बिखरती जाती है, मन मे आकांक्षा, उत्सुकता रहती है, चित्त में भय समा जाता है, स्मरण शक्ति लुप्त हो जाती है, बुद्धि, लज्जा और कान्ति भी नष्ट हो जाती है, पाप से उत्पन्न होने वाले रोग पैदा होने लगते हैं, ओज और तेज (शुक्र) कान्ति नष्ट हो जाती है, शील-स्वभाव बहुत बदल जाता है, भक्ति नष्ट हो जाती है, कान्ति और प्रभा विकृत हो जाती है, शुक्र स्थान से भ्रष्ट हो जाता है, वायु ऊपर को चढ़ने लगता है, मांस का क्षय हो जाता है, रक्त भी कम हो जाता है, शरीर की गरमी नष्ट हो जाती है, सन्धियां शिथिल हो जाती हैं, गन्ध, वर्ण, स्वर, विकृत हो जाते हैं, शरीर का रंग बदल जाता है, शरीर के रोमकूप बन्द हो जाते हैं, शिर पर धूम हो जाता है, गोमय के समान भयानक चूर्ण उत्पन्न हो जाता है (स्नेह नहीं रहता), शरीर के जिन स्थानों पर निरन्तर स्पन्दन (कम्पन) रहता है, उन स्थानों पर जड़ता आ जाती है, वे किसी भी प्रकार से गति नहीं करते, शरीर के स्थानों मे शीत, मृदु, दारुण आदि गुण भी बदल जाते हैं, (शीत के स्थान पर उष्णिमा, मृदु के स्थान पर कठोरता, कठोरता के स्थान पर मृदुता, उष्णिमा के स्थान पर शीत हो जाता है), नखों में पुष्प (फूल, श्वेत चिह्न), उत्पन्न हो जाता है, दांतों में मलिनता आ जाती है, पलकों में गुच्छियां

(जटा) पड़ जाती हैं, बालों में माग निकल आती है, रोगी के लिये जरूरी औषध नहीं मिलती, तथा जो मिलती है वह फलप्रद नहीं होती, रुचि के अनुसार दी हुई औषध से भी सफलता नहीं होती, बल और ओज को कम करके नाना प्रकार के भयानक तथा अनेक औषधियो से अच्छे होने वाले रोग शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं, शब्द, रूप, रस, गन्ध और अनेक प्रकार की अशुभ चेष्टा और विचार उत्पन्न होते है, चिकित्सा करने पर भी अशुभ फल दीखता है, नाना प्रकार के भयानक स्वप्न दिखाई देते है, स्वभाव दुष्ट बन जाता है, सेवक, परिचारक विरुद्ध एव निराश हो जाते हैं, रोगी की आकृति मृतक के समान बन जाती है, प्रकृति विशेष रूप में कम हो जाती है और विकृति विशेष रूप से बढ़ जाती है। ये सब उत्पात घोर अनिष्टसूचक है। ये सब लक्षण मरणासन्न मनुष्य में होते हैं। शास्त्र-प्रमाण के अनुसार मरने वाले मनुष्य के ये लक्षण कहे हैं॥ ४३–६१ ॥

मरणायेह रूपाणि पश्यताऽपि भिषग्विदा।
अपृष्टेन न वक्तव्य मरण प्रत्युपस्थितम् ॥ ६२ ॥
पृष्टेनापि न वक्तव्य तत्र यत्रोपघातकम्।
आतुरस्य भवेद् दुःखमथवाऽन्यस्य कस्यचित् ॥ ६३ ॥
अब्रुवन् मरण तस्य नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम्।

वैद्य के कर्त्तव्य—इन लक्षणों को वैद्य देख कर भी बिना पूछे किसी को नहीं कहे और जहा पर रोगी को अथवा किसी अन्य आदमी को दु ख या मृत्यु हो तो वहा पर पूछने पर भी रोगी की मृत्यु न कहे। उनसे कह दे कि मैं इस रोगी की चिकित्सा नहीं करना चाहता॥ ६२–६३ ॥

यस्य पश्येद्विनाशाय लिङ्गानि कुशलो भिषक् ॥ ६४ ॥
लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो विपरीतानि पश्यता।
लिङ्गान्यारोग्यमागन्तुं वक्तव्यं भिषजा ध्रुवम् ॥ ६५ ॥
दूतैरौत्पातिकैर्भावैः पथ्यातुरकुलाश्रयैः।
आतुराचार-शीलेष्ट-द्रव्य-संपत्ति-लक्षणैः ॥ ६६ ॥

रोगी के अच्छे लक्षण—जिस मरणासन्न रोगी मे वैद्य अच्छे लक्षण देखे, जैसे—मरणसूचक लक्षणों से विपरीत लक्षण हों, वैद्य को बुलानेवाले दूत सद्भाव युक्त हों, वैद्य के मार्ग मे उत्पात न हों, रोगी के घर में अमंगल लक्षण दृष्टिगोचर न हों, इत्यादि लक्षणों को देखकर रोगी का आरोग्य सम्बन्धियों तथा रोगी को अवश्य कह देना चाहिये॥ ६४–६६ ॥

स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्य शुक्लवाससम् ।
अमुण्डमजटं दूत जातिवेशक्रियासमम् ॥ ६७ ॥
अनुष्ट्रखरयानस्थमसन्ध्यास्वग्रहेषु च ।
अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु च ॥ ६८ ॥

शुभ लक्षण—रोगी का आचार, शील, इष्ट पदार्थ बिगड़े न हों, तो समझना चाहिये कि रोगी अच्छा हो जायेगा। इसी प्रकार दूत आचारवान्, प्रसन्नचित्त, शरीर का कोई अवयव विकृत न हो, यशस्वी, सफेद वस्त्र पहिने, शिखा समेत मुण्डन न कराये, उचित जाति के समान वस्त्र पहिने तथा उचित क्रियावान् हो, वह दूत उत्तम है। ऊट, गधा इन पर सवारी न किये हों, सन्ध्याकाल मे, अप्रशस्त ग्रहों मे, क्रूर नक्षत्र मे, ध्रुव नक्षत्र के उदय काल में वैद्य को बुलाने के लिये नहीं जाना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् ।
मध्याह्नं चार्धरात्रं च भूकम्पं राहुदर्शनम् ॥ ६९ ॥
विना देशमशस्तं च शस्तौत्पातिकलक्षणम् ।
दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ ७० ॥
दध्यक्षतद्विजातीनां वृषभाणां नृपस्य च ।
रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च ॥ ७१ ॥
सुरध्वजपताकानां फलानां यावकस्य च ।
कन्यापुंवर्धमानानां बद्धस्यैकपशोस्तथा ॥ ७२ ॥
पृथिव्या उद्धृतायाश्च वह्नेः प्रोज्ज्वलितस्य च ।
मोदकानां सुमनसां शुक्लानां चन्दनस्य च ॥ ७३ ॥
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ।
नृभिर्धेन्वाः सवत्साया वडवायाः स्त्रियास्तथा ॥ ७४ ॥
जीवञ्जीवकसिद्धार्थसारसप्रियवादिनाम् ।
हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा ॥ ७५ ॥
मत्स्याजद्विजराजानां प्रियवक्तुः घृतस्य च ।
रोचिष्कादर्शसिद्धानां रोचनायाश्च दर्शनम् ॥ ७६ ॥

चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी या रिक्त तिथि मे मध्याह्न, आधी रात में, भूकम्प, अथवा ग्रहण काल में, जिस समय वैद्य अप्रशस्त स्थान में स्थित हो, अथवा जब औत्पातिक लक्षण दीखते हो, उस समय मे घबराहट के साथ वैद्य को बुलाने के लिये दूत न जावे। इन उपरोक्त लक्षणों से बचा, प्रशस्त लक्षणों वाला दूत उत्तम है। वैद्य जब रोगी को देखने जावे, और मार्ग में अथवा रोगी

के घर में घुसते समय निम्नलिखित लक्षण दिखाई दे तो शुभ लक्षण समझने चाहिये। जैसे—दही, अक्षत (खीलें चावल), ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, गाय, राजा, रत्न, पानी से भरे घड़े, सफ़ेद घोड़ा, शक्रध्वजा, फल, यावक (यावक-अन्न), गोद में चढ़ा कन्या या पुत्र, बंधा हुआ श्रेष्ठ पशु, खोदी हुई मिट्टी वाली भूमि, जलती हुई आग, लड्डू, सफ़ेद फूल, चन्दन, मनोनुकूल खान-पान, मनुष्यों से भरी गाड़ी, बछड़े समेत गाय, बछेरी समेत घोड़ा, लड़के समेत स्त्री, जीवजीवक (चकोर), सिद्धार्थक, सारस, प्रियवादी (चातक), हंस, कठफोड़ा, चाष (भास पक्षी), मोर, मछली, बकरा, ब्राह्मण, शंख, प्रियंगु, घृत, गोरोचना, शीशा (दर्पण), सफेद सरसों, रोचना इन सब पदार्थों का दर्शन शुभ है ॥ ६९-७६ ॥

गन्धः सुगन्धो वर्णश्च सुशुक्लो मधुरो रसः ।
मृगपक्षिमनुष्याणां प्रशस्ताश्च गिरः शुभाः ॥ ७७ ॥
छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनाः ॥ ७८ ॥
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ।
पथि वेश्मप्रवेशे तु विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥ ७९ ॥

सुगन्ध, श्वेत वर्ण, मधुर रस, मनुष्य, पशु, पक्षियों की शुभ वाणी प्रशस्त समझनी चाहिये। छत्र, ध्वजा, पताकाओं का ऊपर चढ़ा रहना, अथवा इधर उधर आकाश में उड़ते रहना, भेरी, मृदंग, शंख आदि बाजों के पवित्र शब्द, वेद के पढ़ने का शब्द, सुखकारक दक्षिण दिशा की वायु का बहना—ये सब शुभ चिह्न हैं। इन लक्षणों को रास्ते में देख कर रोगी का आरोग्यता को समझ लेना चाहिये ॥ ७७-७९ ॥

मङ्गलाचारसंपन्नः सातुरो वैश्मिको जनः ।
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसंग्रहः ॥ ८० ॥
धनैश्वर्यसुखावाप्तिरिष्टलाभः सुखेन च ।
द्रव्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च ॥ ८१ ॥

रोगी और उसके घर के मनुष्य यदि मंगल आचार वाले, श्रद्धावाले, अनुकूल, बहुत अधिक सामान (धन आदि) वाले, धन-ऐश्वर्य-सुख से परिपूर्ण हों, इष्ट वस्तु सुगमता से मिल सके, उचित तथा अभीष्ट वस्तु की योजना सुगमता से की जा सके, ऐसी अवस्था में सफलता शीघ्र मिलती है ॥ ८०-८१ ॥

गृहप्रासादशैलानां नागानां वृषभस्य च ।
हयानां पुरुषाणां च स्वप्ने समधिरोहणम् ॥ ८२ ॥

अर्णवानां प्रतरणं वृद्धिः सबाधनिःसृतिः।
स्वप्ने देवैः सपितृभिः प्रसन्नैश्चाभिभाषणम् ॥ ८३ ॥
सोमार्काग्निद्विजातीनां गवां नृणां यशस्विनाम्।
दर्शनं शुक्लवस्त्राणां ह्रदस्य विमलस्य च ॥ ८४ ॥
मांस-मत्स्य-विषामेध्यच्छत्रादर्शपरिग्रहः।
स्वप्ने सुमनसां चैव शुक्लानां दर्शनं शुभम् ॥ ८५ ॥
अश्वगोरथयानं च यानं पूर्वोत्तरेण च।
रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ॥ ८६ ॥

रोगी का स्वप्न में घर, महल, पर्वत, हाथी बैल घोड़े आदि पर चढ़ना, समुद्रों को तैरना, समुद्र का बढ़ना, दुःखों से पार होना, प्रसन्न हुए देवताओं और पितरों से बातचीत करना, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, गाय और कीर्तिशाली पुरुषों का दर्शन करना, सफेद वस्त्रों का दर्शन, निर्मल सरोवर का दर्शन होना, मांस, मछली, विष, अपवित्र वस्तु, छत्र, दर्पण इन वस्तुओं को ग्रहण करना, सफेद फूलों का दर्शन या धारण करना, घोड़ा, बैल या रथ पर बैठ कर सवारी करना, पूर्व उत्तर में जाना, रोना वा गिरे हुओं का उठना, शत्रुओं का अवमर्दन करना, ये लक्षण हों तो जाने कि रोगी स्वस्थ हो जायगा ॥ ८२–८६ ॥

सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु।
साध्यत्वं न च निर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥ ८७ ॥
आरोग्याद् बलमायुश्च सुखं च लभते महत्।
इष्टांश्चाप्यपरान् भावान् पुरुषः शुभलक्षणः ॥ ८८ ॥

जिस रोगी की वृत्ति सत्त्व गुण के लक्षणों से युक्त हों, जो रोगी वैद्य और ब्राह्मणों में भक्ति रखता हो, रोगी में आत्मग्लानि भाव न हो तो रोगी को साध्य समझे। उपरोक्त शुभ लक्षणों से मनुष्य को आरोग्य दीर्घायु, महान् सुख एवं अन्य वाञ्छित फल प्राप्त होते हैं ॥ ८७ ८८ ॥

तत्र श्लोकः—उक्तं गोमयचूर्णीये मरणारोग्यलक्षणम्।
दूतस्वप्नान्तरोत्पातयुक्तिसिद्ध्यपाश्रयम् ॥ ८९ ॥

'इस गोमयचूर्णीय' नामक अध्याय में मरण व आरोग्य के लक्षण दूत के लक्षण, स्वप्न के लक्षण, मार्ग में जाते समय शुभ अशुभ उत्पात, रोगी के घर में होने वाले लक्षण, युक्ति और सिद्धि में वर्णन कर दी है ॥८९॥

भवति चात्र—इतीदमुक्तं प्रकृतं यथा तथा
तदन्ववेक्ष्य सततं भिषग्विदा।

तथा हि सिद्धिं च यशश्च शाश्वतं
स सिद्धकर्मा लभते धनानि च ॥ ९० ॥

इस इन्द्रिय स्थान में जिन जिन बातों का वर्णन किया है, वे बातें वैद्य को अवश्य भली प्रकार जाननी चाहियें। इनको जाननेवाला वैद्य 'सिद्धकर्मा' होता है और उसकी चिकित्सा सदा सफल होती है। इससे उसको निरन्तर यश और धन मिलता है ॥ ९० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इतीन्द्रियस्थानं संपूर्णम् ।

चिकित्सितस्थानम्

प्रथमोऽध्यायः

(प्रथमः पादः)

[चिकित्सा शास्त्र के हेतु लिंग और औषध ज्ञान ये तीन ही अंग हैं। ये तीनों अंग स्वस्थ और रोगी दोनों पुरुषों के लिये उपयोगी हैं। इनमें से हेतु और लिंग इन दो बातों का विवेचन पीछे कर चुके हैं। अब औषधज्ञान की व्याख्या के लिये इस स्थान का अवतरण करते हैं। औषध ज्ञान रूप चिकित्सा धर्म, अर्थ और यश को देती है। इस चिकित्सा में भी रसायन और वाजीकरण-चिकित्सा अधिक फलदायक है। क्योंकि इनसे बुढापा आदि स्वाभाविक रोग दूर होते हैं, पुत्रैषणा पूर्ण होती है और रसायन द्वारा अपरिमित आयु प्राप्त होती है, इसलिये रसायनचिकित्सा अधिक महत्त्व की है।]

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम "अभयामलकीय नामक रसायन पाद" की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया था ॥ १-२ ॥

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥ ३ ॥
विद्याद्भेषजनामानि—

भेषज के पर्याय—चिकित्सा, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन और हित ये सब भेषज के पर्याय हैं ॥ ३ ॥

भेषजं द्विविधं च तत्।
स्वस्थस्योजस्करं किंचित्किंचिदार्तस्य रोगनुत् ॥ ४ ॥

भेषज के दो भेद—यह भेषज दो प्रकार का है। एक स्वस्थ पुरुष के ओज, शक्ति या जीवन को बढ़ानेवाला, दूसरा रोगी पुरुष के रोग को नष्ट करनेवाला।

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम्।

अभेषज—अभेषज भी दो प्रकार का है। जैसे एक बाधन और दूसरा सानु-बाधन। इनसे बाधन अभेषज उसी समय के लिये पीड़ा देता है (जैसे—चीता या राई

अथवा भिलावे का लेप)। और सानुबाधन औषध—दीर्घकाल तक रहनेवाले कुष्ठ आदि विकारों को उत्पन्न करता है (जैसे—मत्स्य को दूध के साथ खाना) ॥ ४ ॥

स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद् वृष्य तद् रसायनम् ॥ ५ ॥
प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् ।
प्रायःशब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ॥ ६ ॥

रसायन—जो औषध स्वस्थ पुरुष के बल वीर्य को बढ़ाता है वह औषध प्राय. वृष्य और रसायन होता है। दूसरी प्रकार का औषध प्रायः रोगों का शमन करता है। यहाँ पर प्रयुक्त हुआ 'प्रायः' शब्द विशेषार्थवाची है। साधारणतः दोनों प्रकार के कार्य करते हैं। [जैसे—क्षतक्षीण अध्याय में कहा सर्पिर्गुड रसायन और वृष्य दोनों है।] ॥ ५ ६ ॥

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ॥ ७ ॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ ८ ॥

रसायन के कार्य—रसायन के सेवन से पुरुष दीर्घ आयु, स्मृति (पूर्व अनुभूत का स्मरण करने का सामर्थ्य), मेधा (धारणात्मिका बुद्धि), आरोग्य, तरुण वय (जवानी), प्रभा, वर्ण, स्वर की उदारता (प्रशस्तता), उत्कृष्ट देह-बल, इन्द्रिय-बल, वाक्-सिद्धि (जो कहा जाय वह अवश्य होकर रहे), प्रणति (लोकों की पूजनीयता) और कान्ति प्राप्त करता है।

इन गुणों की प्राप्ति में कारण—प्रशस्त रस (आहार, वीर्य, विपाक)आदि के लाभ के उपाय ही रसायन है। (उत्तम रस से धातु भी उत्तम होते हैं) ॥७-८॥

अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यःसम्प्रहर्षणम् ।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः ॥ ९ ॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते ।
जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद्येन दृश्यते ॥ १० ॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान् ।
भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥ ११ ॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।
यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥ १२ ॥

वाजीकरण औषध—जो औषध सन्तान-परम्परा (सन्तान-तन्तु) पुत्र पौत्रादि की श्रृङ्खला को बनाती है, जिसके सेवन से प्रहर्ष (लिंग में कामोत्तेजना, हर्ष) होता है, जिसके सेवन से पुरुष घोड़े के समान अति बलशाली

होकर स्त्रियों से अप्रतिहत रूप में (बिना शक्ति नष्ट हुए, बिना झिझक के) सम्भोग कर सकता है, जिसके सेवन से पुरुष स्त्रियों का अतिप्रिय बन जाता है, जिसके सेवन से पुष्टि, बल मिलता है, जिसके सेवन से वृद्धावस्था में जीर्ण होता हुआ भी पुरुष अक्षय शुक्र के भण्डार को प्राप्त करके पुत्रवान् हो सकता है, जिसके सेवन से मनुष्य वृक्ष के समान अनेक शाखोंवाला (पुत्र, पौत्र, सगे सम्बन्धियोंवाला) बन जाता है, जिसके सेवन से पुरुष चैत्य (ग्राम तरु या देवमन्दिर) के समान बहुत प्रजावाला, बहुत मानवाला, सर्वप्रिय, पूजनीय होता है, जिसके सेवन से पुरुष मर कर भी सन्तान के कारण होनेवाली अनन्तता, यश, रत्न, बल, पुष्टि को प्राप्त करता है। उस औषध को 'वाजीकरण' कहते हैं ॥ ९-१२ ॥

स्वस्थस्यौजस्करं त्वेतद् द्विविधं प्रोक्तमौषधम् ।
यद् व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥ १३ ॥

स्वस्थ पुरुष के लिये जो दो प्रकार के औषध ऊर्ज को उत्पन्न करते हैं वह कह दिये हैं और जो औषध रोग का नाश करता है, उसको चिकित्साधिकार में कहेंगे ॥ १३ ॥

चिकित्सितार्थ एतावान्विकाराणां यदौषधम् ।
रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च ॥ १४ ॥

ज्वर आदि रोगों को शमन करनेवाले औषध का उपदेश ही चिकित्सा-अधिकार का प्रयोजन है। वैसे रसायन और वाजीकरण भी चिकित्सा में ही सम्मिलित हैं। ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा से पूर्व रसायन और वाजीकरण को कहा है ॥ १४ ॥

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात् ।
तदसेव्यं, निषेव्यं, तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥ १५ ॥

अभेषज का लक्षण— जो औषध से विपरीत हो, उसका नाम अभेषज है, यह सेवन के अयोग्य है। जो औषध सेवन करने योग्य है, उसका अब उपदेश करते हैं ॥ १५ ॥

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः ।
कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च ॥ १६ ॥

ऋषियों ने रसायनों के प्रयोग की दो प्रकार की विधि कही है। (१) वातातपिक और (२) कुटी-प्रावेशिक। इनमें कुटी-प्रावेशिक विधि अधिक प्रभावशाली है ॥ १६ ॥

कुटीप्रावेशिकस्याऽऽदौ विधिः समुपदेक्ष्यते ।
नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥ १७ ॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे ।
दिशि पूर्वोत्तरस्यां तु सुभूमौ कारयेत्कुटीम् ॥ १८ ॥
विस्तारोत्सेधसंपन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ।
घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम् ॥ १९ ॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम् ।
इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥ २० ॥

अब कुटी प्रावेशिक विधि का उपदेश करेंगे—

कुटी प्रावेशिक विधि—जिस स्थान पर राजा, वैद्य, ब्राह्मण और पुण्य कर्म करनेवाले साधु सन्त रहते हों, जो स्थान निर्भय, प्रशस्त हो, जहा पर सब प्रकार के साधन मिल सके, ऐसे नगर मे अच्छी भूमि पर पूर्व या उत्तर दिशा में कुटी बनवावे । वह कुटी पर्याप्त लम्बी, चौड़ी, ऊंची होनी चाहिये । इसमें तीन गर्भ ऐसे हों कि एक के अन्दर दूसरा और दूसरे में तीसरा घर हो । इसमें छोटे २ रोशनदान (झरोखे) हों । इस कुटी की दीवारे मोटी, ऋतु के अनुकूल सुखदायक, खूब प्रकाशयुक्त, मन का लुभानेवाली, अशुभ शब्द आदि की पहुंच से बाहर, स्त्री रहित, आकाङ्क्षित साधनों से सज्जित और वैद्य, औषध और ब्राह्मण जहा पर सदा रह सके, ऐसी कुटी बनानी चाहिये ॥१७–२०॥

अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते ।
मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥ २१ ॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः ।
विधूय मानसान्दोषान्मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥ २२ ॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम् ।
देवगोब्राह्मणान्कृत्वा ततस्तां प्रविशेत्कुटीम् ॥ २३ ॥

जिस दिन सूर्यभगवान् उत्तरायण मे हों, शुक्ल पक्ष हो, प्रशस्त तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त, करण में मुण्डन करा के श्रद्धा और एकाग्र मन से धृति (धैर्य), स्मृति के बल से, रज, तम, आदि मानसिक दोषों को जीत कर सब प्राणियों मे मैत्री का चिन्तन करते हुए, प्रथम देव, ब्राह्मण की पूजा करके, देवता, गौ और ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके कुटी में प्रवेश करे ॥ २१–२३ ॥

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ।
रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥ २४ ॥

कुटी में प्रविष्ट होकर संशोधन ओषधियों से शुद्ध होकर पुनः बलवान् होने पर रसायन का प्रयोग करे। इसलिये प्रथम संशोधनों को कहते हैं ॥ २४ ॥

हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम् ।
वचां विडङ्गं रजनी पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः ॥ २५ ॥
तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ।
त्रिरात्रं यावकं दद्यात्पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा ।
सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥ २६ ॥
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत् ।
वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥ २७ ॥

संशोधन—हरड़ का चूर्ण, सेन्धा नमक, आवला, गुड़, वच, बायविडंग, हल्दी, पीपल और सोंठ इनके चूर्ण को गरम पानी के साथ पीना चाहिये। संशोधन देने से पूर्व रोगी को स्नेहन और स्वेदन दे देना चाहिये। इस प्रकार से शरीर के शुद्ध होने पर पेया आदि पथ्य के क्रम का अनुष्ठान कर चुकने पर हीन, मध्यम और उत्तम शुद्धि की दृष्टि से तीन दिन, पांच दिन और सात दिन जब तक पुराना मल बाहर न हो जाये तब तक यवान्न (जौ का बना भोजन वा कुल्माष, मोटा धान्य) घी के साथ देना चाहिये। जिस समय कोष्ठ शुद्ध हो जाये उस समय रसायन का उपयोग करे। वय, प्रकृति और सात्म्य को समझनेवाले वैद्य को चाहिये कि जो रसायन उपयोगी हो उसी का प्रयोग करे ॥ २५–२७ ॥

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम् ।
दोषानुलोमिनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ॥ २८ ॥
आयुष्या पौष्टिकी धन्या वयसः स्थापनी पराम् ।
सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ॥ २९ ॥

हरड़ के गुण—यद्यपि आयुःस्थापक द्रव्यों में आवला ही श्रेष्ठ है, परन्तु विरेचक गुण के होने से रोगनिवारक वस्तुओं में हरड़ ही श्रेष्ठ है। हरड़ में लवण रस को छोड़ कर शेष पांचों रस हैं, उसे उष्ण वीर्य, कल्याणकारिणी, दोषों का अनुलोमन करनेवाली, लघु, अग्निदीपक, पाचक, आयु को बढ़ानेवाली, पौष्टिक, धन्य, उत्कृष्ट आयुःस्थापक, सब रोगों का नाश करने वाली, बुद्धि इन्द्रिय बल को देने वाली जाने ॥ २८–२९ ॥

कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥ ३० ॥

हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम् ।
कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥ ३१ ॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन् ।
श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम् ॥ ३२ ॥
स्रोतोविबन्धान्विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः ।
स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥ ३३ ॥

कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त्त, शोथ, पाण्डुरोग, मद, अर्श, ग्रहणी, पुराने विषम ज्वर, हृदयरोग, शिरोरोग, अतिसार, अरुचि, कास, प्रमेह, आनाह (अफरा), प्लीहा (बढ़ी तिल्ली), नवीन उदररोग, कफ-प्रसेक (मुख से लार बहना, कफ का जाना), स्वरभेद, विवर्णता, कामला, क्रमिरोग, श्वयथु (शोथ), तमक, छर्दि (कै), क्लीबता, अगों का अवसाद (शिथिलता), रसवह आदि स्रोतों के अवरोध, हृदय और छाती की कफ आदि से उत्पन्न लिप्तता, स्मृति और बुद्धिनाश (अज्ञान) इन विकारों को हरड शीघ्र ही जीत लेती है ॥ ३०-३३ ॥

अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्षिताः ।
सेवेरन्नभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ॥ ३४ ॥

हरीतकी सेवन के योग्य व्यक्ति—अजीर्ण के रोगी, रूक्ष आहार करनेवाले, स्त्री-सम्भोग या विष के कारण दुर्बल व्यक्ति भूख, प्यास और गरमी से पीड़ित पुरुष हरड का सेवन करें ॥ ३४ ॥

तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकेष्वपि ।
यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥ ३५ ॥
अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरीदृशैः ।
हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च ॥ ३६ ॥
ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः ।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥ ३७ ॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि ।
आदित्य-सलिल-च्छाया-पवन प्रीणितानि च ॥ ३८ ॥
यान्यदग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च ।
तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम् ॥ ३९ ॥

आंवले के गुण-कर्म—हरड़ के समान ही आवले में गुण और कर्म जाने । परन्तु आवले का वीर्य हरड़ से विपरीत अर्थात् शीत है । इसलिये उपरोक्त गुणों के कारण अस्थिरहित बीजरहित आवले और हरड़ को अमृत के समान समझना

चाहिये। गुठलीरहित हरड़ आवले का प्रयोग और परिमाण जानना चाहिये। श्रेष्ठ हिमालय पर्वत ही औषधियों के लिये उत्कृष्ट भूमि है। इसलिये अपनी ऋतु में उत्पन्न मौसमी फलों को हिमालय पर्वत से समय समय पर लेना चाहिये। ये फल रस और वीर्य से परिपुष्ट होने चाहियें। ये फल सूर्य, वायु, छाया, पानी से तृप्त व हरे-भरे होने चाहिये। जो फल कृमि आदि से न खाये हों सड़े न हों, जिन पर चोट न लगी हो, रोग रहित हों, उन फलों का प्रयोग और उत्तम कर्मों का अब उपदेश करूंगा ॥ ३५–३६ ॥

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान्दशपलोन्मितान्।
हरितकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम् ॥ ४० ॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम्।
विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥ ४१ ॥
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम्।
पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामेरण्डमेव च ॥ ४२ ॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम्।
शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ॥ ४३ ॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत्।
भागान्यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि ॥ ४४ ॥
दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम्।
हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यामलकानि च ॥ ४५ ॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः।
विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत् ॥ ४६ ॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च।
मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा ॥ ४७ ॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च।
भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मेलायास्त्वचस्तथा ॥ ४८ ॥
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम्।
तैलस्य द्व्याढकं तत्र दद्यात् त्रीणि च सर्पिषः ॥ ४९ ॥
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना।
ज्ञात्वा लेहमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ॥ ५० ॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत्सर्वं घृतभाजने।
तिष्ठेत्संमूर्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ॥ ५१ ॥

या नोपरुन्ध्यादाहारमेतं मात्रां जरां प्रति ।
षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ॥ ५२ ॥

ब्राह्म रसायन—पाचों पंच मूलो के पृथक् पृथक् दस पल (एक पल = ८ तोले के) लेने चाहिये । हरड़ एक हजार, नया आवला तीन हजार लेने चाहियें। पाच पचमूल पहला (१) पचमूल विदारिगन्धा (शालपर्णी), (२) बृहती (बड़ी कटेरी), (३) पृश्निपर्णी, (४) निदिग्धिका (छोटी कटेरी) और (५) गोलरू ये पाच विदारीगन्धादि पचमूल है । इसको क्षुद्र पचमूल भी कहते हैं ।

(२) दूसरा पचमूल—बिल्व (बेल), अग्निमन्थ (अरणी), स्योनाक (सोनापाठा), काश्मरी (गम्भारी) और पाटला इसे महा-पचमूल कहते हैं ।

(३) तीसरा पचमूल—पुनर्नवा, शूर्पपर्णी, (मुद्गपर्णी और माषपर्णी), बला और एरण्ड ।

(४) चौथा पचमूल ऋषभक, जीवक, मेदा, जीवन्ती और शतावरी ।

(५) पाचवा पचमूल—शर, इक्षु, दर्भ, काश तथा शाली की जड़ ।

उपरोक्त औषधियों को दस गुणे जल में डाल कर क्वाथ करना चाहिये और जल का दसवा भाग शेष रहने पर निर्मल वस्त्र से छान लेवे । हरड़ और आवलों को निकाल कर इनकी गुठलियों को बाहर कर देना चाहिये । फिर कुचल कर कूर्चनों से इनके रेशे बाहर कर लेने चाहियें । ॐ रेशे निकल जाने पर हरड़ और आंवले की पिट्ठी को क्वाथ में डाल देना चाहिये । साथ में निम्न वस्तुओं का चूर्ण भी क्वाथ में मिला देना चाहिये । यथा—मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शखपुष्पी, स्नव (केवटी मोथा), मोथा, वायविडग, लालचन्दन, अगरु, मुलहठी, हल्दी, वच, कनक (नाग केसर), छोटी इलायची और दालचीनी, प्रत्येक चार पल, मिश्री १००० पल, तैल २ आढक, घी ३

ॐ (१) आवल और हरड़ के रेशे निकालने के लिये कूर्चनों का उपयोग करते हैं । एक लकड़ी में तीन चार सूइया लगी रहती हैं । उन को इन पर फेरने से रेशे इन में फस जाते हैं । हरड़ और आवले में सूत होते हैं, इसलिये लकड़ी के कूर्चनो का उपयोग करना चाहिये । अथवा हरड़ और आंवले को कपड़े में मथ कर निकालना चाहिये । इससे रेशे ऊपर रह जाते हैं ।

आद्रक * इन सब को औडुम्बर (ताम्र) के कलई किये बर्त्तन मे कोमलाग्नि पर पाक करना चाहिये। जब लेह भली प्रकार बन जाये और जले नहीं, तब उतार लेना चाहिये। ठण्डा होनेपर इसमें शहद मिलाना चाहिये। शहद की मात्रा घी और तेल की मात्रा से आधी होनी चाहिये। इन सब को घी से भावित पात्र मे रखना चाहिये। मात्रा और समय को देख कर इतना इस अवलेह का खाये जो पच जाये और भूख को नष्ट न करे। [साधारण मात्रा एक तोला]। सेवन करनेवाला व्यक्ति पूर्ववत् आहार राशि का उपयोग करे। इस अवलेह के जीर्ण होने पर दूध क साथ साठी चावलों का भात खाना चाहिये ॥ ४०-५२ ॥

वैखानसा बालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः।
रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः ॥ ५३ ॥
भुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वय ।
वीत तन्द्रा-क्लम-श्वासा निरातङ्काः समाहिताः॥ ५४ ॥
मेधा-स्मृति-बलोपेताश्चिररात्र तपोधनाः ।
ब्राह्म तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ॥ ५५ ॥
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत् ।
दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्य कामांश्चेष्टान् समश्नुते ॥ ५६ ॥
इति ब्राह्मरसायनम्।

वैखानस, बालखिल्य और अन्य तपस्वी लोगों ने इस रसायन के सेवन से अपरिमित आयु प्राप्त की। जीर्ण, शीर्ण, वृद्ध शरीर त्याग कर नया सुन्दर जवान शरीर और आयु पाई। इसके सेवन से तपस्वी लोग तन्द्रा, क्लम (थकान) श्वास (श्रमजन्य) से रहित, नीरोग, मेधा, स्मृति, बल से युक्त होकर बहुत

* परिभाषा-नियम से, घी और तैल द्विगुण करना चाहिये। अष्टाग-सग्रह में यह योग आया है। वहा पर दुगने का विधान दिया है।

यहा पर सब घी, तैल, क्वाथ, चूर्ण, मिश्री को एक साथ पाक करने की विधि बतलाई है। यदि इनको पृथक् पृथक् भी पकाये तो भी कार्य हो जायेगा। हरड़ और आवले तो घी और तैल में भून कर रख ले। इस पिट्ठी को क्वाथ और मिश्री में मिला कर पाक करें। आसन्न पाक होने पर मण्डूकपर्णी आदि का चूर्ण मिला कर उतार लें और शीतल होने पर शहद मिला देवें।

हरड़ और आवले को भूनते समय लोहे की कड़ाही या काँचे का उपयोग न करके कलई वाले पात्र तथा लकड़ी का प्रयोग करना उत्तम है।

दिनों तक व्रत, तप, एवं ब्रह्मचर्य का अत्यन्त एकाग्रता (निष्ठा) के साथ पालन कर सके। दीर्घायु को चाहनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि इस रसायन का उपयोग करे। इसके सेवन से दीर्घायु, श्रेष्ठ वय, मनचाही कामनायें प्राप्त होती हैं ॥ ५३–५६ ॥

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्ट-स्वेदन-विधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्, तदामलकसहस्रं स्वरसपरिपीतं स्थिरा-पुनर्नवा-जीवन्ती- नागबला ब्रह्मसुवर्चला–मण्डूकपर्णी–शतावरी–शङ्खपुष्पी-पिप्पली-वचा-विडङ्ग स्वयंगुप्तामृता-चन्दनागुरु-मधुक-मधूक-पुष्पोत्पल-पद्म-मालती-युवती यूथिका-चूर्णाष्टभाग-संयुक्तं, पुनर्नागबला-सहस्रपल-स्वरस-परिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितमपिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृति कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्त-र्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनक रजत-ताम्र–प्रवाल–कालायस–चूर्णाष्टभाग–सयुक्तमर्धकर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति ॥ ५७ ॥

ब्राह्म रसायन—ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त एक हजार आंवलों को पिष्ट-स्वेदन विधि द्वारा दूध की गरमी से स्विन्न करना चाहिये*। जब भली प्रकार से स्विन्न हो जायें तब इनकी गुठली निकाल कर इनको छाया में शुष्ककर लेना चाहिये। शुष्क होने पर इनके चूर्ण को एक एक हजार आंवलों

---

* पिष्ट-स्वेदन विधि कई प्रकार की है। जैसे—

(१) एक मलमल में आवले बांधकर हाडी के मुख में लटका देना चाहिये। हाडी में दूध भर देना चाहिये। दूध आंवलों को छुए नहीं। इसको कोमल आग पर गरम करना चाहिये। जब आंवले नरम हो जावें तब बाहर कर ले। (२) हाडी में दूध भर कर हाडी के मुख पर जाली या मलमल बांधकर उस पर आंवले रख दें। ऊपर से दूसरी हाडी ढांप दे। फिर गरम करें। (३) हाडी में दूध भर कर ऊपर मुख पर घास आदि रखकर उस पर आंवले रख कर गरम करें।

(२) क्षुद्र गुडाकृति का अर्थ चक्रपाणि ने फाणित, राब किया है। राब के समान होने पर—

(३) अष्टाग संग्रह में—'द्विगुण-सर्पिषा क्षौद्रेण' यह पाठ है। अर्थात् शहद से घी दुगुना लेना चाहिये। यह ठीक भी है।

का स्वरस मिला देना चाहिये। आवलों के ताजे रस में इस चूर्ण को रख देना चाहिये। रस के शुष्क होने पर शालिपर्णी, पुनर्नवा, नागबला, ब्रह्म-सुवर्चला (ब्राह्मी), मण्डूकपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी (शखाहूली), पिप्पली, वच, वायविडग, कौंच, गिलोय, लाल चन्दन, अगरु, मुलहठी, महुवे के फूल, नीला कमल, श्वेत कमल, मालती, युवती (नवमालिका, मागरा), यूथिका (जूही, श्वेतपुष्पा), इनका चूर्ण मिलाना चाहिये। इन सब का चूर्ण स्वरस से भावित आवले के चूर्ण से अष्टमाश होना चाहिये। फिर इस सम्पूर्ण चूर्ण में एक हज़ार पल नागबला का स्वरस डालकर छाया मे शुष्क करना चाहिये। शुष्क होने पर दुगना घी अथवा एक साथ मिले घी और शहद मिलाकर गुड़ के समान बन जाने पर छोटा छोटी डलिया बाधकर घी से भावित पवित्र दृढ़ पात्र मे रखकर उपलों की राख मे भूमि क अन्दर गाड़ देना चाहिये। अथर्ववेद के ज्ञाता विद्वानों से रक्षाविधान कराके गर्त्तों में गाड़ना चाहिये। पन्द्रह दिन तक औषध को भूमि मे गड़े रहने देना चाहिये। पन्द्रह दिन के पीछे निकाल कर स्वर्ण, चादी, ताम्र, प्रवाल, कालायस (फौलाद) की भस्मों को औषध मे अष्टमाश मिलाना चाहिये। इस रसायन को कुटी-प्रावेशिक विधि के अनुसार आधा कर्ष (१ तोला) से प्रारम्भ करके धीरे धीरे आधा आधा कर्ष बढ़ाते हुए प्रात. सेवन करना चाहिये। इसका प्रयोग करते समय अग्नि के बल का ध्यान रखना चाहिये। जब यह औषध जीर्ण हो जाये तब घी से मिश्रित साठी के भात को दूध के साथ खाना चाहिये। इस रसायन से उपरोक्त कहे गुण प्राप्त होते हैं ॥ ५७ ॥

भवन्ति चात्र—इदं रसायन ब्राह्मं महर्षिगणसेवितम् ।
भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः ॥ ५८ ॥
कान्तः प्रजाना सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः ।
श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते ॥ ५९ ॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः ।
स भवत्यविषं चास्य गात्रे संपद्यते विषम् ॥ ६० ॥
इति ब्राह्मरसायनद्वितीययोगः ।

इस ब्राह्म रसायन को महर्षियो ने सेवन किया था। इसके सेवन से पुरुष नीरोग, दीर्घायु, महाबलशाली जनता मे प्रिय, सुन्दर (जिसे जनता चाहती है), उसकी सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं। वह चन्द्रमा और सूर्य के समान कान्तियुक्त होता है, वह सुनते ही याद कर लेता है, उसका मन आर्षप्रकृति का

हो जाता है, वह पर्वत के समान लम्बा-चौड़ा डीलडौल का, वायु के समान पराक्रमी हो जाता है। विष भी इसके शरीर में पहुंचकर अविष, (विषरहित) बन जाता है। यह ब्राह्म रसायन का द्वितीय योग है ॥ ५८-६० ॥

बिल्वोऽग्निमन्थः स्योनाकः काश्मरी पाटलिर्बला ।
पर्ण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम् ॥ ६१ ॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरुः ।
अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शठी ॥ ६२ ॥
मुस्तं पुनर्नवा मेदा एला चन्दनमुत्पलम् ।
विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका ॥ ६३ ॥
एषां पलोन्मितान्भागाञ्छतान्यामलकस्य च ।
पञ्च दद्यात्तदैकत्र जलद्रोणे विपाचयेत् ॥ ६४ ॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम् ।
तच्चाऽऽमलकमुद्धृत्य निष्कुल तैलसर्पिषोः ॥ ६५ ॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्वा चार्धतुला भिषक् ।
मत्स्यण्डिकायाः पूताया लेहवत्साधु साधयेत् ॥ ६६ ॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते समावपेत् ।
चतुष्पल तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपल तथा ॥ ६७ ॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात् ।
इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तं रसायनम् ॥ ६८ ॥
कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते ।
क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः ॥ ६९ ॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम् ।
पिपासां मूत्रशुक्रस्थान्दोषांश्चाप्यपकर्षति ॥ ७० ॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम् ।
अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा ॥ ७१ ॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम् ।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥ ७२ ॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात् ।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ ७३ ॥

इति च्यवनप्राशः ।

च्यवनप्राश—बेल की छाल, अरणी की छाल, अरलु की छाल, गम्भारी की

छाल, पाढल की छाल, खरेंटी, चारों पर्णिया (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), पिप्पली, गोखरू, दोनों छोटी बड़ी कटेरी, काकड़ासिङ्गी, तामलकी (भुई आवला), द्राक्षा, जीवन्ती, पुष्करमूल, अगरु, हरड बड़ी, गिलोय, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, शठी (कचूर), नागरमोथा, पुनर्नवा, मेदा, छोटी इलायची, लाल चन्दन, कमल गट्टा, विदारी, अडूसे की जड, काकोली, काकनासा (कौआ ठोडी), प्रत्येक एक एक पल, आवले १०० इनको एक द्रोण (परिभाषा से दुगने) जल में पकावे। पकाते समय आवलों को पोटली में बॉध कर क्वाथ में छोड़ना चाहिये। जब ओषधियों का रस क्वाथ मे आ जाये और ओषधिया नीरस हो जायें तब पोटली को निकाल कर क्वाथ छान लेना चाहिये। इन आवलों की गुठलियों को निकाल कर कपड़े में से आवलों को हाथ से रगड़ कर छानना चाहिये। जिससे रेशे निकल जायें और नरम पिट्ठी सी बन जाये। इस पिट्ठी को मिलित तैल एव घी के बारह पल में भून लेना चाहिये। भूनना इतना चाहिये कि रग लाल सा हो जाये। क्वाथ में ५० पल राब या दानेदार खाड मिलाकर लेह पकाना चाहिये। पकाने से पूर्व छानकर आवले की पिट्ठी इसमें मिला दे। जब पाक तैयार हो जाय तो इसको उतार ले। ठण्डा होने पर छ. पल (४८ तोला) मधु, वंशलोचन ४ पल, पिप्पली दो पल, दालचीनी, इलायची, तेजपात और नागकेसर मिलित १ पल मिला दे। पकाते समय निरन्तर लकड़ी के कौंचे (पलटा) से चलाता जावे।

[च्यवनप्राश का पाठ कई पुस्तकों में है। चिकित्सा-कलिका, योग रत्नाकर और शार्ङ्गधर में कुछ ओषधियों का भेद है। किसी में ३५, किसी मे ३८ और किसी मे ३६ हैं। क्वाथविधि मे भी कहीं चतुर्थांश शेष रखने की विधि लिखी है, कहीं अष्टमांश की। ओषधियों का रस क्वाथ में आना चाहिये। साथ ही शार्ङ्गधर मे तैल के अन्दर आवले भूनने का विधान नहीं। वहा पर केवल घी का ही प्रयोग किया है।]

यह च्यवनप्राश उत्तम रसायन है। खासकर कास, श्वास, को नष्ट करता है। क्षीणक्षत, वृद्ध एव बालकों के अगों को बढाता है। स्वरक्षय, उरोरोग, हृदयरोग, वात-रक्त, पिपासा, मूत्रस्थान, शुक्रस्थान के रोगों (वीर्यदोष) को नष्ट करता है। इस च्यवनप्राश की मात्रा इतनी लेनी चाहिये जिससे भूख नष्ट न हो। इसके प्रयोग से वृद्ध च्यवन ऋषि भी पुनः जवान बन गये थे। इस रसायन के प्रयोग से मेधा, स्मृति, कांति, नीरोगता, आयु की दीर्घता, इन्द्रियों की सबलता, मैथुन में समर्थता, देहाग्नि की वृद्धि, वर्ण की निर्मलता, वायु की

अनुलोमता प्राप्त होती है। कुटी-प्रावेशिक विधि से इस रसायन का प्रयोग करने वाला वृद्ध पुरुष भी वार्द्धक्य के चिह्नों से रहित होकर नई जवानी के रूप को धारण करता है, (मात्रा १ से २ तोला तक) ॥ ६१-७३ ॥

अथाऽऽमलक-हरीतकीनामामलक-बिभीतकानां हरीतकी-बिभीतकानामामलक-हरीतकी-बिभीतकानां वा पलाशत्वगवनद्धानां मृदावलिप्तानां कुकूलके स्विन्नानामकुलकानां पल-सहस्रमुदूखले सम्मथ्य दधि-घृत-मधु-पलल तैल-शर्करा संप्रयुक्तं भक्षयेदनन्नभुग्यथोक्तेन विधिना, तस्यान्ते यवाग्वादिभिः प्रकृत्यवस्थापनमभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णेश्च, अयं च रसायन-प्रयोग-प्रकर्षो द्विस्तावदग्नि-बलमभिसमीक्ष्य प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षाष्टकः ससर्पिष्कोऽतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्। अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुः, बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीर-बुद्धीन्द्रिय-बल-समुदिताः, चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तप इति ॥ ७४ ॥ इति चतुर्थामलकरसायनम्।

आमलक रसायन (४)—आवले और हरड, (२) आवले और बहेड़ा (३) हरड और बहेड़ा, (४) या आवला हरड और बहेड़ा इन चारों में से किसी एक योग को लेकर, ढाक की गीली छाल से लपेट कर, ऊपर से मिट्टी का लेप चढ़ा कर गोहों की आग में स्विन्न करना चाहिये। स्विन्न होने पर इनकी गुठलियां निकाल कर एक हजार पल परिमित मात्रा में ऊखल से कूट ले। इनमें दही, घी, शहद, पलल (तिल कल्क), तैल, शर्करा मिला कर कुटीप्रावेशिक विधि से सेवन करे। इस के सेवन के समय दूसरा किसी प्रकार का कोई अन्न आहार नहीं खाना चाहिये। पश्चात् यवागू आदि पेया द्वारा प्रकृति में अर्थात् पूर्व भोजन पर आना चाहिये। प्रति दिन घी का मालिश और जौ के चूर्ण से उबटन करे*। अग्नि बल को देखते हुए इस रसायन को दो ही बार सेवन करे। भोजन में घी युक्त साठी को यूष या दूध के साथ खाना चाहिये। इसके पश्चात् यथेच्छ आहार-विहार का उपभोग करना चाहिये। इस प्रयोग से ऋषियों ने पुनः युवावस्था को प्राप्त किया था, अनेक वर्षों की आयु भोगी थी, वे देर तक नीरोग और शरीर बुद्धि, इन्द्रिय बल से युक्त रहे, उन्होंने अत्यन्त निष्ठा से तप किया ॥ ७४ ॥

हरीतक्यामलक-बिभीतक-पञ्च पञ्चमूल-निर्यूहेण पिप्पली-मधु-मधूक-काकोली-क्षीरकाकोल्यात्मगुप्ता-जीवकर्षभक-क्षीर-शुक्ला-कल्क-संप्र-

* अष्टाङ्गसङ्ग्रह के अनुसार रसायनावधि प्रयोग के दुगने दिन घी की मालिश और जौ का उबटन करना चाहिये।

युक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसंप्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमा मात्रां, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नन्, जरा-व्याधि-पापाभिचार-व्यपगत-भयः, शरीरेन्द्रिय-बुद्धि-बलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरवाप्नुयादिति ॥ ७५ ॥ इति पञ्चमो हरीतकीयोगः[1] ।

हरितक्यादि योग—हरड़, बहेड़ा, आवला, पाचों पंचमूल इनके सम्मिलित क्वाथ में, पिप्पली, मुलइठी, महुआ, काकोली, क्षीरकाकोली, कौंच बीज, जीवक, ऋषभक, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी या निशोथ) इनके कल्क से, विदारी के स्वरस से, आठ गुण दूध मिलाकर दो गुणा गोघृत सिद्ध करे *। जाठराग्नि के बल के अनुसार इसका उपयोग करे।

जीर्ण होने पर दूध और घी के साथ शालि (हेमन्त धान) या साठी का भात खाना चाहिये। अनुपान गरम जल होना चाहिये। इसके प्रयोग से बुढ़ापा पाप और रोग तथा अभिचार का भय नहीं रहता। इसके सेवन से देह, इन्द्रिय और बुद्धि का अतुल बल हो जाता है। सब कार्य विना बाधा के पूर्ण होते हैं तथा पूर्ण आयु प्राप्त होती है ॥ ७५ ॥

हरीतक्यामलक-बिभीतक-हरिद्रा-स्थिरा-वचा [बला] विडङ्गामृतवल्ली-विश्वभेषज मधुक-पिप्पली-सोमवल्क-सिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलक-स्वरस-शत-पल-परिपीतमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकमश्नीयात्। त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषीभवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अदृ [धृ] श्यो (ष्यो) भूतानां भवतीति ॥ ७६ ॥ इति षष्ठो हरीतकीयोगः।

---

१. इतिपञ्चमामलकरसायनम् ।

*पाक विधि—चक्रपाणि के अनुसार हरीतकी आदि का क्वाथ एक भाग, विदारी स्वरस एक भाग, दूध आठ भाग, घी एक भाग। अष्टागसग्रह के अनुसार—घी ४ द्रोण, क्वाथ ८ द्रोण, स्वरस ८ द्रोण, दूध ३२ द्रोण। परिभाषा नियम से—घी ४ द्रोण, क्वाथ १६ द्रोण, स्वरस १६ द्रोण, दूध ३२ द्रोण लेना चाहिये। यथा—

जलस्नेहौषधानाञ्च प्रमाणं यत्र नेरितम्।
तत्र स्यादौषधः स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ॥

हरितक्यादि योग (२)—हरड़, आवला, बहेड़ा पृश्निपर्णी, हल्दी, खरैंटी, बायविडंग, गिलोय, सोंठ, मुलहठी, पिप्पली, सोमवल्क (खदिर श्वेत) इनके क्वाथ से सिद्ध दूध में से बनाये घी के साथ मधु और शर्करा मिलाकर तथा एक सौ आवलों के चूर्ण को आवलों का स्वरस मिलाकर इस चूर्ण से चतुर्थांश लोह भस्म मिलाकर दोनों का सम्मिलित करके प्रति दिन प्रातः कुटि प्रावेशिक विधि से एक कर्ष मात्रा से सेवन करे। सायकाल घी मिश्रित शालि या साठी के भात को दूध या मूंग के यूष के साथ खाना चाहिये। इस प्रकार से तीन साल तक इस प्रयोग को करने पर एक सौ वर्ष तक बिना बुढापे के आयु रहती है, पढा, सुना सब याद रहता है सब रोग नष्ट हो जाते हैं, शरीर में विष निर्विष हो जाता है, शरीर पत्थर के समान दृढ हो जाता है, प्राणियों से तिरस्कृत नहीं होता। ['अदृश्यो भूताना भवति' के स्थान पर 'अधृष्यो भूताना भवति' पाठ ठीक है। यही अर्थ किया है। बला के स्थान पर वचा भी पाठ है। कविराज गंगाधर सेन ने हरितकी आदि द्रव्यों के क्वाथ और कल्क दोनों में घृतपाक का विधान किया है] ॥७६॥

भवन्ति चात्र—यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवता सुधा।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ॥ ७७ ॥
न जरा न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ॥ ७८ ॥
न केवलं दीर्घमिहाऽऽयुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षर (य) म् ॥७९॥

जिस प्रकार देवताओं के लिये अमृत, नागों के लिये सुधा थी, उसी प्रकार पूर्व काल में महर्षियों के लिये रसायन विधि थी। उस समय में रसायन को सेवन करने वाले महर्षि न वृद्धावस्था, न दुर्बलता, न रोग और न मृत्यु को ही (काल से पूर्व) प्राप्त हुए। उन्होंने हजारों वर्षों की आयु भोगी थी। जो पुरुष विधिपूर्वक रसायन का सेवन करता है उसे केवल दीर्घायु ही नहीं मिलती अपि तु वह देवर्षियों से प्राप्त शुभ गति को प्राप्त करता है, ब्रह्म (परमात्मा) का साक्षात्कार करता है, उस अक्षय ब्रह्म के प्राप्त होने से मुक्ति मिल जाती है ॥ ७७–७९ ॥

तत्र श्लोकः—अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगाः परिकीर्तिताः।
रसायनानां सिद्धानामायुर्यैरनुवर्तते ॥ ८० ॥

इस अभयामलकीय रसायन पाद में सिद्ध रसायनों के छः प्रयोग कहे हैं, जिनके सेवन से दीर्घायु मिलता है ॥ ८० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेप्रथमेऽध्यायेऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः।

(द्वितीयः पादः)

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'प्राण कामीय' नामक रसायन पाद की व्याख्या करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवाऽपरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रा-तन्द्रा-श्रम-क्लमालस्य-दौर्बल्यापहरमनिल-कफ-पित्त-साम्य-करं स्थैर्यकरमबद्ध-मांसहरमन्तरग्निसंधुक्षणं प्रभा-वर्ण-स्वरोत्तमकरं रसायनविधानम्। अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः। स्थिर-सम-सुविभक्त मांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः सुप्रसन्न-बल-वर्णेन्द्रियाः सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमा सर्वक्लेशसहाश्च। सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ल-लवण-कटुक-क्षार-शुष्क-शाक-माष[1] तिल-पलल-पिष्टान्न-भोजिनां विरूढ-नव-शूक-शमीधान्य-विरुद्धासात्म्य-रूक्ष-क्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्न-गुरु-पूति-पर्युषित भोजिनां विषमाशनाध्यशनप्रियाणां[2] दिवास्वप्न-स्त्री-मद्य-नित्यानां विषमातिमात्र-व्यायाम-संक्षोभित-शरीराणां भय-क्रोध-शोक लोभ मोहायास-बहुलानाम्। अतो निमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयो विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदो, न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते, क्षयमुपैत्योजः। स एवभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रा-तन्द्रालस्य-समन्वितोऽनारतमाशु चैव निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसानां, नष्ट-स्मृति-बुद्धि-च्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति। तस्मादेतान्दोषानवेक्षमाणः सर्वान्यथोक्तानहितानपास्याऽऽहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—॥ ३ ॥

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहत-गन्ध-वर्ण-रसानामापूर्ण-रस-प्रमाण-वीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवा-कल्क-संप्रयुक्तेन सर्पिषः साधयेदाढकं अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्ती-कल्क-संप्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरी-कल्क-संप्रयुक्तेन। अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्करा-क्षौद्र-चतुर्भागसंप्रयुक्तं

---

१. 'मांस' इति च पाठः। २ "प्रायाणां" इति च पाठः।

सौवर्णे राजते मार्त्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्। तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रात प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। अस्य त्रिवर्षप्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीष्वपत्यवान् भवति ॥ ४ ॥

हे प्राण (दीर्घ आयु और स्वस्थता) की कामना रखनेवालों ! सुनो जो हम कहते हैं, अमृत जिस प्रकार से देवताओं के लिये हितकारी है, उसी प्रकार से यह रसायन विधि तुम्हारे लिये दूसरे अमृत के समान हितकारी और उपयोगी है, यह रसायन विधि अचिन्त्य प्रभाव होने से अद्भुत शक्तिवाली, आयुवर्द्धक, आरोग्यदायक, आयुस्थापक, निद्रा (वैकारिक), तन्द्रा, श्रम (थकान), क्लम (पीड़ा), आलस्य और निर्बलता को दूर करनेवाली, वात, कफ और पित्त को शान्त करती है, स्थिरता (दृढता) को उत्पन्न करती है, अबद्ध (शिथिल) मांस को सुगठित बनाती है, कायाग्नि को प्रदीप्त करती है, प्रभा (कान्ति), स्वर और वर्ण को श्रेष्ठ बनाती है। इस रसायन विधि से च्यवन आदि महर्षियों ने फिर से जवानी प्राप्त की थी। इसीसे वे स्त्रियों के अतिप्रिय बने, उनके शरीर की मांसपेशियां दृढ़, समानरूप, सुगठित हो गई थी, उनके शरीर मजबूत तथा स्थिर हो गये थे, उनके बल, वर्ण और इन्द्रियां श्रेष्ठ कोटि की हो गई थीं। उनका पराक्रम अप्रतिहत (बेरोक-टोक) था और वे सब प्रकार के क्लेश उठा सकते थे।

जो व्यक्ति खट्टा, लवण, कटु, क्षार, शुष्क, शाक, माष (वा मांस), तिल कल्क, पिष्टान्न (पिट्ठी के बने पदार्थ) का सेवन करते हैं, अङ्कुरित (जड़ाया हुआ), या नये (उसी साल के) शूक या शमीधान्य का उपयोग करते हैं, परस्पर विरुद्ध, असात्म्य, रूक्ष, क्षार, अभिष्यन्दी द्रव्य का सेवन करते हैं, जो क्लिन्न (गीला), गुरु, सड़ा, बासी भोजन करते हैं, विषम भोजन या अध्यशन (भोजन पर और अधिक भोजन) करते हैं, जो दिन में सोते, स्त्री-सग या मद्य का सेवन करते, विषम या अधिक व्यायाम के कारण शरीर को चलाते डुलाते हैं, जो भय, क्रोध, शोक, लोभ और आयास से पीड़ित होते हैं, उन व्यक्तियों में ग्राम्य आहार के कारण सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसी कारण से उनकी मांसपेशियां ढीली पड़ जाती हैं। सन्धियां अलग होने लगती है, रक्त विदग्ध (जलफुक) जाता है, मेद अधिक मात्रा मे बाहर आता है, मज्जा अस्थियों को छोड़ देती है, शुक्र उत्पन्न नहीं होता, ओज क्षीण हो जाता है। इस प्रकार की अवस्था में मनुष्य ग्लानियुक्त (ढीला, हर्षरहित) रहता है,

दुःखित रहता है, निरन्तर निद्रा, तन्द्रा, आलस्ययुक्त रहता है, शीघ्र ही उत्साह-हीन होकर हापने लगता है, शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं में असमर्थ हो जाता है, स्मृति, बुद्धि और छाया (कान्ति) नष्ट हो जाती है, रोगों का घर बन जाता है और सम्पूर्ण आयु को भी नहीं भोग पाता।

इसलिये इन उपरोक्त दोषों को देखते हुए पूर्व कथित अहित आहारविहार का त्याग करके ही मनुष्य रसायन का उपयोग करने के योग्य होता है। यह कहकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय बोले—अच्छी भूमि में समय पर उत्पन्न हुए एव जिन के गन्ध, वर्ण और रस नष्ट नहीं हुए हों और जिनका रस वीर्य और प्रभाव भरपूर हो ऐसे आवलों के स्वरस से, पुनर्नवा (सारोड़ी) के कल्क द्वारा घी का एक आढ़क (२॥ सेर) सिद्ध करे ॐ। इसी प्रकार विदारीकन्द के स्वरस और जीवन्ती कल्क के द्वारा घी का एक आढक सिद्ध करे। इसी प्रकार चौगुने दूध और बला-अतिबला के कषाय स तथा शतावरी कल्क से घृत सिद्ध करे। इस प्रकार से एक एक घी का शत पाक (सौ बार) या हजार बार पाक करे। इस प्रकार से साधित घृत मे चतुर्थांश शर्करा और मधु मिला कर घी से भावित, पवित्र एव दृढ बने स्वर्ण या चादी अथवा मिट्टी के बर्तन मे इस घी को रख देना चाहिये। फिर कुटी प्रावेशिक पूर्वोक्त विधि से अपनी पाचनशक्ति के अनुसार प्रातःकाल प्रतिदिन खाना चाहिये। औषध के जीर्ण होने पर घी और दूध के साथ शालि (साठी के चावलों) का भात खाना चाहिये। इस प्रयोग को तीन साल तक सेवन करने पर सौ वर्ष तक विना वृद्धावस्था के आयु बनी रहती है। पढा सुना सब याद रहता है, सब रोग नष्ट हो जाते हैं, बेरोक-टोक के ससार में विचरता है, स्त्रियों मे अपत्यशाली होता है, उसके बहुत सन्तान होती हैं। [सौ बार की अपेक्षा हजार बार किया पाक अधिक गुणशाली है। एक एक घी का पृथक् २ पाक करना चाहिये। रजत के पात्र की अपेक्षा स्वर्ण मे, मिट्टी के बर्तन की अपेक्षा रजत में अधिक गुण है।] ॥ ३४ ॥

भवतश्चात्र।

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तपूजासुखचित्तभाक्च ॥ ५ ॥

ॐ परिभाषानुसार स्वरस दुगुना होगा। घी से चार गुणा स्वरस और कल्क घी का चौथाई होगा। अर्थात् यदि घृत १ आढ़क हो तो स्वरस ८ आढ़क और कल्क चौथाई आढ़क होगा। १ आढ़क = ६४ पल = ६ सेर ३२ तोले के।

बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी ।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥ ६ ॥

इत्यामलकघृतम् ।

इस प्रयोग के सेवन से शरीर लम्बा, चौड़ा तथा लोहे के समान दृढ़ और अति बलवान् हो जाता है। इन्द्रिया मजबूत और बलशाली हो जाती है। कोई इसको तिरस्कृत नहीं कर सकता, रूप भी मनोहर हो जाता है, उत्तम पूजा, उत्तम सुख (आरोग्य) और उत्तम मन (या ज्ञान) युक्त होता है। बल अति अधिक हो जाता है, वर्ण अत्यन्त निर्मल हो जाता है, स्वर बादलों के गर्जन के तुल्य गम्भीर हो जाता है। सन्तान बहुत दृढ़ (नीराग) होती है ॥ ५-६ ॥

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसंप्रयुक्तं पलाश-तरुण-क्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थिचूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां संनीय शर्करा-चूर्ण-चतुर्भाग-सम्प्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः, तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत् पौर्वाह्णिकः प्रयोगः, सात्म्यपथ्यश्चाऽऽहारविधिर्नापराह्णिकः । अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ७ ॥

इत्यामलकावलेहः ।

आमलकावलेह—एक हजार आवले, और एक हजार पिप्पली, न तो बहुत बच्चे और न बहुत वृद्ध अपितु तरुण ढाक के क्षारोदक में डूबी रहे। [क्षारोदक विधि—युवा ढाक को जला कर राख कर लेनी चाहिये। इस भस्म से ६ गुना जल डाल कर बिलोड़ना चाहिये। फिर अगले दिन नितार ले। इस प्रकार इक्कीस बार करना चाहिये। इस सारे नितारे पानी को पका कर क्षार तैय्यार कर लेते हैं। नितरे पानी में क्षार का सब भाग आ जाता है, इसलिये उसे क्षारोदक कहते हैं।] जिस समय क्षार जल इनके अन्दर घुस जाये तब इनको छाया मे सुखा कर, गुठलिया निकाल कर चूर्ण बना ले। इस चूर्ण में चार गुणा घी और शहद मिलावे। चूर्ण का चतुर्थांश निर्मल खाण्ड मिलावे। अब इसको एक पात्र में रख कर छः मास तक भूमि में गाड़ दे। छः मास के पीछे अग्नि बल के अनुसार इसको मात्रा प्रातःकाल खावे। आहार का विचार सात्म्य की अपेक्षा से है। दिन के उत्तर भाग में सेवन न करे। इसके प्रयोग से सौ वर्ष तक जरारहित आयु रहती है, अन्य सब गुण पूर्वोक्त रसायन के तुल्य

ही हैं। [अष्टांगसंग्रह में—'अभयामलकसहस्र' पाठ है। अभया ५०० और आंवला ५००] ॥ ७ ॥

आमलक-चूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलक-सहस्र-स्वरस-परिपीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्करा-चूर्ण-चतुर्भाग-संप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात्, तद्वर्षान्ते सात्म्य-पथ्याशी प्रयोजयेत्। अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ८ ॥ इत्यामलकचूर्णम्।

आमलक चूर्ण—एक आढ़क आंवले के चूर्ण को एक हजार आंवलों के स्वरस में इक्कीस दिन तक भावना देवे। इसमें घी और मधु प्रत्येक के दो दो आढक मिलावे। इन सब का अष्टमांश पिप्पली चूर्ण तथा चूर्ण का चतुर्थांश शर्करा मिला कर घी से भावित पात्र मे रख दे। इस पात्र को बरसात में भस्म के ढेर मे गाड़ दे। वर्षा बीत जाने पर सात्म्यभोजी होने पर इसका प्रयोग करे। इसके प्रयोग से आयु सौ बरस तक बिना वृद्धावस्था तक रहती है। शेष गुण पूर्व की भांति हैं ॥ ८ ॥

विडङ्ग तण्डुल-चूर्णानामाढक पिप्पली-तण्डुलानामध्यर्धाढक सिता-पला-सर्पिस्तैल-मध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्म-राशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः ॥ ९ ॥ इति विडङ्गावलेपः।

विडंगावलेह—छिलके रहित विडंग का चूर्ण एक आढ़क, पिप्पली बीज का चूर्ण १॥ आढ़क, मिश्री घी, तैल और शहद इनका एक एक आढक लेकर छः वस्तुओं को मिला कर घी से भावित पात्र में बरसात के प्रारम्भ में भस्म के ढेर में दाब दे, आगे सब पूर्व की भांति है ॥ ९ ॥

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्र-पलाश-द्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीता-न्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याऽऽढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्ग-तण्डुलचूर्णानामध्यर्धेन चाढकेन शर्कराचूर्णाना द्वाभ्यां द्वाभ्यामाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदे-कविंशतिरात्रमत ऊर्ध्वं प्रयोगः, अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठ-तीति समानं पूर्वेण ॥ १० ॥ इत्यामलकावलेहोऽपरः।

आमलकावलेह (२)—पूर्वोक्त गुणवाले एक हजार आंवलों को लेकर ढाक की गीली लकड़ी से बनी, ढाक के ढक्कनवाली नाद में भर कर ढक्कन लगा कर जंगली उपलों की आग पर ऐसे गरम करे कि उसके वाष्प बाहर न

जायें। जिस समय आवले सीज जायें और ठण्डे हो जायें तब निकाल कर, कूट कर, गुठली बाहर कर देनी चाहिये। इनके रेशे साफ करके, इसमें पिप्पली चूर्ण एक आढक, विडग-तण्डुल चूर्ण एक आढक, शर्करा (चीनी) १॥आढ़क, तैल २ आढक, मधु दो आढ़क और घी दो आढक (परिभाषानुसार ४।४ आढ़क), मिला कर घी से भावित स्वच्छ और दृढ पात्र में रख देना चाहिये। इक्कीस दिन के पीछे इसका प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग से जरारहित आयु एक सौ वरस की होती है और सब पूर्व की भाँति लाभ होते हैं॥ १०॥

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्ध-कृष्ण मधुर-मृत्तिके सुवर्ण-वर्ण-मृत्तिके वा व्यपगत-विष-श्वापद-पवन-सलिलाग्निदोषे कर्षण-वल्मीक श्मशान-चैत्योषरावसथ-वर्जिते देशे यथर्तु-सुख-पवन-सलिलादित्य-सेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यविगतवीर्याणि शीर्ण-पुराण-पर्णान्यसंजातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृत-देवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् बले सुमुहूर्ते नागबला-मूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्। जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ११ ॥ इति नागबलारसायनम्।

नागबला रसायन—जागल प्रदेश में उत्पन्न, कुशा से व्याप्त भूमि में चिकनी काली और मधुर मिट्टी में या सुवर्ण के समान रंग की मिट्टी में उत्पन्न, विष, हिंस्र जन्तु, वायु और जल तथा अग्नि के दोषों से रहित, जहां पर हल न चला हो, वल्मीक (बमीठ) श्मशान, चैत्य (देवायतन), जहा ऊषर भूमि न हो, जो रहने की भूमि न हो, ऋतु के अनुसार जहा पर वायु, पानी, धूप पहुचती हो, ऊचाई पर उत्पन्न, पाले आदि से न मरी, कीड़े आदि से न खाई, समीपस्थ वृक्ष या लता से न घिरी, न तो बहुत छोटी और न बहुत पुरानी, (अपितु तरुण), वीर्य से भरपूर, जिसके पुराने पत्ते झड़ गये हो, नये पत्ते अभी उत्पन्न न हुए हों, ऐसी नागबला (गंगेरन) को माघ या फाल्गुन मास में उखाड़े। उखाड़ते समय वैद्य पवित्र और सयमवाले मन से देवताओं की पूजा करके, मगल पाठ पढ़ कर, ब्राह्मणो का पूजन करके उत्तम बलवान् मुहूर्त में नागबला की जड़ को उखाड़े। इन जड़ों को पानी से भली प्रकार धोकर इनकी त्वचा आम्रमात्र (एक पल भर) या अक्ष (कर्ष) मात्र

उतार ले । इस छाल को खूब बारीक पीस कर दूध में मिला कर पीवे, अथवा इस छाल का चूर्ण करके दूध के साथ पीवे, अथवा घी और शहद में मिला कर चाटे। जीर्ण होने पर दूध और घी के साथ शालि या साठी का भात खावे। एक साल तक इस प्रकार प्रयोग करने पर एक सौ बरस की जरा (बुढापा) से रहित आयु होती है और सब गुण पूर्व की भांति होते है ॥११॥

बलातिबला–चन्दनागुरु–धव–तिनिश–खदिर–शिंशपासन स्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश नागबलया व्याख्याताः। स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत्प्रयोज्यम् ॥ १२ ॥

बला (खरैंटी), अतिबला, चन्दन, अगरु, धव, तिनिश (सादन, स्यन्दन वृक्ष जिसका रथ बनता था), खदिर, शिंशपा (शीशम), असन इनके स्वरस तथा पुनर्नवा तक गिनी हुई अमृता, गिलोय, अभया, हरड, धात्री, आवला, मुक्ता, रास्ना (जीवन्ती), श्वेता (दूर्वा अपराजिता), जीवन्ती, अतिरसा (शतावरी), दस औषधियों का प्रयोग भी नागबला से बतला दिया है। अर्थात् जिस प्रकार नागबला का स्वरस प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार से इनका स्वरस प्रयोग करना चाहिये। यदि स्वरस प्राप्त न हो सके तो इनका स्वरस तैय्यार करने का यह प्रकार है कि औषध का चूर्ण एक आढक और पानी एक आढक (परिभाषा से दुगुना) लेकर चौबीस घन्टे इसमें भिगो कर रखना चाहिये। फिर इसको मथ कर, छान कर स्वरस के समान प्रयोग करना चाहिये। [स्वरस के न मिलने पर यह भी विधि है कि शुष्क द्रव्य को आठ गुणे जल में क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान कर प्रयोग करना चाहिये। बला आदि के स्वरस का ही ऐसा प्रयोग करना चाहिये। भोजन विधि नागबला के ही समान जाने] ॥ १२ ॥

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्व-जाम्बव-प्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे सगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीत-स्निग्ध-मधुरोपस्कृत-शरीरः, पूर्वं दश भल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशिष्टं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य। तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दश भल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः प्रयोगविधानेन, सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः। जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुप-

चारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः। तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १३ ॥ इति भल्लातकक्षीरम्।

भल्लातक क्षीर—जिन पर किसी प्रकार की चोट न लगी हो, जिनमें किसी प्रकार का रोग (कृमि आदि) न हो, जो रस और वीर्य से भरपूर हों, अच्छे परिपुष्ट हों, तथा जो पके हुए जामुन के समान काले रंग के हों, ऐसे भिलावों को ज्येष्ठ और आषाढ मास में एकत्रित करके जौ से भरे कोठे में या उड़द के ढेर में रख देवे। चार मास के पीछे अगहन या पौष मास में इनका सेवन आरम्भ करे। [जौ आदि में से निकाल कर तुरन्त इनका सेवन न करे, बल्कि शीत काल में अच्छा गुण युक्त शरीरावस्था में ही इनका उपयोग करे]। अर्थात् खाने से पूर्व शरीर को शीतल, स्निग्ध तथा मधुर वस्तुओं से संस्कृत करे। इनको सेवन करने का प्रकार यह है कि पहिले दस भिलावों को कुचल कर आठ गुण पानी में पकावे। जब आठवां भाग रस रह जाये तब इसको छान कर इसमें दूध मिला कर पकावे और पीने से पूर्व मुख में घी का लेप लगा लेवे जिससे मुख के भीतर की सारी त्वचा चिकनी हो जाय। इस प्रकार से प्रति दिन एक एक भिलावे को बढ़ाते हुए तीस भिलावे तक बढ़ावे। तीस से ऊपर भिलावे की मात्रा नहीं बढ़ावे और फिर उसी प्रकार से घटा कर दस तक ले आवे। इस प्रकार से एक हजार भिलावों का प्रयोग करे। भिलावों के जीर्ण होने पर घी और दूध के साथ शालि या साठी के चावल खावे। प्रयोग के उपरान्त [जितने दिन भिलावों को प्रयोग किया उससे दुगुने दिनों तक] दूध का ही उपयोग करे अर्थात् दोनों समय दूध पीवे। इस प्रकार करने से एक सौ बरस की बिना वृद्धावस्था के आयु होती है। शेष पूर्व की भांति गुण हैं। [अष्टाङ्ग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने निम्न प्रकार से खाने की विधि बताई है। प्रथम दिन १० भिलावें, दूसरे दिन ११, तीसरे दिन १२ इस प्रकार से बढ़ाते हुए बीसवें दिन २९, इक्कीसवें दिन ३०, बाईस से लेकर २७ वे दिन तक तीस तीस ही ले, आगे न बढ़ाये। २८ वे दिन २९, २९ वें दिन २८, तीसवें दिन २७, इस प्रकार से घटा कर सैंतालिसवें दिन १० पर ले आवे, ४८ वें दिन भी दस ही देवे। इस प्रकार से एक हजार पूरे हो जायेंगे। यह एक हज़ार संख्या आवश्यकतानुसार कम भी हो सकती है। प्रकृति की अपेक्षा से कम में भी परित्याग किया जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार जितने दिन भिलावे का प्रयोग किया हो उससे तिगुने दिनों तक दूध चावल खाना चाहिये] ॥ १३ ॥

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं

निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्याऽऽरोप्योडुपेनापिधाय कृष्णमृत्तिकावलिप्त गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तेषा यः स्वरसः कुम्भ प्रपद्येत तमष्टभाग-मधु संप्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात्। तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १४ ॥ इति भल्लातकक्षौद्रम्।

भल्लातक क्षौद्र—भिलावो को कुचल कर पिष्ट स्वेद विधि से (पेदी में छिद्र किये हुए) घड़े में रखे। एक दूसरे घड़े में घी का लेप करके इस घड़े को गले तक मिट्टी मे गाड़ दे। इस घड़े के मुख पर भिलावेवाला घड़ा रख कर इसका मुख ढक्कन से बन्द कर दे। इनकी सन्धियों को काली मिट्टी से बन्द कर दे। अब ऊपर के घड़े के चारों ओर उपले चिन कर आग लगावे। आग की आंच से तैल निचले घड़े मे आयेगा। इस तेल मे आठवा भाग मधु और दुगना घी मिलाकर खावे। [मात्रा आधा बूंद से २ बूंद तक]। इसके प्रयोग से एक सौ बरस की बुढ़ापे से रहित परम आयु होती है। शेष गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान है ॥ १४ ॥

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यात्। समानं पूर्वेण ॥ १५ ॥ इति भल्लातकतैलम्।

भल्लातक तैल—पूर्वोक्त विधि से तैयार किया भल्लातक तैल दो आढक, दूध आठ आढक और मुलहठी का कल्क १ अक्ष (२ तोला) इनसे यथाविधि पाक करे। इस प्रकार से एक सौ बार पाक करके तैल सिद्ध करे। उसका सेवन पूर्व के तुल्य ही करे। इसके गुण भी पूर्व की भांति ही समझें ॥१५॥

भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं भल्लातकतैलमेव गुडभल्लातकं भल्लातकयूषो भल्लातक-सर्पिर्भल्लातक-पललं भल्लातकसक्तवो भल्लातकलवणं भल्लातकतर्पणमिति भल्लातकविधानमुक्तम् ॥१६॥ इति भल्लातकविधिः।

भल्लातक विधान—भल्लातक क्षीर, भल्लातक क्षौद्र, भल्लातक तैल के समान भल्लातक घी, भल्लातक गुड़ (भिलावे का गुड़ के साथ), भल्लातक यूष (भल्लातक क्षीर के समान), भल्लातक तैल, भल्लातक पलल (भिलावे का तिल कल्क के साथ), भल्लातकसक्तु (भिलावे का जौ के सत्तु के साथ), भल्लातक लवण (भिलावे का सेन्धा नमक के साथ), भल्लातक तर्पण (भिलावे का लाजा के सत्तुओं के साथ सेवन) होता है, ये भल्लातक विधान भी पूर्व के तुल्य ही जानने चाहिये ॥ १६ ॥

[अष्टांग-संग्रह में भल्लातकप्राश घृत का भी प्रयोग लिखा है—पुष्ट, परिपक्व आढ़क भर भल्लातक लेकर उनको ईंट के चूर्ण से रगड़ कर जल से धोकर

वायु से सुखा कर कूट कर, एक जल के घड़े में पकावे, एक चौथाई बचे तो उसे छान कर ठण्डा करले, फिर उसको दूध के घड़े में पकावे, एक चतुर्थांश बचे तो बराबर मात्रा घी की लेकर उसमें मिला कर धान्य के ढेर में सात दिन तक रखे। इस प्रकार 'अमृतरसपाक' बनता है, उसका सेवन करे और पचने के उपरान्त यथेष्ट जल, दूध या रस का सेवन करे। इससे स्मृति, मति, बल, मेधा, सत्त्व और सार इनसे सम्पन्न होकर सोने के समान उज्ज्वल गौर शरीर होकर दीर्घ आयु का भोग करता है।]

भवन्ति चात्र—भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥ १७ ॥
एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः।
रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान् प्रयोगान् प्रकल्पयेत् ॥१८॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥ १९ ॥
प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ॥ २० ॥
ज्ञानं[1] तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्म्यध्यानमेव च।
दीर्घायुषो यथाकामं संभृत्य त्रिदिवं गताः ॥ २१ ॥
तस्मादायुःप्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः।
रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥ २२ ॥

भिलावे अग्नि के समान तीक्ष्ण और पकानेवाले (पाक रोग उत्पन्न करने वाले) होते हैं। परन्तु यदि इनका विधिपूर्वक प्रयोग किया जाये तो अमृत के समान होते हैं। यहाँ पर भिलावे के दस प्रयोगों का वर्णन कर दिया है। रोग और प्रकृति की और सात्म्य की विवेचना करके इनका प्रयोग करे। ऐसा कोई भी कफजन्य रोग नहीं है और नाहीं कोई ऐसी स्रोतो की रुकावट है, जिसको कि भिलावा दूर न कर सके। यह शीघ्र ही मेधा तथा अग्नि को बढ़ाता है। [भल्लातक के प्रयोग में अपथ्य कुलत्थी, दधि, शुक्त (आचार आदि), तैल का देह मे लगाना, अग्नि का सेवन और गरम पानी इनका त्याग करना चाहिये।]

पुरातन काल मे प्राणों की कामना करनेवाले वृद्ध च्यवन आदि महर्षियों ने इन्हीं कल्याणकारी रसायनों के सेवन से अपरिमित आयु प्राप्त की थी।

१ 'ब्राह्म' इति च पाठ ।

ये दीर्घ आयुवाले महर्षि यथेच्छ ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य्य, अध्यात्म ध्यान (ब्रह्मध्यान) का सञ्चय करके स्वर्ग मे गये। इसलिये प्राणों की कामना रखनेवाले सुख, आरोग्य के इच्छुक पुरुषों को चाहिये कि दीर्घायु प्राप्त करने के लिये विधिपूर्वक बड़ी सावधानी से रसायन-विधि का सेवन करें ॥२२॥

तत्र श्लोकः—रसायनाना सयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा ।
निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा ॥ २३ ॥

प्राणियों के हित को चाहनेवाले महर्षि आत्रेय ने प्राणकामीय अध्याय में रसायनों के ये ३७ प्रयोग बतलाये हैं ॥ २३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः ।

(तृतीयः पादः)

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'करप्रचितीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है—॥ १-२ ॥

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्, अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां चन्दनागुरु-धव-तिनिश-खदिर-शिंशपासन-साराणां चाणुशः क्षिप्तानामभया-बिभीतक-पिप्पली-वचा-चव्य-चित्रक-विडङ्गानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्, तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंश विदल-शर-तेजनाग्निभिर्वा साधयेद्यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं कृष्णाजिनस्योपरि तद्-दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत्सम्यक्, तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसंप्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ॥ ३ ॥

आमलकायस ब्राह्म रसायन—माघ या फाल्गुन मास में पूर्वोक्त गुणोंवाले आवलों को वृक्ष पर से हाथों द्वारा तोड़ कर एकत्र करे (भूमि पर गिरे आवलों

को ग्रहण नहीं करे)। इनकी गुठली निकाल कर छाया में शुष्क करे। इनको इक्कीस बार आवलों का स्वरस पिलावे। इस चूर्ण की एक आढक मात्रा ले लेवे। 'षड्विरेचन शताश्रितीय' अध्याय में वर्णित जीवनीय, बृंहणीय, स्तन्यजनक, वय स्थापक ओषधि समूह और चन्दन, अगरु, धव तिनिश (सांधने), खैर, शीशम और असन इन वृक्षों के सार (मध्य काष्ठ) को टुकड़े२ करके तथा इरड़, बहेड़ा, पिप्पली, वचा, चव्य, चित्रक, वायविडंग इन सब मिलित द्रव्यों का एक आढक लेकर दस गुणे जल मे पकावे और जब रस एक आढक रह जाये तब इसको छानकर पूर्व तयार किया आवले का चूर्ण मिला दे। फिर उपले और बांस की खप्पच सरकण्डा, तेजबल की लकड़ियो से आग का तेज करके इस को पकाता जाये। जब सब रस शुष्क हो जाये (चूर्ण जले नहीं) तब उतार ले। बिना जले हुए अवलेह को उतार कर लोहे की थालियों मे फैलाकर शुष्क करे। शुष्क हो जाने पर काले मृग की खाल पर रक्खी शिला पर खूब बारीक पीसकर लोहे की थाली में रख दे। इस चूर्ण में लोह भस्म आठवा भाग मिलाकर घी और मधु के साथ अग्निबल को देख कर सेवन करे॥ ३॥

तत्र श्लोकाः—एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः।
जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः॥ ४॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्।
यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः॥ ५॥
तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च।
रसायनविधानेन कालयुक्तेन चाऽऽयुषा॥ ६॥
स्थिता महर्षयः पूर्वम्,

प्रथम वसिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु, तथा अन्य इसी प्रकार के ऋषियों ने इसका प्रयोग किया था। इसके प्रयोग करने पर वे श्रम, रोग और बुढ़ापे से मुक्त हो गये थे। इसके प्रभाव से उन्होंने यथेच्छ तप किया था। पूर्व काल में महर्षि रसायन विधि के द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, ध्यान, प्रशम तथा अनियत काल तक आयु का उपभोग करते रहे हैं॥ ४—६॥

न हि किंचिद्रसायनम्।
ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिध्यत्यप्रयतात्मनाम्॥ ७॥
इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम्।
जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम्॥ ८॥
इत्यामलकायसब्राह्मरसायनम्।

कोई भी रसायन ग्राम्य (नगर में रहने वाले) पुरुषों तथा काम-धन्धे में फंसे हुए तथा ब्रह्मचर्य आदि सयम का पालन न करनेवाले पुरुषों मे फलवती नहीं होती। इसलिये इनसे पृथक् होकर एकाग्र चित्त से रसायन-विधि करनी चाहिये। सहस्र वर्ष की आयु प्रदान करने वाले और जरा तथा रोग को दूर करनेवाले तथा बुद्धि और इन्द्रिय बल को देनेवाले इस आमलक रसायन का ब्रह्मा ने आविष्कार किया था॥ ७-८॥

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत्सदा।
सावित्री मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ ९॥
संवत्सरान्ते पौषी वा माघी वा फाल्गुनी तिथिम्।
त्र्यहोपवासी शुद्धश्च प्रविश्यामलकीवनम्॥ १०॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम्।
गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात्॥ ११॥
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम्।
शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च॥ १२॥
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्ति भक्षयेत्।
जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः॥ १३॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः।
स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक् च रूपिणी॥ १४॥

इति केवमामलकं रसायनम्।

केवलामलक रसायन—एक वर्ष तक केवल दूध पर निर्वाह रखकर गायों के बीच में वास करे। वहा पर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मन से सावित्री का ध्यान करे। एक साल के पीछे पौष या माघ अथवा फाल्गुन की किसी शुभ तिथि मे आवले के जंगल मे पहुँचे। वहा पर जाने से पूर्व तीन दिन उपवास करे। फिर शुद्ध होकर वन में घुसे। वहा पर आवले से लदे बड़े वृक्ष पर चढ़कर हाथ से फल को पकड़ कर अमृत के आने तक ब्रह्म, 'ओंकार' का जप करता रहे। इस प्रकार जप करने से क्षण भर के लिये आवले मे अमृतत्व आ जाता है। अमृत के आने से आवले शर्करा और मधु के समान मीठे, स्नेहवाले, कोमल हो जाते हैं, इनको खावे। वह जितने भी आवले खायेगा उतने हजार वर्षों तक युवा रहकर जीवित रहेगा। यदि भरपेट तृप्त होकर खाये तो अमर हो जाये, बहुत दीर्घायु हो। कान्ति वेदवाणी, लक्ष्मी, सरस्वती स्वय इसके आगे आकर उपस्थित हो जाती है।९-१४।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षारे च लावणे।
क्रमेण चेङ्गुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च ॥ १५ ॥
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि तापयेत्।
चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधसमानि च ॥ १६ ॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ॥ १७ ॥
युक्तानि लेहवत्कुम्भे स्थितानि घृतभाविते।
संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तदेव च ॥ १८ ॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः।
संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ॥ १९ ॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्।
एष एव च लोहानां प्रयोगः संप्रकीर्तितः ॥ २० ॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च।
आयुःप्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत् ॥ २१ ॥
नाभिघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना।
स धृष्यः स्याद् गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ॥ २२ ॥
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाधनः।
भवेत्समा प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम् ॥ २३ ॥

इति लौहादिरसायनम्।

लौहादिरसायन—तीक्ष्ण लौह (फौलाद) के चार अंगुल लम्बे और तिल भर मोटे पत्रों को आग में लाल करके क्रमशः त्रिफला के क्वाथ में, गोमूत्र में मालकंगनी के क्षारोदक में, तथा इंगुदी (हिंगोट) के क्षार मे, और पलाश (ढाक) के क्षारोदक मे बुझा ले। बुझाने से पूर्व फिर २ तपा कर लाल कर लिया करे। बुझाने पर जब पत्र अंजन के समान काले और टूटनेवाले हो जायें, तब इनका बारीक चूर्ण बना लेवे। इस चूर्ण को मधु तथा आंवले के रस में मिला कर अवलेह की भांति कर ले। इस अवलेह को घी से भावित घड़े में रख कर एक साल तक जौ के ढेर में दबा दे। प्रत्येक मास लकड़ी के डण्डे से इसको चला देवे। एक साल के पीछे इसको घी और शहद के साथ प्रतिदिन प्रातः अग्निबल के अनुसार प्रयोग करे। जीर्ण होने पर प्रकृति के अनुकूल भोजन करे। इसी प्रकार से अन्य लोहों (धातुओं) का प्रयोग करना चाहिये। इस भांति स्वर्ण, चांदी का प्रयोग आयु को लम्बा करता है और सम्पूर्ण रोगों को

नष्ट करता है। लौह रसायन के एक साल तक प्रयोग करने पर पुरुष चोट, रोग, जरा, मृत्यु इनसे पराभूत नहीं होता। हाथी के समान शक्तिशाली हो जाता है, इन्द्रियां अति बलवान् हो जाती हैं। मेधावी, यशस्वी, वाक्सिद्ध (जो कहेगा सो होगा), श्रुतधारी (सुनते ही धारण करनेवाला), महाधनशाली (रसायन के प्रभाव से ही) हो जाता है ॥ १५-२३ ॥

ऐन्द्री मत्स्याक्षको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला ।
पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम् ॥ २४ ॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना ।
द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ॥ २५ ॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदैकध्यं प्रयोजयेत् ।
घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ॥ २६ ॥
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम् ।
आयुष्यं पौष्टिकं बल्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥ २७ ॥
परमोजस्करं चैतत्सिद्धमेतद्रसायनम् ।
नैनं प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ॥ २८ ॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च ।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ॥ २९ ॥

इत्यैन्द्रीरसायनम् ।

ऐन्द्री रसायन—ऐन्द्री (इन्द्रवारुणी या दिव्य औषध), मत्स्याक्षक (मछोछी), ब्राह्मी, वचा, ब्रह्मसुवर्चला (मण्डूकपर्णी), [1]पिप्पली, सैन्धव लवण, स्वर्ण, शङ्खाहुली, विष, घी इनमें स्वर्ण, विष और घी को छोड़कर प्रत्येक तीन २ जौ भर लेना चाहिये। स्वर्ण दो जौ, विष एक तिल भर और घी एक पल मिलाना चाहिये। इसको खाकर प्रभूत घी तथा शहद मिश्रित अन्न जीर्ण होने पर खाना चाहिये। इसके खाने से जरा और रोग शान्त होते हैं, स्मृति और मेधा बढ़ती है। आयुवर्धक, पौष्टिक, बलकारक, स्वर, वर्ण को शुद्ध करता है। यह सिद्ध रसायन अत्यन्त ओज-वर्धक है। इसके प्रयोग से कृत्या (पाप या आभिचारिक कर्म), अलक्ष्मी (दरिद्रता), विष और रोग भी प्रभाव नहीं करते। श्वित्र, कुष्ठ, उदर रोग, गुल्म, प्लीहा, पुराना विषम ज्वर, मेधा, स्मृति और ज्ञान को नष्ट करनेवाले रोग तथा अत्यन्त बलवान् वायु रोग भी इसके सेवन से नष्ट हो जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

---

१ ब्रह्मसुवर्चला दिव्य औषधी है—'हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा।'

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥ ३०॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥ ३१ ॥

इति मेध्यरसायनानि ।

मेधाकर रसायन चार हैं। जैसे—(१) मण्डूकपर्णी का स्वरस प्रयोग करना चाहिये। (२) गाय के दूध के साथ मुलहठी का चूर्ण खाना चाहिये। (३) गिलोय का रस प्रयाग करना चाहिये। (४) मूल और पुष्प के साथ शंखाहुली का कल्क बरतना चाहिये। * ये चारों रसायन आयुवर्धक, रोग नाशक बल, अग्नि, वर्ण (कान्ति) और स्वर को बढ़ाते हैं। ये रसायन मेधावर्धक १। इन में भी शखपुष्पी खास कर बुद्धि को बढ़ाती है ॥३०-३१॥

पञ्च षट्[१] सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा ।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥ ३३ ॥
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां[२] रसायनगुणैषिणा ।
जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान् ॥ ३४ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ॥ ३५ ॥

इति पिप्पलीरसायनम् ।

पिप्पली रसायन—रसायन गुण को चाहने वाले व्यक्ति को चाहिये कि पांच, छः, सात या दस पिप्पली को (चूर्ण, फाण्ट, कल्क) मधु और घी के साथ एक साल तक भक्षण करे। पिप्पली को पलाश के क्षारोदक से भावना देकर गाय के घृत में भून लेवे। इनमें से तीन तीन पिप्पली को घी में

---

* मण्डूकपर्णी की प्रयोगविधि—दोषों से रहित होकर उक्त प्रकार के आगार में रह कर मण्डूकपर्णी का स्वरस लेकर सहस्र सम्पात आहुति शेष कर बल से जल को आलोडन करके उसका पान करे। इसका दूध अनुपान है। इसके जीर्ण होने पर यवान्न को दूध के साथ खावे। तीन मास दूध ही अन्नपान है।

१. 'पञ्चाष्टौ' इति च पाठः। २. 'मधुसमिश्रा' इति च पाठः।

मिलाकर प्रातःकाल भोजन से पूर्व तथा पीछे तीन समय खाना चाहिये। इस प्रकार करने से कास, क्षय, श्वास, शोष, हिचकी, गले की बिमारिया, अर्श, ग्रहणी रोग, पाण्डु, विषम ज्वर, स्वरभंग, पीनस, शोफ, गुल्म और वात, कफजन्य रोग नष्ट होते हैं।

[पिप्पली प्रयोग में पाच से कम पिप्पली का भी प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार कफ की मात्रा अत्यधिक बढ़े होने पर प्रातः, मध्यावस्था में होने पर भोजन से पूर्व और कम होने पर भोजन के अन्त में देनी चाहिये। पिप्पली के अति सेवन से उत्पन्न दोष अन्य वस्तुओं के साथ सम्मिलित होने से उत्पन्न नहीं होते। भावना[1] देते समय कम से कम सात भावना देनी चाहियें।]॥३३-३५॥

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम्।
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथा चापनयेत्पुनः॥ ३६॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम्॥ ३७॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः शृता मध्यबलैर्नरैः।
शीतीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति॥ ३८॥
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्तितः।
प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः॥ ३९॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्य प्लीहोदरविनाशनम्।
वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीना रसायनम्॥ ४०॥
इति पिप्पलीवर्धमानं रसायनम्।

पिप्पली वर्धमान—एक दिन में दस पिप्पलियों का दूध के साथ सेवन करे। दूसरे दिन बीस का, और तीसरे दिन तीस का। इस प्रकार से प्रत्येक दिन दस दिनों तक दस दस पिप्पलिया बढ़ाता जावे। साथ में दूध की मात्रा भी बढ़ाता जाय [पिप्पली-वर्धमान के प्रयोग में दूध की मात्रा एक प्रकुञ्च (पल) से आरम्भ करके प्रतिदिन एक एक प्रकुञ्च बढानी चाहिये, फिर घटाने के साथ घटा देना चाहिये।] दस दिन के पीछे ग्यारहवें दिन दस पिप्पली कम करे इस प्रकार से बीसवें दिन फिर दस पर ही आजावे। दूध की मात्रा भी कम

---

१ भावना विधि—दिवा दिवाऽऽतपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत्।
श्लक्ष्णचूर्णं कृत द्रव्य सप्ताह भावनाविधिः॥
दिन में धूप में सूखे रात्रि में खुले आकाश के नीचे रहे।

करे। पिप्पली के जीर्ण होने पर साठी भात दूध और घी के साथ खावे। दोष और रोगों को देख कर बलवान् पुरुष पीसकर, मध्यम बलवाला क्वाथ बना कर और ह्रस्व बलवाला शीत कषाय करके प्रयोग करे। दस पिप्पली के प्रयोग को श्रेष्ठ, छः पिप्पली के प्रयोग को मध्यम और तीन पिप्पली के प्रयोग को अवर कहते हैं। पिप्पली-रसायन पुष्टिदायक, स्वरवर्धक, आयुष्य, प्लीहा, उदर रोग का नाशक, आयु को स्थिर रखने वाली और बुद्धिवर्धक है ॥ ३६–४० ॥

[गंगाधर कविराज ने छः पिप्पली तथा तीन पिप्पली का प्रयोग भी एक हजार तक लेजाने का कहा है। यथा—प्रथम दिन दस पिप्पली लेवे। दूसरे दिन बारह, इस प्रकार से तेरह दिन तक बढ़ाता जाये और फिर चौदहवें दिन से छः छ. कम करना आरम्भ करे। इस प्रकार से १०२४ पिप्पली का प्रयोग करे। तीन पिप्पली के प्रयोग में अठारह दिन तक क्रमशः तीन तीन बढ़ाते जावें। उन्नीसवें दिन तीन घटा देवें। इस प्रकार से १०२८ पिप्पली का प्रयोग करें। दस पिप्पली का प्रयोग श्लैष्मिक रोगी के लिये, छः का वातिक और तीन का पैत्तिक रोगी के लिये है। सुश्रुत के मत से पिप्पलियों को दूध में पीस कर पांच, सात वा दस की वृद्धि से पान करे। दस दिन तक दूध भात खावे। दस दिन के बाद फिर घटावे और घटाते २ पाच, सात और दस तक आजावे।]॥३६-४०॥

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ते द्वे बिभीतके।
भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च ॥ ४१ ॥
प्रयोजयेत्समामेकां त्रिफलाया रसायनम्।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च ॥ ४२ ॥
इति त्रिफलानां रसायनम्।

त्रिफला रसायन—पूर्व किये भोजन के जीर्ण होने पर एक हरड़ प्रातःकाल, भोजन से पूर्व दो बहेड़ा और भोजन के पश्चात् चार आँवले मधु और घी के साथ खावे [इन द्रव्यों को कूटकर मधु और घी के साथ खाना चाहिये]। इस रसायन का एक वर्ष तक प्रयोग करने से सौ बरस तक बुढ़ापा और रोगों से मुक्त होकर जीता है ॥ ४१–४२ ॥

त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम्।
तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत्क्षौद्रोदकाप्लुतम् ॥ ४३ ॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते।
अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेत्तच्चैव समाः शतम् ॥ ४४ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्।

त्रिफला रसायन—लोहे के नये घड़े में त्रिफला को पीसकर लेप कर देना चाहिये। चौबीस घन्टे तक इसको लगा रहने देना चाहिये। फिर शहद के पानी में बने घोल में मिलाकर पीना चाहिये। इसके जीर्ण होने पर बहुत सा स्नेह (घी) पान करना चाहिये। इसके एक साल तक प्रयोग करने पर जरा और रोगों से मुक्त होकर सौ बरस तक जाता है ॥ ४३–४४ ॥

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा।
त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥ ४५ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्।

त्रिफला रसायन--त्रिफला के साथ तुगाक्षीरी (वंशलोचन) मुलहठी, पिप्पली, घी, मधु और शर्करा इन सबको एकत्र करके सेवन करे। यह एक सिद्ध रसायन है[1] ॥ ४५ ॥

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा।
विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ॥ ४६ ॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा।
भवत्यायुष्प्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ॥ ४७ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्।

त्रिफला रसायन—त्रिफला को सब धातुओं की भस्म (स्वर्ण, रजत, ताम्र, वंग, सीसक, लोह, यशद), स्वर्ण, वच, घी, शहद, वायविडंग, पिप्पली और सैन्धा नमक के साथ प्रयोग करे। इसके एक साल तक प्रयोग करने पर मेधा, स्मृति, बल, आयु बढ़ती है, यह रसायन धन्य है तथा जरा और रोग को नष्ट करती है। [यद्यपि सब धातुओं में स्वर्ण आ जाता है, तथापि पृथक् ग्रहण करने से पृथक् एक अंश और डालना चाहिये[2]] ॥ ४७ ॥

---

१ कोई कोई आचार्य इनको छः योग मानते हैं। परन्तु यह मानने से संख्या बढ़ जाती है।

२ सप्त धातु—स्वर्णताररताम्राणि नागवंगौ च तीक्ष्णकम्।
धातवः सप्त विज्ञेया अष्टमः क्वापि पारदः ॥
स्वर्णं तारं च ताम्रं च वङ्गो नागस्तु पञ्चमः।
रीतिका च तथा घोषो लोहं चेत्यष्टधातवः ॥

कविराज श्री गंगाधर सेन ने इनको भी पृथक् पृथक् योग माना है। ऐसा मानने से संख्या बढ़ जाती है।

अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु।
नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य संभवः॥ ४८॥
हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरं कृष्णायसादपि।
रसायनं तद्विधिभिस्तद्वृष्यं तच्च रोगनुत्॥ ४९॥
वातपित्तकफघ्नैस्तु निर्यूहैस्तत्सुभावितम्।
वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा॥ ५०॥
प्रक्षिप्योद्धृतमप्येनं पुनस्तत्प्रक्षिपेद्रसे।
कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना॥ ५१॥

शिलाजतु—शिलाजतु में अम्ल रस नहीं, कषाय रस है। (कोई आचार्य उसमें ईषद् अम्ल रस मानते हैं)। विपाक में कटु, वीर्य में समान, न तो अत्यन्त उष्ण और न अत्यन्त शीत, चारों धातुओं (स्वर्ण, लोह, ताम्र और रजत से, कोई २ आचार्यों के मत में त्रपु और सीसक) से यह उत्पन्न होता है। स्वर्ण, चांदी, ताम्र और उत्तम कृष्ण लोह से निकले शिलाजीत को विधिपूर्वक प्रयोग करने पर यह उत्तम रसायन, वृष्य तथा रोगनाशक होता है। विशुद्ध शिलाजीत को वात, पित्त और कफनाशक औषधियों के क्वाथ से अथवा एक एक औषधि से भावना देने पर अधिक गुण बढ़ता है। [रोगी के दोष आदि के अनुसार औषधियों से भावना देनी चाहिये]

भावनार्थे—स्वच्छ पानी से शोधित शिलाजतु में वातघ्न औषधियों का क्वाथ डालकर धूप में सुखा दे। जब सब पानी शुष्क हो जाये तब पुनः कोष्ण क्वाथ डालना चाहिये। इस प्रकार से एक सप्ताह तक करना चाहिये। [(१) भावना देने के लिये शिलाजतु के बराबर क्वाथ द्रव्य लेकर आठ गुने जल में क्वाथ करना चाहिये। और जब अष्टमांश रह जाये तब छान कर कोष्ण शिलाजतु में डालना चाहिये। यह तो अष्टांग संग्रह का मत है। (२) चक्रपाणि के अनुसार शिलाजतु के समान क्वाथ द्रव्य लेकर इसमें चौगुना पानी डालकर क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये इसकी भावना देनी चाहिये। (३) क्षारपाणि के नियम से शिलाजतु के समान क्वाथ द्रव्य लेकर इसमें अठगुणा पानी मिलाकर क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये] ॥४८-५१॥

पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह।
तत्पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम्॥ ५२॥

जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम् ।
मेधास्मृतिकरं बल्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत् ॥ ५३ ॥

पूर्वोक्त विधि से लोह आदि धातुओं के बनाये चूर्ण के साथ शिलाजीत मिलाकर दूध के साथ पीने से आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु मिलती है। लोह आदि जितने धातु आवश्यक हों उन सबों को मिलाकर या पृथक् २ रूप में शिलाजीत[1] के साथ उपयोग करे। [धातुओं की भस्म त्रिफला क्वाथ के साथ बनाने का अष्टांग-संग्रह में उपदेश है।। परन्तु रस शास्त्र के आधार से बनी भस्में अधिक उपयोगी होंगी यह हमारी मान्यता है।] शिलाजीत के प्रयोग के समय दूध का ही सेवन करना चाहिये। इसके सेवन से बुढ़ापा और रोग मिटते हैं, शरीर अतिशय दृढ़ होता है। मेधा और स्मृति बढ़ती है, बल भी बढ़ता है ॥५२-५३॥

प्रयोगः सप्त सप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः ।
निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥ ५४ ॥
पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता ।

शिलाजीत का प्रयोग तीन प्रकार का है। यथा—पर, मध्य और अवर। इनमें सात सप्ताह तक प्रयोग करना 'पर' प्रयोग, तीन सप्ताह तक प्रयोग करना 'मध्यम', और एक सप्ताह तक प्रयोग करना अवर प्रयोग है। इसी प्रकार शिलाजतु की मात्रा भी तीन प्रकार की है। जैसे—उत्तम मात्रा एक पल, मध्यम मात्रा आधा पल और अवर मात्रा एक कर्ष है। आजकल तो २ से ४ रत्ती की मात्रा उचित रहेगी ॥५४॥

जातेर्विशेषं सविधं तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ५५ ॥
हेमाद्याः सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः ।
जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥ ५६ ॥

इसके आगे हम इस शिलाजतु की भिन्न २ जातियां कहते हैं—

ग्रीष्म काल में स्वर्ण आदि धातुओं वाली शिलाओं में से सूर्य की गरमी से एक प्रकार का रस जो कि स्पर्श में लाख के समान होता है, (रंग में नहीं), चूने लग जाता है, इसी काले से रंग को 'शिलाजतु' (शिलाजीत) कहते हैं। इसका रंग मिट्टी के समान होता है ॥५५-५६॥

---

१ जैसा 'संग्रह' में कहा है—संस्कृत संस्कृते देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम् ।
युक्तं व्यस्तैः समस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः ।
क्षीरेणालोडितं शीघ्रं फलं कुर्याद् रसायनम् ॥

मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः ।
कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निस्रवः ॥ ५७ ॥
रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीत. स्वादु विपच्यते ।
ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णा पच्यते कटु ॥ ५८ ॥
यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः ।
कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥ ५९ ॥
गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः ।
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥ ६० ॥

इनमें से स्वर्ण-शिलाजीत—तिक्तरसयुक्त मधुर, जपा (जासुदी) फूल के समान लाल, विपाक में कटु, शीतवीर्य होता है ।

रौप्य (चादी की शिला से निकला) शिलाजीत—कटु रस, रंग में श्वेत, शीतवीर्य, विपाक में मधुर होता है ।

ताम्र (ताँबे से निःसृत) शिलाजीत—मोर की ग्रीवा के समान नीली झाँई लिये, तिक्त रस, उष्णवीर्य और विपाक में कटु होता है ।

आयस (लोह से निस्सृत) शिलाजीत—गुग्गुल के समान काला, भूरा, तिक्त रस, लवण अनुरस, विपाक में कटु, शीतवीर्य होता है । यह शिलाजतु सब में श्रेष्ठ है ।

[कहीं कहीं पर छः प्रकार के शिलाजतुओं का वर्णन है । वहाँ पर त्रपु और सीसक भी गिना है ।]

इन सब शिलाजतु में गोमूत्र की गन्ध आती है, ये सब कार्यों में प्रयुक्त होते हैं । परन्तु रसायन कार्य में अन्तिम, आयस शिलाजीत ही अधिक श्रेष्ठ है ॥५७-६०॥

यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु ।
विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥ ६१ ॥

खास कर वात पित्त रोग में स्वर्ण शिलाजतु का, कफ-पित्त में रजत शिलाजतु का, कफ में ताम्र शिलाजतु का और वात-पित्त-कफ में आयस शिलाजतु का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६१ ॥

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च ।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान्[1] परिवर्जयेत् ॥ ६२ ॥
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम् ।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥ ६३ ॥

---

१ 'कुनखान्' इति च पाठः ।

शिलाजीत के प्रयोग के समय विदाही और गुरु पदार्थों का तथा कुलत्थी का एक साल तक (अथवा जब तक शिलाजतु के गुण शरीर में हों तब तक) सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि लोक में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि पत्थरों से अत्यन्त विरोध रखने के कारण कुलत्थ पत्थरों तक को फोड़ कर निकलते हैं। बंजर भूमि में, रोड़ाओं में ही कुलत्थी होती है। [व्यायाम, धूप, वायु, ताप, काकमाची और कपोता ये भी वर्जनीय हैं और वर्षा का, कुएं का या झरने का जल पथ्य है। अष्टागसंग्रह] ॥ ६२-६३ ॥

पयांसि शुक्तानि[1] रसाः सयूषा-
स्तोयं समूत्रं विविधाः कषायाः ।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्ता-
स्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ॥ ६४ ॥

शिलाजतु के आलोडन द्रव्य—दूध शुक्त, (सिरका), मांस रस, यूष, जल, गोमूत्र आदि मूत्र, नाना प्रकार के क्वाथ, दोष आदि की विवेचना करके, शिलाजतु के आलोडन में इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ६४ ॥

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः
शिलाह्वयं य न जयेत् प्रसह्य ।
तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्त
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ॥ ६५ ॥

इति शिलाजतुरसायनम् ।

इस पृथ्वी पर ऐसा कोई भी साध्य रोग नहीं है जिसको शिलाजतु उन उन अवस्थाओं के योग्य योगों के साथ विधिपूर्वक प्रयुक्त होने से बलपूर्वक नष्ट नहीं कर देता। वह स्वस्थ पुरुषों को भी पर्याप्त बल देता है ॥ ६५ ॥

तत्र श्लोकः—करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा ।
रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः ॥ ६६ ॥

इस करप्रचितीय रसायन पाद में महर्षि ने सोलह सिद्ध रसायनों के प्रयोग कहे हैं ॥ ६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः ।

---

१ 'तक्राणि' इति च पाठः ।

(चतुर्थः पादः)

अथात आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

ऋषयः खलु-कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः सांपन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याणाः प्रायेण बभूवुः । ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवास-समपगत-ग्राम्य-दोषं मत्वा शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममर-गन्धर्व यक्ष-किन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षि-सिद्ध-चारणानुचरित दिव्य-तीर्थौषधि प्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रि-वशिष्ठ-कश्यपागस्त्य-पुलस्त्य-वामदेवासित-गौतम-प्रभृतयो महर्षयः ॥ ३ ॥

पहिले किसी समय में शालीन (घर बना कर रहनेवाले) सुसम्पन्न और यायावर (यज्ञशील) ऋषि नागरिक जनों के आहार के सेवन करने से ऐश्वर्यवाले पुरुषों के समान मन्द-क्रियाशील हो गये और प्रायः स्वस्थ न रहने लगे । उस समय वशिष्ठ, भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि महर्षि तपश्चर्या आदि कर्मों में असमर्थ हो गये । तब उनको पता चला कि ग्राम्य (नगर) निवास के कारण ही यह दोष उत्पन्न हुआ है । इसलिये वे अपने पुराने स्थान हिमालय में चले गये । यह हिमालय का स्थान ग्राम्य-सम्बन्धी दोषों से रहित, कल्याणकारी, पवित्र, उदार, पुण्य, पापियों से अगम्य, गंगा का उत्पत्तिस्थान, अमर (देव) गन्धर्व, यक्ष, किन्नर और चारणों से सेवित, अनेक रत्नों का खज़ाना, अचिन्त्य और आश्चर्यमय प्रभाव से युक्त, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, चारणों की सचार भूमि, दिव्य-तीर्थ और दिव्य औषधियों का उत्पत्ति स्थान, अतिशरण्य देवराज इन्द्र से सुरक्षित था ॥ ३ ॥

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरगुरुरब्रवीत्—स्वागतं, ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणामस्ति ननोग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च । ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम् । तत्कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां स्वशरीरमरक्षिभिः । कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य । ब्रह्मर्षीणामात्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां च, प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्प-

मायुर्जरा-व्याधि-बहुलमसुखमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्प-तपो-दम-नियम-दानाध्ययन-संचयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जरा-व्याधि-प्रशमन-मूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं मत्तः श्रोतुमर्हथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्मचर्यं प्रति मैत्री कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति ॥ ४॥

इन महर्षियों को सहस्र-चक्षु, श्रेष्ठ, देवगुरु इन्द्र ने कहा—आपका स्वागत हो। ब्रह्मज्ञानी ज्ञान और तप के धनी आप ब्रह्मर्षियों में मन की बेचैनी, प्रभाव, कान्ति का न होना, स्वरविकार, विवर्णता, नागरिकनिवास में उत्पन्न रोग, इन रोगों से सम्बद्ध अन्य रोग भी दिखाई पड़ते हैं। सब अधर्म, पाप और रोग आदि बुराइयों का मूलकारण नगर निवास ही है। आप पुण्यकर्मा जनों ने अपने शरीर की परवाह न करके भी अन्य प्रजाओं का बड़ा उपकार किया है और आयुर्वेद के उपदेश के लिये यही उत्तम समय है। इस आयुर्वेद को ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने दोनों अश्वियों को, दोनों अश्वियों ने ब्रह्मर्षियों को, अपने और प्रजाजनों के लाभ के लिये मुझे प्रदान किया था। प्रजाजनों की आयु छोटी है, वह भी बुढ़ापा, रोग, अनारोग्य आदि दुःखों से भरी है। आयु के थोड़ा होने से इनका तप, दम, नियम, दान, अध्ययन आदि का सञ्चय भी थोड़ा होता है। यह जानकर तुम मुझसे पुण्यतम, आयु को लम्बा करने वाले, बुढ़ापे और रोग को मिटाने वाले, ओज को बढ़ाने वाले, अमृत के समान, कल्याणकारी शरण लेने योग्य, उदार आयुर्वेद को सुनो। [इन्द्र की सभा में सहस्रों ऋषि इन्द्र के सहस्र चक्षु थे।]

सुनकर उसे हृदयंगम करके प्रजा की भलाई के लिये आर्ष सत्त्व, ब्रह्मचर्य के लिये प्राणियों पर मैत्री और करुणाभाव तथा अपने निज श्रेष्ठ पुण्य, उदार, ब्रह्म (ज्ञान) सम्बन्धी अक्षय कर्म को प्रकाशित करने के लिये इस आयुर्वेद का श्रवण करो ॥ ४ ॥

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ॥ ॥

देवराज इन्द्र के वचनों को सुन कर सब ऋषियों ने ऋचा से इन्द्र की स्तुति की और पुलकित होकर इन्द्र के वचनों का अभिनन्दन किया ॥ ५ ॥

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः संक्राम्योवाचैतत्सर्वमनुष्ठेयम् । अयं च शिवः कालो रसायनानां, दिव्याश्चौषधयो हिमवतः प्रभवाः प्राप्तवीर्याः, तद्यथा-ऐन्द्री ब्राह्मी पयस्या क्षीरपुष्पी श्रावणी महाश्रावणी

शतावरी विदारी जीवन्ती पुनर्नवा नागबला स्थिरा वचा छत्राऽतिच्छत्रा मेदा महामेदा जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात्परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसंपदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः ॥ ६ ॥

इतीन्द्रोक्तं रसायनम्।

इन्द्रोक्त रसायन—इसके पीछे इन्द्र ने ऋषियों को आयुर्वेदामृत का उपदेश किया। इस सम्पूर्ण आयुर्वेद का पालन करना चाहिये। रसायन सेवन करने का यह पुण्य, कल्याणकारी समय है। इस समय हिमालय में उत्पन्न होने वाली सब दिव्य औषधियां वीर्य से परिपूर्ण हैं। जैसे—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या (क्षीर-विदारी), क्षीरपुष्पी, श्रावणी (गोरखमुण्डी), महाश्रावणी, शतावरी, विदारीकन्द, जीवन्ती, नागबला, स्थिरा (शालपर्णी), वचा, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा, जीवनीय गुण की अन्य ओषधियां (काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुलहठी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी), इनको दूध के साथ छः मास तक यथाविधि प्रयोग करने पर दीर्घ आयु, तरुण वय, नीरोगता, स्वर और वर्ण की शुद्धता, वृद्धि, मेधा, स्मृति, उत्तम बल तथा अभिलषित बातों की प्राप्ति होती है* ॥ ६ ॥

ब्रह्मसुवर्चलानामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्कर-सदृश-पत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या सूर्यकान्तेति विज्ञायते सुवर्ण-वर्ण क्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारी नामौषधिरश्वबलेति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा, काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पा नामौषधिः सर्पाकारा,

---

* कविराज श्री गंगाधर सेन ने 'ऐन्द्री' का अर्थ इन्द्रायण किया है। छत्रा और अतिछत्रा का अर्थ डल्हण ने 'द्रोणपुष्पी द्वय' किया है। वैसे सोया और सौंफ भी होता है।

श्रावणी—अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यंगुलसम्मितैः।
पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः॥
श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी।
श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा॥

श्रावणी का एक हाथ भर का पौधा और दो दो अंगुल के पत्ते होते हैं। नील कमल के से आकार के फूल और अञ्जन के समान काले फल होते हैं। महाश्रावणी स्वर्ण के समान पीले रंग के रस की होती है और श्रावणी का रस श्वेत होता है।

सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्णः स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा, पद्मरक्ता, पद्मगन्धा च, अजा नामौषधिस्तु नीलक्षीरा, नीलपुष्पा लताप्रतानबहुला, इत्यासामष्टानामोषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रपलाश-द्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलीयते षण्मासेन पुनः पुनः संभवति, तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनं, षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयो-वर्ण स्वराकृति-बल-प्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति, गतिर्योजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ॥ ७ ॥

इति द्रोणीप्रावेशिकरसायनम् ।

द्रोणीप्रावेशिक रसायन—ब्रह्मसुवर्चला नाम की जो ओषधि है, उसका दूध स्वर्ण के समान पीला, पत्ते पुष्कर (कमल) के समान होते हैं। आदित्यपर्णी नाम की जो ओषधि सूर्यकान्ता के नाम से प्रसिद्ध है, इसका दूध (रस) पीला होता है और इसका पुष्प सूर्य मण्डल के समान होता है। नारी नाम की ओषधि अश्वबला के नाम से जानी जाती है इसके पत्ते बल्वज (तृण विशेष) के समान होते हैं। काष्ठगोधा नामक ओषधि का आकार गोधा (गोह) के समान होता है। सर्पा नाम की ओषधि सर्प के समान आकार की है। सोम नामक ओषधि सब ओषधियों का राजा (श्रेष्ठ) है। इसके पन्द्रह पत्ते होते हैं। यह ओषधि चन्द्रमा के साथ साथ शुक्ल पक्ष में बढ़ती है और कृष्ण पक्ष में उसी के साथ साथ ह्रास हो जाती है। पद्मा नाम की ओषधि कमल के आकार की रक्त कमल के समान लाल वर्ण और कमल के समान गन्ध वाली है। अजा नाम की ओषधि को 'अजश्रृंगी' कहते हैं। नीला नाम की ओषधि का दूध नीला, फूल भी नीले तथा इसका फैलाव बहुत होता है[1]।

---

१ सुश्रुत में इन दिव्य ओषधियों का कुछ वर्णन आया है जैसे—

कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परि सर्पति ।
सक्षीरा पद्मिनी प्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला ॥
मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सरक्ताशुककोमलैः ।
आदित्यपर्णी विज्ञेया सदादित्यानुवर्तिनी ॥
कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैः मयूरागरुहोपमैः ।
कन्दजा काञ्चनक्षीरा कन्या नाम महौषधिः ॥
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ।

इन आठ (नवीं सोम) ओषधियों में जो जो भी ओषधि मिल सके उसका स्वरस पेट भर कर पीना चाहिये। फिर घी, तैल आदि स्नेह से भावित, ताजे (गीले) ढाक की लकड़ी से बनी, ढक्कन से युक्त द्रोणी (नांद) में नंगा होकर लेट जाना चाहिये। वहां पर वह छः मास तक अचेत रहता है। [छः मास के पीछे आहार सेवन से सज्ञा-लाभ होता है]। इस समय बकरी के दूध से इसे स्वस्थ रखना चाहिये। [छः मास के पीछे वह वय, वर्ण, स्वर,

---

करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा ॥
मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ।
पञ्चारत्निप्रमाणा वा विज्ञयाजगरी बुधैः ॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे ।
अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ॥
अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा ।
छत्रातिच्छत्रके विद्याद् रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे ॥
जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतसस्थिते ।

सुश्रुत० चि० अ० ३० ।

(१) ब्रह्म सुवर्चला पीले से, स्वर्ण तुल्य रंग की, जल के स्थानों के तीर पर फैला करते हैं। वह दूध वाली पद्मिनी के समान होती है (२) आदित्य पर्णी—मूलवाली, खूब लाल नाड़ियों वाले कोमल २ पांच पत्तों वाली, सदा सूर्य के अनुसार रहती है। (३) कन्या—सुन्दर मोर के पाँखों के समान १२ पत्र होते हैं, मूल में एक छोटा सा गोल कन्द होता है दूध सोने के समान पीला होता है। काश्मीर में क्षुद्रक मानस (छोटा मानसरोवर) नामक एक दिव्य बड़ा तालाब है। वहां करेणु, कन्या, छत्रा अति छत्रा नाम की ओषधियां उत्पन्न होती हैं। (४) अजगरी—पीले चितकबरे, गोल २ चकत्तों मे चित्रित, उसका रूप सांप के सामान होता है, उसके पांच पत्ते होते हैं, उसकी लम्बाई भी पांच बालिश्त होती है, वर्षा काल में वह दीखती है। (५) गोनसी—इसी प्रकार गोनसी नाम की ओषधि भी वर्षा काल में ही दीखती है। (६) अजा—अजा ओषधि शंख या कुन्द के पुष्प के समान श्वेत रंग की है, उसका छोटा सा पौधा होता है, जड़ में बकरी के स्तन के समान कन्द होता है। (७-८) छत्रा और अतिछत्रा ये दोनों कन्द से उत्पन्न होती हैं श्वेत कबूतर के समान दिखाई देती हैं, वे दोनों दुष्ट आत्माओं के बुरे प्रभाव को नाश करने वाली, बुढ़ापा और मौत को दूर करती हैं।

आकृति, जल और प्रभा में देवताओं की तुलना करने लगता है] सब विद्यायें, भाषायें स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं (वह उनको जान जाता है)। कान और आँखें दिव्य हो जाती हैं, एक हजार योजन तक बिना थके चल सकता है, बिना रोग आदि उपद्रवों के एक हजार वर्ष की आयु भोगता है। * [दूध देने के लिये ढकन में मुख की सीध में छेद बना कर नाली द्वारा दूध देना चाहिये। जिससे वह लेटा लेटा दूध पी सके। श्वास के लिये अन्य छिद्र रखने चाहियें] ॥ ७ ॥

भवन्ति चात्र—दिव्यानामौषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः ।
शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात् सोढुमकृतात्मभिः ॥ ८ ॥
ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि ।
भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ॥ ९ ॥
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः ।
शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ॥ १० ॥
तासु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च कर्मणा ।
मृदुवीर्यतया तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु ॥ ११ ॥
पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः ।
रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ॥ १२ ॥

दिव्य औषधियों का जो प्रभाव है, उसको आप जैसे ही सहन कर सकते हैं। पापी पुरुषों के लिये उनका सहन करना असम्भव है। अपने मार्ग में (शम, तप आदि साधन करते हुए) स्थिर रहते हुए औषधियों के प्रभाव से आप लोगों को सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त हो जायेगा। वानप्रस्थी, गृहस्थी तथा जो प्रयत्नशील और संयमी पुरुष हैं, वे भी अपने योग्य पुण्य देश में उत्पन्न औषधियों का सेवन कर सकते है। दिव्य औषधियाँ अपुण्य देश में उत्पन्न होती ही नहीं, यदि कदाचित् हो जायें तो निर्वीर्य हो जाती हैं। इन साधारण देशों में उत्पन्न दिव्य औषधियों का वीर्य हिमालय की औषधियों से मृदु (हीन) रहता है। इसका कारण क्षेत्र (जहाँ पर ये उत्पन्न होती हैं), गुण और कर्म (जरा, व्याधि-नाश रूप) का मध्यम होना है। इनके प्रयोग की विधि वही है, जो कि हिमालय में उत्पन्न औषधियों की है। सुख, आरोग्य को चाहने वाले जो व्यक्ति इन दिव्य औषधियों को ढूंढने या प्रयोग करने की मेहनत नहीं कर सकते उनके लिये दूसरी रसायन विधि हितकर है ॥ ८-१२ ॥

* प्रलीयते का अर्थ अदृश्य होना भी कहते हैं।

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश ।
वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च ॥ १३ ॥
खर्जूराणां मधूकाना मुस्तानामुत्पलस्य च ।
मृद्वीकानां बिडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ॥ १४ ॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च ।
ऋद्ध्या नागबलायाश्च हरिद्राया धवस्य च ॥ १५ ॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च ।
इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ॥ १६ ॥
रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च ।
एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ॥ १७ ॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः ।
तत्साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ॥ १८ ॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम् ।
स्वरसेनैव दातव्य क्षौद्रस्याभिनवस्य च ॥ १९ ॥
शर्कराचूर्णपात्र च प्रस्थमेकं प्रदापयेत् ।
तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं संमूच्छितं च तत् ॥ २० ॥
सुचौक्षे मार्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते ।
मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥ २१ ॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च ।
मुक्तावदूर्यशङ्खानां चूर्णाना रजतस्य च ॥ २२ ॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम् ।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥ २३ ॥
सर्वरोगप्रशमन वृष्यमायुष्यमुत्तमम् ।
सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥ २४ ॥
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा ।
विषालक्ष्मीप्रशमन सर्ववाचोगतप्रदम् ॥ २५ ॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च प्रजाप्रियत्व च यशश्च लोके ।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद्रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ॥२६॥
इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम् ।

इन्द्रोक्त रसायन—सूत्रस्थान में वर्णित बल्य, जीवनीय, बृंहणीय और वयःस्थापक गण की सब दस औषधियां, खैर, असन, खजूर, महुवा, मोथा,

नीला कमल, काली द्राक्षा, वायविडङ्ग, चीता, बच, शतावरी, पयस्या (क्षीर-विदारी), पिप्पली, जोङ्गक (अगरू), ऋद्धि, नागबला, द्वारदा (सागोन, हरिद्रा पाठान्तर में हल्दी), यव, त्रिफला, कण्टकारी, विदारी, लाल चन्दन, गन्ने की जड़, सरकण्डे की जड़, श्रीपर्णी (गम्भारी), तिनिश (आबनूस, रथद्रुम), इनका पृथक् पृथक् रस ३२ प्रस्थ, कल्कार्थ पलाश क्षार १ पल, गाय का दूध १२८ प्रस्थ, तिल तैल १६ प्रस्थ, गोघृत १६ प्रस्थ इनका यथा-विधि स्नेहपाक करके छान लेना चाहिये। इन छने स्नेह में आवलो के रस से सौबार भावना दिये आवले का चूर्ण एक आढक मिला देना चाहिये। फिर ताजा शहद दो आढ़क, शर्कराचूर्ण एक आढ़क, वंशलोचन और पिप्पली प्रत्येक ६४ तोले, मिलाकर आलोड़ित कर देना चाहिये। फिर घी से भावित मिट्टी के पात्र में पन्द्रह दिनों तक रख देना चाहिये। पीछे से स्वर्ण, ताम्र, प्रवाल (मूंगा), लोह, स्फटिक (बिल्लोर), मोती, वैडूर्य (लहसुनिया), शंख और चादी इनकी भस्मों का एक का १६ वा भाग मिलाना चाहिये। इसके पश्चात् अग्नि बल के अनुसार इसका प्रयोग करना चाहिये। (आमलकादि चूर्णयुक्त घृत की अपेक्षा से एक का १६ वा भाग लेना चाहिये)। इसके सेवन करते समय परिश्रम और मैथुन का त्याग करना चाहिये। मात्रा के जीर्ण होने पर साठी के चावलों को दूध और घी के साथ खाना चाहिये[1]।

यह रसायन सब रोगों का नाश करता है, शुक्रवर्धक, आयुवर्द्धक श्रेष्ठ है। सत्त्व, स्मृति, कायाग्नि, बुद्धि और इन्द्रियों के बल को बढ़ाता है। विष तथा दरिद्रता को दूर करता है। सब वाणियों को उपस्थित कर देता है। कामना सिद्धि, नूतन वय (तारुण्य), जनता में सत्कार, संसार में यश चाहने वाले को इस ब्राह्म तथा उदार-वीर्य रसायन का विधिपूर्वक सेवन करना चाहिये॥ १३-२६॥

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम्।
कुटीप्रवेशः क्षमिणां परिच्छदवतां हितः॥ २७॥
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः।
ताभ्यां श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः॥ २८॥
रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि।
यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम्॥ २९॥

---

१ षोडशी का अर्थ गंगाधर सेन के मत से सम्पूर्ण औषध का एक का १६ वा भाग प्रत्येक भस्म लेना किया है। जयदेव ने षोडशी का अर्थ एक पल किया है। इसमें प्रमाण—'प्रकुञ्च षोडशी बिल्वं पलकं वात्र कीर्त्यते' दिया है।

जो पुरुष समर्थ (शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान्) हों, नीरोगी हों, बुद्धिमान हों और जितेन्द्रिय हों, तथा अपने कार्य धंधे मे स्वतंत्र हों, क्षमाशील हों और साधनों से सम्पन्न हों उनके लिये कुटी-प्रावेशिकविधि हितकारी है। इन उपरोक्त गुणों से जो रहित हों उनके लिये सूर्य मारुतिक (वातातपिक) विधि हितकारी है। इन दोनों विधियों में कुटीप्रावेशिक-विधि अधिक श्रेष्ठ और करने में अति दुष्कर है रसायन विधि के मिथ्या आचरण से यदि कोई रोग उत्पन्न हो जाय, तो तुरन्त रसायन का प्रयोग छोड़कर रोगानुसार औषध करनी चाहिये ॥ २७–२९ ॥

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥ ३० ॥
जपशौचपरं[1] धीरं दाननित्यं तपस्विनम् ।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥ ३१ ॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम् ।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥ ३२ ॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम् ।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ॥ ३३ ॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥ ३४ ॥
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम् ।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ।

इत्याचाररसायनम् ।

आचार-रसायन—सत्यवादी, क्रोध न करनेवाले मद्य मैथुन से पृथक्, अहिंसक (मन, वचन, कर्म से), अनायास [श्रम न करनेवाले], शान्त, प्रियवादी, यज्ञ-पवित्रता के पालक, धीर, दानी, तपस्वी, द्वन्द्व को सहनेवाले, देवता, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु, इनकी पूजा में सदा तत्पर, नित्य क्रूरता से परे, सदा प्राणियों पर करुणा भाव रखनेवाले, युक्त मात्रा में सोने और जागने वाले, नित्य दूध और घी को खानेवाले, देश, काल मात्रा को जाननेवाले, युक्ति को समझनेवाले, अहंकार से शून्य, सदाचार युक्त, असंकीर्ण (उदारचेता) आत्मज्ञान की ओर झुके, वृद्ध पुरुषों आस्तिकों तथा जितात्मा पुरुषों के पास बैठने वाले, उनकी सेवा में तत्पर, नित्य धर्मशास्त्र का पाठ करनेवाले तथा

१. 'याज्यशौच' इति च पाठः ।

अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति को सदा रसायनसेवी ही जाने। इन सद् वृत्तों के पालनसे रसायनका सेवन करता है, उसको रसायनके पूर्ण गुण मिलते हैं ॥३० ३५॥

यथा स्थूलमनिर्वाह्यदोषाञ्छारीरमानसान्।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥ ३६ ॥
योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः।
मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥ ३७ ॥
तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु।
अरजोभ्यो[1] द्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च ॥ ३८ ॥
ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥ ३९ ॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम्।
अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥ ४० ॥

शारीरिक एवं मानसिक दोषों को दूर किये बिना जो व्यक्ति रसायन का सेवन करता है, वह रसायन के मोटे मोटे गुणों को छोड़कर शेष सूक्ष्म गुणों को प्राप्त नहीं करता। आयु को लम्बा करनेवाले तथा बुढ़ापे को दूर करने वाले रसायन के प्रयोग उन्हीं पुरुषों में सफल होते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जिनके शरीर और मन शुद्ध हैं। जिनका आत्मा सदा पापों में लिप्त रहता हो उनको रसायन विधि नहीं सुनानी चाहिये। जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) पीड़ा से हीन, शारीरिक, मानसिक रोग, रज, तम आदि से रहित हों, जो श्रद्धा से रसायन के गुणों को सुनना नहीं चाहते, उनको भी नहीं बताना चाहिये। जो रसायन के योग हैं, और जो वृष्य प्रयोग हैं, तथा जो ज्वरादि रोगों की औषध हैं, ये सब वैद्य के ही अधीन है। इसलिये विद्वान् का कर्त्तव्य है कि बुद्धिमान वेद (आयुर्वेद) में निष्ठ, प्राणाचार्य (वैद्य) का पूर्ण शक्ति के साथ ऐसे पूजन-सत्कार करे जिस प्रकार कि देवराज इन्द्र ने अश्वियों की पूजा की थी ॥ ३९–४० ॥

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ।
यज्ञस्य[2] हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥ ४१ ॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥ ४२ ॥

---

१. 'अरुजेभ्यो' इति च पाठः। २. 'दक्षस्य' इति च पाठः।

चिकित्सितस्तु [1]शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा ।
सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥ ४३ ॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥ ४४ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥ ४५ ॥
ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि तथाऽन्यानि[2] हवींषि च ।
धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥ ४६ ॥
प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते ।
सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ॥ ४७ ॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः ।
स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः ॥ ४८ ॥
अमरैरजरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः ।
पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति ॥ ४९ ॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः ।
किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः ॥ ५० ॥

अश्वियों के कार्य—देवों के चिकित्सक अश्वियों को यज्ञवाहक कहा जाता है । जब तक इनको भाग नहीं मिलता तब तक कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता[3] । प्राचीन काल मे दक्ष (यज्ञ) का शिर कट गया था, इन्होंने ही फिर से उसको जोड़ा था । पूषा के दांत टूट गये थे, भग की आँखें नष्ट हो गई थीं, इन्द्र को भुजस्तम्भ होगया था इन अश्वियों ने ही सब की चिकित्सा का थी । चन्द्रमा को जब यक्ष्मा रोग हो गया था, तब इन्होंने ही चिकित्सा की थी । चन्द्रमा का जब सोम (वीर्य) नष्ट हो गया था, तब इन्होंने ही इसको स्वस्थ किया था । भृगुवंश में उत्पन्न च्यवन ऋषि अत्यन्त कामी होने से शीघ्र वृद्ध हो गये थे, उनके वर्ण, स्वर नष्ट हो गये थे, इन अश्वियों ने पुन. उनको युवा कर दिया था । इन उपरोक्त कार्यों से तथा अन्य कार्यों के कारण चिकित्सा मे श्रेष्ठ दोनों अश्विगण इन्द्र आदि महात्माओं के अत्यन्त पूजापात्र हो गये थे । द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) लोग अश्वियों के लिये ग्रह (सोम पान के पात्र), स्तोत्र, मंत्र, अन्य

१. 'चिकित्सितः शशी ताभ्यां' इति च पाठः । २. 'तथा नाना' इति च पाठः । ३. अश्वियों के यज्ञ-भाग की कथा के लिये महाभारत में च्यवन ऋषि की कथा देखिये ।

हवि (आहुतिया, अन्न) और धूमवर्ग के पशुओं की कल्पना किया करते थे[1]।

इन्द्र प्रातःसवन में (यज्ञस्थान में) अश्वियों के साथ सोमपान करते हैं। सौत्रामणि यज्ञ मे भगवान् अश्वियों के साथ प्रसन्न होते हैं। द्विज लोग प्रायः इन्द्र, अग्नि और अश्वियों की स्तुति करते हैं। वेद वाक्यों में अन्य देवताओं की ऐसी स्तुति नहीं की जाती, जैसी कि अश्वियों की है।

जरारहित, मृत्युरहित, बुद्धिमान् और स्थिर देवगण भी अपने राजा इन्द्र के साथ बड़े प्रयत्न से चिकित्सक अश्वियों की पूजा करते हैं, तो फिर मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे से निश्चय रूप में पीड़ित होने वाले परन्तु सुख की चाह रखने वाले मनुष्य किस लिये अपनी पूर्ण शक्ति के साथ इनकी पूजा न करें। अवश्य वैद्यों की पूजा मनुष्यों को करनी चाहिये ॥ ५० ॥

शीलवान्मतिमान् युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः।
प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥ ५१ ॥
विद्यासमाप्तौ भिषजस्तृतीया[2] जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ॥ ५२ ॥
विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यस्त्रिजः[3]स्मृतः ॥ ५३ ॥
नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्।
प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥ ५४ ॥
चिकित्सितस्तु सश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥ ५५ ॥
भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ॥ ५६ ॥

सुशील, बुद्धिमान्, द्विजाति आयुर्वेद शास्त्र में निष्ठ व्यक्ति को 'प्राणाचार्य' कहते हैं। इस व्यक्ति की पूजा लोगों को गुरु के समान करनी चाहिये। आयुर्वेद की समाप्ति पर ही चिकित्सक की तीसरी (दूसरी) जाती होती है। पूर्वजन्म से कोई वैद्य नहीं होता, आयुर्वेद का ज्ञान गुरुमुख से पढ़ने पर 'वैद्य' कहाता है, विद्या की समाप्ति पर ही ब्राह्म सत्त्व या आर्ष सत्त्व (मन)

---

१ 'मन्त्राणि' के स्थान पर 'शस्त्राणि' पाठ भी है। 'वषट्कार से युक्त मन्त्र ही 'शस्त्र' कहाते हैं। धूम्र के स्थान पर 'धूम' पाठ करने पर 'धूप' अगरबत्ती आदि का धूम लेना चाहिये। २. 'भिषजो द्वितीया' इति च पाठः। ३. 'वैद्यो द्विजः' इति च पाठः।

बनता है। ज्ञान के कारण ही ब्रह्मत्व या आर्षत्व आता है। इसलिये वैद्य को त्रिज (द्विज) कहते हैं। उसका यह दी (दू) सरा जन्म होता है जो बुद्धिमान् मनुष्य अपनी दीर्घ आयु चाहे उसको चाहिये कि प्राणाचार्य वैद्य का न तो तिरस्कार करे, न उसकी निन्दा करे और न उसका कुछ बुरा ही करे। जो पुरुष वैद्य द्वारा चिकित्सा कराके धन आदि देने की प्रतिज्ञा करके अथवा न करके भी वैद्य का प्रत्युपकार नहीं करता, उसकी कहीं भी निष्कृति (कल्याण) नहीं। वैद्य का कर्त्तव्य है कि रोगियों को अपने पुत्र के समान समझे। सर्वोत्तम धर्म की इच्छा रखते हुए इनको रोगों से बचावे ॥ ५१-५६ ॥

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥ ५७ ॥
नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदया प्रति।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥ ५८ ॥
कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्।
ते हित्वा काञ्चन राशि पांसुराशिमुपासते ॥ ५९ ॥

धर्मपरायण महर्षियों ने अक्षय स्थान (मुक्ति, ब्रह्म-साक्षात्कार) की चाहना से धर्म के लिये आयुर्वेद का प्रकाश किया है। धन की इच्छा से आयुर्वेद का प्रकाश नहीं किया। जो वैद्य केवल प्राणिमात्र के दया भाव से चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त होता है, किसी धन की इच्छा (स्वार्थ) से प्रवृत्त नहीं होता, वह सब पुण्य कार्यों को अतिक्रमण कर जाता है। जो व्यक्ति पेट के लिये चिकित्सा को दुकानदारी बनाते हैं, वे लोग स्वर्ण की राशि को छोड़ कर (धर्म को छोड़ कर), धूल की ढेरी बाँधते हैं। (पाप की गठरी सिर पर धरते हैं) ॥ ५९ ॥

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्।
छित्वा वैवस्वतान् पाशाञ्जीवितं च प्रयच्छति ॥ ६० ॥
धर्मार्थसदृशस्तस्य दाता नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥ ६१ ॥
परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ६२ ॥

कठिन पीड़ा देने वाले, रोगों से पीड़ित यमालय की ओर जाते हुए व्यक्तियों को यम के पाश काट कर छुड़ाता है, उनको जीवन देता है, उसके समान धर्म-अर्थ का दाता इस संसार में और कोई नहीं है। क्योंकि जीवन-दान से बढ़कर और कोई दान संसार में नहीं है। प्राणियों पर दया करना उत्कृष्ट

धर्म है, ऐसा समझ कर चिकित्सा में जो प्रवृत्त होता है उसकी सब कामनायें पूर्ण होती हैं, उसको अत्यन्त सुख मिलता है ॥ ६०-६२ ॥

तत्र श्लोकः—आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिः शुभः ।
अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ॥ ६३ ॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः ।
आयुर्वेदसमुत्थाने तत्सर्वं सम्प्रकाशितम् ॥ ६४ ॥

आयुर्वेद की उत्पत्ति, दिव्य औषधियों का हितकर विधान, अमृत से थोड़े कम गुण रखने वाले सिद्ध रसायन, जिन को देवराज इन्द्र ने सिद्ध, ब्रह्मचारियों को उपदेश किया था, वह सब भगवान् पुनर्वसु ने इस 'आयुर्वेद-समुत्थान' अध्याय में कह दिया ॥ ६३-६४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने आयुर्वेद-
समुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः ॥ ४ ॥
समाप्तश्चायं प्रथमो रसायनाध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

(प्रथमः पादः)

[स्वस्थ पुरुष के ऊर्ज को बढ़ाने के लिये रसायन और वाजीकरण हैं। रसायन के पीछे वाजीकरण औषध प्रयोग करने चाहियें। तभी इनका प्रभाव उत्तम होता है। इसलिये इस अध्याय का अवतरण करते हैं।]

अथातः संप्रयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब आगे 'संप्रयोग-शरमूलीय' नामक वाजीकरण पाद की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान् ।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥ ३ ॥
पुत्रस्याऽऽयतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्रयाः ।

जितेन्द्रिय पुरुष प्रतिदिन वाजीकरण की इच्छा करे। इसके ऊपर ही धर्म, अर्थ, प्रीति और यश आश्रित हैं। यह वाजीकरण पुत्रोत्पत्ति का कारण है और धर्म, अर्थ, प्रीति, यश आदि समस्त गुण पुत्र के ऊपर आश्रित हैं ॥ ३ ॥

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ॥ ४ ॥
इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः ।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥
सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते ।
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम् ॥ ६ ॥
स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ७ ॥
सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता ॥ ८ ॥

सब से प्रधान वाजीकरण—सब से श्रेष्ठ वाजीकरण 'क्षेत्र' है, और हर्ष को उत्पन्न करने वाली स्त्री 'क्षेत्र' है। [स्त्री में बीज का वपन अर्थात् आधान होता है, इसलिये स्त्री को 'क्षेत्र' कहते हैं।] एक एक भी मनचाहा ग्राह्य विषय रूप, रस, गन्ध आदि अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करता है। परन्तु ये सब रूप आदि विषय सम्मिलित होकर स्त्री के शरीर में उपस्थित होते हैं, तब फिर क्यों न उसमें प्रीति उत्पन्न हो, अवश्य होगी। स्त्रियों में आश्रित इन्द्रियों के विषय ही प्रीति को अधिक उत्पन्न करते हैं, अन्य स्थानों में आश्रित विषय इतनी प्रीति को उत्पन्न नहीं करते। मनुष्य की स्त्रियों में ही विशेषतः प्रीति अर्थात् (स्नेह की मात्रा अति अधिक रहती है)। सन्तान स्त्रियों में ही प्रतिष्ठित है। धर्म, अर्थ और लक्ष्मी भी स्त्रियों में ही प्रतिष्ठित है। स्त्रियों में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं। जो स्त्री रूपवती, युवती, (काम-शास्त्र में वर्णित) उत्तम २ लक्षणों से सुभूषित, वश में रहनेवाली, (कामशास्त्र में वर्णित ६४ कलाओं में) शिक्षित, निपुण हो, वह स्त्री सबसे उत्तम वाजीकरण है ॥४—८॥

नानाभक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम् ।
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः ॥ ९ ॥

लोगों की भिन्न भिन्न रुचि होने के कारण और दैवयोग से स्त्रियों के रूप आदि गुण उस उस प्रकार की रुचि वाले पुरुष के मिलने से बढ़ते हैं। [स्त्रियों के गुणों के अनुकूल यदि पुरुष मिल जाये तब तो गुण बढ़ते हैं, अन्यथा घट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं] ॥ ९ ॥

वयोरूपवचोहावै[1]र्या यस्य परमाङ्गना ।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा ॥ १० ॥
हृदयोत्सवरूपा या या समानमनोरमा[2] ।

१. 'मृजाहावै' इति च पाठः । २. 'समानमनःशया' इति च पाठः ।

समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः ॥ ११ ॥
या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः ।
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ॥ १२ ॥
यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः ।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते ॥ १३ ॥
याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम् ।
अपूर्वामिव यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः ॥ १४ ॥
गत्वा गत्वाऽपि बहुशो या तृप्तिं नैव गच्छति ।
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः ॥ १५ ॥

जो स्त्री आयु, रूप, वाणी, हाव (शृंगार आदि चेष्टा) आदि के द्वारा या दैवयोग से अथवा अन्य कर्मों से मनुष्य के हृदय में उतर जाती है, जो हृदय में आनन्द का सञ्चार करती है, जिसकी कामचेष्टा मनुष्य के समान होती है, जिसका सत्त्व (चित्त) पुरुष के समान है, जो पुरुष के वश में रहती है, जो स्त्री पुरुष की प्रिय वस्तुओं से प्रसन्न होती है। जो स्त्री अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण पुरुष की समस्त इन्द्रियों के लिये जाल रूप है (जिसमे पुरुष फसा रहता है), जिससे छूटकर रति रहित, बेचैन होकर पुरुष समस्त ससारको स्त्री से शून्य मानता है, जिस स्त्री के बिना पुरुष अपने शरीर को इन्द्रियों से रहित मानता है जिसको देखकर शोक, उद्वेग, बेचैनी, भय आदि सब भूल जाता है, जिसको देखते ही शान्ति अनुभव करता है, जिसके दर्शन से अत्यन्त खुशी अनुभव करने लगता है, जिस स्त्री के साथ नित्य प्रति अत्यन्त हर्ष (कामोद्वेग) के कारण नूतन स्त्री के रूप में सम्भोग करता और बार बार मैथुन करने पर भी तृप्त नहीं होता वह स्त्री उस पुरुष के लिये सबसे उत्तम वृष्य (वाजीकरण रसायन) है ॥ १०-१५ ॥

अतुल्यगोत्रां वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम् ।
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः ॥ १६ ॥

सन्तान की चाह रखनेवाला पुरुष स्वय रोगरहित होकर अपने से भिन्न गोत्रवाली, वृष्यतम, हर्षयुक्त [प्रसन्न मन], रोग आदि उपद्रवों से रहित, रजोधर्म के पीछे स्नान कर शुद्ध हुई स्त्री के साथ सहवास करे ॥ १६ ॥

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ १७ ॥
चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ।

निष्प्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्या पुरुषाकृतिः ॥ १८ ॥
अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना ।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते ॥ १९ ॥

अपत्यरहित पुरुष—जिस प्रकार अकेला वृक्ष छायारहित, एक शाखावाला, फलरहित तथा अनिष्ट गन्धवाला होता है, उसी प्रकार से पुत्ररहित मनुष्य भी अकेला है। जिस प्रकार चित्र मे बना दीपक हो जैसा सूखा हुआ तालाब हो, जैसे विना धातु के, धातु के समान चमकने वाला पदार्थ हो, जैसे चाँदी के समान चमकने वाला सीप हो, इसी प्रकार पुत्ररहित मनुष्य है। उसे तिनकों वा घास की पूली से बना पुरुष के आकार का पुतला ही समझना चाहिये। जिस पुरुष के सन्तान नहीं होती उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। वह नंगा, अकेला (निःसहाय), शून्य, एक ही इन्द्रियवाला और निष्क्रिय होता है ॥१७-१९॥

बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः ॥ २० ॥
मङ्गल्योऽयं प्रशस्तोऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम् ।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ॥ २१ ॥

बहुत सन्तानवाला पुरुष—जिस पुरुष के बहुत सन्तान होती है, वह बहुत सी मूर्तियोंवाला, बहुत से मुखोंवाला, बहुत से व्यूह (संघात) वाला, बहुत सी क्रियाओंवाला, बहुत सी आँखोंवाला, बहुत ज्ञानवाला, बहुत से आत्माओंवाला होता है। बहुत सन्तानवाले पुरुष की लोग स्तुति करते हैं कि वह मंगलमय है, धन्य है, वीर्यवान् है, बहुत शाखाओंवाला है ॥ २०-२१ ॥

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम् ।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिता ॥ २२ ॥
तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान् ।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ॥ २३ ॥

प्रीति, बल, सुख, वृत्ति, विस्तार, कुल का विस्तार, यश, सुख देनेवाले लोक, सन्तोष ये सब गुण सुतों पर आश्रित हैं। इसलिये सन्तान की चाह रखने वाला तथा सन्तान पर आश्रित गुणों की कामना करनेवाला पुरुष सदा वाजीकरण का सेवन करे और काम्य सुखों की भी इच्छा करे ॥ २२-२३ ॥

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान् ।
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ॥ २४ ॥

इसके आगे उपभोग में सुख देने वाले, वीर्य और अपत्य को बढ़ाने वाले, सिद्ध, वाजीकरण प्रयोगों का उपदेश करूंगा ॥ २४ ॥

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका ।
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका ॥ २५ ॥
जीवन्ती जीवको मेदा वीरो चर्षभको बला ।
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा ॥ २६ ॥
एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम् ।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् ॥ २७ ॥
तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली ।
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी ॥ २८ ॥
विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक् पृथक् ।
सर्पिषश्चाढकं दद्यात्क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् ॥ २९ ॥
साधयेद् घृतशेषं च सुपूतं योजयेत्पुनः ।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् ॥ ३० ॥
पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च ।
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः ॥ ३१ ॥
मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक् ।
पलिका गुलिकास्त्यानास्ता यथाग्नि प्रयोजयेत् ॥ ३२ ॥
एष वृष्यः परो योगो बृंहणो बलवर्धनः ।
अनेनाश्व इवोदीर्णो लिङ्गमर्पयते स्त्रियाम् ॥ ३३ ॥
इति बृंहणीगुडिका ।

बृंहणी गुटिका—शरमूल (सरकण्डे की जड़), गन्ने की जड़, काण्डेक्षु (ईख का भेद) की जड़, इक्षुबालिका नाम ईख[1] की जड़, शतावरी, क्षीरविदारी, विदारी, कटेरी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, वीरा (काकोली या शालपर्णी), ऋषभक, बलामूल, ऋद्धि, गोखरू, रास्ना कौंच और पुनर्नवा प्रत्येक ३ पल, नये उड़द १ आढ़क, इन को एक द्रोण जल मे (परिभाषानुसार दुगने जल में ५१ सेर १६ तोला) क्वाथ करके चतुर्थांश रहने पर छान लेवे ।

कल्कार्थ द्रव्य—मुलहठी, मुनक्का, गूलर, पिप्पली, कौंच, महुआ, खजूर, शतावरी मिलित सब आधा आढ़क, विदारीकन्द का स्वरस, आँवले का स्वरस, गन्ने का रस और घी प्रत्येक दो दो आढक, दूध दो द्रोण, इनका घृत पाक विधि से घृत सिद्ध करले । सिद्ध घी को छान कर इसमें शर्करा का चूर्ण १ प्रस्थ, वंशलोचन १ प्रस्थ, पिप्पली ४ पल, मरिच १ पल, दालचीनी, इलायची,

१ इस ईख में फूल आता है, जो कि कास के फूल की भाँति होता है ।

नागकेशर मिश्रित आधा पल, शहद दो कुडव मिलावे। इससे एक एक पल की गुटिका बना कर अग्नि के बलानुसार खावे। यह प्रयोग अत्यन्त वीर्यवर्धक, पुष्टिवर्धक, बलवर्धक है। इसके प्रयोग से अत्यन्त मैथुन शक्ति बढ़ जाती है। कोई २ [आचार्य शहद १६ पल डालते हैं। एक कुडव = चार पल] ॥ २५-३३ ॥

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम् ।
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम् ॥ ३४ ॥
मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत्कुडवोन्मिताम् ।
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः ॥ ३५ ॥
विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च ।
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥ ३६ ॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक् ।
भागाश्चतुष्पलास्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत्पलम् ॥ ३७ ॥
पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत् ।
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ॥ ३८ ॥
इति वाजीकरणं घृतम् ।

वाजीकरण घृत—नवीन उड़द १ आढक, कौंच के बीज १ आढक, जीवक, ऋषभक, वीरा (काकोली या शतावरी), मेदा, ऋद्धि, शतावरी, मुलहठी, अश्वगन्धा प्रत्येक एक कुडव इनको आठ गुणे जल में क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। गाय का घी एक प्रस्थ, दूध घी से दशगुना (दश प्रस्थ), विदारी का स्वरस १ प्रस्थ, गन्ने का रस १ प्रस्थ, मिला कर मृदु अग्नि पर घृत सिद्ध करना चाहिये। घी सिद्ध हो जाने पर खाण्ड, वंशलोचन और शहद प्रत्येक चार चार पल और पिप्पली एक पल मिलाना चाहिये। इस औषध को एक पल खाकर पीछे से अन्न का भोजन करना चाहिये। इससे शुक्र का अक्षय भण्डार तथा जननेन्द्रिय में उत्तम बल आता है ॥ ३४–३८ ॥

शर्करा माषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम् ।
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत् ॥ ३९ ॥
तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे ।
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः ॥ ४० ॥
एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः ।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिंगं समर्पयेत् ॥ ४१ ॥

शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः।

इति वाजीकरणपिण्डरसाः।

वाजीकरण पिण्डरस—खाड, उड़द की दाल, वंशलोचन, दूध, घी और गेहू का आटा इनको उचित परिणाम में लेकर उत्कारिका बना कर घी में तल लेवे। इसको बहुत न पकाये। पीछे हाथों में मल कर मुर्गे के गरम मांसरस में डाल देवे। इसमें शर्करा, इलायची, केशर आदि सुगन्ध भी डाल देवे, इससे रस गाढ़ा हो जायेगा। यह पिण्डरस शुक्रवर्धक, पौष्टिक और बलवर्धक है। इसके प्रयोग से पुरुष में घोड़े के समान मैथुन शक्ति आती है। इसी प्रकार से मोर, तीतर और हंसों के मांस रस से भी पिण्ड रस बनते हैं। इनके गुण भी इसी प्रकार से हैं॥ ३६–४१॥

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे।
भर्जयेत्त रस पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि॥ ४२॥
ईषत्सलवण युक्त धान्यजीरकनागरैः।
एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः॥ ४३॥

इति वृष्यमाहिषरसः।

घी, माष (उड़द) और बस्ताण्ड (बकरे के अण्डकोषों) को भैंस के मांस रस मे सिद्ध करना चाहिये। इस रस को छान कर नये घी में भूनना चाहिये। इसको अनार, आंवला आदि फलों के रस से खट्टा करना चाहिये। इसमें थोड़ा सा नमक, धनिया, जीरा और सोंठ भी मिला देनी चाहिये। यह रस वृष्यकारक, बलवर्धक और बृंहण है॥ ४२–४३॥

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौकुटे रसे।
कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बार्हिणमेव च॥ ४४॥
नवसर्पिषि संतप्तान् फलाम्लान् कारयेद्रसान्।
मधुरान्वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान्॥ ४५॥

इति वृष्यरसाः।

वृष्य रस—चिड़ियों को तित्तिर के रस में, तीतरों को मुर्गे के रस में, मुर्गों को मोर के रस में, मोरों को हंसों के मांस रस में सिद्ध करना चाहिये। इन चारों रसों को ताजे घी में भून कर अनार के रस से खट्टा करके अथवा मधुर रूप में सेवन करना चाहिये। सेवन करने के पूर्व इलायची, केशर आदि से सुगन्धित कर लेना आवश्यक है। यह रस बलवर्धक है॥ ४४–४५॥

चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः।

न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि ॥ ४६ ॥

इति वृष्यमांसम् ।

(१) जो पुरुष चटक के मास को भर पेट खाकर ऊपर से दूध पी लेता है, उसका बल (लिंग) शिथिल नहीं होता और रात भर वीर्य का क्षय नहीं होता, यह वीर्यस्तम्भक है ॥ ४६ ॥

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम् ।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान् ॥ ४७ ॥

इति वृष्यमाषयोगः ।

(२) खूब घी वाले साठी के चावलों को उड़द के यूष के साथ खाकर जो ऊपर से दूध पी लेता है, वह काम-वेग से आतुर होकर सारी रात जागता रहता है ॥ ४७ ॥

न रात्रिषु स्वपिति ना निस्तब्धेन च शेफसा ।
तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि ॥ ४८ ॥

इति वृष्यं भृष्टमांसम् ।

(३) मुर्गे के मांस को नक्र के रेत में भून कर खाने से पुरुष स्तब्धलिंग होकर सारी रात नहीं सोता । उसके सारी रात ध्वज-हर्ष करता है ॥ ४८ ॥

निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत् ।
हंसबर्हिणदक्षाणां चैवमण्डानि भक्षयेत् ॥ ४९ ॥

इति वृष्या अण्डरसाः ।

(४) मछली के अण्डों के रस को निकाल कर इसको घी में भून कर खावे । इसी प्रकार से हंस, मोर और मुर्गी के अण्डे का भी रस भून कर खावे ॥ ४९ ॥

भवतश्चात्र—स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले ।
वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद् बृंहणं चैव बलप्रदं च ॥ ५० ॥
तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः ।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥५१॥

शुक्रवह आदि स्रोतों के शुद्ध होने पर, शरीर के निर्मल (धुला) होने पर, उचित समय पर उचित मात्रा में जो वृष्य वस्तुओं का सेवन करता है उसका वीर्य और पुंस्त्वशक्ति बढ़ जाती है । उसको यह बृंहण और बलवर्धक होता है । इसलिये वृष्य प्रयोग सेवन करने से पूर्व बलानुसार शरीर का वमन, विरेचन आदि से शोधन कर लेना चाहिये । जिस प्रकार मलिन वस्त्र पर रंग

नहीं चढ़ता उसी प्रकार मलिन शरीर में प्रयोग किये वृष्य योग अपना फल नहीं देते ॥५०-५१॥

तत्र श्लोकौ—वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या ।
ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये ॥ ५२ ॥
दश पञ्च च सयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः ।
उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः ॥५३॥ इति ।

वाजीकरण का सामर्थ्य, क्षेत्ररूप स्त्री, और किस पुरुष के लिये कैसी स्त्री उचित है, और अपत्यरहित पुरुषों के दोष, पुत्रवान् पिताओं के गुण, वीर्य और सन्तानवर्धक १५ प्रयोग इस शरमूलीय पादमें कह दिये हैं ॥५२-५३॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने सप्रयोग-
शरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः ।

(द्वितीयः पादः)

अथात आसिक्तक्षीरीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'आसिक्तक्षीरीय' नामक वाजीकरण पाद की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥१-२॥

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम् ।
उदूखले समापोथ्य पीडयेत्क्षीरमर्दितम् ॥ ३ ॥
क्षुण्णं विमृदितं क्षीरे पीडयेत्सुसमाहितः ।
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह ॥ ४ ॥
बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च ।
बलाया शूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च ॥ ५ ॥
ऋद्ध्यर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च ।
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि ॥ ६ ॥
संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत्तत्र चावपेत् ।
तुगाक्षीर्याः समाषाणां शालीनां षष्टिकस्य च ॥ ७ ॥
गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः ।
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात्प्रभूतमधुशर्करम् ॥ ८ ॥
गुडिका बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत् ।
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः ।

पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम् ॥ ९ ॥
इत्यपत्यकरा षष्टिकादिगुडिका ।

षष्टिकादिगुटिका—शुद्ध साठी के कच्चे चावलों को दूध के अन्दर भिगोवे। जब ये फूल जायें और गीले हों तब इनको ऊखल में कूटे। जब दरकच हो जायें तब निचोड़ कर रस निकाल ले। बचे भाग को दूध के साथ फिर कूटे और फिर रस निकाल लेवे। इस प्रकार से सारा रस निकाल कर इसके रस के बराबर गाय का दूध तथा कौंच के बीजों का क्वाथ मिलाकर मन्द मन्द आच पर पकावे। अनन्तर जब यह क्वाथ शुष्क हो जावे तब उड़द के क्वाथ के साथ पकावे। इसके खुश्क होने पर बला क्वाथ, मुद्गपर्णी और माषपर्णी क्वाथ, जीवन्ती क्वाथ, जीवक क्वाथ, ऋद्धि क्वाथ, काकोली क्वाथ, गोखुर क्वाथ, मुलहठी क्वाथ, शतावरी रस, विदारी रस, द्राक्षा रस, खजूर रस से पाक करे। अन्तिम पाक के समय वंसलोचन, उड़द का आटा, शालि चावलों का आटा और गेहूँ का आटा मिलावे जिससे वह कठोर हो जावे। इसमें मधु और शर्करा पर्य्याप्त मिलाकर मीठा कर लेवे। इसकी बेर के बराबर गोलियां बनाकर घी में तल लेवे। इनको अग्नि बल के समान खाकर पीछे से दूध और मांस रस का भोजन करे। इससे वृद्ध भी पुरुष सन्तान और अक्षय वीर्य को पाता है[1] ॥३-९॥

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा ।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥ १० ॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि ।
षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं गोधूमकस्य च ॥ ११ ॥
एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा ।
पूपा धानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ॥ १२ ॥
एषां प्रयोगाद्भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा ।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छेत् स्त्रियो नरः ॥ १३ ॥
इति वृष्यभक्ष्याः ।

वृष्यभक्ष्य—वैद्य को चाहिये कि चिड़िया, हंस, मुर्गे, मोर, शिशुमार, नक्र इनके वीर्य को, गाय का घी, सुअर और कुलिंग की वसा (चर्बी) को, साठी के चावलों का आटा, गेहूँ का आटा एकत्रित करके यथाविधि पूपलिकायें,

१ श्री गंगाधर कविराज ने 'धान्य' शब्द से धनिया लिया है, परन्तु लोक में प्रसिद्ध है कि धनिया शुक्र शक्ति को घटा कर नपुंसक बना देता है। इसलिये वह नहीं लिया जाता।

शष्कुली, वर्तिका, पूप (पूए), धाना तथा अन्य नाना प्रकार के भक्ष्य बनाने चाहियें[1]। इनके प्रयोग से, वीर्य से पूर्ण होकर अत्यन्त ध्वज हर्ष के साथ घोड़े के समान यथेच्छ स्त्रियों से मैथुन कर सकता है ॥१०-१३॥

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम् ।
शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत्प्रसृतोन्मिताम् ॥ १४ ॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत्प्रस्थावशेषितम् ।
शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत्प्रसृतैस्त्रिभिः ॥ १५ ॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषाऽभिनवस्य च ।
तत्पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ॥ १६ ॥
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति ।
नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ॥ १७ ॥
इत्यपत्यकरः स्वरसः ।

अपत्यकर स्वरस—कौंच के बीज, उड़द, खजूर, शतावर, सिंघाड़े, मुनक्का, इनमें से प्रत्येक एक २ प्रसृत (२ पल), दूध २ प्रस्थ, जल २ प्रस्थ, इनको धीरे धीरे पका कर दूध मात्र शेष रहने देना चाहिये। जल उड़ जाने पर इनको वस्त्र में छान लेवे। इसमें खाड, वंशलोचन और ताजा घी मिलित तीन प्रसृत (६ पल) मिला देवे। पीछे से मधु मिलाकर इसको पिलावे। पीछे साठी का चावल खिलावे। इस प्रयोग से बुढ़ापे से पीड़ित निर्बल व्यक्ति भी अनेक सन्तानों को प्राप्त करता है और युवाओं के समान ध्वज-हर्ष प्राप्त करता है ॥ १४-१७ ॥

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां सशतावरीम् ।
खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम् ॥ १८ ॥
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत्सलिलाढके ।
तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १९ ॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद् घृताढ्यं षष्टिकौदनम् ।
सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परः स्मृतः ॥ २० ॥
इति वृष्यक्षीरम् ।

वृष्यक्षीर योग—खजूर वृक्ष का मस्तक, उड़द, पयस्या (क्षीर विदारी), शतावर, खजूर, महुवा, मुनक्का और कौंच के बीज इनमें प्रत्येक एक एक पल

---

१ शुक्र के अभाव में अण्डों का प्रयोग करना चाहिये। अण्डे न मिलें तो मास का प्रयोग हो सकता है।

लेकर दो आढक जल में पकावे। जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब छानकर इसके द्वारा एक प्रस्थ दूध का पाक करे। जब सब रस उड़ जाये केवल मात्र दूध शेष रह जाये, तब इस दूध के साथ घी मिश्रित साठी के भात, शक्कर मिला कर खावे यह योग अति वृष्य है ॥ १८-२० ॥

जीवकर्षभकौ मेदा जीवन्तीं श्रावणीद्वयम्।
खर्जूरं मधुकं द्राक्षा पिप्पली विश्वभेषजम् ॥ २१ ॥
शृङ्गाटकं विदारी च नवं सर्पिः पयो जलम्।
सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥ २२ ॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम्।
वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ॥ २३ ॥
इति वृष्यघृतम्।

वृष्यघृत—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, श्रावणी और महाश्रावणी, खर्जूर, मुलहठी, द्राक्षा, पिप्पली, सोंठ सिंघाड़ा, विदारीकन्द मिलित ८ पल, ताजा घी २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, जल ६ प्रस्थ। यथाविधि घृतपाक करके छान लेना चाहिये। इसमें शर्करा और शहद ४-४ पल मिलाना चाहिये। इसका सांठी के चावलों के साथ मिलाकर बलानुसार खाना चाहिये। यह प्रयोग वृष्य, बलवर्धक, वर्ण्य कण्ठ के लिये हितकारी बृंहण (पुष्टिदायक) है ॥ २१-२३ ॥

दध्नः शरं शरच्चन्द्रसंनिभं दोषवर्जितम्।
शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान् ॥ २४ ॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे।
मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने ॥ २५ ॥
पिबेन्मात्रां रसालायास्तु भुक्त्वा षष्टिकौदनम्।
वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते ॥ २६ ॥
इति वृष्यो दधिशरप्रयोगः।

दधिशर प्रयोग—शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल और दोषरहित दही की मलाई में खाण्ड मधु, मरिच वंशलोचन और छोटी इलायची डाल कर बुद्धिमान् वैद्य इनको मिट्टी के पात्र में मिला लेवे। फिर इनको शुद्ध बारीक वस्त्र पर डालकर धीरे २ मथ लेवे। इस प्रकार से छनी दही को घी-बहुल ठण्डे हुए साठी भात के साथ खाये। पीछे से मात्रा में रसाला पीनी चाहिये। इससे मनुष्य का वर्ण, स्वर और बल बढ़ाता है तथा शुक्रकी वृद्धि होती है ॥२४-२६॥

चन्द्रांशकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।

शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते ॥ २७ ॥

इति वृष्यषष्टिकौदनप्रयोगः ।

षष्टिकौदन प्रयोग—चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल साठी के चावलों को प्रचुर घी, दूध, शर्करा और मधु के साथ मिलाकर खाने से अत्यधिक वृषता प्राप्त होती ॥ २७ ॥

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम् ।
युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च ॥ ४८ ॥
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः ।
य इच्छेदश्ववद्गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः ॥ २९ ॥

इति वृष्यपूपलिकाः ।

वृष्य-पूपलिका—नक्र का अण्डा, मुर्गी का अण्डा, साठी के चावलों का आटा, ताजा घी इनको मिला कर पूपलिकायें बनानी चाहिये । इनको खाकर ऊपर से वारुणी का मण्ड (ऊपर का स्वच्छ भाग) पीना चाहिये । इससे अश्व के समान रमण करने की शक्ति और हाथी के समान शुक्र क्षरण का सामर्थ्य होता है ॥ २९ ॥

भवन्ति चात्र—आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः ।
अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः ॥ ३० ॥
एतैः प्रयोगैर्विविधैर्वपुष्मान् स्नेहोपपन्नो बलवर्णयुक्तः ।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत्समर्थश्च वराङ्गनासु ॥ ३१ ॥
यद्यच्च किंचिन्मनसः प्रियं स्याद्रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः ।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम् ॥३२॥

इस आसिक्त-क्षीरीय नामक पाद में आठ योग कहते हैं । ये सन्तान के इच्छुक तथा पौरुष की कामना करने वालों को सेवन करना चाहिये । इन योगों के प्रयोग करने से मनुष्य सुन्दर शरीर, स्निग्ध वदन, बल, वर्ण से युक्त, अश्व के समान हर्षयुक्त तथा स्त्रियों में अतिसमर्थ होता है । इन प्रयोगों के साथ साथ जो भी मन को प्रिय लगे, रम्य वन, नदियों के सुन्दर किनारे, सुन्दर पर्वत, सुन्दर स्त्रियाँ, आभूषणों की झंकार, मनमोहक सुगन्ध इत्रों की महक, भीनी महक वाली मालायें, प्रिय मित्र ये सब वस्तुएं वाजीकरण में सहायक होती हैं ॥३०–३२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने आसिक्तक्षीरीयो नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः ।

(तृतीयः पादः)

अथातो माषपर्णभृतीय वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'माषपर्णभृतीय' नामक वाजीकरण पाद की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम् ।
समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान् ॥ ३ ॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम् ।
इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत् ॥ ४ ॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा ।
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद् वृष्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

जो गाय उड़द के पत्तों पर पाली गई हो, प्रथम वार ही ब्याई हो, चार चार स्तनों वाली हो, जिसका कि बछड़ा जीता हो, बछड़े का रंग माता के समान हो, लाल या काले रंग क हो, उन्नत (खड़े) सींग वाली हो, भयंकर या मारने वाला न हो, गन्ने के पत्ते या अर्जुन के पत्ते खाती हो, दूध गाढ़ा हो, बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसी गाय रखनी चाहिये। इस गाय का दूध ही अकेला चाहे धारोष्ण अवस्था में कच्चा ही अथवा गरम करके शर्करा, मधु तथा घी के साथ लेने से उत्तम वाजीकरण होता है। [ये तीन योग हैं—उबला हुआ दूध, कच्चा दूध और घी आदि से मिला। गाय का भोजन भी तीन प्रकार का है। उड़द के पत्ते, गन्ने के पत्ते और अर्जुन के पत्ते] ॥३–५॥

शुक्लैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः ।
क्षीरसञ्जननैश्चैव पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ॥ ७ ॥
इति वृष्यक्षीरप्रयोगः ।

वृष्य क्षीर प्रयोग—सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में वर्णित शुक्रवर्धक, जीवनीय, बृंहणीय, बल्य और स्तन्यवर्धक इन पांच गणों से पृथक् पृथक् दूध सिद्ध करे। जब दूध सिद्ध हो जाये तब इसमें गेहूँ का आटा मिला कर घी में भून ले। इसमें शर्करा भी मिला दे। ठण्डा होने पर शहद मिला कर पृथक् पृथक् प्रयोग करे। प्रथम दिन शुक्रवर्धक गण से सिद्ध, दूसरे दिन जीवनीय गण से,

तीसरे दिन बृंहणीय गण से, चौथे दिन बल्य गण से और पाचवें दिन स्तन्य-वर्धक गण से दूध[1] को सिद्ध करे। इससे शुक्र की वृद्धि होती है ॥ ६-७ ॥

मेदां पयस्यां जीवन्ती विदारीं कण्टकारिकाम्।
श्वदंष्ट्रां क्षीरिकान् माषान् गोधूमान् शालिषष्टिकान् ॥ ८ ॥
पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते।
विवर्जयेत्पय शेषं तत्पूतं क्षौद्रसर्पिषा ॥ ९ ॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः साप्ततिकोऽपि वा।
विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति ॥ १० ॥

इत्यपत्यकरक्षीरयोगः ।

अपत्यकर क्षीर योग—मेदा, जीवन्ती, क्षीरविदारी, विदारी, कटेरी, गोखरू, उड़द, क्षीरिका (दूधी, खिरनी फल या प्लक्ष), गेहूँ, शालिधान्य, साठी के चावल प्रत्येक १ कर्ष, पानी मिला दूध दो आढक मिला कर क्वाथ करले। चतुर्थांश शेष रहने पर छान ले। मेदा आदि को फेंक दे। इस छने क्वाथ में खाण्ड, घी और ठण्डा होने पर मधु मिला कर पान करे। इसको पीकर सत्तर साल का वृद्ध भी युवा के समान प्रबल शक्ति प्राप्ति करता है और बहुत सन्तान वाला होता है ॥ ८-१० ॥

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम्।
अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ ११ ॥

इत्यपत्यजननक्षीरयोगः ।

माषपर्ण-भृत वाले वृष्य-क्षीर प्रयोग में वर्णित गाय के दूध में सुवर्ण के वर्क गला कर पकावे। जब दूध गाढ़ा हो जाये तब इसमें घी, शक्कर तथा ठण्डा होने पर शहद मिला कर पीवे। यह दूध सन्तानजनक है ॥ ११ ॥

त्रिंशत्सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः।
भृष्ट्वा सशर्कराक्षौद्रा क्षीरधारावदोहिता ॥ १२ ॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा।
भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्ध लिङ्गं पश्यति ना क्षरत् ॥ १३ ॥

इति वृष्यक्षीरयोग ।

अपत्य-जनन क्षीरयोग—खूब बारीक पिसी तीस पिप्पलियों को एक पल तैल और घी में भून कर शर्करा और मधु में मिला कर दूध दोहने के पात्र मे डाल

[1] दूध पाक करने का नियम—द्रव्य से आठ गुणा दूध और दूध से चौगुना जल मिला कर पकावे। पकाते २ जब केवल दूध मात्र शेष रह जाय तब उतारले, यह दूध पाक की रीति है।

दे। इसमें पीने योग्य दूध दोह कर पीले। पीछे से साठी का भात दूध और घी के साथ खावे। इसके सेवन से रात्रि में पुरुष की इन्द्रिय शिथिल नहीं होती और वीर्य का क्षय भी नहीं होता ॥ १२–१३ ॥

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे।
घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः ॥ १४ ॥
इति वृष्यपायसप्रयोगः।

वृष्य-पायस योग—गाय के दूध से चार गुणा गोखरू और विदारीकन्द का रस पृथक् २ लेकर दूध पाक करे। इस दूध में घी में भुने हुए उड़द तथा साठी के चावलों को मिलाकर खीर पकावे। यह अतिशय वृष्य है ॥ १४ ॥

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम्।
कुडवश्चूर्णितानां स्यात्स्वयंगुप्ताफलस्य च ॥ १५ ॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः।
गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ॥ १६ ॥
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत्सर्वं क्षीरसंयुतम्।
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्व्यः स्युर्यस्य योषितः ॥ १७ ॥
इति वृष्यपूपलिकाः।

वृष्य पूपलिका—जीवनदायक, स्निग्ध एवं रुचिकर फलों का चूर्ण १ कुडव, कौंच के बीज १ कुडव, माष १ कुडव, तिल २ कुडव, मूंग दो कुडव, गेहूँ का आटा १ कुडव, शालिधान्य का आटा १ कुडव, घी एक कुडव, इनको घी में गूंधकर, घी में भूनकर पूपलिकायें बना लेवे। जिसके घर में बहुत सी स्त्रियां हों वह इनका सेवन करे। [फलों में द्राक्षा, खजूर, बादाम, नारियल, पिस्ता, आम, मीठा अनार लेने चाहिये] ॥ १५–१७ ॥

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरं दशगुणे पचेत्।
शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥ १८ ॥
इति वृष्य शतावरीघृतम्।

शतावरी घृत—शतावरी के कल्क (८ पल) से दूध (२० प्रस्थ) में घी (२ प्रस्थ) सिद्ध करे। इसको शर्करा पिप्पली और मधु के साथ प्रयोग करे। यह अत्यन्त वृष्य है। [अष्टांग संग्रह में शतावरी कल्क के साथ २ शतावरी रस का प्रयोग लिखा है] ॥ १८ ॥

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम्।
प्रयुङ्क्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ॥ १९ ॥
इति वृष्यमधुकयोगः।

वृष्य मधुक योग—मुलहठी का चूर्ण १ कर्ष, घी और शहद पृथक् २ एक कर्ष मिलाकर चाटे, पीछे से दूध पी ले। इस प्रयोग से पुरुष का नित्य वेग रहता है ॥ १६ ॥

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा।
सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ॥ २० ॥

जो व्यक्ति प्रतिदिन घी और दूध का पर्याप्त मात्रा में सेवन करता है, भय और रोग रहित, नित्य प्रति व्यवाय करनेवाला, सदा रमण की इच्छा रखता हुआ युवा पुरुष सदा मैथुन करने में समर्थ रहता है ॥ २० ॥

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योन्यानुवर्तिनः।
कलासु कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये ॥ २१ ॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः।
ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः ॥ २२ ॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः।
तैर्नरः सह विश्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥ २३ ॥

एक ही काम करनेवाले, सिद्ध साध्य (अथवा जिनके मतलब परस्पर निकलते हैं), जो एक दूसरे के पीछे चलते हैं एक दूसरे का कहा मानते हैं, गीत, वादित्र आदि कलाओं में कुशल, मन और आयु में समान, उत्तम कुल, बड़प्पन, दाक्षिण्य (चतुराई), शील, पवित्रता से युक्त, सदा कामुक, प्रसन्न चित्त, शोक और पीड़ा से रहित, समान स्वभाव के, परस्पर विश्वासी, प्रिय (इच्छुक), मधुर भाषी हों, ऐसे विश्वासपात्र मित्रों के साथ रहने से पुरुष वीर्य सम्पन्न होता है ॥ २१–२३ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः।
गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥ २४ ॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ॥ २५ ॥

अभ्यंग (मालिश), उबटन, स्नान, गन्ध, माला, आभूषण, आरामवाला घर, कोमल शय्या, सुन्दर आसन, प्रिय नवीन वस्त्र, पक्षियों का कलरव और वाञ्छित स्त्रियों से, आभूषणों की झंकार से, सुन्दर स्त्रियों द्वारा संवाहन अर्थात् मुठिया भर कर दबाने से पुरुष में वृषता आती है ॥ २४–२५ ॥

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः।
जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ॥ २६ ॥

नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः।
उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः॥ २७॥
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगन्धिनः।
रतिभोगक्षमा रात्र्यः संकोचागुरुवल्लभाः॥ २८॥
सुखाः सहाया परपुष्टघुष्टाः फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च॥ २९॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य।
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥ ३०॥

मस्त भ्रमरों से गुञ्जित और कमलों से भरा तालाब, चमेली और कमल की महक से सुगन्धित शीतल गर्भगृह, तरंगों की टक्करों से उत्पन्न झाग से भरी नदियां, हरी-भरी चोटी वाले पर्वत, नीलवर्ण के मेघों का आकाश मे मडराना, सुन्दर चादनी रातें, कुमुदों की महक से तर, स्पर्श में सुखदायक वायु, रतिभोग के लायक रात्रियाँ (बादलों का घिरा होना), [यहा पर सब ऋतुओं की दृष्टि से वर्णन किया है। ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त सबका ही वर्णन है।] सकोच (केशर) और अगर का लेप लगाये कामिनियां, सुखदायक, सहायक, खिले हुए और कोयल की कुहू से गुजित वन, विशद (निर्मल) अन्नपान, गाना-बजाना (राग-रागिणियां), भीनी-भीनी सुगन्ध, शोक चिन्ता से रहित उदार और उपद्रव रहित मन, कार्य की सफलता, नूतन उठा हुआ काम और स्त्रियाँ ये कामदेव के अस्त्र हैं। नई उठती हुई जवानी, मस्त करने वाला वसन्त का समय जिसमें मद उत्पन्न होता है, ये सब वस्तुएँ पुरुषों मे हर्ष को उत्पन्न करने वाली हैं। इन भावों से काम उद्दीप्त होता है॥२६-३०॥

तत्र श्लोकः—प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च।
माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः॥ ३१॥

उपसंहार—इस माषपर्णीय वाजीकरण तृतीय पाद में प्रहर्ष के कारण तथा शुक्र और बल को बढ़ाने वाले पन्द्रह प्रयोग कहे हैं॥३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः।

(चतुर्थः पादः)

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं चतुर्थं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः॥१॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः॥ २॥

इसके आगे 'पुमान्-जात-बलादिक' नामक चतुर्थ वाजीकरण पाद की व्याख्या करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥१-२॥

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत् ।
यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ॥ ३ ॥
न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः ।
बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ॥ ४ ॥
सन्ति चाल्पबलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः ।
प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ॥ ५ ॥
नराश्चटकवत्केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् ।
गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ॥ ६ ॥
कालयोगबलाः केचित्केचिदभ्यसनध्रुवाः ।
केचित्प्रयत्नैर्वाह्यन्ते वृषाः केचित्स्वभावतः ॥ ७ ॥
तस्मात्प्रयोगान्वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान् ।
सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान् ॥ ८ ॥

पुरुष जिस प्रकार से यथेष्ट स्त्रियों में रमण कर सकता है और जिस प्रकार से सन्तानवान् हो सकता है, उसका विस्तार से वर्णन करते हैं—संसार में यह आवश्यक नहीं कि जितने भी बलवान् व्यक्ति हैं, वे सब सन्तान वाले हों। ऐसे भी बहुत से पुरुष हैं जो बलवान् और पूरे डीलडौल के हैं, परन्तु स्त्रियों के विषय में कमजोर होते हैं। दूसरे पुरुष शरीर रचना में निर्बल हैं, परन्तु स्त्रियों में बलवान् हैं। इनमें कुछ तो प्रकृति से ही निर्बल होते हैं और कुछ रोग आदि से कमजोर हो जाते हैं। कई व्यक्ति तो चिड़ों के समान बहुत बार (लगातार जल्दी जल्दी) स्त्रियों से मैथुन करते हैं और कई व्यक्ति गज के तुल्य कभी कभी मैथुन करते हैं, वे बहुत बार मैथुन नहीं करते। जब कभी सहवास करते हैं तो हाथी के समान वे बड़ी मात्रा में, अधिक शुक्र बहाते हैं। कई व्यक्ति विशेष समय में ही बलवान् होते हैं, और कई बार बार अभ्यास (मैथुन करने) से समर्थ हो जाते हैं। कई व्यक्ति चुम्बन, आलिंगन आदि प्रयत्नों से बल प्राप्त करते हैं और कई स्वभाव से ही बलशाली, वीर्यसेचन में समर्थ होते हैं[1]। इसलिये दुर्बलों के लिये बलप्रद और बली पुरुषों के बल को बढ़ानेवाले और उपभोग में सुखकर वृष्य प्रयोगों का वर्णन करते हैं।

---

१ शुक्र के प्रवाह को नियमित करनेवाले दो केन्द्र हैं। एक मस्तिष्क में और दूसरा मेरुदण्ड में। प्रथम केन्द्र का सम्बन्ध प्रायः विचारों के साथ और

पूर्वं शुद्धशरीराणां[1] निरूहान् सानुवासनान् ।
बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥ ९ ॥
घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः ।
बस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम् ॥ १० ॥
इति वृष्या बस्तयः ।

इसके लिये सब से प्रथम शुद्ध और स्वस्थ पुरुष को बल के अनुसार शुक्र और सन्तानवर्धक निरूह तथा अनुवासनवस्ति देनी चाहिये । दूध और मांस रस का आहार करनेवाले व्यक्ति के लिये घी, तैल, मांस रस, दूध, शर्करा और शहद इनसे युक्त बस्तियां दोषानुसार देनी चाहियें । [अष्टाङ्ग-संग्रह में विस्तार से बस्तियां दी हैं । चरक में सिद्धिकल्प में बस्तियों का वर्णन है]॥९-१०॥

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे ।
कोलवद् गुडिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि भर्जयेत्[2] ॥ ११ ॥
[3]भर्जनं स्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे ।
घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसाधिते ॥ १२ ॥
यथा न भिन्द्याद् गुडिकास्तथा तं साधयेद्रसम् ।
स पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥ १३ ॥
मांसानामेवमन्येषां मेध्यानां कारयेद्भिषक् ।
गुडिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः ॥ १४ ॥
इति वृष्या मांसगुडिकाः ।

मांसगुडिका—सुअर के मांस को पीस कर इसमें मरिच और सैन्धा नमक मिला कर बेर के समान गोलियां बना लेवे । इनको गरम घी में भून ले । भूनने पर जब कठोर हो जायें तब इनको मुर्गे के मांस रस में डुबो दे । इसमें

दूसरे की क्रिया के साथ है । परन्तु एक केन्द्र के उत्तेजित होने पर दूसरा केन्द्र स्वयं उत्तेजित हो जाता है । इसलिये शुक्र क्षरण में वीर्य की मात्रा एक ही व्यक्ति में समय भेद से भिन्न २ होती है। वैसे तो सब मनुष्यों में मात्रा भेद रहता है । कोई २४ रत्ती, कोई ६० बूंद, कोई १० से १५ ग्राम मानता है । देखने में बलवान् पुरुष नपुंसक न हो, यह कोई नियम नहीं है। कुश्ती, बैठक, दण्ड खास कर बचपन से करने वाले व्यक्ति प्रायः नपुंसक होते हैं । स्त्रीसहवास में विशेष रूप से वे जल्दी क्षरित हो जाते हैं ।

१ 'पूर्वं सुस्थशरीराणां' इति च पाठः ।
२ 'वर्तयेत्' इति च पाठः । ३ 'वर्तनं' इति च पाठः ।

प्रचुर घी, इलायची, केशर, कर्पूर आदि का गन्ध, दही और अनार रस मिला कर इस प्रकार से पकावे जिससे कि गुटिकायें टूटे नहीं। इन गुटिकाओं को खाने से तथा मास रस को पीने से शुक्र की वृद्धि होती है। इसी प्रकार से अन्य मेध्य (मेदुर या भक्ष्य) मांसों को, गुटिकाओं को मास रस में सिद्ध करके प्रयोग करने से वीर्य की वृद्धि होती है ॥११–१४॥

माषानङ्कुरिताञ्छुद्धान्निस्तुषान् साजडाफलान् ।
घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके ॥ १५ ॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तान् धान्यजीरकनागरैः ।
भुक्तः पीतश्च स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम् ॥ १६ ॥

इति वृष्यो माहिषरसः ।

माहिष रस—उड़दों को जड़ाकर अकुरित कर ले। इनको धोकर छिलके उतार दे। इसी प्रकार से कौंच के फलों का भी छिलका उतार दे। इनको प्रचुर घी, भैंसे का मांस रस, दही और अनार के रस के साथ पकावे। पकते समय इसमें परिमाण से धनिया, जीरा और सोंठ मिला दे। इनको खाने तथा पीने से शुक्र अत्यन्त बढ़ता है ॥ १६ ॥

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि भृष्टाश्च शफरीश्च वा ।
तप्ते सर्पिषि यः खादेत्स गच्छेत्स्त्रीषु न क्षयम् ॥ १७ ॥

इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि ।

मछलियों (खासकर रोहित) का ताज़ा मास और शफ़री मछली को घी में भून कर खाने से संभोग के समय शुक्र क्षरित नहीं होता ॥१७॥

घृतभृष्टान् रसे छागे रोहितान् फलसारिके ।
अनुपीतरसान् सिद्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ १८ ॥

इति गर्भाधानकरा योगः ।

सन्तान को चाहने वाले व्यक्ति रोहित (रोहू) मछली को घी में भूनकर बकरे के मास रस में डालकर अनार के रस के साथ पकाकर इनको खाये तथा मास रस पीये ॥ १८ ॥

कुट्टकं मत्स्यमांसानां हिङ्गुसैन्धवधान्यकैः ।
युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत् ॥ १९ ॥

पूपलिका योग—मछलियों के मास को कूटकर इसमें हींग, सैन्धानमक, धनिया मिलाकर गेहूँ के आटे में सान घी से पूपलिकायें (कचौरिया) पकावे। अथवा गेहूँ के आटे में मछलियों के मांस का कीमा भरकर कचौरी की तरह पकावे ॥ १९ ॥

माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत्।
रसे चानुगते मांसं पोथयेत्तत्र चावपेत् ॥ २० ॥
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिङ्गु नवं घृतम्।
माषपूपलिकानां तद् गर्भार्थमुपकल्पयेत् ॥ २१ ॥
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ।
हर्षसौभाग्यजननौ परं शुक्राभिवर्धनौ ॥ २२ ॥
इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ।

मछलियों के मास को घी, अनार का रस और सैन्धानमक के साथ भैंस के मास रस में पकाना चाहिये। जब मास रस शुष्क हो जाये तब मास को कूट कर इसमें मरिच, जीरा, धनिया, थोड़ा सा हींग और ताजा घी मिलाना चाहिये। अब उड़द के आटे में इसको पिट्ठी के रूप में भरकर घी में तल लेवे। ये दोनो प्रकार की पूपलिकायें बृंहण (पुष्टिदायक) बलवर्द्धक, प्रहर्ष और सौभाग्य को उत्पन्न करनेवाली तथा शुक्रवर्द्धक हैं ॥ २०–२२ ॥

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम्।
शर्कराया विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च ॥ २३ ॥
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत्।
पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां परम् ॥ २४ ॥
इति वृष्या माषादिपूपलिकाः।

माषादि पूपलिका—उड़द, कौंच, गेहूँ, शाली चावल, साठी चावल, इन सब का आटा, शर्करा, विदारीकन्द का चूर्ण, तालमखाने का चूर्ण, इनको दूध के साथ गूँधकर घी में तल लेवे। इनको खाकर ऊपर से दूध पीले। ये अत्यन्त शुक्रवर्धक हैं ॥ २३–२४ ॥

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः।
प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च ॥ २५ ॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च।
तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्तिके घृतभाजने ॥ २६ ॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्।
एष वृष्य. परं योगो बल्यो बृंहण एव च ॥ २७ ॥
इति वृष्ययोगः।

वृष्य योग—खाण्ड १ तुला (१०० पल), गाय का घी १ तुला, विदारीकन्द का चूर्ण १ प्रस्थ, पिप्पली एक प्रस्थ, वंशलोचन आधा आढक, ताजा

मधु १ आढ़क, इन सबको घी से भावित मिट्टी के पात्र में डालकर रखे। इसकी अग्नि-बल के अनुसार मात्रा प्रतिदिन प्रातःकाल खावे। यह योग अत्यन्त वृष्य बल्य एवं बृंहण है॥ २७॥

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः।
श्वदंष्ट्रायाश्च निष्क्काथान् जलेषु च पृथक् पृथक ॥ २८॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः।
शर्करामधुसंयुक्तमपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ २९॥
इत्यपत्यकरं घृतम्।

अपत्यकर घृत—शतावरी, विदारीकन्द, कौंच, उड़द, गोखरू इनका पृथक् पृथक् क्वाथ बनावे। इन सब क्वाथों से एवं आठ प्रस्थ (परिभाषा के अनुसार द्विगुण १६ प्रस्थ) दूध के साथ एक प्रस्थ घी पकावे। इस घी को शर्करा और मधु के साथ मिला कर संतानार्थी पुरुष खावे॥ २८-२६॥

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्।
सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत् ॥ ३०॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरसस्य च।
पिप्पल्याः स्वाजडायाश्च भागैःपादांशिकैर्युतम् ॥ ३१॥
गुडिकाः कारयेद्वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम्।
तासां प्रयोगात्पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥ ३२॥
इति वृष्यगुटिकाः।

वृष्य गुटिका—गाय के ८ प्रस्थ घी को ८०० प्रस्थ विदारीकन्द के रस में सिद्ध करे। इस सिद्ध घी को ८०० प्रस्थ गाय के दूध में पकावे। इस प्रकार से सिद्ध घी में खाड, वंसलोचन, शहद, गन्ने का रस, पिप्पली, कौंच ये घी से चतुर्थांश मिलावे। इसकी मोटे गूलर के समान गोलियां बना कर प्रयोग करे। इसके प्रयोग से पुरुष कुलिंग की भांति हर्षयुक्त होता है। [यहां पर यदि प्रक्षेप द्रव्य प्रत्येक चतुर्थांश लिया जाये तो गोलियां आराम से बन जायेंगी।] ॥३०-३२॥

सितोपलापलशतं तदर्धं नवसर्पिषः।
क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम् ॥ ३३॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले।
शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कार्य मर्दनेनापपादयेत् ॥ ३४॥
शुद्धा उत्कारिका कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः।
तासां प्रयोगाद् गजवन्नारीः संतर्पयेन्नरः ॥ ३५॥
इति वृष्योत्कारिका।

वृष्योत्कारिका—मिसरी १०० पल, ताजा घी ५० पल, मधु २० पल, जल २५ पल इनको यथाविधि मिलावे। पहिले पानी और मिश्री से चाश पका कर घी डाले, ठण्डा होने पर मधु मिलावे। इसमें गेहूँ का आटा २५ पल मिला कर मथे। अब इसको साफ चिकनी शिला पर फैला कर उत्कारिकायें बनावें। ये उत्कारिकायें चन्द्रमा के मण्डल के समान गोल हों। इनके प्रयोग से पुरुष हाथी के समान स्त्रियों को तृप्त करता है ॥ ३३–३५ ॥

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु।
हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते ॥ ३६ ॥
द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्भावितः प्रमदा व्रजेत्।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥ ३७ ॥
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं चानुशयीत ना।
तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च ॥ ३८ ॥
यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम् ॥ ३९ ॥
नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्सप्तत्याः परतो न च।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥ ४० ॥
अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ॥ ४१ ॥
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥ ४२ ॥

वृष्य का लक्षण—जो कोई भी वृष्य मधुर, स्निग्ध, जीवनदायक, पौष्टिक, गुरु, मन में हर्ष उत्पन्न करता है, वह सब वृष्यगुण वाले हैं। अतः वृष्य द्रव्यों के सेवन से, अपने बल तथा कामवेग से प्रेरित, स्त्री के रूप, हाव, भाव आदि गुणों से आकर्षित होकर मैथुन करे। मैथुन के पीछे स्नान करके, दूध या मांसरस को पीकर सो जाने से ह्रास हुआ शुक्र और बल पुनः प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार कि फूल के डोडे में गन्ध का पता नहीं चलता, परन्तु फूल के खिलने पर गन्ध स्पष्ट हो जाती है, इसी प्रकार बाल्यावस्था में शुक्र प्रकट नहीं होता। परन्तु यौवनावस्था में शुक्र प्रकट हो जाता है[1]। जो पुरुष दीर्घ आयु

---

१ बारह वर्ष तक अष्ठीला ग्रन्थि तथा शिश्न के अन्दर की ग्रन्थियों का रस आता है जो कि देखने में प्रायः वीर्य से मिलता है। इसमें न तो शुक्राणु होते हैं और न वह सन्तानोत्पत्ति ही कर सकता है।

चाहता हो वह सोलह वर्ष से पूर्व और सत्तर साल के पीछे स्त्री के साथ सहवास न करे। क्योंकि सोलह वर्ष से पूर्व छोटी अवस्था में धातुओं के असम्पूर्ण, कच्ची अवस्था में होने से सम्भोग करने पर थोड़े पानी वाले तालाब की भाँति सूख जाता है, क्षीण हो जाता है। जिस प्रकार से थोड़े पानी वाला तालाब ज़रा सी गरमी से खुश्क हो जाता है, इसी प्रकार थोड़े से ही शुक्र क्षय से पुरुष भी क्षीण हो जाता है और यदि सत्तर वर्ष की आयु का वृद्ध पुरुष स्त्री-सहवास करता है, तो वह सूखा, रूखा (स्नेह रहित), जिस प्रकार कि सूखी, जर्जरित घुण से खाई लकड़ी छूने से गिर जाती है, इसी प्रकार वह वृद्ध पुरुष भी सहवास के झटके को सह नहीं सकता, गिर पड़ता है ॥ ४०–४२ ॥

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ॥ ४३ ॥

निम्न कारणों से शुक्र का क्षय होता है—बुढ़ापे से, चिन्ता से, रोगों से, अति शारीरिक या मानसिक श्रम से, भोजन न करने से और स्त्रियों के अति सेवन से शुक्र क्षय होता है ॥ ४३ ॥

क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात्स्त्रीदोषदर्शनात् ।
नारीणामरसज्ञत्वादविचारादसेवनात् ॥ ४४ ॥
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते ।
देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा ॥ ४५ ॥
रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥ ४६ ॥
तत्स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात्पटादिव ॥ ४७ ॥

निम्न अवस्थाओं में शुक्र प्रवृत्त नहीं होता—धातुओं के (विशेष रूप से शुक्र के) क्षय से, भय से, विश्वास (निश्चिन्तता) न होने से, शोक से, स्त्री में दोष देखने से, स्त्रियों के फूहड़ (अरसज्ञ) होने से, सकल्प अर्थात् मनोयोग न होने से, सहवास न करने से, मैथुन से तृप्त होने से, शुक्र उत्पन्न नहीं होता। हर्ष (उत्तेजना) शरीर और मन तथा बल की अपेक्षा रखती है। शक्ति (मैथुन, सामर्थ्य) हर्ष से उत्पन्न होती है। जिस प्रकार कि रस सम्पूर्ण गन्ने में रहता है, घी सम्पूर्ण दही के कण कण में व्याप्त है, तैल तिल के अणु अणु में भरा होता है, इसी प्रकार से शुक्र भी शरीर की त्वक्-इन्द्रिय में, स्पर्शज्ञान-युक्त स्थानों में रहता है, वह सर्वत्र व्याप्त है। [कइयों के मत से नख और केशाग्र में

शुक्र नहीं है। परन्तु जब इनकी वृद्धि और ह्रास होता है तो शुक्र का होना भी निश्चित है। शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं जहां वीर्य न हो]। यह शुक्र स्त्री और पुरुष के संयोग होने पर, चेष्टा, संकल्प तथा परस्पर पीड़न (सम्मूर्छन, दबाने) के कारण अपने वास्तविक स्थान से पृथक् होकर झरने लगता है, जिस प्रकार कि गीले कपड़े से पानी टपकने लगता है ॥४४-४७॥

> हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि।
> अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ४८ ॥
> अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात्प्रसिच्यते।

निम्न आठ कारणों से शुक्र सम्पूर्ण शरीर से मथा जाकर प्रवृत्त होता है। हर्ष से, तर्ष (उपभोग की इच्छा) से, सर गुण होने से (बहने का स्वभाव होने से), पिच्छिल (चिकना) होने से, गौरव (गुरु) होने से, अणु (सूक्ष्म) होने से, प्रवण (बाहर निकलने का स्वभाव होने से),[1] वायु के शीघ्रगामी होने से वीर्य बाहर आता है[2] ॥ ४८- ॥

---

१. कविराज गंगाधर सेन ने 'हर्षात्सरत्वात्सौक्ष्म्याच्च' यह पाठ दिया है। इसी प्रकार 'अणु-प्रवण-भावाच्च' के स्थान पर 'अनुप्लवनभावाच्च' यह पाठ पढ़ा है। 'अनुप्लवन' का अर्थ शिश्न की मांस पेशियों का रह रह कर संकोच होना बताया है। इन संकोचों के कारण वीर्य झटकों के साथ बाहर आता है। वीर्य का क्षरण वात पर निर्भर है। यह केन्द्र मस्तिष्क और मेरुदण्ड में है। "सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते।" सुश्रुत

२. साधारणतः जब कामेच्छा उत्पन्न होती है उस समय शरीर के अवयवों में परिवर्त्तन आरम्भ हो जाता है। यह परिवर्त्तन मुख्य रूप से श्वास का तेज होना, गालों में लालिमा का दौड़ना, किसी काम में दिल न लगना, शिश्न में हर्ष, छाती में कम्पन होता है। इस अवस्था में रक्तसंचार में भी अन्तर आ जाता है। रक्तसंचार की गति बढ़ जाती है। इतना ही नहीं, रक्त के अन्दर स्वयं परिवर्त्तन आ जाता है। इसका प्रभाव माता के दूध पर भी पड़ जाता है। कामेच्छा के समय पिलाया दूध शिशु को हानि करता है। इन परिवर्तनों के कारण पुरुष के अण्ड अपना अन्तः स्राव को उत्पन्न करने का कार्य बन्द करके, बहिःस्राव पैदा करने लगते हैं। इस वीर्य के गाढ़ा होने के कारण यह शिश्न तक पहुँच जाये इसलिये इसमें पौरुष ग्रन्थि तथा शिश्न में मूत्र मार्ग की दिवारों में रहने वाली ग्रन्थियां अपना अपना रस मिला देती हैं। यदि यह रस बहुत मिल जाये तो वीर्य पतला हो जाता है।

चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥ ४९ ॥

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नाना योनियों में विचरने वाले विश्वरूप आत्मा के रूप को प्रकट करने वाला यही द्रव्यरूपी वीर्य है। इसी वीर्य के कारण आत्मा का अव्यक्त रूप स्पष्ट होता है ॥४९॥

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥ ५० ॥
येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ ५१ ॥

प्रशस्त शुक्र—बहल (घना), मधुर (गन्ध में, प्रतिक्रिया में मधुर, उदासीन), स्निग्ध, अविस्र (दुर्गन्धरहित), गुरु, पिच्छिल (चिक्कास से युक्त), श्वेत वर्ण, मात्रा में अधिक जो शुक्र होता है, वह अवश्य सन्तानोत्पत्ति में कारण बनता है। शुक्र की प्रतिक्रिया मृदु क्षारीय है और यह क्षारीय (मृदु) माध्यम को ही पसन्द करता है। जिन औषध या आहार-विहार के कारण पुरुष घोड़े के समान स्त्रियों में रमण करने के लिये सामर्थ्यवान् बनता है, जिनके द्वारा अधिक समय तक मैथुन कर सकता है, उनको वाजीकरण कहते हैं ॥५०–५१॥

तत्र श्लोकौ—हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः।
यत्पूर्वं मैथुनात्सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ॥ ५२ ॥
यदा न सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः।
निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ॥ ५३ ॥

इस पाद में वाजीकरण योगों के उपदेश का कारण, बारह उत्तम प्रयोग, मैथुन से पूर्व तथा पीछे जिन वस्तुओं का सेवन करना चाहिये उनको, जब मैथुन नहीं करना चाहिये, वीर्य का सम्पूर्ण ज्ञान, वाजीकरण की निरुक्ति इस 'पुमाञ्जातबलादिक' पाद में कह दी है ॥ ५२-५३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः।

समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे 'ज्वर-चिकित्सा' की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

विज्वरं ज्वरसंदेहं पर्यपृच्छत्पुनर्वसुम् ।
विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥
देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली ।
ज्वरः प्रधानं रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥ ४ ॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ।
प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ॥ ५ ॥
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम् ।
व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ॥ ६ ॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम् ।
विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक् पृथक् ॥ ७ ॥
ज्वरावशिष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः ।
प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः ॥ ८ ॥
याश्चापि पुनरावृत्तिं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् ।
जगद्धितार्थं तत्सर्वं भगवन् ! वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

ज्वर (सन्ताप, बाधा) रहित, नीरोग शान्तरूप में एकान्त स्थान में बैठे हुए पुनर्वसु से हाथ जोड़कर अग्निवेश ने अपने ज्वरसम्बन्धी सन्देह को पूछा । हे भगवन् ! आपने निदानस्थान में देह और इन्द्रिय तथा मन को तपाने वाला, सब रोगों में प्रथम, बलवान् तथा सब रोगों में प्रधान ज्वर को बतलाया था । प्राणिमात्र के शत्रु, जन्म और मृत्यु के समय अवश्यम्भावी इस ज्वर की प्रकृति, प्रवृत्ति (उत्पत्ति), कारण, पूर्वरूप, अधिष्ठान (आश्रय), बल, काल, आत्मलक्षण (ज्वर के अपने लक्षण), विस्तार रूप में भिन्न हुए ज्वर के लक्षण, आमज्वर के लक्षण, जीर्ण ज्वर के लक्षण, इनकी औषध, चिकित्सा क्रम, छोड़ते हुए तथा शान्त ज्वर के पृथक् २ लक्षण, ज्वर से मुक्त व्यक्ति को कितने समय तक किन बातों से बचना उचित है, शान्त होने पर भी किन किन कारणों से ज्वर पुनः आ जाता है, दुबारा लौटे हुए ज्वर की चिकित्सा क्रम, जिनसे कि यह शान्त होता है, इन सब बातों को आप जगत् की भलाई के लिये उपदेश करें ॥ ३–९ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ।
ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत्सौम्य ! निखिलं शृणु ॥ १० ॥
ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च ।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ॥ ११ ॥

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः ।
देहिनं नहि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥ १२ ॥
क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः ।
पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता, प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात् ।
निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ॥ १४ ॥

अग्निवेश के इस प्रकार कहे वचनों को सुनकर भगवान् आत्रेय ने कहा हे सौम्य ! ज्वर के विषय मे जो कुछ भी कहना है वह सब सुनो। ज्वर, विकार, रोग, व्याधि, आतक इन सब विविध नाम पर्यायों से एक ही बात कही जाती है, ये सब रोग के पर्याय हैं। शारीरिक और मानसिक दोष इस ज्वर की प्रकृति (समवायि-कारण) हैं। इन शारीरिक तथा मानसिक दोषों से रहित पुरुष को ज्वर नहीं आता। अपने अपने कर्मों के कारण क्लेश पाते हुए मनुष्यों को पञ्चत्व (मृत्यु) की प्रतीति होने से क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा, मृत्यु ये सब रोग (विकार) यम रूप होते हैं। यह ज्वर की प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक रूप है। परिग्रह (धनादि मे ममता) के कारण इसकी प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है। तथा निदानस्थान में दारुण रुद्र कोप से भी ज्वर की उत्पत्ति बतलाई है। [परिग्रह से ज्वर की उत्पत्ति देखो जनपदोध्वंसनीय अध्याय (विमान० अ० ३) 'भ्रश्यति तु कृतयुगे' इत्यादि] ॥ १०–१४ ॥

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम् ।
दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥ १५ ॥
तपोविघ्नं शमीकर्तुं तपोविघ्नं महात्मनाम् ।
पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः ॥ १६ ॥
पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः ।
यज्ञेन कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥ १७ ॥
ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्यश्चाहुतयश्च याः ।
यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ॥ १८ ॥
अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम् ।
रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ॥ १९ ॥
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः ।
बालं क्रोधाग्निसंतप्तमसृजत्सत्रनाशनम् ॥ २० ॥
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः ।

दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ॥ २१ ॥
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम् ।
तमृग्भिरस्तुवद्यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः ॥ २२ ॥
शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः ।
भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ॥ २३ ॥
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात् ।
क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ॥ २४ ॥
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि ।
जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ॥ २५ ॥

दूसरे युग (त्रेता) में क्रोध न करने का व्रत पालन करते हुए शर्व (महादेव) के समय हज़ारों दिव्य वर्षों तक तप में विघ्नकारी असुर लोग महात्माओं के तप में विघ्न करने के लिये अनेक उपद्रव करने लगे। परन्तु इस समय समर्थशील होते हुए भी दक्ष प्रजापति ने इनकी उपेक्षा की। दक्ष ने यज्ञ की रचना की। देवताओं के कहने पर भी दक्ष प्रजापति ने महादेव के लिये यज्ञभाग (रुद्र-भाग) नहीं दिया। इतना ही नहीं, अपितु यज्ञ की सफलता को देने वाली पशुपति सम्बन्धी ऋचाओं तथा शिव-सम्बन्धी आहुतियों को छोड़ते हुए, उनसे रहित यज्ञ किया। इसके पश्चात् जब महादेव का व्रत पूरा हुआ, तब दक्ष प्रजापति का व्यतिक्रम (नियम भंग) हुआ जान कर आत्मज्ञानी शिव ने अपना रौद्र रूप प्रकट किया। अपने माथे में स्थित तृतीय चक्षु को खोल कर, असुरों को जला कर भस्म कर दिया। फिर रुद्र ने क्रोधाग्नि से तपा बाण सत्र (यज्ञ) के नाश के लिये फेंका। इससे यज्ञ तो नष्ट हो गया परन्तु देवता भी दुःखित हुए। समस्त प्राणी दाह और व्यथा से चिल्लाने लगे। वे दिशाओं में भागने लगे, सब ओर तहलका मच गया। इसके पीछे सप्तर्षियों के साथ देवताओं ने ऋचाओं द्वारा भगवान् महादेव की तब तक स्तुति की जब तक कि वे अपने पुनः शिवरूप में नहीं आ गये। स्तुति से रुद्र प्रसन्न हो गये। वे रौद्र रूप को त्याग शिव रूप में आ गये। जब महादेव ने प्राणियों के कल्याण की इच्छा से शिवरूप धारण कर लिया, उस समय क्रोधाग्नि ने भयभीत होकर कहा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ, मुझको आदेश दीजिये। इस क्रोधाग्नि के शस्त्र भस्म थे, तीन शिर, नौ आंख, ज्वालाओं से व्याप्त, रुद्र, भयंकर, छोटी जंघाएं, छोटा पेट था। महेश्वर ने क्रोध को कहा—संसार में प्राणियों के जन्म और मृत्यु के समय, तथा अन्य अपचारों (ज्वर-निदान के सेवन आदि) से तू लोक में 'ज्वर' होगा ॥ १५–२५ ॥

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा चाङ्गमर्दो हृदि व्यथा।
ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तमः॥ २६॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।
निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः॥ २७॥

सन्ताप, अरुचि, तृष्णा, अगमर्द (अगों में पीड़ा अगड़ाई आदि), हृदय में पीड़ा का अनुभव होना यह ज्वर का प्रभाव है। ये लक्षण अपथ्य सेवन से उत्पन्न ज्वर के हैं। जन्म तथा मृत्यु के समय होने वाला ज्वर महातम होता है। इस प्रकार से प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रभाव कह दिये हैं। निदान-स्थान में ज्वर के आठ कारण विभाग रूप में प्रथम कहे जा चुके हैं॥२६-२७॥

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः।
ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ॥ २८॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः।
शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम्॥ २९॥
केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते।
शरीरं, बलकालस्तु निदाने सम्प्रदर्शितः॥ ३०॥

ज्वर का पूर्वरूप—आलस्य, आखों में आंसू, जम्भाई, शरीर में भारीपन, क्लम, आग, धूप, वायु, पानी, भोजन में अनिश्चित रूप से इच्छा और द्वेष का होना, अपचन, मुख की विरसता, बल और वर्ण की हानि, स्वभाव का परिवर्तन ये ज्वर के सक्षिप्त पूर्वरूप है। सम्पूर्ण शरीर और मनोयुक्त शरीर ही ज्वर का आश्रय-स्थान है। ज्वर का बल-काल निदान स्थान में दिखा दिया है॥२८-३०॥

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं संतापो देहमानसः।
ज्वरेणाविशतः भूतं न हि किंचिन्न तप्यते॥ ३१॥

ज्वर का अपना स्वरूप—देह और मन का सन्ताप ही ज्वर का अपना स्वरूप है। ज्वर से आक्रान्त होने पर प्राणि का कोई भी ऐसा अग नहीं होता, जो कि तपता नहीं, गरम नहीं होता। अपितु सारा शरीर अन्दर और बाहर से गरम हो जाता है॥ ३१॥

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः।
पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव च॥ ३२॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते।
प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च॥ ३३॥
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्।

संततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ ३४ ॥
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः ।
भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वर ॥ ३५ ॥

विधि-भेद से ज्वर दो प्रकार का है। एक शारीर ज्वर और दूसरा मानस ज्वर। फिर भी ज्वर दो प्रकार का देखा जाता है। जैसे—सौम्य और आग्नेय। वेग के अभिप्राय से भी दो प्रकार का है। अन्तर्वेग और बहिर्वेग। प्राकृत और वैकृत। साध्य और असाध्य भेद से भी ज्वर दो प्रकार का है। दोष और काल के बल-अबल के भेद से ज्वर पांच प्रकार का देखा गया है। जैसे—सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक। रस आदि सात धातुओं के भेद से ज्वर सात प्रकार का है। जैसे—रसज, रक्तज, मांसज, मेदज, अस्थिज, मज्जाज और शुक्रज। कारण भेद से ज्वर आठ प्रकार का है। जैसे—वातज, पित्तज, कफज, पित्त-कफज, वात-कफज, वात-पित्तज, और सन्निपातज तथा आगन्तुज ॥३२–३५॥

शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः ।
वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥ ३६ ॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहसन्तापलक्षणम् ।
वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः ॥ ३७ ॥
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः ।
योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ॥ ३८ ॥
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात् ।

शारीरिक ज्वर वातादि दोष के कारण प्रथम शरीर में उत्पन्न हो जाता है। पीछे से मन आक्रान्त होता है। परन्तु मन में उत्पन्न होने वाला ज्वर प्रथम मन में होता है, पीछे से शरीर में आता है। मानस ज्वर के लक्षण—चित्त का विक्षिप्त होना, बेचैनी, ग्लानि का होना है। शारीरिक ज्वर में इन्द्रियों में विकृति उत्पन्न हो जाती है (अभिलषित विषय भी तब अच्छे नहीं लगते)। वात-पित्तजन्य ज्वर में उष्णता की चाह करता है। मिश्रित लक्षणों वाले ज्वर में शीत और उष्ण दोनों की चाह करता है। वायु अतियोगवाही है—संयोग के कारण दोनों कार्य करता है। पित्त के साथ मिलने से उष्णिमा, कफ के साथ मिलने से शीतलता को उत्पन्न करता है ॥ ३६–३८ ॥

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ॥ ३९ ॥
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ।

अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥ ४० ॥

अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण—शरीर के अन्दर दाह, प्यास का अधिक होना, प्रलाप, श्वास का तेजी से चलना, चक्कर आना, सन्धियों और अस्थियों में शूल, पसीने का आना, दोषों तथा वर्चं (मल) का रुक जाना, बाहर न आना, ये अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण हैं ॥ ३९–४० ॥

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ।
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥ ४१ ॥

बहिर्वेग ज्वर के लक्षण—ज्वर में बाह्य ताप अधिक रहता है, तृष्णा, प्रलाप आदि लक्षण थोड़ी मात्रा में होते हैं, यह ज्वर सुखसाध्य है ॥४१॥

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः ।
कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः ॥ ४२ ॥
उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति ।
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते ॥ ४३ ॥

वसन्त और शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर सुखसाध्य है। वसन्त में उत्पन्न होनेवाला कफज्वर, शरद में उत्पन्न होने वाला पित्तज्वर है। [वर्षाऋतु में होनेवाला वातज्वर प्राकृत होते हुए भी सुखसाध्य नहीं है।] यहाँ पर काल-स्वभाव को देखकर ही यह प्राकृत ज्वर कहा जाता है। सञ्चित हुआ उष्ण गुणवाला पित्त धूप आदि की उष्णिमा के कारण शरद ऋतु में कुपित होता है। इसी प्रकार से शीतकाल में सचित कफ वसन्त ऋतु में कुपित होता है ॥ ४२-४३ ॥

वर्षास्वम्लविपाकाभिरोषधीभिः [1]सवारिभिः ।
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं[2] शरद्यादित्यतेजसा ॥ ४४ ॥
ज्वरं संजनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः ।
प्रकृत्यैव विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ॥ ४५ ॥

प्राकृत पैत्तिक ज्वर—वर्षाऋतु में ओषधियों और जलों के अम्लविपाकी होने से सचित पित्त शरद् ऋतु में सूर्य के तेज से प्रकुपित होकर शीघ्र ज्वर को उत्पन्न करता है। काल के स्वभाव तथा विसर्ग के कारण इस ज्वर के साथ कफ का अनुबन्ध हो जाता है। अतः प्रकृति स्वभाव तथा विसर्ग काल होने से लंघन करने पर भी कोई नुकसान नहीं होता ॥ ४४-४५ ॥

---

१. 'रद्भिरोषधिभिस्तथा' इति च पाठः । २. 'पित्तमुद्रिक्तं' इति च ।

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः ।
हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति ॥ ४६ ॥
वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते ।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ॥ ४७ ॥
आद्यावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ।
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत् ॥ ४८ ॥
कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ।

मधुर रस, जल और ओषधियों द्वारा हेमन्त ऋतु में संचित कफ, वसन्त-ऋतु में सूर्य की गरमी द्वारा कुपित होता है । इसलिये वसन्तऋतु में कफजन्य ज्वर उत्पन्न होता है । जिससे यह आदान काल का मध्यवर्त्ती समय होता है, इसलिये वायु और पित्त भी इस कफ के अनुबन्ध बन जाते हैं । इससे इस समय भी थोड़ा लंघन करने से कोई भय नहीं रहता । कफ और पित्त दोनों द्रव धातु हैं, अतः ये लंघन को सहन कर सकते हैं । इसलिये वैद्य को चाहिये कि शरद् तथा वसन्त ऋतु में उत्पन्न प्राकृत ज्वर की चिकित्सा काल के आदि, अन्त और मध्य में दोष के बलाबल को देखकर करे । वसन्त के प्रारम्भ में कफ प्रबल, मध्य में मध्यबल, और अन्त में निर्बल, शरद् के प्रारम्भ में पित्त प्रबल, मध्य में मध्यबल और अन्त में निर्बल होता है । इस प्रकार काल की प्रकृति के उद्देश्य से प्राकृत ज्वर को कह दिया है ॥ ४६–४८ ॥

प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ॥ ४९ ॥

वर्षाऋतु में होनेवाला वातजन्य ज्वर प्राकृत होते हुए भी प्रायः कष्टसाध्य होता है । इसी प्रकार अन्य कालों में (शरद् ऋतु में कफजन्य या वसन्त में पित्तजन्य) उत्पन्न वैकृत ज्वर विरुद्ध चिकित्सा होने से कष्टसाध्य है ॥ ४९ ॥

हेतवो विविधास्तस्य निदाने संप्रदर्शिताः ।
बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥ ५० ॥

इस वैकृत ज्वर के निदान कारणों को निदानस्थान में कह दिया है । बलवान् तथा अल्प दोषवाले पुरुषों में उपद्रवों से रहित ज्वर साध्य है ॥ ५० ॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ।
ज्वरः प्राणान्तकृच्चश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥ ५१ ॥

जो ज्वर बहुत प्रबल कारणों को लेकर उत्पन्न होता है, बहुत से लक्षणों से युक्त हो शीघ्र इन्द्रिय-शक्तियों को नष्ट कर देता है, वह ज्वर प्राणनाशक होता है ॥ ५१ ॥

सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च ।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ॥ ५२ ॥

प्रलाप, भ्रम (चक्कर आना), श्वास इन लक्षणों से युक्त तीक्ष्ण ज्वर सात दिन में, वातजन्य दस दिन में, पित्तजन्य और बारह दिन में कफजन्य ज्वर घातक होता है ॥ ५२ ॥

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ।
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ॥ ५३ ॥

क्षीण और शोष से युक्त व्यक्ति में गम्भीर और दीर्घकाल तक रहने वाला ज्वर असाध्य होता है । बलवान् ज्वर तथा जिसके कारण बालों में सीमंत (माग) पड़ जाती है, वह ज्वर भी असाध्य है ॥ ५३ ॥

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।
सर्वगात्रानुगा स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥ ५४ ॥

प्रकुपित और आम सहित होने से गुरु वातादि दोष रसवाही स्रोतों द्वारा फैलकर सम्पूर्ण अगों (शरीर) में पहुच कर जड हो जाते हैं, इससे सन्तत ज्वर उत्पन्न होता है ॥ ५४ ॥

दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ।
स शीघ्र शीघ्रकारित्वात्प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ५५ ॥
कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ।
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ ५६ ॥
यथा धातुं तथा मूत्र पुरीषं चानिलादयः ।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे ॥ ५७ ॥
स शुद्ध्या वाप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ५८ ॥
यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ।
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याऽऽश्रयास्तदा ॥ ५९ ॥
विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ।
दुर्लभोपशमः काल दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ ६० ॥
इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सततम् ।
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥ ६१ ॥

यह दुःसह सन्तत ज्वर शीघ्रकारी होने के कारण दस दिन में (पित्तजन्य होने से), बारह दिन में (कफजन्य होने से), अथवा सात दिन में (वातजन्य

होने से) शीघ्र शान्त हो जाता है, अथवा रोगी को मार देता है। सन्तत ज्वर के दुःसह होने का कारण—काल, दूष्य (रस आदि धातु) और प्रकृति के वातादि दोषों के तुल्य होने से सन्तत ज्वर कष्टसाध्य होता है। सन्तत ज्वर में वात आदि दोष जिस प्रकार से रस आदि धातुओं में पहुँचते हैं, उसी प्रकार से युगपत् रूप में मूत्र तथा मल में भी पहुँचते हैं। यह सन्तत ज्वर रस आदियों के सर्वथा शुद्ध होने पर या अशुद्धावस्था में सप्ताह आदि काल के अन्दर या तो स्वयं शान्त हो जाता है, अथवा मार देता है। जिस समय सन्तत ज्वर के बारह आश्रय (तीन दोष, सात धातु और मल तथा मूत्र) अत्यन्त शुद्ध नहीं होते अथवा कुछ शुद्ध हो जाते हैं और कुछ अशुद्ध रहते हैं, तब बारहवें दिन अस्पष्ट लक्षणों से ज्वर उतर जाता है, परन्तु कष्टसाध्य होकर दीर्घ काल तक चलता रहता है। सन्तत ज्वर को इस प्रकार से समझ कर चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये। चिकित्सा में भी प्रथम अपतर्पण (लंघन) आरम्भ करना चाहिये ॥ ५७–६१ ॥

> रक्तधात्वाश्रय प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ।
> सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ॥ ६२ ॥
> अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।

विरोधी दोष प्रायः करके रक्त-धातु में आश्रित होकर काल में बढ़ने वाले और काल में घटने वाले (क्षीण होने वाले) सतत ज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह ज्वर समय पर बढ़ता है और समय पर घटता है। काल प्रकृति और दूष्य इनमें से किसी एक का बल प्राप्त करके सतत ज्वर दिन रात में (२४ घन्टे में) दो बार आता है॥ ६२– ॥

> कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम् ॥ ६३ ॥
> दोषो मेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युष्कं ज्वरम् ।
> सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशि ॥ ६४ ॥
> दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ।

काल प्रकृति और दूष्य इनमें से किसी एक के विरोधी होने पर दोष मेदोवहा नाड़ियों को रोक कर अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करते हैं। यह दिन रात में एक बार आता है। अस्थि और मज्जा में दोष पहुंच कर तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ॥ ६३–६४– ॥

> गतिर्द्व्येकान्तरान्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः ॥ ६५ ॥
> रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम् ।
> मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥ ६६ ॥

ज्वरं दोषः संसृतो हि मेदो मार्गं चतुर्थकम् ।
अन्येद्युष्कःप्रतिदिनं दिनं क्षिप्त्वा तृतीयकः ॥ ६७ ॥
दिनद्वय यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ।
अधिशेते यथा भूमि बीजं काले च रोहति ॥ ६८ ॥
अधिशेते तथा धातु दोषः काले च कुप्यति ।
स वृद्धि बलकाल च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ॥ ६९ ॥
चतुर्थक च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ।
कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिता. ॥ ७० ॥
पुनर्विवृद्धाः काले ज्वरयन्ति नर मलाः ।

दोषों की गति—प्रति दिन, एक दिन के अन्तर से और दो दिन के अन्तर से कही गई है। जब प्रति दिन ज्वर आता है उसे अन्येद्युष्क कहते हैं, एक दिन के अन्तर से आवे तो 'तृतीयक' और दो दिन अतर से आवे ता 'चतुर्थक' कहते हैं। अन्येद्युष्क ज्वर प्रति दिन लौट कर आता है, तृतीयक ज्वर एक दिन छोड़ कर आता है, चतुर्थक ज्वर दो दिन पीछे लौट कर आता है। जिस प्रकार कि बीज भूमि में पड़ा रहता है और अपने समय पर उगता है, इसी प्रकार से वातादि दोष रस, रक्तादि धातुओं में पड़े रहते हैं और समय पाकर प्रकुपित होते हैं। दोष, बल और काल की सहायता पाकर विरोधी बल के क्षीण होने पर तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ज्वर वेग को उत्पन्न करके निर्बल हुए दोष अपने अपने स्थानों में पहुच जाते हैं। अपने अनुकूल परिस्थिति (काल) में ज्वर को पुनः उत्पन्न कर देते हैं॥ ६५-७०— ॥

कफपित्तात् त्रिकग्राही पृष्ठाद् वातककात्मकः ॥ ७१ ॥
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ।

तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का है। जिस तृतीयक ज्वर मे प्रथम त्रिक स्थान (कूल्हे) में वेदना होती है, वह कफ-पित्त के कारण होता है। जिस तृतीयक ज्वर में पीठ में वेदना प्रथम होती है वह वात-कफजन्य है। जिस तृतीयक ज्वर मे शिर में वेदना प्रथम होती है, वह वात-पित्तजन्य है। इस प्रकार से यह तृतीयक ज्वर तीन प्रकार है॥ ७१— ॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं विविध ज्वरः ॥ ७२ ॥
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्व शिरस्तोऽनिलसंभवः ।
विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ॥ ७३ ॥
त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोत्ययम् ।

चतुर्थक ज्वर दो प्रकार से अपना प्रभाव दिखाता है, अतः वह दो प्रकार का है। जिस ज्वर में आक्रमण जंघाओं की ओर से या पाव से होता है वह कफजन्य है और जिसमें शिर पर सबसे प्रथम आक्रमण होता है वह वायुजन्य है। [1]चातुर्थक ज्वर का ही एक विपर्यय (भेद) विषम ज्वर है। यह तीन धातु-वात, पित्त, कफ में से किसी एक धातु के दो धातुओं में स्थिति होने से होता है। इस ज्वर मे एक दिन आक्रमण नहीं होता, फिर अगले दो दिन होता है और फिर एक दिन नहीं होता ॥ ७२–७३– ॥

प्रायशः संनिपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः ॥ ७४ ॥
सन्निपाते तु यो भूयान स दोषः परकीर्तितः।

प्रायः करके (कहीं कहीं अपवाद भी होता है), सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक और सन्निपात (त्रिदोष) से उत्पन्न यह पाच प्रकार का ज्वर होता है। सन्निपात के समय जो भी दोष प्रबल होता है, उसी के नाम से उस ज्वर को कहते हैं दूसरे दोषों का भी अनुबन्ध थोड़ा बहुत रहता है ॥७४–॥

ऋत्वहोरात्रदोषाणा मनसश्च बलाबलात् ॥ ७५ ॥
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्त तं प्रपद्यते।

ऋतु, दिन, रात, दोष और मन के बल-अबल के कारण तथा अर्थवश (प्राक्तन कर्म) के कारण उस उस समय में ज्वर होता है। [जैसे—ऋतु के बलाबल से वर्षाकाल से वर्षाकाल में उत्पन्न वातप्रधान सतत ज्वर विरोधी शरद् ऋतु में अन्येद्युष्क रूप में आ जाता है। अहोरात्र वसन्त काल के मध्य दिवसों मे उत्पन्न वातिक चतुर्थक ज्वर पिछले दिनों में बलवान् होकर तृतीयक हो जाता है। मन के बल से ज्वर अन्य रूप में आ जाता है। कहा भा है "विषाद का करना भी रोग को बढ़ाने वाला है"।]॥ ७५ ॥

गुरुत्व[2] दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ ॥ ७६ ॥
रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम्।
रक्तोत्था[3] पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवन मुहुः ॥ ७७ ॥
दाहरागभ्रम [4]मदाः प्रलापो रक्तसंस्थिते।
अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा ग्लानि· संसृष्टविट्कता[5] ॥ ७८ ॥

---

१. हारीत संहिता में पित्तजन्य चतुर्थक ज्वर भी माना है। २. 'शैत्यमु' इति च पाठः। ३ 'रक्तोष्ठः' इति च पाठः। ४ 'भ्रम' इति पाठ·। ५. 'अन्तर्दाहः सतृण्मोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता' इति वा पाठ·।

दौर्गन्ध्य गात्रविक्षेपो[1] ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ।
स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्य[2] भीक्ष्णशः ॥ ७९ ॥
स्वगन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ।
विरेकवमने चोभे सास्थिभेद[3] प्रकूजनम्[4] ॥ ८० ॥
विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ।
हिक्का[5] श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम् ॥ ८१ ॥
मर्मच्छेदो बहिः शैत्य दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ।
शुक्रस्थानगते शुक्रमोक्ष कृत्वा विनाश्य च ॥ ८२ ॥
प्राणवाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः ।
रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः ॥ ८३ ॥
अस्थिमज्जगत कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिध्यति ।

सातों धातुओं में आश्रित ज्वर के लक्षण—(१) रस में ज्वर के आश्रित होने पर भारीपन, दीनता, बेचैनी, शिथिलता, वमन, अरुचि, बाहर ताप, अंगों में पीड़ा और जभाई आती है। (२) रक्त-धातु में आश्रित होने पर रक्तजन्य पिड़कायें, प्यास, रक्त मिश्रित थूक का बार बार आना, दाह, राग (लालिमा) चक्कर आना, मद, (मूर्च्छा) और प्रलाप होता है। (३) मांस में आश्रित होने पर शरीर के अन्दर जलन, प्यास, ग्लानि, अतिसार, दुर्गन्ध, हाथ पांव का फेंकना होता है। (४) मेद में आश्रित होने पर बहुत पसीना आना, प्यास, प्रलाप, बार बार वमन, अपने ही शरीर की गन्ध का सहन न होना, ग्लानि और अरुचि होती है। (५) अस्थिगत ज्वर में अतीसार, वमन, अस्थियों में पीड़ा, कराहना, हाथ पांव को फेंकना, ज़ोर या तेज़ी से श्वास का चलना होता है। (६) मज्जा धातु में ज्वर के आश्रित होने पर हिचकी, श्वास, कास आँखों के सामने अन्धकार का दिखाई देना, मर्मान्तक पीड़ा, शरीर का ऊपर से ठण्डा परन्तु अन्दर जलन होता है। (७) शुक्र (वीर्य) में आश्रित होने पर शुक्र का स्राव होता है, इस अवस्था में विभु (आत्मा), प्राण, वायु, अग्नि और सोम के साथ चला जाता है, रोगी मर जाता है। इनमे से रस, रक्त, मांस और मेद में आश्रित ज्वर साध्य है, अस्थि और मज्जा में आश्रित ज्वर कष्टसाध्य है, शुक्रस्थ ज्वर असाध्य है ॥ ७९–८३ ॥

---

१. 'ऊष्मान्तर्दाहविक्षेपौ' इति च। २. 'ऽरत्यभी' इति च। ३ 'सास्थिमेदान्त्रकू' इति च। ४. 'कुञ्चनम्' इति च। ५. 'मेह.' इति च पाठः।

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वरः ॥ ८४ ॥
समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम् ।
शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम् ॥ ८५ ॥
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः[1] ।
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः ॥ ८६ ॥
शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक् ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ॥ ८७ ॥
संतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः ॥ ८८ ॥
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ ८९ ॥
इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः सन्निपातज उच्यते ।

प्रथम निदानस्थान में हेतु और लक्षणों सहित आठ प्रकार ज्वर कहा है। वहाँ पर संक्षेप मे कहा था, अब उसको विस्तार मे कहते हैं—

(१) वात पित्त ज्वर के लक्षण—सिर में दर्द, पोरुओं में फूटने की सी पीड़ा, जलन, लोमहर्ष, गले और मुख का शुष्क होना, वमन, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, निद्रानाश, अधिक बोलना और जमाई का आना ये वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं। [यहाँ पर द्वन्द्वज ज्वरों के ही लक्षण कहे हैं। वात, पित्त, कफजन्य ज्वरों के लक्षणों को विस्तार से निदानस्थान में कह दिया है]।

(२) वात कफ ज्वर के लक्षण—शीतक (शीत लगना या शीत पित्त), भारीपन, तन्द्रा, स्तिमितता (गीले वस्त्र से आच्छादित के समान अनुभव), पोरुओं में दर्द, शिर का जकड़ा होना, प्रतिश्याय, कास पसीने का न आना, सन्ताप और ज्वर का मध्यम वेग होना ये वात कफ ज्वर के लक्षण हैं।

(३) कफ-पित्त ज्वर के लक्षण—बार बार दाह (गरमी), बार बार शीत (सर्दी) लगना, बार बार पसीना आना वा न आना, मोह (मूर्च्छा), कास, अरुचि, प्यास, वमन या मल के द्वारा कफ और पित्त की प्रवृत्ति, मुख का कफ से भरा होना तथा कड़ुवा होना और तन्द्रा ये कफ-पित्त ज्वर के लक्षण हैं। अब सन्निपातजन्य ज्वरों को कहा जाता है ॥ ८४–८९ ॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि ॥ ९० ॥
प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक् ।

---

१ 'ऽरति' इति च पाठः।

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् ॥ ९१ ॥
वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ।
शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा दाहरुग्व्यथाः ॥ ९२ ॥
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्ग पित्तावरे विदुः ।
छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना ॥ ९३ ॥
मन्दवाते व्यवस्यन्ते लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ।
सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः ॥ ९४ ॥
वातोल्बणे स्याद्‌द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशोषता ।
रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः ॥ ९५ ॥
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ।
आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः[1] ॥ ९६ ॥
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ।
प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् ॥ ९७ ॥
हीनवाते पित्तमध्ये चिह्न श्लेष्माधिके मतम् ।
हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः ॥ ९८ ॥
हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ।
शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ ॥ ९९ ॥
हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ।
शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् ॥ १०० ॥
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ।
श्वासकासप्रतिश्याया मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् ॥ १०१ ॥
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ।
पर्वभेदो[2]ऽग्निमान्द्यं च तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १०२ ॥
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ।

प्रथम सूत्ररूप में कहे तेरह प्रकार के सन्निपात ज्वर के लक्षण पृथक् पृथक् कहूँगा।

(१) वात-पित्त प्रधान और मन्दकफ ज्वर के लक्षण—भ्रम, प्यास, दाह, भारीपन, शिर में अधिक वेदना होती है। (२) वात-कफ प्रधान और हीनपित्त ज्वर में—शीत लगना, खाँसी, अरुचि, तन्द्रा, प्यास, दाह, पीड़ा, व्यथा होती

---

१. 'वमिदाहतृषाभ्रमैः' इति च पाठः।
२. 'ऽग्निदौर्बल्य' इति च पाठः।

है । (३) पित्त कफ प्रधान हीनवात ज्वर में—वमन, शीत लगना, बार बार दाह, प्यास, मूर्च्छा, अस्थियों में वेदना होती है । (४) वातप्रधान, हीनपित्त-कफ ज्वर में—सन्धियों में तथा अस्थियों में और शिर में वेदना, प्रलाप, भारी होना, भ्रम, प्यास, कण्ठ और मुख का सूखना होता है । (५) पित्तप्रधान हीन कफ-वात ज्वर में—मल और मूत्र में रक्तिमा (रक्त का सा लाल वर्ण), जलन, पसीना, प्यास, निर्बलता, मूर्च्छा होती है । (६) कफ प्रधान हीन पित्तवात में—आलस्य, अरुचि, हृल्लास (जी मचलाना), जलन, वमन, बेचनी, चक्कर आना, तन्द्रा और कास होता है । (७) कफप्रधान पित्त मध्य, वात हीन सन्निपात में—प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि मन्दाग्नि होती है । (८) पित्तप्रधान, मध्य कफ और हीन वात में—मूत्र और आंख का हल्दी के समान पीला वर्ण, जलन, प्यास, भ्रम, अरुचि होती है । (९) वात प्रधान, मध्य कफ और हीन पित्त में—शिर में वेदना, कम्पन, श्वास का तेज चलना, प्रलाप, वमन और अरुचि होती है । (१०) कफप्रधान, वात मध्य और हीन पित्त में—शीत का लगना, भारीपन, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थियों और शिर में अति वेदना होती है । (११) वात प्रधान, पित्त मध्य और कफ हीन सन्निपात में—श्वास, कास, प्रतिश्याय, (जुकाम), मुख का सूखना और पसलियों में अति वेदना होती है । (१२) पित्त प्रधान, वात मध्य हीन कफ में—पोरुओं में फूटन की सी पीड़ा, मन्दाग्नि, प्यास, दाह, अरुचि और चक्कर आता है । [भालुकि तंत्र से सन्निपात ज्वरों के लक्षण तथा नाम भिन्न २ दिये हैं । जैसे—वात पित्ताधिक सन्निपात 'विभु' पित्त श्लेष्माधिक सनिपात फल्गु, कफवाताधिक सनिपात मकरी, वाताधिक सन्निपात 'विस्फारक', पित्ताधिक सन्निपात 'शीघ्रकारी' और कफाधिक सन्निपात 'उल्बण' कहाता है ।

कुछ आचार्य इन लक्षणों को प्रकृतिसम समवाय के लक्षण होने से इस पाठ को अनार्ष मानते हैं । अन्य स्थानों में यह पाठ नहीं है] ॥ ९०-१०२ ॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १०३ ॥
क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने ॥ १०४ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १०५ ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ १०६ ॥

शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ १०७ ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ १०८ ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ १०९ ॥

इसके आगे सन्निपात ज्वर के लक्षण कहते हैं। जैसे—(१३) क्षण में दाह, क्षण मे शीत, अस्थि, सन्धि और शिर मे वेदना, नेत्रो से पानी आना, आखो का मैला या लाल वर्ण और कुटिल[1] होना, कानो मे आवाज होना, कानो मे पीडा होना, गला शूक (गेहूँ आदि की बाल) की भाति काटो से घिरा रहता है, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वा का जले हुए के समान काला, पीला, स्पर्श मे खुरदरा, शरीर का अति शिथिल होना, कफ मिश्रित रक्त पित्त का थूकना, शिर का लोठन (इधर उधर चलाना, हिलाना डुलाना), प्यास, निद्रा का न आना, हृदय मे तीव्र पीडा, पसीना मूत्र तथा मल का देर में आना और थोडा आना (प्रायः अवरोध रहना), शरीर मे अधिक निर्बलता का न आना, निरन्तर गले से कराहने का स्वर, कोठ तथा श्याम-रक्त वर्ण के मण्डलो का देह पर दिखाई देना, मूकता, स्रोतो का (मुख आदि का) पक जाना, उदर का भारी प्रतीत होना तथा दोषो का देर मे परिपक्व होना ये सन्निपात ज्वर के लक्षण[2] हैं ॥ १०४–१०९ ॥

---

१ निर्भुग्न का 'कुटिल, विस्फारित तथा अन्दर को घुसा रहना' यह अर्थ आचार्यो ने किया है।

२ सुश्रुत मे अभिन्यास-ज्वर के लक्षण इस प्रकार दिये हैं। जैसे—

नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥
साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमथवा परे ॥

न बहुत उष्ण, न बहुत शीत, थोड़ी चेतना हो, भौचक्का सा देखे, कान्ति नष्ट हो, जिह्वा खरदरी हो, गला सूखा, पसीना, पाखाना और मूत्र न होता हो, आँसू आवे, आँखे टेढी हो जाय, भोजन से द्वेष हो, स्वर मारा जाय, साँस

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ ११० ॥

सन्निपात ज्वर की साध्य-असाध्यता—यदि दोष (वातादि और मल) शरीर के अन्दर ही रुक जाये, अग्नि मन्द हो, सन्निपात ज्वर के सम्पूर्ण लक्षण दिखाई देते हो तो सन्निपात ज्वर असाध्य है । यदि सम्पूर्ण लक्षण दिखाई न दें, दोष बाहर आते हो, अग्नि भी प्रबल हो तो रोग कष्टसाध्य होता है ॥११०॥

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः ।
संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ॥ १११ ॥

ज्वरनिदान-स्थान में वर्णित पृथक् पृथक् दोषो से उत्पन्न होने वाले ज्वरो के तीन प्रकार के लक्षण, द्वन्द्वज ज्वरो तथा सन्निपातज ज्वरो के लक्षण मिला कर सात प्रकार के ज्वर कह दिये है ॥ १११ ॥

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः ।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः ॥ ११२ ॥

आठवाँ आगन्तुज ज्वर चार प्रकार का है । जैसे—अभिघातजन्य, अभिषगजन्य, अभिचारजन्य और अभिशापजन्य ॥ ११२ ॥

शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः ।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ॥ ११३ ॥
तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥ ११४ ॥

इनमें अभिघातजन्य ज्वर—शस्त्र, ढेला, कशा, लकड़ी, मुक्का, अरत्नि, हाथ पैर के तले, दाँत तथा अन्य इसी प्रकार के कारणो से देह या अगो पर चोट लगने से उत्पन्न होता है । अभिघातजन्य ज्वर मे प्रायः करके वायु रक्त को दूषित कर पीड़ा, सूजन, विवर्णता (रग परिवर्त्तन), वेदना तथा ज्वर उत्पन्न करता है ॥ ११३–११४ ॥

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥ ११५ ॥
कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ।
भूताभिषङ्गात्कुर्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥ ११६ ॥
भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम् ।

धौंकनी के तुल्य हो, गिर पड़े, सो जाय, बके, उसे अभिन्यास ज्वर कहते है । यह सन्निपात-ज्वर असाध्य है ।

अभिषङ्गजन्य ज्वर—काम शोक, भय क्रोध तथा भूतों के संसर्ग से आक्रान्त होने पर जो ज्वर उत्पन्न होता है, उसको अभिषङ्गज ज्वर कहते है। काम शोक और भय से वायु, क्रोध से पित्त, और भूतो के आक्रमण मे तीनो दोष कुपित होते है। भूतजन्य ज्वर मे भूतो के सामान्य लक्षण रहते है। आठ प्रकार के भूतो के लक्षण भूताधिकार (उन्माद चिकित्सा) मे कहेंगे॥११५-११६॥

विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसंभवै ॥ ११७ ॥
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम्।
चिकित्सया विषघ्न्यैव प्रशमं लभते नरः॥ ११८ ॥

कुछ आचार्यो का कहना है कि विषैले वृक्षो की वायु का स्पर्श तथा अन्य इसी प्रकार विषयुक्त कारणा से उत्पन्न ज्वर अभिषङ्गजन्य ज्वर है। इस प्रकार का ज्वर विषनाशक चिकित्सा से शान्त होता है। [विष से उत्पन्न ज्वर मे मुख पर काली झांई, दाह, अतीसार और दिल का रुकना, भोजन मे अनिच्छा, कपकपी, मूर्छा और बल की हानि होती है सु०।]॥ ११७-११८ ॥

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते।
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः॥ ११९ ॥
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम्।
चित्तेन्द्रियशरीराणामार्तयोऽन्याश्च नैकशः॥ १२० ॥

सिद्ध पुरुषो के अभिचार (हिंसा के लिये किये होम आदि से) या अभिशाप द्वारा जो सन्निपात ज्वर उत्पन्न होता है, वह अतिशय कष्टसाध्य होता है। सन्निपात ज्वर के लक्षण ही इस ज्वर के लक्षण होते है। चित्त, इन्द्रिय और शरीर की अन्य पीडाये रोगी को दुःख देती है[1] ॥ ११९-१२० ॥

प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि।
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा॥ १२१ ॥

---

१ वृद्ध वाग्भट मे निम्न लक्षण कहे है—
तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते।
पूर्वं चेतस्ततो देहः ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः।
सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः॥

आभिचारिक मन्त्रो से हवन करने से पहले, चित्त और फिर देह तपता है। अनन्तर देह पर फुंसियें, प्यास और भ्रम होता है, दाह और मूर्छा ग्रसती है और दिनों दिन ज्वर बढता है।

वविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके ।
यथाक्रमप्रयोगेण लक्षणं स्यात्पृथग्विधम् ॥ १२२ ॥

अन्य अनेक ज्वरों के लक्षण—अभिचार और अभिशाप ज्वर की परीक्षा स्वयं अभिचार के प्रयोग को देखकर, अथवा अभिशाप को सुनकर (रोगी के मुख से या स्वयं), अनुमान द्वारा अथवा इनकी चिकित्सा से शमन होने पर करनी चाहिये । अभिचार और अभिशाप के नाना रूप होने से कर्मों के प्रयोग के अनुसार ही इनके लक्षण भी नाना प्रकार के हो जाते हैं ॥ १२१–१२२ ॥

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ।
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ॥ १२३ ॥
क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ।
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसंभवे ॥ १२४ ॥
केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः ।
पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु ॥ १२५ ॥
कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम् ।
कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत्स्मृतम् ॥ १२६ ॥
ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः ।
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ॥ १२७ ॥

कामजन्य ज्वर में—ध्यान (एक ही चिन्ता) निःश्वास का जोर २ से बाहर आना । शोकजन्य ज्वर में—आंखों में आँसू आना, [और बकना, सु०] भयजन्य ज्वर में डर लगना (और बकना, सु०) होता है । [चित्त का गिरना आलस्य, अर्धनिद्रा, दिल में दर्द शरीर का दुखना । सु०] क्रोधजन्य ज्वर में ज्वर की तीव्रता तथा अन्य लक्षण प्रबल रहते हैं, (रोगी कांपता भी है) । भूताविष्ट ज्वर में अमानुषीय (मनुष्य की शक्ति से बाहर के) कार्य करता है । विषजन्य ज्वर में मूर्च्छा, मोह, मद और ग्लानि होती है । कामजन्य आदि ज्वरों में कभी कभी सन्ताप इन लक्षणों से पूर्व हो जाता है, कभी पीछे और कभी साथ साथ में होता है । यहां पर कामादि से उत्पन्न ज्वरों के जो विशेष लक्षण कहे हैं, वे लक्षण कामादि से उत्पन्न अन्य रोगों (उन्माद आदि) में भी होते हैं । आगन्तुज ज्वर प्रथम स्वतन्त्र रहता है, पीछे से वातादि दोषों के साथ सम्बन्धित हो जाता है । इन ज्वरों में कारण तथा चिकित्सा अन्य ज्वरों से भिन्न रहती है ॥ १२३–१२७ ॥

[1]मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥ १२८ ॥

काम आदि द्वारा मन के आक्रान्त होने पर उत्पन्न ज्वर प्रथम अधिक बलवान् नहीं होता। परन्तु जब शरीर के वातादि दोषों में मिल जाता है, तब अधिक बलवान् हो जाता है ॥ १२८ ॥

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः ।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिं स्थानान्निरस्य च ॥ १२९ ॥
स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।
स्रोतांसि रुद्ध्वा सम्प्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः ॥ १३० ॥
सन्तापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा ।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥ १३१ ॥
स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात्स्वेदं नाऽधिगच्छति ।
स्वस्थानात्प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे ॥ १३२ ॥

ज्वर—पृथक् पृथक्, द्वन्द्व रूप में या सन्निपात रूप में कुपित वातादि दोष रस नामक धातु का सहारा लेकर अग्नि को उसके असली स्थान से (आमाशय से) निकाल कर, अपनी गरमी से देह की गरमी को बढ़ाकर, स्रोतों को बन्द करके, देह में फैलकर शरीर में अधिक (मात्रा से अधिक) सन्ताप उत्पन्न कर देते हैं। उससे मनुष्य को ज्वर उत्पन्न हो जाता है। उसके सब अंग गरम हो जाते हैं, इस अवस्था को 'ज्वर' कहते हैं। स्रोतों के रुक जाने से और अग्नि के अपना स्थान छोड़ देने के कारण तरुण (नूतन) ज्वर में पसीना नहीं आता ॥ १२९—१३२ ॥

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ।
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चाऽऽलस्यमेव च ॥ १३३ ॥
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् ।
लालाप्रसेको हृल्लासो क्षुन्नाशो विरसं मुखम् ॥ १३४ ॥
स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ।
न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्याऽऽमस्य लक्षणम् ॥ १३५ ॥

आमज्वर के लक्षण—अरुचि, अविपाक, पेट में भारीपन, हृदय (आमाशय) का साफ न होना, तन्द्रा, आलस्य, निरन्तर ज्वर का बना रहना, ज्वर

१ मनस्यभिद्रुते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥ इति गंगाधरसम्मतः पाठः ।

का बलवान् होना, मल वा दोषों का बाहर न निकलना, मुख से लार बहना, जी मचलाना, भूख का न लगना, मुख का स्वाद बदल जाना (विरसता), गात्रों में जड़ता, सुप्तता और भारीपन, वार वार थोड़ा २ मूत्र का आना, कच्चे मल का आना और ग्लानि ये आमज्वर के लक्षण है ॥ १३३–१३५ ॥

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ १३६ ॥

पच्यमान ज्वर के लक्षण—ज्वर का अधिक बढना, प्यास, प्रलाप, सांस का जोर से चलना, चक्कर आना, मल की प्रवृत्ति, उत्क्लेश (वमन की अभिरुचि), ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हे ॥ १३६ ॥

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ १३७ ॥

निराम ज्वर—भूख का लगना, शरीर में हल्कापन, ज्वर का घट जाना, मल-मूत्र स्वेद का बाहर निकलना, तथा आठवें दिन तक दोष का रहना ये निराम ज्वर के लक्षण हैं। [साधारणत आठवें दिन में दोषों का परिपाक हो जाता है। परन्तु कई बार दोष आठ दिन से पूर्व भी पच जाते हैं और कई बार इससे भी अधिक देर मे पचते है। इसलिये लक्षणों को देख कर पक्व दोष की परीक्षा करे। जब ज्वर आप से आप कम हो जावे, देह हलका हो, मल विचलित हो, तब दोषों का पाक हुआ जाने] ॥ १३७ ॥

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम्।
क्रोधप्रवातव्यायामकषायांश्च विवर्जयेत् ॥ १३८ ॥

नवज्वर में अपथ्य—दिन में सोना, स्नान करना, मालिश, मैथुन, क्रोध, प्रवात (वायु का सीधा आना), व्यायाम और कषाय रसवाले (कषाय स्तम्भक होने से) सेवन नहीं करने चाहिये। [कषाय शब्द से कषाय रस वाले क्वाथ तथा अन्य कषाय कल्पना का भी निषेध है। परन्तु इस अवस्था में शोधन कषाय न देकर, पाचक, मधुर कषाय दे सकते है। सोलह गुण जल में चतुर्थ भाग शेष करने से 'कषाय' बनता है। यह कषाय तरुण ज्वर में न देना चाहिये] ॥ १३८ ॥

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥ १३९ ॥
लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षितेऽनले।
विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥ १४० ॥

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् ।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥ १४१ ॥

ज्वर मे लघन—आम से मिलकर दोष अग्नि को मन्द कर देते है, इसलिये ज्वर मे लघन (उपवास या लघु-भोजन) करना चाहिये । सब अवस्थाओ मे अग्नि को बढाना चाहिये । इस समय का लघन अमृत के समान गुणकारी होता है । परन्तु क्षयजन्य, वातजन्य, भयजन्य, क्रोधजन्य, कामजन्य, शोकजन्य, श्रमजन्य ज्वरो मे लघन नहीं कराना चाहिये[1] । लघन (उपवास) से दोषों का क्षय होने पर जाठराग्नि प्रबल हो जाती है, बुखार उतर जाता है, शरीर हल्का हो जाता है, भूख लगने लगती है[2] । लघन तब तक ही कराना चाहिये जिससे कि प्राण या बल (शक्ति) का ह्रास न होने पाये । क्योकि आरोग्य बल पर ही निर्भर करता है और यह सब चिकित्सा आरोग्य के लिये ही है ॥ १३९–१४१ ॥

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः ।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥ १४२ ॥
तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे ।
मद्योत्थे पैत्तिके वाऽथ शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥ १४३ ॥
दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत् ।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ १४४ ॥

दोषो के पाचन—लघन, स्वेदन (पसीना लाना), समय पर यवागू, तिक्त रस ये वस्तुएँ तरुण ज्वर मे आम दोषो को पकाती है । वात-कफजन्य ज्वर मे प्यास लगने पर उष्ण जल देना चाहिये । मद्यपान से उत्पन्न ज्वर मे तिक्त वस्तुओ से क्वथित शीतल जल देना चाहिये । यह दोनो प्रकार का पानी अग्निदीपक, पाचक, ज्वरनाशक, स्रोतो का शोधक, बलकारक, रुचिकारक, पसीना लाने वाला और कल्याणकारक है ॥ १४२–१४४ ॥

---

१ लघन से अभिप्राय शरीर को हल्का करने वाले कर्म और द्रव्यों से है । जब दोष आमाशय मे हो और उत्क्लेश (उबकाई) हो तो वमन करना उत्तम है । जब तक रोगी के दोष घनीभूत बने रहे तब तक रोगी अनशन करे, उसके बाद भोजन करे ।

२ लघन की पहिचान—वात, मूत्र, मल हो, गात्र हलका हो, डकार हो, हृदय और कण्ठ शुद्ध हो, आलस्य न हो, पसीना हो, भूख, प्यास एक साथ लगे, चित्त प्रसन्न हो तो जाने लघन ठीक हुआ है ।

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ।
शृतशीतं जलं दद्यात्पिपासाज्वरशान्तये ॥ १४५ ॥

षडङ्ग पानीय—मोथा, पित्तपापडा, खस, लाल चन्दन, नेत्रबाला और सोंठ इनको एक एक कर्ष लेकर दो प्रस्थ पानी मे उबाले । एक प्रस्थ रहने पर छानकर ठण्डा करके देना चाहिये । इससे प्यास और ज्वर की शान्ति होती है । [कई स्थानः मे सोठ के स्थान पर 'पद्माख' डालना लिखा है] ॥१४५॥

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान्दोषानामाशयस्थितान् ।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत् ॥ १४६ ॥
अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे ।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं¹ च जनयेद् भृशम् ॥ १४७ ॥
सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था दुःखनिर्हराः² ।
दोषाः फलेभ्य आमेभ्यः स्वरसा इव सात्ययाः ॥ १४८ ॥
वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत् ।
यथा स्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ॥ १४९ ॥
यावज्ज्वरमृदूभावात्षडहं वा विचक्षणः ।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥ १५० ॥
ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः ।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां ³चानुलोमनाः ॥ १५१ ॥
स्वेदनाय द्रवोष्णत्वाद् द्रवत्वात्तृट्प्रशान्तये ।
आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥ १५२ ॥
ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात्पेयाभिरादितः ।
ज्वरानुपचरेद्धीमानृते मद्यसमुत्थितात् ॥ १५३ ॥

साम ज्वरो मे उपचार—आमाशय मे स्थित कफप्रधान दोष यदि ज्वर का कारण हो, इन दोषो का उत्क्लेश अर्थात् बाहर निकलने की ओर प्रवृत्ति हो, परन्तु बाहर न निकले और रोगी वमन कराने के योग्य हो तो उचित काल मे वमन करा के दोषो को बाहर कर देना चाहिये । [उत्क्लेश का लक्षण—मुख मे बहुत पानी या डकार आकर भी अन्न बहुत कष्ट देकर भी न निकले, हृदय पीडित हो उसे 'उत्क्लेश' कहते है] यह वमन प्रातः काल देना चाहिये । यदि तरुण ज्वर मे दोष बाहर की ओर निकलने की प्रवृत्ति न रखते हो, तो रोगी को

१ 'कास' इति च पाठः । २ 'असुनिर्हराः' इति च पाठः ।
३ 'विबन्धस्यानुलोमिका' इति च पाठः ।

वमन कराने से हृदय-राग, श्वास, आनाह, मोह (मूर्च्छा), आदि उपद्रव हो जाते है। सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त, धातुओ मे स्थित साम दोष को निकालना ऐसे ही अति कठिन और खतरे से खाली नहीं जिस प्रकार कच्चे फलो से स्वरस को निकालना कठिन होता है, और कभी कभी इस में फल का भी नाश हो जाता है। वमन या लघन करने के पश्चात् उचित समय पर (भोजन काल में ओष-धियो से सिद्ध मण्ड और यवागू देनी चाहिये। अधिक द्रव होने से प्रथम मण्ड देना चाहिये, पीछे से यवागू (विलेपी) देनी चाहिये। इस समय पाचक ओष-धियो से सिद्ध करके मण्ड देना चाहिये। जब तक ज्वर घटे नही अथवा छ दिनो तक मण्ड और यवागू का प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रयोग से जिस प्रकार समिधाओ से अग्नि बढ़ती है, जाठराग्नि प्रदीप्त होती है। ओषधियो का सयोग होने से, लघु होने से, यवागू अग्नि को बढ़ाती है, वायु, मल मूत्र और दोषो का अनुलोमन करती है, द्रव और उष्ण होने से पसीना लाती है, द्रव होने से प्यास बुझाती है, आहार होने के कारण प्राण बल देती है, सर होने से लघुता उत्पन्न करती है ज्वर मे सात्म्य होने से ज्वरनाशक है। इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि प्रथम पेयाओ द्वारा ज्वर की चिकित्सा करे। यदि ज्वर मद्य से उत्पन्न हुआ है तो पेया न देवे ॥ १४६—१५३ ॥

मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके ।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥ १५४ ॥

निम्न अवस्थाओ मे यवागू नहीं देनी चाहिये—मद्यपान से उत्पन्न ज्वर मे, मदात्यय मे, नित्य मद्यपान करने वाले को, ग्रीष्म ऋतु मे, पित्तकफ प्रधान ज्वर में, ऊर्ध्वग रक्त पित्त मे यवागू हितकर नहीं होती ॥ १५४ ॥

तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्य लाजसक्तुभिः ।
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ॥ १५५ ॥
द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः ।
तर्पणार्हेषु कर्त्तव्य तर्पण ज्वरशान्तये ॥ १५६ ॥
ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ।
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलाना रसेन वा ॥ १५७ ॥

इन उपरोक्त अवस्थाओ मे—लाजा के सत्तुओ को मधु, खाड तथा अनार आदि फलो के रस के साथ देना चाहिये। यवागू के स्थान पर लाजाओ का तर्पण प्रथम देना चाहिये। जो रोगी तर्पण के योग्य हो उनको ज्वर की शान्ति के लिये अगूर, अनार, खजूर, पियाल, फालसा इनके रसो से

तर्पण करना चाहिये। तर्पण के जीर्ण होने पर सात्म्य और बल की अपेक्षा से मूंग के यूष या जंगल के पशु पक्षियों के मांस रस के साथ चावल देना चाहिये॥ १५५-१५७॥

अन्नकालेषु चाप्यस्य विधेयं दन्तधावनम्।
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्विपरीतं प्रियं च यत्॥ १५८॥
तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः।
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत्॥ १५९॥
विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत्।
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात्॥ १६०॥
पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्।

अन्न काल में रोगी को दातुन करानी चाहिये। दातुन ऐसी होनी चाहिये जिसका रस रोगी के मुख के रस में विपरीत हो, और रोगी को प्रिय लगे। दातुन करने से मुख स्वच्छ होता है, खान-पान में रुचि होती है, भिन्न भिन्न रसों का परिज्ञान होता है। दातुन से मुख को साफ करके गरम पानी से मुख को स्वच्छ करके, मस्तु (दही का पानी), गन्ने का रस, मद्य आदि (मूंग के यूष) के साथ भोजन करना चाहिये। [कुछ विद्वानों की सम्मति में इनको केवल मुख में धारण करना चाहिये]। छठे दिन के बीत जाने पर लघु अन्न का भोजन कराके अगले दिन पाचनीय या शमनीय कषाय देना चाहिये। [लंघन की मर्यादा—दोष के अनुसार ही ज्वर के निमित्त ३, २, या छः रात लंघन करे।] अपक्व आहार अपक्व दोषों को तथा अपक्व रस को पकाने वाले कषाय को 'पाचक' कहते हैं। जो दुष्ट दोषों को बाहर नहीं निकालता, प्रकुपित दोषों को शमन करता है, प्रकृतिस्थ दोषों, धातुओं में परिवर्तन नहीं लाता उसको 'शमनीय' कहते हैं। [प्रथम लंघन से दोषों को शान्त करना (पचाना) चाहिये। छः दिन तक लंघन कराने पर भी यदि दोष न पके तो पाचनीय कषाय देना चाहिये। और जब दोषों का परिपाक हो जाये तो शमनीय कषाय देना चाहिये]॥ १५८-१६०॥

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्॥ १६१॥
स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्।
दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे॥ १६२॥
न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते।
यः कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे॥ १६३॥

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः।
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥ १६४ ॥

तरुण ज्वर में ही कषाय का निषेध है । [सात दिन तक ज्वर तरुण कहाता है, १२ दिन तक मध्यम और इससे आगे पुराना ज्वर कहाता है] चूंकि कषाय स्तम्भकारक होते है, इसलिये कषाय से दोष जड बन जाते है, पचते नहीं और विषम ज्वर को उत्पन्न करते है। स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट इस कल्पना का लेकर तरुण ज्वर में कषाय का निषेध नही है। अपितु जो कषाय कषाय रस वाला है, उसका निषेध तरुण ज्वर मे हे। ज्वर की शान्ति के लिये दसवे दिन अनार, आवला आदि फलो के रस से खट्टे बनाये या खट्टे किये बिना मूग आदि का यूष अथवा जागल पशु-पक्षियो का मास-रस हल्के भोजन के साथ देना चाहिये ॥ १६१–१६४ ॥

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ १६५ ॥

घृत पान—ज्वर मे जब कफ मन्द हो जाय, वात या पित्त अथवा वात-पित्तप्रधान हो और दोषो का परिपाक हो जाये, उस समय घृत का पान कराना अमृत के समान है ॥ १६५ ॥

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम्।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः शमनैस्तमुपाचरेत् ॥ १६६ ॥

दस दिन हो जाने पर भी यदि वैद्य को पता लग जाये कि रोगी को लघन नही कराया गया तो इसको घृत का पान नहीं करावे अपितु शमनीय ओषधियो से चिकित्सा करे ॥ १६६ ॥

यावल्लघुत्वादशन दद्यान्मासरसेन च।
बल ह्यल दोषहर परं तच्च बलप्रदम् ॥ १६७ ॥

जब तक शरीर मे लघुता न आये तब तक मास-रस के साथ लघु आहार देना चाहिये। बल ही दोषो का नष्ट करने मे समर्थ है और मासरस उत्तम बलवर्द्धक है ॥ १६७ ॥

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम्।
बद्धप्रच्युतदोष वा निराम पयसा जयेत् ॥ १६८ ॥

दाह और तृष्णा से आक्रान्त, वात-पित्तप्रधान निराम ज्वर मे जब कि दोष रुके हो, परन्तु अपने स्थान से हिल गये हो तो उनको दूध के द्वारा जीतना चाहिये ॥ १६८ ॥

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥ १६९ ॥

यदि उपरोक्त क्रियाओं से ज्वर शान्त न हो और रोगी का बल और अग्नि क्षीण न हुए हों तो विरेचन द्वारा ज्वर को शान्त करना चाहिये ॥ १६९ ॥

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥ १७० ॥

ज्वर के कारण क्षीण हुए व्यक्ति को वमन या विरेचन देना हितकारी नहीं है । यदि अभीष्ट हो तो दूध के द्वारा अथवा निरूह बस्तियों द्वारा मल को निकालना चाहिये ॥ १७० ॥

निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ॥ १७१ ॥

ज्वर में दोषों के परिपक्व होने पर दिया हुआ निरूह बल (शक्ति) और अग्नि को बढ़ाता है, ज्वर को हटाता है, प्रसन्नता उत्पन्न करता है, भोजन में रुचि उत्पन्न करता है ॥ १७१ ॥

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ।
स्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत्पक्वाशयस्थितान् ॥ १७२ ॥

स्रंसन (विरेचन) पित्ताशय और ग्रहणी में स्थित पित्त और कफपित्त को ही निकालता है । परन्तु बस्ति पक्वाशय (बृहदन्त्र) में स्थित वात, पित्त, कफ तीनों मलों को बाहर निकालती है ॥ १७२ ॥

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये ।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥ १७३ ॥

पुराने ज्वर में कफ पित्त के क्षीण होने पर, मल के कठोर तथा रूक्ष होने पर यदि रोगी की अग्नि प्रबल हो तो अनुवासन (स्निग्ध बस्ति) देना चाहिये ॥ १७३ ॥

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च ।
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ॥ १७४ ॥
अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान् ।
विभज्य शीतोष्णतया कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥ १७५ ॥
तैराशु हि शमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ।
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ॥ १७६ ॥
धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम् ।

शिरोविरेचन—जीर्णज्वर में देह के गुरु होने पर, शिरोवेदना में, इन्द्रियों के अपने विषय में प्रवृत्त न होने पर शिरोविरेचन देना चाहिये। यह विरेचन रुचि (विषयों में प्रीति) करता है। [यहा पर वैरेचनिक नस्य से अभिप्राय है। परन्तु यदि शिर में शून्यता अनुभव हो तो स्नैहिक धूम नस्य, यदि दाह हो तो पित्तनाशक शमनीय धूम का प्रयोग करना चाहिये।] वैद्य को चाहिये कि जीर्णज्वर में शीतकारण से उत्पन्न तथा उष्ण कारण से उत्पन्न ज्वर की विवेचना करके अभ्यग, प्रदेह, स्नेहयुक्त अवगाहन देवे। यदि शीत कारण से ज्वर उत्पन्न हो तो उष्ण अभ्यग आदि देने चाहियें। उष्ण कारण से उत्पन्न हो तो शीतल अभ्यग देने चाहिये। इन क्रियाओं से बहिर्भाग (त्वचा एव रक्त धातु) में पहुँचा ज्वर शीघ्र शान्त हो जाता है, अगो को सुख मिलता है, रोगी का बल और कान्ति बढ़ती है ॥ १७६ ॥

त्वङ्मात्रशेषा येषा च भवत्यागन्तुरन्वयः ॥ १७७ ॥
इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सम्प्रकाशितः ।

जो ज्वर केवल त्वचा में ही शेष रह गये हों, या जिन ज्वरों के साथ आगन्तुज अनुबन्ध लगा रहता है, वे जीर्णज्वर धूपन, अजन प्रयोग से शान्त हो जाते हैं। यह ज्वरनाशक, फलप्रद चिकित्सा विधि कह दी ॥ १७७ ॥

येषा त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु ॥ १७८ ॥
रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह ।
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरिताना ज्वरापहाः ॥ १७९ ॥
अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्ला सनागराम् ।
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीता मधुयुता पिबेत् ॥ १८० ॥
लाजपेया सुखजरा पिप्पलीनागरैः शृताम् ।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरा क्षुद्वानल्पाग्निरादितः ॥ १८१ ॥
पेया वा रक्तशालीना पार्श्वबस्तिशिरोरुजि ।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्या सिद्धा ज्वरहरा पिबेत् ॥ १८२ ॥
ज्वरातिसारी पेया वा पिबेत्साम्ला शृता नरः ।
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ॥ १८३ ॥
शृता विदारीगन्धाद्यैर्दीपनी स्वेदनी नरः ।
कासी श्वासी च हिक्की च यवागू ज्वरितः पिबेत् ॥ १८४ ॥
विबद्धवर्चाः सयवा पिप्पल्यामलकैः शृताम् ।
सर्पिष्मती पिबेत्पेया ज्वरी दोषानुलोमनीम् ॥ १८५ ॥

कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत्पेया श्रृता ज्वरी।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः॥ १८६॥
पिबेत्सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके।
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीश्रृताम्॥ १८७॥
अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत्पेयां सशर्कराम्।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम्॥ १८८॥

जिन द्रव्यों का यह क्रम है, उनको अब सुनो—(१) ज्वर के रोगी के ज्वर को नाश करने के लिये यवागू, ओदन, लाज, प्रयोग करने के लिये पुराने लाल चावल और पुराने साँठी के चावलों का व्यवहार करना चाहिये।

(२) जिस ज्वर-रोगी की अग्नि मन्द हो जाये उसको चाहिये कि भूख लगने पर प्रथम ज्वरनाशक, सुख से पचने वाली, पिप्पली और सोठ से साधित लाजाओं की पेया पीये। जिस रोगी को खट्टे रस की चाह हो, उसको चाहिये कि सोठ से साधित लाजा की पेया मे अनार का रस (अनारदाना) मिलाकर पीये। जिस रोगी को मल पतला आता हो अथवा पैत्तिक प्रकृति हो उसको चाहिये कि लाजा की पेया को ठण्डा करके शहद मिलाकर पीये।

(३) पार्श्व (पसलियाँ), बस्ति (मूत्राशय) और शिर मे वेदना होने पर लाल चावलों की पेया को गोखरू और छोटी कटेरी के साथ सिद्ध करके पीये। यह पेया फलदायक तथा ज्वरनाशक है।

(४) ज्वर-अतिसार के रोगी को चाहिये कि पृश्निपर्णी (पिठवन), खरैटी, बेलगिरी, सोठ, नीला कमल (कमलगट्टा) और धनिया इनसे सिद्ध पेया को अनार के रस से खट्टा करके पान करे।

(५) ज्वर रोगी को यदि कास, श्वास, हिचकी आती हो तो विदारीगधादि गण से सिद्ध पेया को पिये। यह पेया अग्निदीपक और पसीना लाने वाली है। (विदारीगन्धादि गण मे अभिप्राय स्वल्प पचमूल से है, विदारीगन्धा, पृश्निपर्णी, बृहती, छोटी कटेरी और गोखरू)।

(६) ज्वर-रोगी को मल रूखा और बधा आता हो तो उसको चाहिये कि जौ, पिप्पली, और आवलो से सिद्ध पेया मे घी डालकर पान करे। यह पेया दोषो का अनुलोमन करती है।

(७) यदि कोष्ठ मे कब्ज हो तथा पेट मे दर्द हो तो मुनक्का, पिप्पलीमूल, चव्य, आवला और सोठ से साधित पेया पीवे।

(८) ज्वर मे यदि परिकर्तिका (मलत्याग के समय कटने के समान पीडा) होती हो तो खरैटी, वृक्षाम्ल (तिन्तडीक, कोकम, समाकदाना), खट्टे

बेर, पृश्निपर्णी, और शालपर्णी इनसे साधित यवागू में बिल्व के चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर पीवे।

(६) जिस ज्वर में रोगी को नींद और पसीना न आता हो, तथा प्यास लगती हो उसको सोंठ, आंवले से साधित घी में भूनी पेया को शर्करा डालकर देना चाहिये। यह पेया ज्वरनाशक है। [यवागू-पाक की पाक-विधि देश लोक में प्रसिद्ध व्यवहार से देखनी चाहिये। तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों से आधा कर्ष, मृदु द्रव्यों से एक पल लेना, मध्यम वीर्य द्रव्यों का दो कर्ष लेना चाहिये। यह रस-प्रधान द्रव्यों की विधि है। क्वाथ द्रव्य ४ पल, जल २ आढक, चतुर्थांश बचाना चाहिये।] ॥ १७८-१८८ ॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्।
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रकल्पयेत् ॥ १८९ ॥

ज्वर में जिन पुरुषों को यूष सात्म्य (अनुकूल) हो, उनके यूष के लिये मूंग, मसूर, चने, कुलत्थी और मोठ इनका उपयोग करना चाहिये ॥ १८९ ॥

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकाम्।
कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम् ॥१९० ॥

ज्वर रोगी के शाक के लिये परवल के पत्ते, परवल का फल, कुलक (परवल भेद, या करेला), पापचेलिका (पाठा), कर्कोटक (ककोड़ा), कठिल्लक (लाल पुनर्नवा) देना चाहिये। इनका शाक हितकारी है ॥ १९० ॥

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान्।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान्पृषतान् शशान् ॥ १९१ ॥
कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान्।
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ॥ १९२ ॥
ईषदम्लाननम्लान्वा रसान् काले विचक्षणः।
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः ॥ १९३ ॥
लंघनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत्।
भिषग् मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित् ॥ १९४ ॥

जिस ज्वर के रोगी को मांस रस का सात्म्य (अनुकूलता) हो उसके लिये—बटेर, कपिंजल (श्वेत तीतर), एण (काला हरिण), चकोर, उपचक्रक (चकोर का भेद), कुरंग, कालपुच्छ, हरिण और पृषत (हरिण भेद) और खरगोश इनके मांस से रस बनाकर देना चाहिये। इस मांस रस को अनार के रस आदि से खट्टा करके या बिना खट्टा बनाये देना चाहिये। यह मांस रस ज्वरनाशक है। कई चिकित्सकों की सम्मति है कि मुर्गा, मोर, तीतर, क्रौंच, बत्तक पक्षियों

का मांस गुरु और उष्ण है; इसलिये इनका उपयोग ज्वर में नहीं करना चाहिये। परन्तु यदि ज्वर में उपवास के कारण वायु का बल प्रबल हो जाये तो मात्रा और विकल्पों को जानने वाले वैद्यको चाहिये कि इनका भी प्रयोग करें ॥१९४॥

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत्।
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम् ॥ १९५ ॥
गुरूष्णस्निग्धमधुरकषायाश्च नवज्वरे।

ज्वर में प्यास लगने पर उपरोक्त आहार के अनुपान में गरम पानी देना चाहिये। जिस रोगी को मद्य-सात्म्य हो, उसको दोष और बल के अनुसार मद्य देना चाहिये ॥ १९५ ॥

आहारान् दोषपक्त्यर्थे प्रायशः परिवर्जयेत् ॥ १९६ ॥
अनुपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सप्रकाशितः।

नवज्वर (तरुण ज्वर) में दोषों के पाचन के लिये गुरु, उष्ण, स्निग्ध, मधुर और कषाय रस वाले भोजनों का प्रायः करके त्याग कर देना चाहिये। इसप्रकार से ज्वरनाशक और फलप्रद अनुपान क्रम कह दिया ॥ १९६ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः ॥ १९७ ॥
पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत्।
सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभम् ॥ १९८ ॥
किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम्।
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये ॥ १९९ ॥
ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः।
तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः ॥ २०० ॥
पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी।
कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥ २०१ ॥
निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ।
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥ २०२ ॥
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः।
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान् ॥ २०३ ॥
सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान्।
वत्सकारग्वधं पाठा षड्ग्रन्था कटुरोहिणीम् ॥ २०४ ॥
मूर्वा सातिविषा निम्बं पटोलं धन्वयासकम्।
वचा मुस्तमुशीराणि मधुकं त्रिफला बलाम् ॥ २०५ ॥

पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ।
मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम् ॥ २०६ ॥
त्रायमाणामुशीराणि त्रिफला कटुरोहिणीम् ।
पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्र विमुच्यते ॥ २०७ ॥
बृहत्यौ वत्सकं मुस्त देवदारु महौषधम् ।
कोलपल्ली च योगोऽय सन्निपातज्वरापहः ॥ २०८ ॥
जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ।
विवद्धदोषो ज्वरितः कषाय सगुड पिबेत् ॥ २०९ ॥
त्रिफला त्रायमाणा च मृद्वीका कटुरोहिणीम् ।
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः ॥ २१० ॥
त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ।
शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा ॥ २११ ॥
गुडूची नागर पाठा किरात कटुरोहिणी ।
एष शट्यादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः ॥ २१२ ॥
कासहृद् ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते ।
बृहत्यौ पुष्कर भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा ॥ २१३ ॥
वत्सकस्य च बीजानि पटोल कटुरोहिणी ।
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः संनिपातज्वरापहः ॥ २१४ ॥
कासादिषु च सर्वेषु दद्यात्सोपद्रवेषु च ।
कषायाश्च यवाग्वश्च पिपासाज्वरनाशनाः ॥ २१५ ॥
निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत् ।

इसके आगे ज्वरनाशक कषायों का उपदेश करते हैं । (१) मोथा, पित्तपापडा, (पित्त ज्वर में), २—सोठ, पित्तपापडा (पित्त प्रधान ज्वर मे)। ३—पित्तपापडा और दुरालभा (मन्दाग्नियुक्त पित्त कफ मे)। ४ चिरायता, मोथा, गिलोय और सोंठ (शीतप्राय ज्वर में) । ५—पाठा, उशीर, उदीच्य नेत्रबाला (दाहप्रधान ज्वर मे) । इनका क्वाथ या शीत कषाय ज्वर की शान्ति के लिये रोगी को देना चाहिये । [1] ये कषाय ज्वरनाशक, अग्निदीपक,

---

[1]आचार्य ने कोई भेद नहीं किया है । इसलिये गगाधर सेन तो तीन योग मानते है । प्रथम योग पूर्व के समान, दूसरा योग सोंठ, पित्तपापड़ा और दुरालभा तक । तीसरा योग सात द्रव्यो का पाठा-सतक है । जतुकर्ण ने चौथे और पाचवे को एक ही योग माना है । चिरायता आदि को सप्तक माना है ।

दोषों को पचाने वाले, तृष्णा अरुचि को नष्ट करते है और मुख की विरसता को मिटाते है। (२) पाच कषाय—१–इन्द्रजौ, परवल, कुटकी। २–परवल, सारिवा, नागरमोथा, पाठा, कुटकी। ३–नीम की छाल, परवल, त्रिफला, मुनक्का नागरमोथा, इन्द्रजौ। ४–चिरायता, गिलोय, लाल चन्दन, सोठ। ५–गिलोय, आवला और मोथा ये आवे श्लोक पर समाप्त होने वाले पाच कषाय क्रमश सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक पाचो प्रकार के ज्वरो को नष्ट करते हैं। (३) इन्द्रजौ, अमलतास, पाठा, श्वेत वच, कुटकी, मूर्वा, अतीस, नीम, परवल, धमासा, वच, नागरमोथा, खस, मुलहठी, त्रिफला और बला, इनका क्वाथ या शीत कषाय ज्वरनाशक है। [कई आचार्य कुटकी तक एक योग, धमासा तक दूसरा और बला तक तीसरा योग मानते हैं। षड्ग्रन्था से श्वेत वच लेनी चाहिये।] (४) महुवे के फूल, मोथा, मुनक्का, गम्भारी की छाल, फालसा, त्रायमाणा, खस, त्रिफला, कुटकी इनको कूट कर रात्रि मे भिगो देना चाहिये। प्रात काल छानकर पीना चाहिये। इसके पीने से ज्वर शीघ्र नष्ट होता है। (५) छोटी और बडी कटेरी दोना, इन्द्रजौ, मोथा, देवदारु, काल बल्ली (चविका या गज पीपल) इनका क्वाथ सन्निपात ज्वर को नष्ट करता है। (६) जाती (चमेली के पत्ते), आवला, मोथा, धमासा इनके क्वाथ मे गुड डालकर पीने से रुके हुए दोष शान्त होते है। (७) त्रिफला, त्रायमाणा (इन्द्रायण की जड), मुनक्का, कुटकी, इनका क्वाथ पित्त-कफज्वर को नष्ट करता है। परन्तु यदि मलावरोध हो तो इस क्वाथ मे निशोथ और मिलाकर क्वाथ करके इसमे शर्करा मिलाकर पीना चाहिये। यह क्वाथ पित्त-कफज्वर का नाशक तथा मल और वायु का अनुलोमन करता है। (८) शटी (कचूर) पोहकरमूल, छोटी कटेरी, काकडसिंगी, दुरालभा, गिलोय, सोठ, पाठा, चिरायता, कुटकी यह शट्यादि वर्ग है। इससे सन्निपात ज्वर, कास, हृदयरोग, पार्श्व-शूल, श्वास, तन्द्रा नष्ट होती है। इसका क्वाथ प्रयोग करना चाहिये। (९) बृहत्यादि गण—छोटी और बडी कटेरी दोनो, पोहकरमूल, भार्गी, कचूर, काकडाश्रृंगी, दुरालभा, इन्द्रजौ, परवल कुटकी इनका क्वाथ सन्निपात ज्वर का नाशक तथा कास आदि से युक्त ज्वर मे देना चाहिये। सूत्रस्थान के भैषजचतुष्क अध्यायो मे पिपासा और ज्वर को नाश करने वाले जो कषाय और यवागू कहे है, उनका भी विवेचनापूर्वक प्रयोग वैद्य को करना चाहिये ॥ १९७–२१५ ॥

जैज्जट ने दो योग माने हैं। चिरायता, मोथा, गिलोय और सोठ को 'चातुर्भद्र' भी कहते है। इनको पृथक् २ या मिलाकर भी प्रयुक्त कर सकते है।

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ॥ २१६ ॥
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ।
रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च ॥ २१७ ॥
यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहसाध्यः स चानिलः ।
कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः ॥ २१८ ॥
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसंधुक्षणाः शिवाः ।

रूक्ष शरीर वाले रोगी का जो ज्वर कषाय, वमन, लंघन, लघु भोजन से शान्त नहीं होते, उनके लिये घृत का प्रयोग करना चाहिये । ऐसे रोगियों की औषध घी है । ज्वर को उत्पन्न करने वाला तेज (पित्त) रूक्ष होता है, तेज के कारण रोगी का शरीर भी रूक्ष हो जाता है । रूक्षता के कारण जो धातु पीछे से बलवान् हो जाता है, वह वायु घी से ही शान्त होता है । स्नेह से ही वायु और पित्त दोनों शान्त होते हैं । प्रथम कहे हुए कषायों का घी के साथ प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार प्रयोग करने से ज्वर शान्त होता है, अग्नि प्रबल होती है और ये कषाय हितकारी हैं ॥ २१६–२१८ ॥

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी ॥ २१९ ॥
कलिङ्गकस्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा ।
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका ॥ २२० ॥
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति ।
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम् ॥ २२१ ॥
अंसाभितापमग्निं च विषमं सन्नियच्छति ।

पिप्पल्यादि घृत—पिप्पली, लाल चन्दन, मोथा, खस, कुटकी, इन्द्र, जौ, भूई आंवला, सारिवा, अतीस, शालपर्णी, द्राक्षा, आंवला, बेलगिरी, त्रायमाणा, छोटी कटेरी इनसे सिद्ध घृत जीर्ण ज्वर को शीघ्र नष्ट करता है । क्षय, कास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल, हलीमक, असाभिताप और विषम अग्नि को नष्ट करता है । [यह घृत सुश्रुत और चिकित्सा–कलिका आदि में कुछ थोड़े से परिवर्त्तन से आया है । यहां पर घृत का पाक पिप्पल्यादि के कल्क से ही अथवा इनके कल्क तथा क्वाथ दोनों से सिद्ध करने की परिपाटी है । कहीं कहीं पर इसमें दूध का भी योग होता है] ।

[घृतपाक में—प्रथम घी का सम्मूर्छन करना चाहिये । इसके लिये घी को आग पर गरम करना चाहिये । जब झाग रहित हो जाये तब इसमें नीचे उतार कर हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, हल्दी इनका कल्क, बिजौरे का रस एक

पल, पानी ८ प्रस्थ में घोल कर घी १ प्रस्थ में मिलाना चाहिये फिर पकाना चाहिये । मन्द मन्द आग पर पकाने से जब थोड़ा सा पानी रह जाये तब उतार लेना चाहिये । इसमें आम दोष नष्ट हो जाता है । इसको क्वाथ में मिलाना चाहिये । इस घृत को पिप्पल्यादि क्वाथ और कल्क से दूध के साथ सिद्ध किया जाये तो अधिक उत्तम होगा] ॥ २१६-२२१ ॥

वासा गुडूची त्रिफला त्रायमाणा यवासकम् ॥ २२२ ॥
पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ।
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः ॥ २२३ ॥
कल्कीकृतैश्च विपचेद् घृतं जीर्णज्वरापहम् ।

वासाद्य घृत—वासा, गिलोय, त्रिफला, त्रायमाण, जवासा इनके क्वाथ से दुगने (घी से) गाय के दूध के साथ, पिप्पली, मोथा, मुनक्का, लाल चन्दन, नीला कमल और सोंठ इनके कल्क से घृतपाक करना चाहिये । यह घृत जीर्ण ज्वर को नष्ट करता है । [गव्य घृत २ प्रस्थ, वासामूल त्वक् का कषाय ४ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, कल्क १ शराव । अथवा कषाय आठ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ, कल्क १ शराव लेकर भी घृत सिद्ध किया जा सकता है ॥ २२२—२२३ ॥

बला श्वदंष्ट्रा बृहती कलसी धावनी स्थिराम् ॥ २२४ ॥
निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम् ।
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकी शटीम् ॥ २२५ ॥
द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदामामलकानि च ।
घृतं पयश्च तत्सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम् ॥ २२६ ॥
क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत् ।
ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥
दद्यात्संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते ।

बलाद्य घृत—बला (खरैंटी), गोखरू, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, शालपर्णी, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा इनका क्वाथ ८ प्रस्थ, कल्कार्थ, भूम्यामलकी, कचूर, मुनक्का, पोहकरमूल, मेदा, आवला, मिलित १ शराव, दूध, घृत के सम-परिमाण २ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ यथाविधि लेकर पाक करना चाहिये । [कई आचार्य यहा पर घृत से द्विगुण दूध लेते है]। यह घृत ज्वर को नष्ट करता है । क्षय, कास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल और अंस-वेदना को नष्ट करता है । ज्वर के रोगियों में यदि दोष की मात्रा अधिक हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि कल्पस्थान में वर्णित संशोधनों (वमन और विरेचनों) को समय २ पर देवे ॥ २२४—२२७

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा ॥ २२८ ॥
युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये ।
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना ॥ २२९ ॥
ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा ।

वमन के योग—(१) मैनफल को पिप्पली के साथ, (२) मैनफल को इन्द्रजौ के साथ, (३) मैनफल को मुलहठी के साथ, गरम जल के अनुपान से ज्वर-रोगी को वमन देना चाहिये । अथवा पानी के स्थान पर शहद मिला पानी, गन्ने का रस, नमक मिला पानी या मद्य या लाजा सत्तुओं से तर्पण, दोष और रोगी के बलाबलानुसार प्रयोग करे ॥ २२८–२२९ ॥

मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत् ॥ २३० ॥
रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम् ।
लिह्याद्वा त्रिवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा ॥ २३१ ॥
पिबेद्वा क्षौद्रमाक्षाद्य सघृतं त्रिफलारसम् ।
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ॥ २३२ ॥
त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ।
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम् ॥ २३३ ॥
पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः ।
कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् ॥ २३४ ॥
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीशृतं पयः ।

विरेचन के योग—अगूंरों का रस (द्राक्षा का क्वाथ) और आंवले का रस मिलाकर विरेचन के लिये पीना चाहिये, या आंवलों के रस को घी में भून कर पीना चाहिये । इससे ज्वर नष्ट होता है । अथवा निशोथ के चूर्ण को घी और शहद के साथ चाटना चाहिये । अथवा त्रिफला के क्वाथ (रस) में घी और मधु मिलाकर पीना चाहिये । अथवा अमलतास के गुदे को दूध के साथ खाना चाहिये । निशोथ या त्रायमाण के चूर्ण को दूध के साथ पीना चाहिये । हरड के साथ अगूरों को या द्राक्षाओं को देना चाहिये । अथवा द्राक्षा रस को पीकर पीछे से गरम पानी पीना चाहिये, इससे ज्वर छूट जाता है ।

पञ्चमूल (कटेरी, बड़ी कटेरी, शालिपर्णी पृश्निपर्णी और गोखरू अथवा बृहत्पंचमूल) के क्वाथ के साथ सिद्ध किया हुआ दूध, कास, श्वास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल और पुरातन ज्वर को नष्ट करता है[1] ॥ २३०–२३४ ॥

---

१ पचमूल २ तोले, दूध १६ तोले, पानी ६४ तोले इसमें से दूध बचाना चाहिये ।

एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात्सपरिकर्तिकात् ॥ २३५ ॥
पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्बिल्वशलाटुभिः ।

ज्वर में परिकर्तिका साथ हो तो एरण्ड-मूल के क्वाथ से साधित दूध अथवा बेलगिरी (कच्ची) से साधित दूध पीवे । मल त्याग में पीड़ा होती हो तो इनका क्वाथ देवे ॥ २३५– ॥

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम् ॥ २३६ ॥
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ।

त्रिकण्टकाद्य दूध—गोखरू, खरैटी, छोटी कटेरी, गुड, सोंठ इनसे साधित गाय का दूध मल मूत्र के अवरोध को, सूजन को और ज्वर को नष्ट करता है ॥२३६॥

सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ २३७ ॥
शृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम् ।
चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः ॥ २३८ ॥
धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ।

सोंठ, मुनक्का और खजूर इनके कल्क से यथाविधि साधित दूध में गाय का घी, शर्करा और मधु (ठण्डा होने पर) मिला कर पीने से प्यास तथा ज्वर नष्ट होता है । चौगुने जल में सिद्ध किया दूध अथवा धारोष्ण दूध शीघ्र ही वात-पित्त ज्वर को नष्ट करता है ॥ २३७–२३८ ॥

जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् ॥ २३९ ॥
पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ।

सब प्रकार के पुरातन ज्वरों में दूध का प्रयोग करना उत्तम है । दूध को गरम या ठण्डा करके और यथादोष ओषधियों से सिद्ध करके देवे ॥ २३९ ॥

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान् ॥ २४० ॥
पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ।

पक्वाशय (बृहदन्त्र) में स्थित दोषों को निकालने के लिये सिद्धिस्थान में कहे ज्वरनाशक निरूह और अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करे ॥ २४० ॥

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः ॥ २४१ ॥
ह्रीबेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च ।
स्थिरा बला च तत्सर्वं पयस्यर्धोदके शृतम् ॥ २४२ ॥
क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा ।
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च ॥ २४३ ॥
वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम् ।

शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु ॥ २४४ ॥
गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः ।

पटोलाद्य बस्ति—परवल, नीम के पत्ते, खस, अमलतास, ह्रीबेर (नेत्रबाला), कुटकी, गोखरू, मैनफल, शालिपर्णी और बला इनको आधे जलमिश्रित दूध मे डाल कर पकाना चाहिये । जब केवल दूध शेष रह जाये तब इस क्वाथ मे घी और मधु, मैनफल, नागरमोथा, पिप्पली, मुलहठी, इन्द्रजौ इनके कल्क से बस्ति सिद्ध करनी चाहिये । यह ज्वर को नष्ट करती है । मार्ग के शुद्ध होने पर और दोषो के निकल जाने पर, धातुओं के निर्मल होने पर मनुष्य ज्वररहित हो जाता है । अगो की वेदना नष्ट हो जाती है, अग लघु हो जाते है, ज्वर शीघ्र नष्ट होता है । [इस क्वाथ मे दूध के बराबर पानी मिलाना चाहिये। क्वाथ द्रव्यो से आठ गुणा जल उतना ही दूध मिलाना चाहिये।] ॥२४१-२४४॥

आरग्वधमुशीराणि मदनस्य फलानि च ॥ २४५ ॥
चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत् ।
प्रियङ्गुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका ॥ २४६ ॥
कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो बस्तिरुत्तमः ।

आरग्वधादि बस्ति—अमलतास, खस, मैनफल, चारो पर्णिया (माषपर्णी, मूगपर्णी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी) इनके क्वाथ बनावे । इस क्वाथ मे फूल प्रियगु, मैनफल, नागरमोथा, सौंफ, मुलहठी इनका कल्क डाले । घी और गुड तथा शहद मिलावे यह ज्वर नाशक उत्तम बस्ति है ॥ २४५–२४६ ॥

गुडूची त्रायमाणा च चन्दनं मधुकं वृषम् ॥ २४७ ॥
स्थिरा बला पृश्निपर्णी मदनं चेति साधयेत् ।
रसं जाङ्गलमासस्य रसेन सहितं भिषक् ॥ २४८ ॥
पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च ।
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा ॥ २४९ ॥
ज्वरप्रशमनं दद्याद्बलस्वेदरुचिप्रदम् ।

गुडूच्यादि निरूह—गिलोय, त्रायमाणा, लाल चन्दन, मुलहठी, बासे की मूल की छाल, स्थिरा (शालपर्णी), खरैटी, पृश्निपर्णी, मैनफल इनका क्वाथ सिद्ध करे । इस क्वाथ मे जागल मास का रस और पिप्पली, मैनफल, नागरमोथा, मुलहठी इनका कल्क डाले । इसमे युक्तिपूर्वक थोडा नमक, घी और मधु भी मिलावे । यह बस्ति ज्वरनाशक, बल, स्वेद को बढाने वाला और रुचिकर है । [अष्टाग-संग्रह के अनुसार गिलोय आदि क्वाथ द्रव्यो के साथ ही मास का पाक करे । पृथक् मासरस सिद्ध नही करे] ॥ २४७–२४९ ॥

जीवन्ती मधुकं मेदां पिप्पली मरिचं वचाम् ॥ २५० ॥
ऋद्धिं रास्नां बलां विश्वं शतपुष्पां शतावरीम् ।
पिष्ट्वा क्षीर जल सर्पिस्तैलं च विपचेद्भिषक् ॥ २५१ ॥
आनुवासनिकं स्नेहमेतद्विद्याज्ज्वरापहम् ।

जीवन्त्याद्यनुवासन—जीवन्ती, मुलहठी, मेदा, पिप्पली, मरिच, बच, ऋद्धि, रास्ना, खरैटी, सोठ, सौफ, शतावरी, इनके कल्क के साथ दूध, घी, जल और तैल पकावे। यह अनुवासन बस्ति ज्वर का नष्ट करती है ॥२५१—॥

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च ॥ २५२ ॥
मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम् ।

पटोल पत्र, नीम की छाल, गिलोय, मुलहठी, मैनफल इनसे साधित स्नेह अनुवासन रूप मे प्रयोग करने से ज्वर को नष्ट करता है ॥ २५२ ॥

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः ॥ २५३ ॥
सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहवस्तिः प्रयुज्यते ।

लाल चन्दन, अगर, गम्भारी, परवल, मुलहठी, नीला कमल, इनसे सिद्ध स्नेह अनुवासन-रूप मे प्रयोग करने से ज्वर को नष्ट करता है ॥ २५३ ॥

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे ॥ २५४ ॥
शिरोविरेचनं कुर्याद् युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम् ।
यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः ॥ २५५ ॥
मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ।

भेषज—चतुष्क अध्यायो मे और विमानस्थान के रोगभेषज प्रकरण मे जो शिरोविरेचन कहे है, उन ज्वरनाशक शिरोविरेचनो का भी युक्ति को समझने वाला वैद्य ही प्रयोग करे। मात्राशितीय अध्याय मे जो नावनिक तैल (अणु तैल) और शिरोविरेचन के लिये धूम-वर्तिया कही है, उनका भी ज्वर मे प्रयोग करे ॥ २५४—२५५ ॥

अभ्यङ्गाश्च प्रदेहाश्च परिषेकाश्च कारयेत् ॥ २५६ ॥
यथाभिलापं शीतोष्ण विभज्य द्विविधं ज्वरम् ।

---

[1] कविराज गगाधर सेन मरिच के स्थान पर 'मदन' पढते है। अष्टाग-सग्रह मे भी यही पाठ है। अष्टाग-सग्रह के टीकाकार इन्दु के अनुसार दूध, जल, घी और तिल-तैल चारो समान चाहिये। चक्रपाणि के अनुसार दूध, घी और तेल समान, जल तीन गुना और कल्क चतुर्थांश होना चाहिये। इस प्रकार से जल और दूध स्नेह से चौगुना हो जाते है। तैल और घी बराबर-बराबर या दोष की अपेक्षा से कम अधिक ले सकते है।

सहस्रधौतसर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम् ॥ २५७ ॥
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ।

ज्वर को शीत और उष्ण भेद से दो भागों में विभक्त करके अभ्यङ्ग प्रदेह, परिषेक का प्रयोग करे। शीत ज्वर हो तो उष्ण अभ्यङ्ग, परिषेक, प्रदेह करे। दाह ज्वर में मालिश के लिये सहस्र वार (वा सौ वार) धोया हुआ घी, या चन्दनादि तैल का प्रयोग करे। इससे दाह मिटता है ॥ २५६–२५७ ॥

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः—चन्दन-शैलेय-भद्राश्रय-कालानुसार्य-कालीयक-पद्मा-पद्मकोशीर-सारिवा-मधुक-प्रपौण्डरीक-नागपुष्पोदीच्य-वन्य-पद्मोत्पल-नलिन-कुमुद-सौगन्धिक-पुण्डरीक-शतपत्र-बिस-मृणाल-शालूक-शैवाल-कशेरुकानन्ता-कुश-काशेक्षु-दर्भ-शर-नल-शालि-मूल-जम्बु-वेत्र-वेतस-वानीर-गुन्द्रा-ककुभासनाश्वकर्ण-स्यन्दन-वातपोथ-शाल-ताल-धव-तिनिश-खदिर-कदर-कदम्ब-काश्मर्य-फल-सर्ज-प्लक्ष-वट-कपीतनोदुम्बराश्वत्थ-न्यग्रोध-धातकी-दूर्वेत्कण्टक-शृङ्गाटक-मञ्जिष्ठा-ज्योतिष्मती-पुष्करबीज-क्रौञ्चादन-बदरी-कोविदार-कदली-संवर्तकारिष्ट-शतपर्वा-श्वेतकुम्भिका-शतावरी-श्रीपर्णी-श्रावणी-महाश्रावणी-रोहिणी-शीतपाक्योदनपाकी-काला-बला-पयस्या-विदारी-जीवकर्षभक-क्षुद्रमेदा-महामेदा-मधुरस्वप्रोक्ता-तृणशून्य-मोचरसा-टरूपक-बकुल-कुटज-पटोल-निम्ब-शाल्मली-नारिकेल-खर्जूर-मृद्वीका-प्रियाल-प्रियङ्गु-धन्वनात्मगुप्ता-मधुकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमोषधानां कषायं कारयेत्। तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्धमात्रं मृद्वग्निना साधयेत्तैलं सद्योदाहज्वरमपनयति। एतैरेव चौषधैः सुश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च शृतशीतसलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत।

इसके आगे चन्दनादि तैल का उपदेश करते हैं—चन्दन, शैलेय (छैल-छरीला), भद्राश्रया (श्वेत चन्दन), कालानुसार्य (तगर), कालीयक (पीत-काष्ठ चन्दन), पद्मा (भार्ङ्गी), पद्माख, खस, सारिवा, मुलहठी, पुण्डरीक-काष्ठ, नागकेसर, उदीच्य (नेत्रवाला), चविका, वन्य (मोथा), पद्म (कमल), उत्पल (नील-कमल), नलिन (कमल भेद), कुमुद (श्वेत कमल भेद), सौगन्धिक, पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र (लाल कमल), बिस (कमल नाल), मृणाल (कमल-दण्ड), शालूक (कमल आदि के कन्द), शैवाल (सरवाल), कसेरू, अनन्ती (दुरालभा), कुशा, कास, ईख, शर और दाभ (इनकी जड़), नलसर, शालि धान्य की जड़, जामुन, बेत, अम्लवेतस, वानीर (जल बेतस), गुन्द्रा (तृण भेद), अर्जुन, असन (पीत साल), अश्वकर्ण

(साल का भेद), स्यन्दन (सादन), वातपोथ (ढाक), शाल, ताड, धव, तिनिश (जिससे रथ बनता है वह वृक्ष), खैर, कदर (श्वेत खैर), कदम्ब, गम्भारी का फल, सर्ज (राल जिससे निकलती है वह वृक्ष), प्लक्ष (पिलखन), वट (बरगद), कपीतन (सिरीस या पारस पीपल), गूलर, पीपल, बरगद (जिसमें जटायें लटकती हैं), धाय के फूल, दूब, इत्कट (तृण विशेष), सिंघाडा, मजीठ, माल्कगनी, कमल बीज, ओश्चादन (खिरनी), बेर, कोविदार (श्वेत कचनार), कमल, कर्बुरक (बहेडा), नीम, शतपर्वा (श्वेत दूब), शीत कुम्भिका (काष्ठ पाटला, जिसमें फूल नहीं आता वह पाटला), शतावरी, श्रीपर्णी (गम्भारी), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी (मुण्डी भेद), रोहिणी (कुटकी), शीतपाकी (गन्धदूना या शिखण्डिका), ओदनपाकी (नील झिण्टी), काला (सारिवा या मजीठ), खरैटी, पयस्या (क्षीरकाकोली या क्षीरविदारी), विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मधुरा (काकोली या मूर्वा), क्षुद्रसहा (मूगपर्णी), ऋष्यप्रोक्ता (अतिबला), तृणशून्य (केतकी, केवडा), मोचरस (सेमलकी गोंद), अडूसा, मौलसरी, कूडा, पटोलपत्र, नीम, सेमल की जड़, नारियल, खजूर, अगूर, पियाल, फूल प्रियगु, धन्वन, क्रौंच और मुलहठी। इन्हें तथा अन्य जो शीतल द्रव्य प्राप्त हो सके उनको लेकर क्वाथ करे। इस क्वाथ से दुगुना दूध, इन्ही द्रव्यो का कल्क और कषाय से आधा तैल मिलाकर तैल सिद्ध करे। यह तैल शीघ्र दाह ज्वर को नष्ट करता है। इन्ही ओषधियो को अत्यन्त बारीक पीस कर पतला लेप करे। इनके क्वाथ मे अवगाहन या परिषेचन करे। [बारीक लेप करना चाहिये गाढा लेप उष्णता करता है] ॥ २५८ ॥

मद्यारनाल-क्षीर-सौवीर-दधि-घृत-सलिल-सेकावगाहाश्च सद्योदाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वादिति ॥ २५९ ॥

मद्य, आरनाल (कॉजी), दूध, सौवीर (धान्यासव), दही, घी और जल का परिषेक और अवगाहन बहुत जल्दी दाहज्वर को नष्ट करता है। क्योकि ये वस्तुएँ शीत स्पर्शवाली हैं ॥ २५९ ॥

भवन्ति चात्र—पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च।
कह्लाराणां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥ २६० ॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद्दाहार्दितः सुखम्।
हिमाम्बुसिक्ते सदने शीते धारागृहेऽपि वा ॥ २६१ ॥
हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च।

चन्दनोदकशीताना सस्पर्शांनुरसान् स्पृशेत् ॥ २६२ ॥
स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि ।
शीतवातावहैर्व्यज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥ २६३ ॥
नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः ।
अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः ॥ २६४ ॥
प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः ।
सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः ॥ २६५ ॥
शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च ।
वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः ॥ २६६ ॥

(१) पुष्कर (लाल कमल), पद्म, उत्पल तथा कल्हार (कुमुद) के शीतल पत्तों पर अथवा चन्दन के पानी से ठण्डे किये निर्मल क्षौम वस्त्रों पर, शीतल या बर्फ से शीतल बने (जल के छिडकाव से ठण्डे) या शीतल धारा-गृहों में (जहाँ पर फुहारे छूट रहे हों) दाह से पीडित मनुष्य को सुख से सोना चाहिये। (२) स्वर्ण, शंख, मूगा, मणि, मोती और चन्दन के पानी से शीतल किये पदार्थों का स्पर्श करे। गरम होने पर छोड दे। [चक्रदत्त में शीत-क्रिया के लिये एक उत्तम विधि दी है। रोगी का पीठ के भार लेटा कर उसकी नाभि पर कांसी आदि शीतल पात्र रख कर ऊपर से पानी की धारा गिरानी चाहिये इससे दाह मिटता है।] (३) नीले कमल की या श्वेत कमल की मालाओं को धारण करावे खस आदि के नाना प्रकार के पखों को चन्दन के पानी से तर करके शीतल वायु देवे। (४) नदियां, तालाब, पद्मिनी (पुष्क-रणियां), ह्रद जिनका पानी निर्मल हो, उनमें अवगाहन करे। इससे दाह, प्यास, ग्लानि और ज्वर नष्ट होता है। (५) प्रिय, अनुकूल आचार वाली, चन्दन का लेप किये हुए, मणि और मोतियों के आभूषणों को पहिने हुए कामिनियों द्वारा रोगी की शान्ति करे। [बाह्य परिशीलन मात्र करे वीर्य का नाश नहीं होने देवे।] (६) शीतल खान पान, शीतल बाग बगीचे, शीतल वायुएं, चन्द्रमा की शीतल किरणें ये दाह ज्वर को नष्ट करती हैं ॥२६०—२६६॥

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः । अगुरु-कुष्ठ-तगर-पत्र-नलद-शैलेयक-ध्यामक-हरेणुका-स्थौणेयक-क्षेमिकै-ला-वरा-वराङ्गदल-पूर-तमाल-पत्र-भूतीक-रोहिष-सरल-शल्लकी-देवदार्वग्नि-मन्थ-बिल्व-स्योनाक-काश्मर्य-पाटला-पुनर्नवा-वृश्चीर-कण्टकारिका-बृह-ती-शालिपर्णी-पृश्निपर्णी-माषपर्णी-मुद्गपर्णी-गोक्षुरकैरण्ड-शोभाञ्जनक-व-

रुणार्क-चिरिबिल्वातिबिल्वक-शटीपुष्कर-मूलगण्डीरोरुबूक-पत्तूराक्षीवाश्मान्तक-शिग्रु-मातुलुङ्ग-मूलक-मूलपर्णी-पीलुपर्णी-तिलपर्णी-मोरटा-मेषशृङ्गी-हिंस्रा-दन्त-शठैरावतक-भल्लातकास्फोत-काण्डीरात्मजा-काकाण्डैकैषीका-करञ्ज-धान्यकाजमोद-पृथ्वीका-सुमुख-सुरस-कुठेरक-काण्डीर-कालमालक-पर्णास-क्षवक-फणिज्झक-भूस्तृण-शृङ्गवेर-पिप्पली-सर्षपाश्वगन्धा-रास्नारुहारोहा-वचा-बलातिबला-गुडूची-शतपुष्पा-शीतवल्ली-नाकुली-गन्धनाकुली-श्वेता-ज्योतिष्मती-चित्रकाध्यण्डाम्ल-चाङ्गेरी-बदर-कुलत्थ-माषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्। तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-दधिमण्डारनाल-कट्वर-प्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत्, तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं ज्वरितमभ्यञ्ज्यात्, तथा शीतज्वरः प्रशाम्यति। तैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतेषामेव च सुखोष्णमुत्क्वाथमवगाहनपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ज्वरप्रशमार्थमिति ॥ २६७ ॥

इति शीतज्वरेऽगुर्वादितैलम्।

जिस ज्वर के रोगी उष्ण प्रलेप आदि की इच्छा करते हैं, उनके लिये अभ्यंग आदि का उपदेश करे। यथा—अगुरु, कुष्ठ, तगर, तेजपत्र, नलद (बालछड), शैलेय (छैलछरीला), ध्यामक (तृणविशेष) हरेणु, (रेणुका), स्थौणेय (सुगन्धित द्रव्य गठिवन), क्षेमिक (चोरक), एला (इलायची), वरा (त्रिफला), वरांगदल (दालचीनी की छाल अथवा प्रियंगुपत्र), पुर (गुग्गुलु), तमालपत्र, भूतीक (तृणविशेष), रोहिष (तृणविशेष), सरल (चीड), शल्लकी (सर्जभेद), देवदारु, अग्निमन्थ (अरणी), बेलगिरी, स्योनाक (सोना पाठा), काश्मरी (गम्भारी), पाटला (पाढल), श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, छोटी कटेरी, बडी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, गोखरू, एरण्ड, सहजना, बरना आक, करञ्ज (नाटा), तिल्वक (लोध), कचूर, पोहकरमूल, भाण्डीर (भाट), उरुबक (लाल एरण्ड), पत्तूरा (राजगरी), अक्षीव (महानिम्ब), अश्मान्तक, शिग्रु (कडुआ सहजन), बिजौरा, मूलपर्णी, पीलुपर्णी, (बिम्बी, मूर्वा भेद), तिलपर्णी (तलवणी या हुलहुल), मेढाश्रृंगी, हिंस्रा (मासी, कथार), दन्तशठ (गलगल), ऐरावतक (नारंगी), भिलावा, आस्फोतक (हरफा रेवड़ी), कण्डीर (जंगली करेली), आत्मज (पुत्रजरा), काकाण्ड (कौंच), एकैषिका (त्रिवृता या पाठा), करञ्जुआ,

धनिया, अजवायन, पृथ्विका (कलौंजी), सुमुख, सुरस, कुठेरक, काण्डीर, कालमालक, पर्णास, क्षवक, फणिज्जक, (सब तुलसी के भेद है), भूतस्तृण (गन्धतृण), अदरख, पिप्पली, सरसो, असगन्ध, रास्ना, रुहा (बृहद्रुहा या मासरोहिणी), अवरोहा (असगन्ध भेद, लाजवन्ती), बच, बला अतिबला, गिलोय, शाक, शीतवल्ली (नीलदूर्वा), नाकुली (रास्ना भेद), श्वेता (सफेद गरणी), मालकगनी, चित्रक, अव्यण्डा (तालमखाना या कोंच), अम्लचागेरी (तिनतिया), बदर, कुलत्थी, माष (उड़द) इस प्रकार के तथा अन्य उष्ण वीर्य पदार्थो मे जितने भी प्राप्त हो सके उन सबका सग्रह करके उनके साथ कषाय बनावे। इन्ही उष्णवीर्य द्रव्यो के कल्क के साथ और सुरा, सौवीरक (धान्याम्ल), तुषोदक (धान्यासव), मैरेय, मेदक, दही का पानी, काजी, कट्वर, (मक्खन न निकाला गया तक्र) मिलाकर तेल पकावे। (यहा पर द्रव के द्रव्य स्नेह के समान होने चाहिये। इस प्रकार से सुरा आदि तेल के समान और कल्क तैल से चतुर्थांश चाहिये)। कुछ गरम गरम तैल से अभ्यग करे, इनसे शीतज्वर नष्ट हो जाता है। इन्ही औषधियो को बारीक पीस कर कवोष्ण प्रदेह करे। इन्ही के सुहाते गरम पानी से अवगाहन, परिषेक, ज्वर की शान्ति के लिये करे॥ –२६७॥

भवन्ति चात्र—त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निदर्शितः।
मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः॥ २६८॥
सा कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं ज्वरम्।
शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा घनाः॥ २६९॥
पवित्रचारुगात्राश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा।
आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरज्वरम्॥ २७०॥
स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च।
शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात्॥ २७१

स्वेद अध्याय मे जो तेरह प्रकार के स्वेद कहे है, मात्रा और काल को जानने वाला वैद्य इनका भी प्रयोग करे। ये शीत ज्वर का नष्ट करते है। (१) वह कुटी, वह बिस्तर और वह ओढने के वस्त्र जो कुटी-स्वेद मे वर्णित है तथा अगर के घने धूप शीत को शान्त करते है। (२) स्वच्छ और सुन्दर शरीर वाली, युवती स्त्रिया अपने यौवन की गरमी से आलिगन द्वारा शीत को नष्ट करती है। (३) स्वेदन अर्थात् पसीना लाने वाले और वात-कफ नाशक खान-पान ससर्ग के बल के अनुसार शीत ज्वर को नष्ट करते है। यथा—यदि ज्वर

वात कफ से हो और इसमें वायु बलवान् हो तो गुरु, उष्ण, स्निग्ध, अनुपान करे, यदि कफ बलवान् हो तब उष्ण, रूक्षप्राय चिकित्सा करे ॥ २६८–२७१ ॥

वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे ।
लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ॥ २७२ ॥

वायुजन्य—धातुओं के क्षय में उत्पन्न, पुरातन ज्वर, क्षयजन्य ज्वर में लंघन हितकारी नहीं हैं, इनके लिये शमनी चिकित्सा करे ॥ २७२ ॥

क्षिप्त्वाऽऽमाशयादूष्माणं यस्माद् गत्वा रसं नृणाम् ।
ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः ॥ २७३ ॥
यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि ।
न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः ॥ २७४ ॥
पक्तिस्थानात्तदा दोषरुद्धो क्षिप्तो वह्निर्नृणाम् ।
न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात्पचति वा लघु ॥ २७५ ॥
अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः ।
सप्ताहेन हि पच्यन्ते सर्वधातुगता मलाः ॥ २७६ ॥
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ।

क्योंकि आमाशय की ऊष्मा को बाहर निकाल कर रस-धातु में जा कर ज्वर उत्पन्न करते हैं, इसलिये पुरुषों का अग्नि बल घट जाता है । जिस प्रकार चूल्हे में जलती हुई आग ईन्धन होने पर भी वायु के झोके से बाहर की ओर आने से पतीली के चावलों को नहीं पकाती, इसी प्रकार दोषों के कारण आमाशय से बाहर आई हुई अग्नि भुक्त भोजन को नहीं पचाती, या लघु भोजन कठिनाई से पचता है । इसलिये अग्नि बल की रक्षा के लिये ही यह लंघन आदि उपक्रम बताया है । सब धातुओं के मल प्रायः सात दिन के भीतर पच जाते हैं । इसलिये प्रायः आठवें दिन ज्वर को 'निराम ज्वर' कहते हैं । [कभी कभी सात दिन के पीछे भी सामता रह जाती है ।] ॥ २७३–२७६ ॥

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः ॥ २७७ ॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः ।
एतस्मात्कारणाद्विद्वान्वातिकेऽप्यादितो ज्वरे ॥ २७८ ॥
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत्सहसा नरम् ।
ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम् ॥ २७९ ॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान् ।
पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम् ॥ २८० ॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात्सर्वशश्चाप्युपक्रमम् ।

जिस पुरुष में दोष बढ़े हुए हों और अग्नि मन्द हो, वह पुरुष यदि गुरु भोजन का सेवन करता है, तो पुरुष सहसा मर जाता है अथवा देर तक कष्ट पाता है। इन कारणों को देखते हुए वातिक ज्वर में भी रोगी को प्रथम गुरु वा स्निग्ध भोजन नहीं करावे। वातजन्य ज्वर में यदि पित्त और कफ का अनुबन्ध न हो तो पूर्वोक्त क्रम की उपेक्षा करके भी अभ्यग आदि का उपक्रम करे, कषाय पिला कर मांस रस का भोजन देवे। जीर्ण ज्वर के लिये जो भी चिकित्सा है, वह सब वायुजन्य ज्वर में प्रथम ही करे ॥ २७७—२८० ॥

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णो कफाधिकः ॥ २८१ ॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम्।
तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ॥ २८२ ॥
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत्।

कफ-प्रकृति के पुरुषों में जब वायु न हो, ऊष्मा मृदु हो और कफ प्रधान ज्वर हो, पित्त का अनुबन्ध न हो तो दोष (आम) सात दिन में भी नहीं पकते। इसके लिये पूर्व वर्णित लंघन और अल्पाशन विधि का दस दिन तक प्रयोग करके पीछे से कषाय पान करावे ॥ २८१—२८२ ॥

सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ॥ २८३ ॥
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति।
वमनैश्च विरेकैश्च बस्तिभिश्च यथाक्रमम् ॥ २८४ ॥

जो ज्वर साम हों, जो ज्वर कफजन्य हों, कफ-पित्त ज्वर में, लंघनीय प्रत्येक पुरुष को लंघन करावे। आम वायु से मिला हो तो भी लंघन करावे। कफ निराम हो तो भी लंघन करावे। कफयुक्त पित्त की अवस्था में ही लंघन करावे। परन्तु निराम पित्त में लंघन नहीं करावे। साम पित्त में लंघन उत्तम है ॥ २८३—२८४ ॥

ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान्।
संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ॥ २८५ ॥
ज्वरान्दोपक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत्।

कफ-पित्त और वायुजन्य ज्वरों में क्रमशः वमन, विरेचन और बस्तियों द्वारा चिकित्सा करे। यदि ज्वर कफजन्य हो तो वमन, पित्तजन्य हो तो विरेचन और वायुजन्य हो तो बुद्धिमान् वैद्य बस्ति का उपयोग करे।] संसृष्ट अर्थात् द्वन्द्वज और सन्निपातजन्य ज्वरों में दोषों के तारतम्य तथा समान अवस्था के क्रम की विवेचना करके पूर्वोक्त औषधियों से चिकित्सा करे ॥ २८५ ॥

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ॥ २८६ ॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा संनिपातज्वरं जयेत् ।

सन्निपात ज्वर में एक एक दोष का बढ़ाना चाहिये और बढ़े हुए (वृद्ध-तर और वृद्धतम) दोष को घटावे । अथवा कफ स्थान के अनुक्रम से सन्निपात ज्वर की चिकित्सा करे ।

[जैसे—कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वायु वृद्धतम हो तो मधुर देवे । अथवा कफ वृद्ध हो और वात-पित्त दोनों वृद्धतर हो तो भी मधुर रस देवे । मधुर रस जहां कफ को बढ़ाता है वहां वायु और पित्त को घटाता है । यदि तीनों दोष समानावस्था में हों तो प्रथम कफ की चिकित्सा करे ।]

कफ का स्थान आमाशय है । इसलिये प्रथम स्थान को जीतना चाहिये । (क) अन्यत्र ज्वरों में प्रथम वायु का फिर पित्त का और तब कफ का शमन करना चाहिये । परन्तु जीर्णज्वर में प्रथम पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये । नवज्वर तथा सन्निपात ज्वर में प्रथम कफ को ही शमन करना चाहिये । (ख) एकोल्बण-सन्निपात में प्रवृद्ध एक दोष को घटाना चाहिये और जो दोष क्षीण हो उनकी थोड़ी वृद्धि करनी चाहिये । (ग) वृद्धदोष सन्निपातों की भांति क्षीण-दोष सन्निपात भी बारह प्रकार के होते हैं, परन्तु इनमें दोष अपने लक्षणों को छोड़ देते हैं । जैसा कि कहा भी है, 'क्षीणा जहति स्वं लिंगम् ।' इस प्रकार से पचीस सन्निपात होते हैं । इनकी चिकित्सा का सामान्य सूत्र भी कह दिया ॥२८६॥

संनिपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ॥ २८७ ॥
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।
रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ॥ २८८ ॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥ २८९ ॥
शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति ।
विसर्पणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ॥ २९० ॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत् ।
दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥ २९१ ॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत् ।
कर्म साधारणं कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ २९२ ॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।
वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः ॥ २९३ ॥

स्निग्धोष्णैरनुपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ।
विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च ॥ २९४ ॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् ।
वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ॥ २९५ ॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ।

सन्निपात ज्वर के अन्त मे कान की जड़ मे (कान मे भी) दुःख-दायक शोथ उत्पन्न हो जाता है । इस रोग से कोई भला ही बचता है, प्रायः करके यह रोग होता [1] है । इसके लिये जोक आदि द्वारा रक्त का मोक्षण और घृतपान शीघ्रता से (रोग के प्रारम्भ मे ही) करे और कफपित्त नाशक नावन (नस्य) और कवल देवे ।

(१) जिस पुरुष का ज्वर शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष क्रिया से शान्त नही होता है, उस मे दोष-एव ज्वर रक्त-धातु मे आश्रित होता है । अतः वह ज्वर रक्त मोक्षण से शान्त हो जाता है ।

(२) वीसर्प के कारण, चोट लगने से अथवा विस्फोटको के कारण यदि ज्वर उत्पन्न हो जाय, परन्तु कफ-पित्त प्रधान न हो तो प्रथम घृत-पान करावे । (३) शरीर के धातुओ की निर्बलता से भी जीर्णज्वर बार बार लौट आता है । इसके लिये बलकारक बृंहण (पुष्टि-दायक) आहार देवे । (४) तृतीयक और चतुर्थक ज्वर मे साधारण चिकित्सा करे । प्राय. विषम ज्वर मे आगन्तुज कारण का सम्बन्ध रहता है । [यहा तृतीयक और चतुर्थक भी विषमज्वर ही ग्रहण किये जाते है । इसलिये भूत आदि दोष उत्पत्ति मे कारण हो तो भी साधारण चिकित्सा ही करे अर्थात् दैवव्यपाश्रय हो तो बलि-मगल आदि रूप चिकित्सा और युक्ति-व्यपाश्रय हो तो दोषानुरूप कषाय-पान आदि चिकित्सा करनी उचित है । (चक्र०)] (५) वातप्रधान विषम ज्वर मे—स्निग्ध उष्ण अनुपानो से घृतयुक्त अनुवासन-बस्तियो से चिकित्सा करे । (६) पित्तप्रधान ज्वर मे—विरेचन, तिक्त, शीत द्रव्यो से सस्कृत दूध और घी से चिकित्सा करे । (७) कफ-प्रधान विषम ज्वर मे—वमन, पाचन, रूखा खानपान, लघन, कषाय और उष्ण द्रव्य देवे ॥ २८७–२९५ ॥

---

१ ज्वर के आदि मे कान के मूल मे हुआ शोथ साध्य होता है, ज्वर के मध्य मे शोथ हुआ कष्टसाध्य होता है और ज्वर के अन्त मे हुआ असाध्य होता है । कान के मूल मे पित्त एकत्र होकर शोथ उत्पन्न करता है । वह शोथ दुःसाध्य होता है, प्रायः रोगी को मार देता है ।

योगाः पराः प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः ॥ २९६ ॥
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ये ।
सुरा समण्डा पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधान् ॥ २९७ ॥
तित्तिरींश्च मयूरांश्च प्रयुञ्ज्याद्विषमज्वरे ।
पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभया वा प्रयोजयेत् ॥ २९८ ॥
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा ।
नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ॥ २९९ ॥
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः ।
सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत्पुनः ॥ ३०० ॥
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत् ।
सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ॥ ३०१ ॥
आस्थापनं यापनं वा कारयेद्विषमज्वरे ।
पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत् ॥ ३०२ ॥
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम् ।
पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः ॥ ३०३ ॥
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे ।
लशुनस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम् ॥ ३०४ ॥
मेध्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम् ।
हिङ्गुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा ॥ ३०५ ॥
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैन्धवा ।
सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनःशिलाः ॥ ३०६ ॥
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे ।
पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ॥ ३०७ ॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् ।
ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ॥ ३०८ ॥
मनोविकारे व्याख्यातं कार्यं तद्विषमज्वरे ।
मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ॥ ३०९ ॥
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।
सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ॥ ३१० ॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ॥ ३११ ॥

स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्ष हिमाचलम् ॥ ३१२ ॥
गङ्गा मरुद् गणांश्चेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान् ।
भक्त्या मातापितॄणा च गुरूणा पूजनेन च ॥ ३१३ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ।
जपहोमप्रदानेन वेदाना श्रवणेन च ॥ ३१४ ॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।
ज्वरे रसस्थे वमनमुपवास च कारयेत् ॥ ३१५ ॥
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा सशमनानि च ।
विरेचनं सोपवासं मासमेदःस्थिते हितम् ॥ ३१६ ॥
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ।

आगे विषम ज्वर नाशक योगों को कहते है । बुद्धिमान् को चाहिये कि दोष आदि की विवेचना करके इनका प्रयोग करे ।

(१) विषमज्वर में पीने के लिये मण्ड युक्त सुरा, खाने के लिये कुक्कुट का मास, तीतर, मोर देने चाहिये । अथवा गुल्म रोग मे कहे .षट्पल घृत अथवा हरड या त्रिफला का क्वाथ, अथवा गिलोय का रस पान करे । (२) प्रथम स्नेहन और स्वेदन लेकर ज्वर के आक्रमण के समय नीलिनी (नील), अजगन्धा, निशोथ और कुटकी इनका क्वाथ पीवे । अथवा घी की प्रभूत मात्रा पीकर वमन करे या खूब खा पीकर वमन कर दे । अथवा अन्न के साथ खूब मद्य पीकर सो जावे । अथवा आस्थापन और मुस्तादि तीन बस्तिया जो कि सिद्धि स्थान मे कहेगे उनका प्रयोग करे । (३) जिस दिन ज्वर चढ़ता हो उस दिन बिल्ली के पुरीष को दूध के साथ पीना चाहिये । अथवा बैल के गोबर को दधिमण्ड, सुरा और नमक के साथ लेवे । [ये सब वमन कराने के उपाय प्रतीत होते है । घृणित वस्तुओं से सम्भवत वमन आ जाये] । (४) विषम ज्वर मे पिप्पली, त्रिफला, दही, छाछ, घी, पञ्चगव्य (दूध, घी, गोमूत्र, गोमय रस और दही या अपस्मारोक्त पचगव्य घृत) और दूध का प्रयोग करे । (५) भोजन से पूर्व तैलयुक्त लहसुन का उपयोग करे । इसी प्रकार पवित्र या मेदुर तथा उष्णवीर्य मासो को खावे । (६) विषम ज्वर मे व्याघ्र की वसा मे हींग और सैन्धा नमक मिला कर नस्य दे । अथवा पुरातन घृत, सिंह की वसा (चर्बी) को सैन्धानमक के साथ मिला कर उसका नस्य देवे । (७) विषम ज्वर मे—सैन्धा नमक, पिप्पली के निस्तुष दाने, मनसिल इनको तेल मे पीस कर नस्य देवे । (८) गुग्गुलु, नीम के पत्ते, वच, कूठ, हरड, सरसो, जौ और

वी इनका धूप विषम ज्वर में देवे। उन्माद और अपस्मार (हिस्टीरिया) रोग में जो धूम, धूप, नस्य और अजन कहे हैं, उन सब का विषम ज्वर मे प्रयोग करे। (९) मणि, ओषधिया के (सहदेवी, जयन्ती आदि), मागलिक द्रव्यों के, विष के धारण करने तथा अगदो के सेवन से विषम ज्वर नही होता। (१०) पवित्र होकर पार्वती, नन्दी आदि अनुचरो से युक्त, सोम माहेश्वरी आदि आठ मातृकाओं से युक्त श्री शकर की पूजा करने से रोगी विषम ज्वर से मुक्त हो जाता है। (११) हजार सिर वाले, चर-अचर के स्वामी, व्यापक विष्णु की सहस्र नामों से पूजा करने पर सब प्रकार के ज्वरो से मुक्त हो जाता है। (१२) ब्रह्मा, दोनो अश्वी, इन्द्र, अग्नि, हिमालय, गगा, मरुद्-गण इनकी इष्टि (यज्ञ) द्वारा पूजा करने से ज्वर से मुक्त हो जाता है। (१३) भक्तिपूर्वक माता, पिता, गुरु की पूजा करने से, ब्रह्मचर्य से, तप से, सत्यव्रत से, नियमो के पालन से अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इनके पालन से जप और होम के करने से, वेदो के सुनने से, सत्पुरुषों के दर्शन से रोगी ज्वर से शीघ्र मुक्त हो जाता है।

(१४) ज्वर यदि रस मे स्थित हो तो वमन और उपवास कराना चाहिये। रक्तस्थ होने पर सेक, शीत प्रदेह, सशमन चिकित्सा करे। मास और मेद मे स्थित होने पर विरेचन और उपवास करावे। अस्थि और मज्जा मे आश्रित होने पर निरूह और स्निग्ध बस्तियों का प्रयोग करे। (शुक्रगत-ज्वर मे चिकित्सा निरर्थक है) ॥ २९६—३१६- ॥

शापाभिचाराद् भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः ॥ ३१७ ॥
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ।
अभिघातज्वरो नश्येत्पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ॥ ३१८ ॥
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसौदनैः ।
सानाहो मद्यसात्म्याना मदिरारसभोजनैः ॥ ३१९ ॥
क्षताना व्रणिताना च क्षतव्रणचिकित्सया ।
आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ॥ ३२० ॥
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः ।
काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ॥ ३२१ ॥
सद्वाक्यैः शाम्यति ह्याशु ज्वरः क्रोधसमुत्थितः ।
कामात्क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात्कामसमुद्भवः ॥ ३२२ ॥
याति ताभ्यामुभाभ्या च भयशोकसमुत्थितः ।
ज्वरकालं च वेगं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः ॥ ३२३ ॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत्स्मृतिम् ।

(१) शाप, अभिचार तथा भूतो के अभिषग के कारण ज्वर उत्पन्न हुआ हो तो दैवव्यपाश्रय (बलि, मगल, होम आदि) चिकित्सा करे।

(२) अभिघातजन्य ज्वर में—घृतपान, अभ्यग, रक्त-मोक्षण, मद्य, सात्म्य मास-रस तथा ओदन (भोजन) देवे। यदि आनाह (अफारा) हो तो मद्य-सात्म्य पुरुषो मे मदिरा के साथ मास रस का भोजन देवे।

(३) क्षत और व्रण के कारण हुआ ज्वर क्षत और व्रण की चिकित्सा से शान्त होता है। काम, शोक और भय से उत्पन्न ज्वर सान्त्वना देने से, इष्ट वस्तु के मिलने से, वायु के शान्त करने से और प्रसन्नता पैदा करने से नष्ट हो जाता है।

(४) क्रोध से उत्पन्न ज्वर वाञ्छित विषयो के, मन पसन्द बातो से, पित्त-नाशक चिकित्सा से और मधुर वचनो से शीघ्र शान्त हो जाता है।

(५) काम से क्रोधजन्य ज्वर, क्रोध से कामजन्य ज्वर, काम और क्रोध से शोकजन्य तथा भयजन्य दोनो प्रकार के ज्वर नष्ट होते है।

(६) जिस पुरुष को ज्वर का समय या ज्वर के आक्रमण की चिन्ता (विचार मात्र) से ज्वर चढता हो, उसके लिये अभिलषित, विचित्र (विस्मयोत्पादक) विषयो द्वारा उसकी ज्वर की स्मृति भुला देवे ॥३१७–३२३॥

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन्वमति चेष्टते ॥ ३२४॥
श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः।
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि ॥ ३२५ ॥
विसञ्ज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते।
सदोषशब्दं च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत् ॥ ३२६ ॥
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः।
बहुदोषस्य बलिनः प्रायेणाभिनवो ज्वरः ॥ ३२७ ॥
सत्क्रियादोषपक्त्या चेद्विमुञ्चति स दारुणम्।
कृत्वा दोषवशाद्वेग क्रमादुपरमन्ति ये ॥ ३२८ ॥
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणा चिरकारिणाम्।

क्योकि धातुओ को छोडते समय दोष लीन हो जाता है, इसलिये ज्वर के जाने के समय रोगी के गले से कराहने की अव्यक्त ध्वनि होती है, वमन होता है, रोगी नाना प्रकार की चेष्टाये करता है, सास तेज चलता है, रग बदल जाता है, पसीना आता है, कापता है, बार बार मूर्छित होता है, बुडबुडाता है, शरीर गरम या ठण्डा हो जाता है, सज्ञा रहित हो जाता है, ज्वर के वेग के

कारण क्थित प्रतीत होता है, मल दोष के साथ शब्द युक्त, पतला आता है। ये लक्षण ज्वरमोक्ष के हैं। ये लक्षण सन्निपातज्वर के मुक्त होने पर समझें, उसमें ये लक्षण अधिक स्पष्ट होते हैं। जिस प्रकार बुझता हुआ दिया एक बार चमकता है, उसी प्रकार कुछ समय के लिये ये लक्षण प्रकट होते हैं। [क्लम, मोह, ताप कम होता है, मुख में पाक होता है, इन्द्रियां सुखी रहती हैं, देह में दर्द नहीं रहता, पसीना छूटता है, मन स्वभाव में गति करता है, अन्न की इच्छा होती है, सिर पर खाज होती है, यह ज्वर छूटने के चिह्न हैं]।

(१) प्राय नवीन ज्वर बलवान् और बहुत दोषवाले व्यक्ति में चिकित्सा करने पर सहसा उतर जाता है, तब अति भयानक होता है।

(२) जो ज्वर दोष के कारण वेग के क्रम में धीरे धीरे उतरते हैं, उन चिरकालीन ज्वरों का मोक्ष (छूटना) भयानक नहीं होता ॥ ३२४–३२८ ॥

विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम् ॥ ३२९ ॥
युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम् ।
सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च ॥ ३३० ॥
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि विवर्जयेत् ।
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च ॥ ३३१ ॥
तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो न च जायते ।
व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च ॥ ३३२ ॥
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ।
असंजातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते ॥ ३३३ ॥
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ।
दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते ॥ ३३४ ॥
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ।
चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनचेतसम् ॥ ३३५ ॥
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः ।
अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः ॥ ३३६ ॥
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते ।
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम् ॥ ३३७ ॥
कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम् ।
एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः ॥ ३३८ ॥
अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ।

निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम् ।
यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत् ॥ ३३९ ॥
मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना वस्तयो हिताः ।
हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः ॥ ३४० ॥
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनाभ्यञ्जनानि च ।
हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ॥ ३४१ ॥
गुर्व्यभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात्पुनरागते ।
लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत् ॥ ३४२ ॥
किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता ।
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात्पुनरावर्तकं ज्वरम् ॥ ३४३ ॥
तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः ।
ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्र चिकित्सितम् ॥ ३४४ ॥
रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः ।
तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमं भिषक् ॥ ३४५ ॥ इति ।

(३) ज्वर से मुक्त पुरुष के लक्षण—क्लम (थकान) और सन्ताप से रहित, व्यथा से रहित, प्रसन्न इन्द्रियों वाले, स्वाभाविक मन वाले पुरुष को ज्वर से मुक्त समझना चाहिये ।

(४) ज्वर वाले और ज्वर से मुक्त दोनों पुरुषों को चाहिये कि विदाही, गुरु, असात्म्य अन्नपान और विरुद्ध भोजन का परित्याग कर दे । इसी प्रकार से व्यवाय (स्त्रीसंग), अधिक चलना-फिरना, स्नान, अधिक खाना इनका भी परित्याग करे । इस प्रकार करने से ज्वर शान्त हो जाता है और फिर दुबारा नहीं होता । (५) ज्वर से उठे रोगी जब तक बलवान् न हो तब तक व्यायाम, मैथुन, स्नान और घूमना-फिरना परित्याग कर देवे । ज्वर से मुक्त निर्बल व्यक्ति यदि इनका सेवन करे, तो ज्वर पुनः लौट आता है । (६) दोषों के भली प्रकार बाहर न निकलने पर जो ज्वर शान्त हो जाता है, वह थोड़े से भी मिथ्या आहार-विहार से पुनः आ जाता है । पुनः लौट कर आया ज्वर देर से पीडित, निर्बल, कमजोरमन वाले, पुरुष को शीघ्र ही मार देता है । (७) अथवा अवशिष्ट दोष ज्वर को पुनः न करके धातुओं में धीरे धीरे पकते रहते हैं । वे ज्वर को उत्पन्न करके अन्य हानियाँ करते हैं । जैसे—दीनता, शोथ, ग्लानि, पाण्डुता, भोजन में अनिच्छा, कण्डू (खाज), कोठ, पिडकायें और मन्दाग्नि करते हैं । (८) इसी प्रकार से दोषों के सम्पूर्ण न निकलने पर जो रोग एक

बार नष्ट हो चुकते है, वे अहिताचरण से पुन हो जाते है। (९) इसलिये ज्वर के उतर जाने पर भी अवस्था, बल और शक्त के अनुसार दोषो का सशोधन अथवा प्रयोगो द्वारा इनका शमन करे। इसके लिये मृदु सशोधनो से शुद्धि, मुस्तादि यापना बस्तियाँ, लघु गुणवाले यूप, जाँगल पशु पक्षियो का मास-रस हितकारी है। इसी प्रकार अभ्यग, उबटन, स्नान, धूपन, अजन और तिक्त द्रव्यो से सावित या पचतिक्त घृत ज्वर के पुन होजाने पर हितकारी है। (१०) जो ज्वर गुरु, अभिष्यन्दी और असात्म्य भोजन के सेवन से पुनः हुआ हो उसके लिये लघन और उष्ण उपचार आदि प्रथम कहा हुआ क्रम पूर्व की भाँति करते। (११) चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, पित्त पापड़ा और गिलोय इनका कषाय कुछ दिनो तक लगातार पीने से बार बार लौट कर आने वाला ज्वर नष्ट हो जाता है। ज्वराक्रान्त रोगी की उस उस अवस्था मे ज्वर-चिकित्सा-क्रम के अनुसार वैसी वैसी चिकित्सा करे। ज्वर रोगो का राजा है, सब प्राणियो का अन्त करने वाला है, वह कष्टदायक है। इसलिये वैद्य इसकी शान्ति मे विशेषतः प्रयत्न करे ॥३२६–३४५॥

तत्र श्लोकः—यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्त ज्वरचिकित्सितम् ।
अत्रिजेनाग्निवेशाय भूताना हितमिच्छता ॥ ३४६ ॥

भगवान् आत्रेय ने प्राणियो की हितकामना से अग्निवेश के प्रश्नो के क्रम से ज्वर की चिकित्सा का वर्णन कर दिया है ॥ ३४६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसस्कृते चिकित्सास्थाने
तृतीयोऽध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

ज्वर के सताप से रक्त-पित्त उत्पन्न होता है, इसलिये ज्वर के पीछे रक्त-पित्त की चिकित्सा के लिये इस अध्याय का अवतरण करते है।

अथातो रक्तपित्तचिकित्सित व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'रक्त-पित्त चिकित्सित' की व्याख्या करते है भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम् ।
प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥ ३ ॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः ।
वक्तव्यं यत्पर तस्य वक्तुमर्हसि तद् गुरो ॥ ४ ॥
गुरुरुवाच—महागद महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च ।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥ ५ ॥
तस्योष्ण तीक्ष्णमम्ल च कटूनि लवणानि च ।
घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्व निदर्शितः ॥ ६ ॥
तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्ट पित्त रक्त प्रपद्यते ।
तद्योनित्वात्प्रपन्न च वर्धते तत्प्रदूषयेत् ॥ ७ ॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते ।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धि भूयस्तदधिगच्छति ॥ ८ ॥
सयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ ९ ॥
प्लीहान च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते ।
स्रोतासि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥ १० ॥

पञ्चगग (पजाब या पचनद) मे घूमते हुए जितेन्द्रिय, मोह से रहित, अग्नि के समान तेजस्वी पुनर्वसु को अग्निवेश ने नमस्कार कर निवेदन किया—हे भगवन् ! आपने प्रथम निदान-स्थान मे रक्त-पित्त के कारण और लक्षण का उपदेश किया है। इसके आगे रक्त-पित्त के विषय मे जो कुछ और अधिक कहना है, वह भी कृपा करके कहिये।

भगवान् आत्रेय ने कहा—हेतु और लक्षणो को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि अति वेग वाले, अग्नि के समान शीघ्र प्राणनाशक, महारोग रक्त-पित्त की चिकित्सा तुरन्त करे। इस रक्त-पित्त के कारण—उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु, लवण, घर्म (गरमी) और अन्न का विदाह ये रक्त-पित्त के कारण निदानस्थान मे कह दिये है। इन उपरोक्त कारणो मे प्रकुपित पित्त रक्तस्थान (यकृत् और प्लीहा) मे पहुच जाता है। रक्त के प्रभवस्थान यकृत् और प्लीहा मे पहुच कर पित्त बढता है और रक्त को भी दूषित करता है। इस पित्त की उष्णिमा से मासादि धातुओ मे स्वेद होने से द्रव धातु (रक्त) चूने लगता है। इसी कारण से रक्त भी मात्रा मे बढ जाता है।

रक्तपित्त नाम का कारण—रक्त के साथ सयुक्त होने के कारण, रक्त को

दूषित करने और रक्त के समान ही गन्ध और वर्ण होने से बुद्धिमान् व्यक्ति पित्त का 'रक्त-पित्त' कहते है। यह रक्त प्लीहा और यकृत् का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है। मनुष्यों के देह मे रक्तवाही स्रोतो के मूल ये ही यकृत् और प्लीहा है ॥ ९–१० ॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।
श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ११ ॥
रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ १२॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

कफ आदि दोषो के संसर्ग—रक्त-पित्त मे यदि कफ का भी मिश्रण हो तो रक्त का रंग पाण्डुवर्ण, रक्त दृढ (गाढा,) स्नेहयुक्त और चिकास वाला होता है। यदि वायु का योग हो तो काला-लाल सा, झागयुक्त, पतला और रूखा होता है। पित्त की प्रबलता से रक्त-पित्त हो तो रक्त कषाय वर्ण की झलक वाला, काला, गोमूत्र के समान, मेचक (काला, चिकना), गृहधूम, अंजन, काजल के समान काला होता है, इसमे चमक रहती है। दो दोषो के मिलने पर उन दो दोषो के लक्षण दीखते है और तीनो दोषो के मिलने पर सान्निपातिक लक्षण दीखते है। [जिस प्रकार सब गुल्मो मे वायु की प्रधानता रहने पर अन्य दोषो के मिलने पर पित्तगुल्म आदि होते है, उसी प्रकार रक्तपित्त मे पित्त की प्रधानता रहने पर भी पित्त-गुल्म आदि होते है। इनमे ऊर्ध्व गति वाले रक्तपित्त मे कफ का मिश्रण और अधोगति वाले रक्तपित्त मे वायु का मिश्रण रहता है]॥११-१२-॥

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ १३ ॥
यत् त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥ १४ ॥

साध्य-असाध्य—इनमे से जो रक्तपित्त एक दोष से सम्बन्धित होता है, वह साध्य है। जिस रक्तपित्त मे दो दोष मिले रहते है वह याप्य है। जिसमे तीनो दोषो का योग रहता है वह असाध्य है। इसी प्रकार से मन्दाग्निवाले पुरुष मे एक दोष वाले रक्तपित्त का वेग यदि प्रबल हो तो वह भी असाध्य है। इसी तरह रोगो के कारण निर्बल शरीरवाले व्यक्ति मे, वृद्ध पुरुष मे आहार न करने वाले व्यक्ति से एक मार्ग वाला रक्तपित्त भी असाध्य है ॥१३-१४॥

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता ।
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ॥ १५ ॥
सप्तच्छिद्राणि शिरसि, द्वे चाधः, साध्यमूर्ध्वगम् ।

याप्यं त्वधोग, मार्गौ तु द्वावसाध्य प्रपद्यते ॥ १६ ॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च ।
वर्तते तामसङ्ख्येया गति तस्याऽऽहुरान्तिकीम् ॥ १७ ॥
यच्चोभयाभ्या मार्गाभ्यामतिमात्र प्रवर्तते ।
तुल्य कुणपगन्धेन रक्त कृष्णमतीव च ॥ १८ ॥
ससृष्ट कफवाताभ्या कण्ठे सज्जति चापि यत् ।
यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥ १९ ॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम् ।
क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥ २० ॥
यद् द्विदोषानुग यद्वा शान्त शान्त प्रकुप्यति ।
मार्गान्मार्ग चरेद्यद्वा याप्य पित्तसृक् च तत् ॥ २१ ॥
एकमार्ग बलवतो नातिवेग नवोत्थितम् ।
रक्तपित्त सुखे काले साध्य स्यान्निरुपद्रवम् ॥ २२ ॥

रक्तपित्त की गति—निदानस्थान मे रक्तपित्त की ऊर्ध्वगति के सात द्वार (दो कान, दो नाक, दो आखे और एक मुख) है। इन सात मार्गो से रक्त बाहर आता है। अधोगति के दो मार्ग है गुदा और उपस्थ। स्त्रियो मे योनि-मार्ग का अन्तर्भाव उपस्थ मे ही हो जाता है। इनमे से ऊर्ध्व गति वाला रक्तपित्त साध्य है और अधोमार्ग से जाने वाला याप्य है, और जो रक्तपित्त दोनो मार्गों से प्रवृत्त होता है वह असाध्य है। जिस समय रक्तपित्त शरीर के नौ छिद्रो से तथा रोमकूपो से जाने लगता है, तब इसकी असख्य वा आन्तिकी गति कहाती है। उस समय इसकी गति के मार्ग गिने नही जा सकते और रोगी शीघ्र मर जाता है। जो रक्तपित्त दोनो मार्गो से बहुत मात्रा मे प्रवृत्त होता है, जिस रक्तपित्त मे मुर्दे की सी बास आती है, जिसका रग बहुत काला होता है, जिसमे कफ और वायु का मिश्रण रहता है, जो रक्तपित्त गले से बाहर नही आता, वही रुक जाता है, निदानस्थान मे वर्णित दुर्बलता आदि उपद्रवो से युक्त, पीला, नीला, हरा, तावे के समान रग का दीखता हो, क्षीण व्यक्ति का तथा जिसको खासी उठती हो, उसका 'रक्तपित्त' असाध्य है। जिस रक्तपित्त मे दो दोषो का मिश्रण रहता है, अथवा जो रुक रुक कर उत्पन्न होता है, अथवा कभी ऊर्ध्व मार्ग से चले और कभी अधोमार्ग से प्रवृत्त होता हो, वह रक्तपित्त याप्य होता है। बलवान् पुरुप मे एक मार्ग से प्रवृत्त होने वाला, जो बहुत प्रबल रूप मे न हो, नया ही उत्पन्न हुआ हो, साथ मे किसी प्रकार का उपद्रव न हो तो रक्तपित्त सुखकाल (हेमन्त और शिशिर ऋतु) मे साध्य है।

[हेमन्त शिशिर ऋतु में उत्पन्न रक्तपित्त साध्य है, यहां पर ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का ही ग्रहण करना चाहिये]॥ १५-२२ ॥

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम् ।
अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥ २३ ॥
ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम् ।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्त्यते ॥ २४ ॥

रक्तपित्त का कारण—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का मुख्य कारण स्निग्ध और उष्ण आहार है, अधोगामी रक्तपित्त का कारण उष्ण और रूक्ष आहार है। इनमें ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में कफ का और अधोगामी में वायु का मिश्रण रहता है। दोनों मार्गों से जाने वाले रक्तपित्त में कफ और वायु दोनों का ही मिश्रण रहता है ॥ २३-२४ ॥

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः ।
तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ २५ ॥
गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छाऽयमरुचिं ज्वरम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥ २६ ॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम् ।
बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात्स्तम्भितमादितः ॥ २७ ॥
तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा ।
रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता ॥ २८ ॥

चिकित्सा विधि—जिस पुरुष का बल और मांस क्षीण नहीं हुआ और जो अच्छी प्रकार से खाता पीता हो, रक्त दोषों से दूषित और बाहर की ओर निकलने की प्रवृत्ति रखता हो तो प्रारम्भ में एकदम इसको न रोकना चाहिये। सहसा प्रारम्भ में रोक देने से—गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, आनाह, किलास (कुष्ठभेद), मूत्रकृच्छ्र, कुष्ठ, अर्श, वीसर्प, विवर्णता, भगन्दर, बुद्धि और इन्द्रियों का अपने विषयों में प्रवृत्त न होना, ये उपद्रव होते हैं। इसलिये बल और दोष को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि बलवान् पुरुष में प्रथम रक्त को रोके नहीं, बढ़े हुए रक्त को बहने दे। जब बल घट जाये या दोष कम हो जाये तब इसको बन्द करे ॥ २५-२८ ॥

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम् ।
वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक्तस्मात्तल्लङ्घ्यमादितः ॥ २९ ॥
मार्गान्दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च ।

लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥ ३० ॥

प्रायः करके पुरुषों में आम-दोष के कारण में ही उत्क्लेशित रक्त-पित्त वृद्धि को प्राप्त होता है, इसलिये प्रथम लंघन कराना चाहिये। मार्ग, दोषों के अनुबन्ध और निदान को देखकर रक्त-पित्त में लंघन अथवा तर्पण का प्रयोग करना चाहिये। [अर्थात् ऊर्ध्वमार्ग, साम पित्त, कफ दोष, स्निग्ध और उष्ण निदान हो तो लंघन करावे। अधोमार्ग, वायु, दोष और रूक्ष और उष्ण निदान हो तो सतर्पण (भोजन जैसे—यवागू या लाजासक्तु) देवे] ॥२९—३०॥

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम् ।
केवलं शृतशीत वा दद्यात्तोय पिपासवे ॥ ३१ ॥
ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेया पूर्वमधोगते ।
कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृतिकल्पवित् ॥ ३२ ॥

रक्तपित्त मे प्यास लगने पर, ह्रीबेर (गन्धवाला), लाल चन्दन, खस, नागरमोथा, पित्तपापड़ा इनका शृत कषाय (क्वाथ) अथवा पानी को पका कर ठण्डा करके (औषध से द्वेष करने वाले को) देना चाहिये। काल, सात्म्य, अनुबन्ध (दोषों के), प्रकृति (गुरु लाघव आदि कल्पना) के संस्कार का समझने वाले वैद्य को चाहिये कि ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मे प्रथम लाजा-सत्तू से सतर्पण कराये और अधोगामी रक्तपित्त मे पेया का पान करावे। यदि रोगी लंघन के योग्य हो तो प्रथम लंघन करावे। पीछे से तर्पण या पेया दे। अयोग्य हो तो प्रथम से ही तर्पण या पेया का प्रयोग करे ॥ ३१—३२ ॥

जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः ।
शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम् ॥ ३३ ॥
तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रयोजयेत् ।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीत काले व्यपोहति ॥ ३४ ॥
मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत् ।
दाडिमामलकैर्विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत् ॥ ३५ ॥

रक्तपित्त मे तर्पण—(१) पिण्डखजूर, मुनक्का, महुवे का फूल, फालसा इनका २ पल लेकर, ३२ तोला पानी मे पका कर पंचमांश रहने पर छान कर शर्करा मिला कर तर्पण (प्यास बुझाने) के लिये देवे। अथवा षडगपानीय विधि से पकावे।

(२) लाजा (खीलों) के चूर्ण को घी और शहद के साथ देवे। इस तर्पण को उचित काल मे देने से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मिटता है। [इसको खर्जूरादि क्वाथ मे घोल कर भी दे सकते है।]

(३) जिस पुरुष की अग्नि मन्द हो और उसको अम्ल-सात्म्य अर्थात् खट्टे पदार्थ अनुकूल पड़ते हो तो इसका अनार या आवले से खट्टा बना कर पूर्वोक्त तर्पण दे। [मधु, खजूर दाख, फालसा और चीनी का शरबत या चसार के साथ खीलो के सत्तुओं के साथ मन्थ या अनार का शरबत देना चाहिये] ॥३३–३५॥

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशातिकाः।
श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ॥ ३६ ॥
मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः।
प्रशस्ताः सूपयूषार्थं कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥ ३७ ॥
पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः।
किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः सकठिल्लकः ॥ ३८ ॥
कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्याश्चाथ शाल्मलेः।
अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् ॥ ३९ ॥
शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम्।
स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूपवद्वा विपाचितम् ॥ ४० ॥
पारावतान्कपोताश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान्।
शशान्कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान् ॥ ४१ ॥
रक्तपित्ते हितान्विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत्।
ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥ ४२ ॥
कफानुगे यूपशाकं दद्याद्वातानुगे रसम्।

रक्तपित्ती का भोजन—(१) रक्तपित्त के रोगी को भोजन के लिये शालि (हेमन्त धान्य), साठी, नीवार, कारदूष (कोदों), प्रशातिका, श्यामाक, प्रियगु (कगनी) इनका भोजन करावे।

(२) मूग, मसूर, चना, मोठ, आढकी (अरहर) इन दालो का सूप तथा यूष रक्तपित्त रोगी को दे।

(३) परवल, नीम, बेत का अग्रभाग, पिलखन के पत्ते, वेतस के पत्ते, चिरायता, गण्डीर (दो प्रकार का है स्थलजन्य और जलजन्य, इसमे जलजन्य रामठ शाक), कठिल्लक (पुनर्नवा), कोविदार (कचनार) के फूल, गम्भारी के फूल और सिम्बल के फूल तथा अन्नपान विधि मे जो रक्तपित्त नाशक शाक कहे है, उनका भी उपयोग करे। जिन पुरुषो को शाक सात्म्य (अनुकूल) है उनको इनका शाक देवे।

(४) कबूतर, कपोत, बटेर, रक्ताक्ष (चकोर), वर्त्तक, शशक, कपिञ्जल, एण, हरिण, कालपुच्छ, इनके मास को स्विन्न करके (भाप से सिजाकर) अथवा घी मे भूनकर या यूष के समान पकाकर (अनार आदि के रस से खट्टा बनाकर) मास रस देवे। ये रक्तपित्त रोग मे हितकारी है। इनको खट्टा करके अथवा विना खट्टा बनाये घी से भूनकर शक्कर के साथ प्रयोग करे।

(५) यदि रक्तपित्त मे कफ का मिश्रण हो तो यूष शाक देवे और यदि वायु का अनुबन्ध हो तो मास-रस देवे ॥३६-४२॥

रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥ ४३ ॥
पद्मोत्पलाना किञ्जल्क- पृश्निपर्णी-प्रियङ्गुकाः।
जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥ ४४ ॥
चन्दनोशीरलोध्राणा रसे तद्वत्सनागरे।
किराततिक्तकोशीरमुस्ताना तद्वदेव च ॥ ४५ ॥
धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वाना वा रसे शृताः।
मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरा मुद्गरसेऽथवा ॥ ४६ ॥
रसे हरेणुकाना वा सघृते सबलारसे।
सिद्धाः पारावतादीना रसे वा स्युः पृथक्पृथक् ॥ ४७ ॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः।
यवाग्वः, कल्पना चैषा कार्या मासरसेष्वपि ॥ ४८ ॥
शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम्।
वातोल्बणे तित्तिरिः स्यादुदुम्बररसे शृतः ॥ ४९ ॥
मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः।
रसे बिल्वोत्पलादीना वर्तकक्रकरौ हितौ ॥ ५० ॥

रक्तपित्त मे यवागू कल्प—इसके आगे रक्तपित्त रोग मे यवागुओं का कल्प कहते है—

(१) पद्मोत्पलादि रस से साधित पेया—कमल, नीला कमल, केशर, पृश्निपर्णी, प्रियगु, इनको षडगपानीय विधि से पकाकर जलक्वाथ सिद्ध करे। इस क्वाथ मे पेया बनावे। यह पेया रक्तपित्त मे हितकारी है। (२) चन्दनादि साधित पेया—लाल चन्दन, खस, लोध, सोठ, इनके क्वाथ मे साधित पेया रक्तपित्त मे हितकर है। (३) किराततिक्तादि साधित पेया—चिरायता, मोथा और खस इनके क्वाथ मे साधित पेया रक्तपित्त मे हितकर है। (४) धातक्यादि जल से साधित पेया—धाय के फूल, धमासा, गन्धबला और बेलगिरी इनके रस मे साधित पेया रक्तपित्त मे हितकर है। (५) मसूरादि जल से साधित

पेया—मसूर, पृश्निपर्णी से सिद्ध पेया अथवा (६) स्थिरा (शालपर्णी) और मूग से साधित पेया रक्तपित्त मे हितकारी है। (७) रेणुका के रस मे (८) घृतयुक्त बला रस मे या (९) पारावत आदि के मास-रस मे साधित पेया रक्तपित्त मे हितकारी है। पेया के लिये शालि, साठी, नीवार आदि धान्यो का उपयोग करे। इन यवागू, पेयाओं को ठण्डा करके मधु और शर्करा से मीठा बनाकर देवे। जिस प्रकार से उपरोक्त रसो मे यवागू तैयार की जाती है, उसी प्रकार इन रसो मे मास-रस भी सिद्ध करके देवे। रक्तपित्त रोग मे यदि विबन्ध (कब्ज) हो तो वथुए के साथ खरगोश का मास सिद्ध करके देवे। यदि रक्त-पित्त मे वायु का जोर हो तो गूलर के रस मे तीतर का मासरस सिद्ध करके देवे। मोर को पिलखन के रस मे, मुर्गे को बरगद के रस मे, बेलगिरी और कमल के रस से वर्त्तक और कुक्कुर के मासरस को सिद्ध करके देवे। उष्णवीर्य होने पर भी प्रतिनियत साधक द्रव्य के सयोग से ही ये वस्तुए रक्तपित्त मे हितकारी है॥ ४३-५०॥

तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्।
सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा शृतशीतलम्॥ ५१॥
ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च।
जलं पिपासवे दद्याद्विसर्गादल्पशोऽपि वा॥ ५२॥
निदानं रक्तपित्तस्य यत्किंचित्सम्प्रकाशितम्।
जीविताऽऽरोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः॥ ५३॥
इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तिषु।

रोगी को प्यास लगे तो तिक्त द्रव्यो से सिद्ध जल, तृष्णानाशक फालसा आदि फलो का पानी या विदारीगन्धादि (स्वल्प पञ्चमूल) गण से सिद्ध जल अथवा गरम करके ठण्डा बनाया पानी देवे। रक्तपित्त रोग मे दोष (कफ और वायु) का तथा रोगी के बल और आहार का पहिचान कर प्यास की शान्ति के लिये यथेच्छ अथवा थोड़ा थोड़ा पानी देवे। यदि अग्नि बलवान् हो और शरीर महान् हो तो यथेच्छ पानी देवे, वैसे थोड़ा २ देवे। रक्तपित्त के जिन रोगियो को जीवन और आरोग्य की चाह हो, रक्तपित्त रोग के जो कारण बतलाये है वे उनका सेवन न करे, वे उनसे परहेज करते रहे। इस प्रकार रक्तपित्त रोगियो की यथाक्रम चिकित्सा कह दी है॥ ५१-५३॥

वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवता च यत्॥ ५४॥
अक्षीणबलमांसस्य यस्य संतर्पणोत्थितम्।

बहुदोष बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ॥ ५५ ॥
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम् ।
विरेचनेनोर्ध्वभागमधोग वमनेन च ॥ ५६ ॥
त्रिवृतामभया प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा ।
त्रायमाणागवाक्ष्योर्वा मूलमामलकानि वा ॥ ५७ ॥
विरेचन प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम् ।
रसः प्रशस्यते तेषा रक्तपित्ते विशेषतः ॥ ५८ ॥
वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः ।
सशर्करं वा सलिलमिक्षूणा रस एव वा ॥ ५९ ॥
वत्सकस्य फलं मुस्तं मदन मधुकं मधु ।
अधोगे रक्तपित्ते तु वमनं परमुच्यते ॥ ६० ॥
ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिक्रमो हितः ।
अधोवहे यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली ॥ ६१ ॥

अब बलवान् और बहुदोष वाले रोगिया की चिकित्सा कहते है । जिस रोगी का बल और मास क्षीण न हुआ हो, बलवान् हो, सन्तर्पण के कारण बहुत दोष उत्पन्न हुए हों, साथ मे कोई उपद्रव न हो तो, रोगी सशोधन के योग्य हो तो उचित समय में सशोधन देवे । इसके लिये यदि रक्तपित्त ऊर्ध्वगामी हो तो विरेचन, अधोगामी हो तो वमन देवे ।

विरेचन के लिये—निशाथ और हरड़, या अमलतास के फला की मज्जा, या त्रायमाण और इन्द्रायण की जड, अथवा आँवले का प्रचुर मधु और शर्करा के साथ देवे । रक्तपित्त मे विशेष कर इनको रस के रूप मे, क्वाथ के रूप मे भी देना अच्छा है ।

वमन के लिये—मैनफल से युक्त मन्थ मे घी और शर्करा मिलाकर, पानी मे शर्करा मिलाकर अथवा गन्ने का रस, अथवा इन्द्रजौ, मोथा, मैनफल, मुलहठी और मधु इनको मिलाकर वमन के लिये चटावे । अधोगामी रक्तपित्त मे यह वमन श्रेष्ठ है ।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मे विरेचन द्वारा कोष्ठ के शुद्ध होने पर लाजा सत्तु आदि से तर्पण करना हितकारी है । अधोगामी रक्तपित्त मे यदि वायु बलवान् हो तो यवागू आदि का प्रयोग कर ॥ ५४–६१ ॥

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम् ।
ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥ ६२ ॥

गर्भिणी स्थविर बाल रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ॥ ६३ ॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया ।
शस्यते रक्तपित्तस्य परं चातः प्रवक्ष्यते ॥ ६४ ॥
आटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः ।
मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः ॥ ६५ ॥
आटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने ।
विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ॥ ६६ ॥
पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तुकमुत्पलम् ।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ६७ ॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद्रसे ।
यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे ॥ ६८ ॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना ।
युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद् गोऽश्वशकृद्रसम् ॥ ६९ ॥
खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः ।
पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपैत्तिकः ॥ ७० ॥
शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि ।
लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥ ७१ ॥
धन्वजानामसृग्लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम् ।
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतं शकृत् ॥ ७२ ॥

जिनका बल और मास क्षीण हो गया हो, जो शाक, भार, वा मुसाफिरी से कृश हो गये हों, आग या सूर्य की गरमी से अथवा रोगा से जो क्षीण हो गया है, गर्भवती,वृद्ध, बालक, रूक्ष, अल्प और नियमित भोजन करने वालो को, जो वमन या विरेचन के अयोग्य हो, यक्ष्मा रोग से पीडित हो तो इनकी संशमनी चिकित्सा करे। रक्तपित्त रोगी के लिये जो संशमनी क्रिया है, उसका अब उपदेश करते है।

संशमनी क्रिया— (१) वासा, मुनक्का, हरड के क्वाथ मे शर्करा और मधु मिलाकर देवे। यह श्वास, कास और रक्तपित्त का नाशक है। (२) वासा के क्वाथ मे प्रियगु, मिट्टी, अजन, लोध्र [मिलित एक कर्ष] और शहद एक कर्ष मिलाकर पीवे यह रक्तपित्त नाशक है। (३) इसी प्रकार पद्माख, कमल का केशर, दूर्वा, बथुवा, नीला कमल, नाग केसर, लोध, इनका भी

क्वाथ या इनके चूर्ण को वासा के क्वाथ में शहद डालकर पीवे। (४) घोड़े की लीद के रस में पुण्डरीक काष्ठ और मधु तथा मुलहठी मिलाकर देना चाहिये। (५) गोबर के रस में जवासा और भागरे की जड़ का चूर्ण मिलाकर चावलों के धोवन के साथ पीवे। (६) खैर, प्रियगु, कचनार और सिम्बल के फूलों के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटे, यह रक्तपित्त नाशक है। (७) सिंघाड़ा, खील, मौथा, खजूर और कमल का केशर इनको मधु के साथ चाटे। (८) जागल पशु पक्षियों के रक्त का शहद के साथ मिलाकर पीवे। यदि रक्त जमा हुआ (ग्रह) हो तो पारावत (कबूतर) की बीट को शहद के साथ चाटे ॥ ६२–७२ ॥

उशीर-कालीयक-लोध्र-पद्मक-प्रियङ्गुका-कट्फल-शङ्ख-गैरिकाः।
पृथक्पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः ॥७३॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।
किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं प्रपुण्डरीकं कमलोत्पले च ॥ ७४ ॥
ह्रीवेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम्।
धनञ्जयोदुम्बर-वेतसत्वङ्-न्यग्रोध-शालेय-यवासक-त्वक् ॥ ७५ ॥
तुगालतावेतसतण्डुलीयं ससारिवं मोचरसः समङ्गा।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥ ७६ ॥
निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता वा मृदिता शृता वा।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः ॥ ७७ ॥

(९) खस, कालीयक (पीत काष्ठ), पठानी लोध, पद्माख, प्रियगु, कायफल, शख और शोधित स्वर्ण गेरू इनको पृथक् पृथक् चन्दन के समान मिलाकर खाड के समपरिमाण में चावलों के धोवन के साथ देवे।

(१०) प्रत्येक वस्तु के समान भाग चन्दन मिला कर दोनो के बराबर खाड मिलाकर इनको चावलों के धोवन के साथ देवे। इससे रक्तपित्त, तमक श्वास, प्यास, दाह शीघ्र शान्त होते है।

(११) पुण्डरीक, कमल (श्वेत), नीला कमल, ह्रीबेर (गन्धबाला) इनके मूल, परवल के पत्ते, दुरालभा, पित्तपापड़ा, मृणाल (बिसनाल), धनञ्जय (अर्जुन), गूलर, वेतस इनकी छाल, न्यग्रोध (बरगद), शालेय (चावलों का भेद या जामुन), बासे की छाल, तुगा (वंशलोचन), लता (श्यामलता या प्रियगु), नागकेशर, तण्डुलीय (चावल), सारिवा (अनन्त मूल), मोचरस, समगा (लाजवन्ती) इनको पृथक् पृथक् लेकर, चन्दन के

साथ मिलाकर, खाड का योग देकर चावलो के धावन के साथ दे। इन ओष-
धियो को पृथक् पृथक् या सम्मिलित रुप मे मिलाकर शीत कषाय, क्काथ,
चूर्ण, फाण्ट, स्वरस के रूप मे प्रयोग करे, ये योग रक्तपित्त का शमन
करते है ॥ ७३-७७ ॥

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन ।
बलाजले पर्युषितः कषायो रक्त सपित्त शमयत्युदीर्णः ॥ ७८ ॥
वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणा मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम् ।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छम गच्छति रक्तपित्तम् ॥ ७९ ॥
उशीरपद्मोत्पलचन्दनाना पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः ।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥ ८० ॥
प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम् ।
समृत्प्रसाद सह षष्टिकाम्बुना सशर्कर रक्तनिबर्हण परम् ॥ ८१ ॥

(१२) मूग, लाजा (खील), जौ, पिप्पली, खस, मोथा और चन्दन इनको रात भर बला क्काथ मे भिगो कर प्रात. पीना चाहिये। यह तीव्र रक्तपित्त का शान्त करता है। बला-क्काथ षडगपानीय विधि से बनाये। (१३) वैडूर्य (लहसनिया), मोती, मणि, स्वर्ण गैरिक, मिट्टी सोरठी, शख, हेम (नागकेसर), आवला, गन्धबाला इनके चूर्ण को पानी के साथ (इसमे घोल कर) लेना चाहिये। अथवा शहद के शरबत को या गन्ने के रस को पीने से रक्तपित्त शान्त होता है। (१४) खस, कमल, नील कमल, लाल चन्दन इनको कूट कर रात मे पानी मे भिगो दे। प्रात. नितार कर इसमे शक्कर और मधु मिला कर दे, इसी प्रकार पके हुए मिट्टी के ढेले को तोड कर पानी मे घोल दे। इस पानी को भी मधु और शर्करा के साथ दे यह याग अति रक्त-स्राव मे उपयोगी है। [कही २ 'लोध्र' भी पाठ है। परन्तु अष्टाग-सग्रह मे भुनी हुई मिट्टी का पाठ है]। (१५) प्रियगु, चन्दन, लोध, अनन्तमूल, महुआ, माथा, हरड़ और धाय के फूल इनके जल को पकी हुई मिट्टी के जल के साथ मिला कर साठी चावलो के साथ खाड डाल कर पिलावे, यह रक्तपित्त का नष्ट करता है ॥ ७८-८१ ॥

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तैर्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च ।
यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ॥ ८२ ॥
छाग पयः स्यात्प्रथम प्रयोगे गव्य शृतं पञ्चगुणे जले वा ।
सशर्कर माक्षिकसंप्रयुक्त विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा ॥ ८३ ॥
द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृत वा ।

सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ॥ ८४ ॥
शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः ।
रक्तं हिनस्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात्सरुजं प्रयाति ॥ ८५ ॥
विशेषतो विट्पथसंप्रवृत्ते पयो हितं मोचरसेन सिद्धम् ।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥ ८६ ॥
कषाययोगान्पयसा पुरा वा पीत्वा तु चाद्यात्पयसैव शालीन् ।
कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत्सर्पिरतिस्रुते च[1] ॥ ८७ ॥

उपरोक्त इन कषाय योगों से अग्नि के दीप्त होने पर और कफ के क्षीण हो जाने पर भी जो रक्तपित्त शान्त नहीं होता, उसमें वायु की प्रबलता समझें। इसके लिये—(१६) प्रथम बकरी का दूध दें अथवा गाय के दूध को पाञ्च गुणे पानी में पका कर अथवा स्वल्प पञ्चमूल (विदारी गन्धादि गण) से साधित गाय का दूध शर्करा और मधु के साथ दें। (१७) द्राक्षा, सोंठ, बलामूल और गोखरू इन में से किसी एक से सिद्ध गाय के दूध का अथवा जीवक, ऋषभक और घी इनका उबाले दूध में प्रक्षेप डाल कर मधु मिला कर दें। (१८) शतावरी और गोखरू से साधित या मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पृश्निपर्णी और शालपर्णी इन चारों से साधित दूध को देने से रक्तपित्त नष्ट होता है, खास कर मूत्र मार्ग से पीड़ा के साथ बहने वाला रक्तपित्त नष्ट होता है। (१९) गुदा मार्ग से बहने वाले रक्त के लिये—मोचरस द्वारा सिद्ध दूध देवें। (२०) या बरगद अंकुर या वटजटा से अथवा गन्धबाला, नीला कमल और सोंठ से सिद्ध दूध देना चाहिये। (२१) पहिले कहे वासक आदि कषायों को दूध के साथ पीकर पीछे से दूध चावल खावें। (२२) अथवा इन क्वाथों से घृत सिद्ध करके रक्त स्राव में पीवें ॥ ८२—८७ ॥

वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्य ।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत्सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥ ८८ ॥

इति वासाघृतम् ।

पलाशवृन्तस्य रसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवं हि ।
लिह्याद् घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत्समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ॥ ८९ ॥
स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे ।
सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ॥ ९० ॥

घृतपाक—(१) वासा घृत—शाखा, मूल, फल और पत्तो समेत वासा

---

१ 'रतिस्रवेच' इति च पाठ ।

को लेकर उसका क्वाथ करे। इस क्वाथ मे इसी के फल का कल्क मिला कर घृत पकावे। इस घृत को शहद के साथ मिला कर खाने से रक्तपित्त अच्छा होता है। [कहीं २ 'सपलाग्रमूल' पाठ है। पाकविधि—गोघृत २ प्रस्थ, वासा के क्वाथ भाग ४ प्रस्थ, पानी ३२ प्रस्थ, शेष ४ प्रस्थ, कल्क (वासा के फूल का) ४ पल यथाविधि पाक करना चाहिये। इसमें कल्क का परिमाण एक ग्रन्थ मे चार पल है। अष्टाग-सग्रह मे भी यह प्रयाग है। वहा पर टीकाकार ने चतुर्थांश या छठा भाग कल्क डालना लिखा है।]

(२) ढाक के वृन्तो (आगे लगे पत्ते) के स्वरस मे इन्ही के कल्क के साथ घृत पाक करे। इस सिद्ध घृत को चतुर्थांश मधु के साथ चाटे।

(३) इन्द्रजौ या कुडे के कल्क से घी सिद्ध करके, अथवा समगा (लाजवन्ती), नीला कमल, लोध इनसे सिद्ध घी का उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार त्रायमाणा के साथ, गूलर और परवल के पत्तो के साथ घृत को पकाना चाहिये। ये घृत तथा पित्त ज्वर को नाश करने वाले घृत रक्तपित्त मे उत्तम है॥ ८८—९० ॥

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानि वेश्म।
शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्य पित्तज्वरे यत्प्रशमाय दृष्टम् ॥ ९१ ॥
तद्रक्तपित्ते निखिलेन कार्य काल च मात्रा च पुरा समीक्ष्य।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्यस्ते रक्तपित्त शमयन्ति सद्यः ॥ ९२ ॥

(१) पित्त ज्वर को नाश करने के लिये जो दाह ज्वरनाशक अभ्यग प्रयोग, परिषेक, अवगाहन, शमन घर तथा शीत विधि और बस्ति विधि कही है, इन सब को काल और मात्रा के अनुसार रक्तपित्त मे प्रयोग करे। उरःक्षत अध्याय मे जो सर्पिर्गुड कहे है वे सब रक्तपित्त को तुरन्त अच्छा कर देते है। सर्पिर्गुड उर क्षत के रोगियो के लिये हितकर है॥ ९१—९२ ॥

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठागमे स्याद् ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य ॥ ९३ ॥

(२) रक्तपित्त मे यदि कफ का अनुबन्ध हो, ग्रथित होने के कारण रक्त गले मे आकर रुक जाये तब कमलनाल के क्षार को मधु और घी के साथ मिला कर युक्तिपूर्वक प्रयोग करे॥ ९३ ॥

मृणालपद्मोत्पलकेशराणा तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥ ९४ ॥

(३) इसी प्रकार से कमलनाल, कमल का केसर, नीलोत्पल का केसर

इनके क्षार को, ढाक को, प्रियगु के क्षार को, महुए के क्षार को, असन के क्षार को मधु और घी के साथ चटावे ॥ ६४ ॥

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम् ।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत्क्षीरचतुर्गुणेन ॥ ९५ ॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद्रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात् ।

(४) शतावरी घृत—शतावर, अनार, इमली, काकोली, मेदा, मुलहठी, विदारीकन्द और बिजौरे की जड़ इनके कल्क के साथ चतुर्गुण दूध में घृत का पाक करे। यह घृत कास, ज्वर, आनाह, विबन्ध, शूल और रक्तपित्त को नष्ट करता है ॥ ९५- ॥

यत्पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि ॥९६ ॥
इति शतमूलादिघृतम् ।

(५) रसायन अध्याय में कहे पांच पञ्चमूलों से सिद्ध किया हुआ घी भी कास, ज्वर, आनाह, विबन्ध और रक्तपित्त को नष्ट करता है। इस घृत को कषाय और कल्क दोनों से सिद्ध करे ॥ ९६ ॥

कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः ।

(६) जिस समय दूषित दोष नाक से बहने वाले रक्त के साथ निकल चुके तब रक्तस्राव को रोकने के लिये उपरोक्त कषायों को कूट कर इनसे रस निकाल कर नासिका में डालना चाहिये। प्रारम्भ में रक्त का बन्द करना अच्छा नहीं।

घ्राणात्प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःस्रुतदुष्टदोषम् ॥ ९७ ॥
रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः ।
रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः क्रिमयश्च दुष्टाः ॥९८॥
नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन ।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा सधातकीमोचरसः सलोध्रः ॥९९॥

(७) अवपीडन द्वारा यदि आरम्भ में ही रक्तास्राव हो जाय तो दूषित दोष के अन्दर रुक जाने से दूषित प्रतिश्याय (पुरातन या दारुण) और शिरोरोग उत्पन्न हो जाते हैं, तथा पूय मिश्रित रक्त, मुर्दे की गन्ध (रक्त में, नासिका में), गन्ध की अनभिज्ञता और दूषित कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार से आम की गुठली (गीली या पानी में कूट कर) का स्वरस या नीला कमल, स्वर्ण गैरिक और शंख भस्म, श्वेत चन्दन इनके कल्क को शरबत के साथ पीस कर अवपीडन करे। लाजवन्ती या मजीठ को धाय के फूल के साथ अथवा मोचरस और लोध को जल से पीसकर अवपीडन करे ॥ ९७-९९ ॥

द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्य क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव ।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥१००॥
प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजकं वा ।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्य ससारिवैः स्यात्कमलोत्पलैश्च ॥१०१॥

निम्न वस्तुओं का नस्य देवे—(१) अगूर का रस, गन्ने का रस, दूध, दूब का स्वरस, जवासे की जड का स्वरस, प्याज का रस और अनार के फूल के रस को नस्य के लिये देवे । (२) पियाल के तैल को मलहठी के कल्क और दूध के साथ सिद्ध करके उसका नस्य देवे । (३) अथवा पियाल के तैल या मुलहठी को दूध के साथ पीस कर उसका नस्य देवे । (४) भैंस या बकरी के घी को आम की गुटली के साथ, लाजवन्ती और धाय के फूल के साथ, मोचरस और लोध के साथ, अगूर के रस, गन्ने के रस, दूध, दूब का स्वरस, जवासे की जड़का रस, प्याज का रस या अनार के फूल के रस के साथ सिद्ध करके देवे । (५) अथवा भैंस या बकरी के घी को अनन्तमूल, कमल और नीलोत्पल के फूलो के कल्क से पका कर नस्य देवे । पकाने मे सब द्रव्य घृत के समान, कल्क घी में चतुर्थांश लेवे ॥ १००–१०१ ॥

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या ॥ १०२ ॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च ।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः ॥ १०३ ॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च ।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे ॥१०४॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक्प्रयुञ्ज्यात् ॥१०५॥

भद्रश्रिया (श्वेत चन्दन), लाल चन्दन, पौण्डरीक, श्वेत कमल, नीला कमल, खस, वानीर (जलवेतस), जल (गन्धबाला), मृणाल (कमल नाल) सहस्रवीर्या (दूर्वा), मुलहठी, क्षीरकाकोली, शालि मूल, गन्ने की जड, जवासे की जड, गुन्द्रा (तृणविशेष) की जड़, नड सर, कुश, कास की जड़े, कुचन्दन (लाल चन्दन), सरवाल, सारिवा, कालानुसारी (तगर), गन्धतृण की जड़, ऋद्धि, कमलों की जड और पुष्प, और पोखर (तालाब) की मिट्टी का लेप, गूलर, पीपल, महुआ, लोध तथा कषाय रस वाले और शीतल वृक्ष ये सब रक्तपित्त की शान्ति के लिये प्रदेह, परिषेचन, अवगाहन, घी, तैल पाक मे प्रयोग करने चाहिये । इनसे घी आदि सिद्ध करके रक्तपित्त मे बरते ॥१०५॥

धारागृहं भूमिगृहं च शीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम् ।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः ॥१०६॥

दाह की शान्ति के लिये—धारागृह (फव्वारे वाले घर), भूमिगृह (तहखाने), जल और वायु से शीतल सुन्दर वन, लहसुनिया, मोती, मणि आदि से बने तथा शीतल पानी से ठण्डे किये वर्तनों का स्पर्श करना चाहिये इन पात्रों में बर्फ का पानी या चन्दनोदक भर कर स्पर्श करे ॥ १०६ ॥

पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलं च ।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः ॥१०७॥

बिस्तर और आसनों पर बिछाने के लिये जल में उत्पन्न कमल आदि के पत्ते या फूल, शीतल क्षौम वस्त्र, केले के पत्ते, कमल या नीले कमल के पत्ते बिछा कर उन पर सोवे ॥ १०७ ॥

प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम् ।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः ॥१०८॥

दाह में प्रियंगु, श्वेतचन्दन से लिप्त अंगों वाली प्रिय वारांगनाओं (स्त्रियों) का स्पर्श, कमल, नीले कमल का स्पर्श अथवा इनका और मोर के पंखों से बने पंखों को शीतल पानी से भिगो कर हिलाना उत्तम है ॥ १०८ ॥

सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम् ।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥१०९॥

नदियां, तालाब, पर्वतों की गुफायें, चन्द्रमा की किरणें, तालाबों का सेवन, मन के अनुकूल शान्ति देने वाली सब कथायें रक्तपित्त को शान्त करती हैं॥१०९॥

तत्र श्लोकौ—हेतुं वृद्धिं संज्ञां स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य ।
मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्यक्रमं चैव ॥ ११० ॥
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं च शमनं च ।
गुरुरुक्तवान् यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य ॥ १११ ॥

रक्तपित्त रोग के कारण, वृद्धि, संज्ञा, स्थान, लक्षण (पृथक् पृथक्), दोनों मार्ग, साध्यता असाध्यता, याप्य, चिकित्सा क्रम, हितकर खान-पान, त्याज्य पदार्थ, संशोधन, संशमन ये सब भगवान् आत्रेय ने इस रक्तपित्त चिकित्सा में कह दिये हैं ॥ ११०-१११ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम गुल्म की चिकित्सा का उपदेश करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥ ३ ॥
विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैरतिपीडनाद्वा ।
वेगैरुदीर्णैर्विहितैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ४ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ।
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ५ ॥
कफं च पित्तं च स दूषयित्वा प्रोद्धूय मार्गान्विनिबद्धय ताभ्याम् ।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥ ६ ॥

सब प्राणियों के लिये पिता के समान मंगलकारी भूत और भविष्य के स्वामी, वाग्मियों में श्रेष्ठ, पुनर्वसु ने गुल्म के नाश के लिये खूब सुपरीक्षित चिकित्सा का उपदेश किया।

कोष्ठ में वायु के कुपित होने के कारण—(१) पुरीष, कफ और पित्त इनके अतिस्राव से, अथवा (२) इनके अधिक बढ़कर रुकावट पैदा करने से, (३) मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकने से, (४) चोट लगने से, (५) अति दबाव पड़ने से, (६) रूक्ष, खान-पान के अति सेवन से, (७) शोक से, (८) वमन-विरेचन के मिथ्याचरण से और (९) विषम चेष्टाओं से कोष्ठ में वायु प्रकुपित हो जाता है। यह कुपित वायु कफ और पित्त को दूषित और अपने स्थान से विचलित करके मार्गों को रोक लेता है। इससे हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर तथा बस्ति में शूल उत्पन्न होता है। मार्ग के रुकने से वायु नीचे गुदा की ओर नहीं जा सकता ॥ ३-६ ॥

पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा ।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥ ७ ॥

पक्वाशय में, पित्ताशय में, कफाशय में स्वतन्त्र या परतन्त्र रूप से जब वायु स्पर्श से जानने योग्य पिण्डाकार रूप में हो जाता है तब दोषानुसार इसके वात-गुल्म आदि नाम होते हैं। [वात-गुल्म में वायु स्वतन्त्र और अन्य गुल्मों

पञ्चमोऽध्यायः

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'गुल्म की चिकित्सा' का उपदेश करते है। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥ ३ ॥
विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैरतिपीडनाद्वा ।
वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ४ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ।
विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ५ ॥
कफं च पित्तं च स दूषयित्वा प्रोद्धूय मार्गान्विनिबद्ध्य ताभ्याम् ।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥ ६ ॥

सब प्राणियों के लिये पिता के समान मंगलकारी, भूत और भविष्य के स्वामी, वाग्मियों में श्रेष्ठ, पुनर्वसु ने गुल्म के नाश के लिये खूब सुपरीक्षित चिकित्सा का उपदेश किया।

कोष्ठ में वायु के कुपित होने के कारण—(१) पुरीष, कफ और पित्त इनके अतिस्राव से, अथवा (२) इनके अधिक बढ़कर रुकावट पैदा करने से, (३) मल-मूत्र के उपस्थित वेगों को रोकने से, (४) चोट लगने से, (५) अति दबाव पड़ने से, (६) रूक्ष, खान-पान के अति सेवन से, (७) शोक से, (८) वमन-विरेचन के मिथ्याचरण से और (९) विषम चेष्टाओं से कोष्ठ में वायु प्रकुपित हो जाता है। यह कुपित वायु कफ और पित्त को दूषित और अपने स्थान से विचलित करके मार्गों को रोक लेता है। इससे हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर तथा बस्ति में शूल उत्पन्न होता है। मार्ग के रुकने से वायु नीचे गुदा की ओर नहीं जा सकता ॥ ३–६ ॥

पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा ।
स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥ ७ ॥

पक्वाशय में, पित्ताशय में, कफाशय में स्वतन्त्र या परतन्त्र रूप से जब वायु स्पर्श से जानने योग्य पिण्डाकार रूप में हो जाता है तब दोषानुसार इसके वात-गुल्म आदि नाम होते है। [वात-गुल्म में वायु स्वतन्त्र और अन्य गुल्मों

मे परतन्त्र रहता है। यही वायु जब पित्ताशय मे पित्ताश्रित होकर रहे तब पित्त-गुल्म होता है। पक्वाशय मे स्वतन्त्र रूप से रहने पर वात-गुल्म, कफाशय मे कफ के आश्रित रहने पर कफ-गुल्म होता है] ॥ ७ ॥

बस्तौ हि नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।
पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥ ८ ॥

पाँच प्रकार के (वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य सान्निपातिक और रक्त-जन्य) गुल्मों के पाँच स्थान हैं। जैसे—बस्ति, नाभि, हृदय और दोनों पार्श्व। इन पाँचों प्रकार के गुल्मों का निदान, लक्षण और चिकित्सा आगे कहेंगे ॥ ८ ॥

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च[1] निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ९ ॥
यः स्थानसंस्थानरुजाविकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ १० ॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ ११ ॥

वात-गुल्म के कारण—रूखा खानपान, अति अधिक विषम चेष्टाओं का करना, मल मूत्र के उपस्थित वेगों का रोकना, शोक, चिन्ता, मल का अतिशय क्षीण होना, भोजन का न करना (उपवास), वात-गुल्म का कारण है।

वात-गुल्म के लक्षण—वात-गुल्म का कोई स्थान निश्चित नहीं रहता, कभी इधर, कभी उधर, न इसका कोई आकार निश्चित होता है, कभी छोटा और कभी बड़ा, न इसमें वेदना ही निश्चित रहती है, कभी अधिक वेदना होती है और कभी नहीं होती। मल और वायु का अवरोध रहता है, गला और मुख शुष्क हो जाता है। शरीर का रंग काला-लाल हो जाता है, शीत-ज्वर सा प्रतीत होता है। हृदय, कुक्षि, पार्श्व और कन्धा मे दर्द रहती है, भोजन के जीर्ण होने पर वेदना अधिक बढ़ता है, परन्तु भोजन करने पर कम हो जाता है, ये वात गुल्म के लक्षण हैं, इस गुल्म में कषाय, तिक्त और कटु रस लाभ नहीं करते ॥ ९–११ ॥

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥ १२ ॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च।

---

१ 'ऽतिबलक्षयश्च' इति च पाठः।

स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥ १३ ॥

पित्त-गुल्म का कारण—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाहि, रूक्ष भोजनो से, क्रोध, अति मद्य, सूर्य और अग्नि के सेवन से, आमाभिघात (विदग्धाजीर्ण) से और दूषित रक्त से पित्त-गुल्म उत्पन्न होता है।

पित्त-गुल्म के लक्षण—ज्वर, प्यास का लगना, शरीर का लाल वर्ण, भोजन के जीर्ण होने के समय तीव्र शूल, पसीना, विदाह, व्रण के समान गुल्म मे हाथ के स्पर्श का सहन न करना ये पैत्तिक गुल्म के लक्षण है ॥ १२–१३ ॥

शीत गुरु स्निग्धमचेष्टन च सपूरण प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य, सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ १४ ॥
स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्व गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ १५ ॥

कफ-गुल्म का कारण—शीतल, गुरु, स्निग्ध खानपान, चेष्टा या श्रम न करना, तृप्तिपूर्वक आहार, दिन मे सोना कफ गुल्म के कारण है। तीनो दोषों को दूषित करने वाले आहार विहार सान्निपातिक गुल्म को उत्पन्न करते है।

कफ-गुल्म के लक्षण—स्तिमितता (गीले वस्त्र से आच्छादित की भाति अनुभव), शीत ज्वर, अंगो मे पीडा या भारीपन, वमन की इच्छा, जीमचलना, कास, अरुचि, भारीपन, शीत प्रतीति, थोडा थोडा दर्द, गुल्म का कठिन तथा ऊपर को उठा होना ये कफजन्य गुल्म के लक्षण है ॥१४–१५॥

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबल च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरास्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १६ ॥

द्विदोषजन्य गुल्म मे निदान, लक्षण और दोषो के बलाबल को देख कर शेष तीन द्विदोषजन्य (वातपित्तज, पित्तकफज, वातकफज) गुल्मो को औषध-क्रिया (चिकित्सा कार्य) मे जानना चाहिये ॥ १६ ॥

महारुजं दाहपरीतमश्मवदुन्नत शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिण त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥ १७ ॥

सन्निपातजन्य गुल्म के लक्षण—अतिशय वेदनायुक्त, दाह से युक्त, पत्थर की भाति कठोर और उठा हुआ, शीघ्र विदाह को प्राप्त होने वाला (शीघ्रपाकी), मन, शरीर और अग्नि के बल को हरने वाला त्रिदोषजन्य गुल्म है, यह असाध्य है ॥१७॥

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ १८ ॥

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः॥ १९॥

रक्त-गुल्म का निदान—ऋतुकाल मे आहार न करने से, भय से (गर्भ-स्थिति के भयमात्र से), रूक्ष आहार-विहार से, उपस्थित वेगो के रोकने से, रक्त-स्तम्भक औषधियो से, वमन के प्रयोग से, योनि-दोष के कारण स्त्रियो मे रक्तजन्य गुल्म होता है।

रक्तगुल्म के लक्षण—हाथ-पाव से रहित, पिण्डित मात्र, देर मे स्पन्द करता है, गर्भ के समान (स्तन का भारी होना आदि) लक्षणो से युक्त रक्त-जन्य गुल्म स्त्रियो मे ही होता है। इसकी चिकित्सा दसवें मास के पीछे करनी चाहिये। उस समय वह सुखसाध्य होता है। [रक्तगुल्म आर्त्तव दर्शन के समय मे ही होता है। वृद्धा और कुमारियो मे जिनमे आर्त्तव नही होता, रक्त-गुल्म नही होता। रक्तगुल्म पुराना होने पर ही सुख साध्य होता है। वह पुराना होने पर पर्य्याप्त प्रमाण मे बड़ा हो जाता है और साथ ही स्वाभाविक गर्भाशय के आकुचन इसको बाहर करने मे मदद करते है। दसवें मास मे ही प्रसव क्यो प्रारम्भ होता है, इसका सिवाय शरीर-धर्म के और कोई उत्तर नहीं है] ॥१८–१९॥

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम्।
प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान्॥ २०॥
रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम्।
बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत्॥ २१॥
भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः।
स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये॥ २२॥
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्।
भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति॥ २३॥
स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे।
पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये॥ २४॥

गुल्म-रोगियो के लिये गुल्म को नष्ट करने वाला सिद्ध (अनुभूत) चिकित्सा-क्रम कहते हैं, उसके पीछे गुल्मनाशक योग कहेगे।

वात-गुल्म की चिकित्सा—रूक्ष आहार और व्यायाम से उत्पन्न, तीव्र वेदना वाले, वायु और मल का अवरोध करने वाले वात-गुल्म की प्रथम स्नेहों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह के भोजन, अभ्यग, पान, निरूह बस्ति और अनुवासनो द्वारा रोगी को स्निग्ध बना कर गुल्म की शान्ति के लिये रोगी

को स्वेद देना चाहिये। स्नेहन के पीछे दिया स्वेद स्रोतों को नरम बना कर, तीव्र वायु को शान्त करके मल, वायु की रुकावट को तोड कर गुल्म को शान्त करता है। विशेषकर नाभि से ऊपर के गुल्म मे स्नेहपान हितकारी है। पक्वाशय के गुल्म मे बस्ति उत्तम है, जठराश्रित गुल्म मे स्नेहपान और बस्ति दोनो उत्तम है ॥ २०–२४ ॥

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥
पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः।
प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥ २६ ॥

वातिक गुल्म मे यदि अग्नि दीप्त हो और मल और वायु का विबन्ध हो तो पुष्टिदायक स्निग्ध और उष्ण खानपान प्रयोग करने चाहियें। वात-गुल्म मे कफ और पित्त की रक्षा करते हुए बार बार स्नेहपान और निरूह तथा अनुवासन देना चाहिये ॥ २५–२६ ॥

कफे वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा।
यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥ २७ ॥
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम्।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥ २८ ॥

कफ-वात के प्राय जीत चुकने पर चिकित्सा करते हुए यदि कदाचित् पित्त या रक्त कुपित हो जाये, तो प्रवृद्ध दोष के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये, परन्तु आदि, अन्त और मध्य सब समयो मे वायु की रक्षा करनी चाहिये ॥ २७-२८ ॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि।
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥ २९ ॥

वात-गुल्म मे यदि कफ बढ कर अग्नि को नष्ट करके अरुचि, जी मचलाना, भारीपन, तन्द्रा आदि को उत्पन्न कर दे तो वमन द्वारा कफ को बाहर निकाल देना चाहिये ॥ २९ ॥

शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे।
वर्तयो गुलिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥ ३० ॥

वात-कफ गुल्म मे शूल, आनाह और विबन्ध होने पर कफ-वात नाशक वर्त्तियो, गोलियो और चूर्णो का प्रयोग करे। वे बडी हितकारी हैं ॥ ३० ॥

पित्तं वा यदि संवृद्धं संतापं वातगुल्मिनः।

कुर्याद्विरूक्ष्यः स भवेत्स्नेहनैरानुलोमिकैः ॥ ३१ ॥
गुल्मो यद्यनिलादीना कृते सम्यग्भिषग्जिते ।
न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति[१] ॥ ३२ ॥

वातगुल्म रोगी मे यदि पित्त बढ़कर सन्ताप को उत्पन्न कर दे, तो अनुलोमन प्रभाव वाले स्नेहो द्वारा विरेचन करना चाहिये। [इसके लिये एरण्ड का तेल देना चाहिये।]। वात आदि दोषो की चिकित्सा भली प्रकार करने पर भी यदि गुल्म शान्त न हो तो यह समझ कर कि रक्त दूषित है, रक्त अर्थात् रक्तमोक्षण करे उससे वह शान्त हो जाता है ॥ ३१-३२ ॥

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् ।
रूक्षोष्णेन तु संभूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥ ३३ ॥
पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम् ।
कालविन्निर्हरेत्सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः ॥ ३४ ॥
पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत् ।
भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥ ३५ ॥

स्निग्ध, उष्ण कारणो से उत्पन्न पैत्तिक गुल्म मे स्रंसन (मृदु विरेचन) हितकारी है। रूक्ष और उष्ण कारणो से उत्पन्न गुल्म मे घी का पान औषध उत्तम है। [स्रंसन के लिये—कमीले के चूर्ण को मधु के साथ, अंगूर का रस और हरड़ का गुड के साथ पीना चाहिये। रूक्ष-उष्ण से उत्पन्न गुल्म के लिये—तिक्तक घृत, वासा घृत, पचतृण मूल से साधित घृत या दूध देना चाहिये।] पित्त गुल्म या पित्त यदि पक्वाशय मे स्थित हो तो समय का जानने वाला वैद्य तिक्त द्रव्यों से साधित दूध की बस्तियो से इसको शान्त करे अथवा अग्नि के बल को देखकर तिक्त द्रव्यो से युक्त गरम दूध पिलाकर अथवा तैल्वक घृत से विरेचन देवे। [तैल्वक घृत का वर्णन उदर-रोग मे करेंगे।] ॥ ३३-३५ ॥

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥ ३६ ॥
छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम् ।
रक्तं हि व्यम्लता याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥ ३७ ॥
हृतदोषं परिम्लाना जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः ।
समाश्वस्तं सशेषार्ति सर्पिरभ्यासयेत् पुनः[२] ॥ ३८ ॥

---

१ 'रक्तेन संस्नुतेनोपशाम्यति' इति च पाठः। २ 'सर्पिषा पुनराचरेत्' इति च पाठः।

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च ।
यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥ ३९ ॥

तृष्णा, अरुचि, ज्वर, दाह, स्वेद और अग्निमन्दता होनेपर गुल्म-रोगियो में (विदाह के पूर्वरूप होने पर ही) रक्तमोक्षण करे। रक्तमोक्षण से जड के कट जाने पर विदाह नही होता, गुल्म नष्ट हो जाते हैं। चूकि रक्त ही विदग्ध होता है, जब कारण (रक्त) ही नही रहेगा तो रोग भी नही रहेगा। रक्त मोक्षण के कारण मुरझाये रोगी को जागल पशु-पक्षियो के मास-रस से तर्पण करे। इसको सान्त्वना दे। शेष रोग की शान्ति के लिये बार-बार घी का सेवन करावे। रक्त और पित्त अति प्रवृद्धि होने से अथवा चिकित्सा के न करने से यदि गुल्म मे विदाह हो जाय तो शस्त्र-कर्म करे, यही औषध है ॥ ३६-३६ ॥

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमासोत्तराश्रयः ।
अविवर्णः स्थिरः स्निग्धो ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥ ४० ॥

अपक्व गुल्म के लक्षण—गुरु, कठोर आकृति वाला, गम्भीर, मास मे छिपा, त्वचा के समान वर्ण का स्थिर, स्निग्ध (चिकना) होता है ॥ ४० ॥

दाहशूलार्ति[१]संक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः ।
विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत्[२] ॥ ४१ ॥

विदह्यमान गुल्म के लक्षण—दाह, शूल, पीड़ा, सक्षोभ (कीडियो के चलने का सा अनुभव), नींद का न आना, बेचैनी, ज्वर का होना, ये गुल्म के पकते समय के लक्षण हैं। इस अवस्था मे उपनाह पुल्टिस आदि बाधनी चाहिये ॥ ४१ ॥

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते ।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते सस्पर्शे बस्तिसन्निभे ॥ ४२ ॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात् ।
तत्रैव पिण्डिते शूले संपक्वं गुल्ममादिशेत् ॥ ४३ ॥
तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ ।
वैद्यानां कृतयोगानां व्यधशोधनरोपणे ॥ ४४ ॥

पक्व गुल्म के लक्षण—गुल्म मे पक्वव्रण के लक्षण, दर्द का न होना, झुर्रियो का आ जाना, खाज आदि, गुल्म मास को छोड़कर त्वचा मे पृष्ठवर्त्ती हो जाये, उभरा हो, बीच मे से श्यामवर्ण, किनारो से लाल, स्पर्श मे बस्ति के समान (एक ओर से दबाने पर तरग दूसरी ओर अनुभव होती हो), दबाने से दब जाये, परन्तु दबाव हटाने पर फिर उठ जाये, सुप्त (बढे नही), पार्श्व

१ 'शूलाग्नि' इति च पाठः । २ 'समुपना-' इति च पाठः ।

के दबाने पर भी स्तब्ध रहे, गुल्मस्थान मे ही सम्पूर्ण शूल एकत्र हो जाये तब गुल्म को पका समझना चाहिये । गुल्म के पक जाने पर जिन वैद्यो ने व्यधन, शोधन और रोपण काया मे अभ्यास किया हो, वे ही धान्वन्तरीय वैद्य शस्त्र-कर्म करे । यही इसकी चिकित्सा है ॥ ४२–४४ ॥

अन्तर्भागस्य चाप्येतत्पच्यमानस्य लक्षणम् ।
हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः ॥ ४५ ॥
पक्वः स्रोतांसि संक्लिद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा ।
स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः ॥ ४६ ॥
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन्भिषगुपद्रवान् ।

गुल्म के दो मार्ग है । यदि गुल्म पक कर अन्दर को मुख करता है तो 'अन्तःस्थ' और बाहर की ओर मुख करता है, तो 'बहिःस्थ' होता है अन्तःस्थ भाग वाले गुल्म के पकने पर भी उपरोक्त लक्षण होते है, साथ ही हृदय और क्रोड़ (कुक्षि और उदर) मे शूनता (सूजन) आती है । बहिःस्थिति मे सूजन पार्श्वो की ओर आ जाती है । गुल्म पक कर स्रोतो को क्लिन्न बना कर ऊपर वमन द्वारा अथवा नीचे की ओर मल के साथ प्रवृत्त होता है । अपने आप प्रवृत्त हुए दोष की पथ्याहार द्वारा दस या बारह दिनो तक उपद्रवो से रक्षा करते हुए उपेक्षा करनी चाहिये, दोषो को बहने देना चाहिये ॥ ४५–४६ ॥

अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम् ॥ ४७ ॥
शुद्धस्य[१] तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते ।
अन्तर्विद्रधिवच्चास्य कार्ये शोधनरोपणे[२] ॥ ४८ ॥

इसके पश्चात् विशोधनयुक्त द्रव्यो से साधित घृत का पान करावे । पूय आदि का शोधन हो जाने पर तिक्त द्रव्यो से साधित घृत को मधु के साथ देवे पीछे से अन्तर्विद्रध के समान शोधन और रोपण कार्य करे ॥ ४७–४८ ॥

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके ।
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः ॥ ४९ ॥
मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः ॥ ५० ॥
उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने ।
योज्याश्चाहारसंसर्गा भेषजैः कटुतिक्तकैः ॥ ५१ ॥
सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम् ।

---

१ 'शुद्ध सतिक्त' इति च पाठः । २ इद श्लोकार्धं क्वचिन्नास्ति ।

दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलये[1] द्भिषक् ॥ ५२ ॥

कफजन्य गुल्म यदि शीतल, गुरु, स्निग्ध आहारों के कारण उत्पन्न हुआ हो और रोगी वमन के अयोग्य तथा मन्दाग्निवाला हो तो प्रथम लघन करावे। वमन योग्य—जिसकी अग्नि मन्द हो, वेदना भी कम हो, कोष्ठ भारी और जकड़ा हो, वमन की अभिरुचि (प्रवृत्ति) होती हो अरुचि रहती हो तो गुल्म रोगी को वमन के योग्य समझे। वमन और लघन हो चुकने पर रोगी की उष्ण परिचर्य्या करे। कटु और तिक्त ओषधियो से सिद्ध आहार करावे। यदि गुल्म मे आनाह, मल, वायु का विबन्ध हो और गुल्म कठिन तथा ऊपर को उठा हुआ हो तो प्रथम स्वेदन दे शून्य होनेपर अगुली आदि से दबा कर या मर्दन कर इसको विलीन करे ॥ ४९–५२ ॥

लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ सम्प्रधुक्षिते ।
कफगुल्मे पिबेत्काले सक्षारकटुकं घृतम् ॥ ५३ ॥
स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः ।
सस्नेहैर्बस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद्दशमूलकैः ॥ ५४ ॥
वृद्धेऽग्नावनिलेऽमूढे[2] ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ।
गुटिकाश्चूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् ॥ ५५ ॥

कफ गुल्म मे—लघन से, वमन से, स्वेदन से अग्नि को प्रदीप्त करने पर भोजन-काल मे क्षार और कटु-द्रव्यो से युक्त घृत पिलावे। यदि कफ-गुल्म अपने स्थान से चलायमान हो जाये तो विरेचन द्वारा अथवा स्नेह युक्त दश-मूल की बस्तियो से सशोधन करे। अग्नि के प्रवृद्ध होने पर, वायु के अनुलोम होने पर, आमाशय (कोष्ठ) को स्निग्ध हुआ समझ कर, कफ-गुल्म रोगी को गुटिका, चूर्ण और क्वाथो का सेवन करावे ॥ ५३–५५ ॥

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम् ।
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ॥ ५६ ॥
दोषः प्रकृतिर्गुल्मं तु योगं बुद्ध्वा कफोल्बणे ।
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ॥ ५७ ॥
एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः ।
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ॥ ५८ ॥
श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः ।
भित्त्वा भित्त्वाऽऽशयात्क्षारः[3] क्षरत्वात्क्षारयत्यधः ॥ ५९ ॥

१ 'विनयेद्' इति । २ 'मन्दाग्नावनिले मूढे' इति च ।
३. 'ऽऽशयान् क्षार' इति च पाठः ।

कफजन्य गुल्म यदि जड़ बनाले, बहुत अधिक फैला हो, कठिन हो, जड़ हो और गुरु हो तो क्षार, अरिष्ट-पान और अग्नि-कर्म द्वारा शान्त करे। कफजन्य गुल्म में दोष (कफ दोष), प्रकृति (रोगी की कफ प्रकृति), गुल्म (स्थिर, महावास्तु आदि लक्षणों से युक्त), ऋतु (वसन्त या हेमन्त) के अनुसार रोगी के बल, दोष के प्रमाण को समझने वाला वैद्य क्षार का प्रयोग करे। शरीर के बल, दोषों की वृद्धि तथा क्षय को समझने वाला वैद्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन की बाधा देकर पुनः दूसरी बार क्षार का प्रयोग करे। मांस, दूध, घी को खानेवाले पुरुष के मधुर और स्निग्ध कफ को कोष्ठ से तोड़-तोड़ कर क्षार नीचे की ओर क्षरित करते हैं। क्योंकि क्षार की प्रकृति ही क्षरण करने की है ॥ ५६–५९ ॥

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम् ।
प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ॥ ६० ॥
लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः ।
बस्तिभिर्गुलिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ॥ ६१ ॥
श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति ।
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ॥ ६२ ॥
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ ।
तयोः शमाच्च संघातो गुल्मस्य विनिवर्तते ॥ ६३ ॥
दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् ।
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम् ॥ ६४ ॥
व्यामिश्रदोषैर्व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः ।

अरिष्ट प्रयोग के काल—जो रोगी स्निग्ध आहार करते हों, अग्नि मन्द हो, अरुचि हो और उनको मद्य का सात्म्य हो तो मार्ग की शुद्धि के लिये अरिष्टों का प्रयोग करे। लंघन से, वमन से, स्वेदन से, घृतपान से, विरेचन से, बस्तियों से, गुटिका, चूर्ण, क्षार और अरिष्ट के प्रयोगों से भी कफजन्य गुल्म, जड़ पकड़ लेने के कारण शान्त नहीं होता, उस गुल्म को रक्त-मोक्षण करने पर शरलोह (बाण का लोह) आदि से दाह करे। गुल्म में अग्नि उष्ण होने से, तीक्ष्ण गुण होने से कफ और वायु दोनों को शान्त कर देती है। इन दोनों के शान्त होने पर गुल्म का संघात (एकत्र होना) भी टूट जाता है। इस दाह-कर्म के प्रयोग में भी धान्वन्तरीय शस्त्र-चिकित्सकों का ही अधिकार है, क्षार-प्रयोग में क्षार-तन्त्र को जानने वालों से कर्म करावे। मिश्रित दोषों में दोषों की मिश्रित चिकित्सा करे ॥ ६०–६४ ॥

सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥ ६५ ॥
त्र्यूषणत्रिफलाधान्यबिडङ्गचव्यचित्रकैः ।
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ॥ ६६ ॥
इति त्र्यूषणादिघृतम् ।

इसके आगे गुल्मनाशक सिद्ध प्रयोगों का वर्णन करते हैं ।

(१) त्र्यूषणादि घृत—सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आवला, धनिया, वायविडंग, चविका, चीतामूल इनके कल्क से और दूध द्वारा साधित घृत वात-गुल्म को नष्ट करता है । [मात्रा आधा तोला] ॥ ६५–६६ ॥

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पाञ्चमूलिकः ।
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद् घृत गुल्मनुत्परम् ॥ ६७ ॥
इति त्र्यूषणादिघृतमपरम् ।

(२) त्र्यूषणादि घृत—काली मरिच आदि वस्तुओं के कल्क के साथ बृहत्पचमूल क्वाथ में घृत सिद्ध करे । अथवा पचमूल के स्थान पर दशमूल का क्वाथ लेकर इन्हीं कल्कों से (त्र्यूषणादि) घृत सिद्ध करे । [घृत २ प्रस्थ, क्वाथ ८ प्रस्थ, कल्क १ शराव हो] यह घृत गुल्मनाशक है ॥ ६७ ॥

षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि ।
प्रसन्नया वा क्षीरोत्थं सुरया दाडिमेन वा ॥ ६८ ॥
दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत्[1] ।
इति गुल्मषट्पलघृतम् ॥

(३) गुल्मषट्पल घृत—राजयक्ष्मा में कहे 'षट्-पल' घृत का पान करावे । दूध से निकले घी को प्रसन्ना (सुरा के ऊपर के स्वच्छ भाग) के साथ, सुरा से, अनार के रस से, दही की मलाई के साथ ले । यह घृत वात-गुल्म को नष्ट करता है । [प्रसन्ना आदि को दूध के साथ मिला कर मथने से घृत को पृथक् करके बरते यह श्री गंगाधरसेन का मत है ।] ॥६८॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडदाडिमदीप्यकैः ॥ ६९ ॥
पुष्करव्योषधान्याम्ल[2]वेतसक्षारचित्रकैः ।
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम् ॥ ७० ॥
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ।
इति हिंगुसौवर्चलाद्यं घृतम् ।

(४) हिंगुसौवर्चलादि घृत—हीग, सौंचर नमक, अजाजी (जीरा), विडनमक (काला नमक), अनारदाना, अजवायन, पोहकरमूल, त्रिकटु,

---

१ 'मारुतगुल्मिनाम्' इति वा पाठः । २ 'धान्याक' इति च पाठः ।

धनिया, अम्लवेतस, यवक्षार, चीता, कचूर, वचा, अजगन्धा, छोटी इलायची, तुलसी, इनका कल्क मिलित १ शराव, दही ८ प्रस्थ और घृत २ प्रस्थ लेकर यथाविधि पाक करना चाहिये। यह घृत वात-गुल्म रोगियों के शूल और आनाह को नष्ट करता है ॥ ६९—७०- ॥

हबुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः ॥ ७१ ॥
साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम् ।
मातुलुङ्गदधिक्षीरकोलमूलकदाडिमैः ॥ ७२ ॥
रसैस्तद्वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम् ।
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान् ॥ ७३ ॥
बस्ति-हृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति ।

इति हबुषाद्य घृतम् ॥

(५) हबुषाद्य घृत—हबुषा (हाऊबेर), त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली), पृथ्वीका (हिंगुपत्री या मोटा जीरा), चविका, चीता, सैन्धव नमक, अजाजी (जीरा), पिप्पली मूल, अजवायन मिलित इनका कल्क १ शराव, बिजारे का रस, दधि, दूध, बेर का क्वाथ, मूली का क्वाथ और अनार का रस प्रत्येक २ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ इन से घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत वात-गुल्म को नष्ट करता है, शूल, आनाह को मिटाता है। योनिरोग, अर्श, ग्रहणी, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, बस्तिशूल, हृदयशूल, पार्श्वशूल को यह घृत नष्ट करता है ॥ ७१—७३- ॥

पिप्पल्याः[1] पिचुरध्यर्द्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम् ॥ ७४ ॥
धान्यात्पञ्च[2] घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम् ।
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो वातगुल्मं चिकित्सति ॥ ७५ ॥
योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम् ।

इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः ॥ ७४ ॥
ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम् ।

(६) पिप्पल्याद्य घृत—घी ५ पल, गाय का दूध २० पल, पिप्पली १॥ पिचु, अनारदाना २ पल, धनिया १ पल, सोंठ १ कर्ष इनसे सिद्ध घृत वात-गुल्म, योनिशूल, शिरोवेदना, अर्श और विषम ज्वर को नष्ट करता है। [चक्रदत्त में इस घृत का नाम 'पञ्चपल घृत' दिया है। अष्टांगसंग्रह में—

१ 'पिप्पल्यः पिचु' इति च। २ गंगाधर सेन ने 'प्रस्थ घृतात्' पाठ माना है।

शुण्ठी १ पल, पिप्पली १॥ पल, धान्य १ कुडव, दाडिम २ कुडव, घृत २० पल और दूध एक साथ पकावे]। घृतसाधन के लिये जिन औषधियों के गुण कहे हैं, उनका चूर्ण, वत्ति और कषाय के रूप में भी गुल्म रोगियों पर प्रयोग करे ॥ ७४-७६ ॥

कोलदाडिमघर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः ॥ ७७ ॥
शूलानाहनुदः पेया बीजपूररसेन वा ।
चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा ॥ ७८ ॥
कुर्याद्वर्तीः सगुडिका गुल्मानाहार्तिशान्तये ।

इन औषधि गणो के चूर्णो को बेर का रस, अनार का रस, गरम पानी, सुरा, मण्ड, खट्टी काजी या बिजौरे के रस के साथ पीवे। इससे शूल और आनाह नष्ट होते हैं। उपरोक्त चूर्णो को बिजौरे के रस से भावना देकर वत्तिया और गुटिकाये बनावे। ये वत्तिया गुल्म और आनाह (अफारा) को नष्ट करती हैं ॥ ७७-७८ ॥

हिगु त्रिकटुकं पाठा हवुषामभया शटीम् ॥ ७९ ॥
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ।
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजी चित्रकं वचाम् ॥ ८० ॥
द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ।
चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यमनुपानेष्वनत्ययम् ॥ ८१ ॥
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ।
पार्श्वहृद्-बस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके ॥ ८२ ॥
आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे ।
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीहि पाण्डूवामयेऽरुचौ ॥ ८३ ॥
उरोविबन्धे कासे च हिक्काश्वासे गलग्रहे ।

(७) हिग्वादि चूर्ण—हीग, त्रिकटु, पाठा, हाऊबेर, हरड़, कचूर, अजवायन, अजगन्धा (अजवायन का भेद), तिन्तिडीक (इमली), अम्लवेतस, अनारदाना, पोहकरमूल, धनिया, श्वेत जीरा, चीता, वच, यवक्षार, सर्जिक्षार, सेन्धा नमक, सञ्चलनमक और चविका इनको समान भाग मे लेकर चूर्ण करना चाहिये। [मात्रा १ मासे से ३ मासे तक।] इस चूर्ण को भोजन से पूर्व [यदि पेट मे अम्ल अधिक हो तो] मद्य या गरम पानी से पीवे। भोजन के तत्काल पीछे [यदि क्षार अधिक हो तो] उष्ण जल या तक्र से ले। यह चूर्ण पार्श्वशूल, बस्तिशूल, कफजन्य और वातजन्य

गुल्म, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुदाशूल, योनिशूल, ग्रहणी, अर्शरोग, प्लीहा, पाण्डु रोग, अरुचि, छाती मे रुकावट (कफावरोध-), कास, हिचकी, श्वास और गलग्रह मे उपयोगी है। [चिकित्सा-कलिका मे पिप्पली मूल और विड नमक का भी मिश्रिन किया है। अन्त. प्रयोगो मे अजमोदा से यमानिका (अजवायन) लेनी चाहिये। बाह्य प्रयोग मे अजमोदा से अजमोद लेनी चाहिये।] ॥ ७६–८३ ॥

भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद्रसेन वा ॥ ८४ ॥
बहुशो गुडिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ।
इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुडिका च ।
मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं बिडसैन्धवे ॥ ८५ ॥
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ।

(८) हिङ्ग्वादि गुटिका—इस हिङ्ग्वादि चूर्ण को बिजोरे के रस से [सात बार या जब तक चूर्ण स्वच्छ न हो जाय तब तक] भावना देकर गोलिया बनावे। ये गोलिया चूर्ण से अधिक काम करती है। (९) वात-गुल्म की पीड़ा को शान्त करने के लिये बिजोरे का रस, हींग, अनारदाना और बिड नमक इनको सुरा मण्ड के साथ पावे॥ ८४–८५ ॥

शटीपुष्करहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान् ॥ ८६ ॥
धन्याकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ।
सचव्यपिप्पलीमूलमजगन्धां सदाडिमाम् ॥ ८७ ॥
अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुयुक्तेन वा पुनः ॥ ८८ ॥
भावितं गुडिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसंमिताम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम् ॥ ८९ ॥
हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजाम् ।
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम् ॥ ९० ॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति ।

(१०) शट्यादि वटी—कचूर, पुष्करमूल, हींग, अम्लवेतस, चीता, यवाखार, धनिया, अजवायन, वायविडग, सेन्धा नमक, वच, चविका, पिप्पली-मूल, अजगन्धा, अनारदाना, जीरा, अजमोदा [वन-यमानी], इनके चूर्ण को बिजौरे के रस की अथवा मधु-शुक्त की भावना देकर बेर के समान आकार की गोलिया बना लेनी चाहियें। यह गुल्म, प्लीहा, आनाह, श्वास, कास,

अरुचि, हिचकी, हृदय-रोग, अर्श नाना प्रकार की शिरोवेदना, पाण्डु-रोग, कफ का उत्क्लेश [जी मचलाना], त्रिदोषजन्य प्रवाहिका, पार्श्व-शूल, हृदयशूल, बस्तिशूल को नष्ट करता है। [मधु-शुक्त बनाने के लिये मधु के बर्त्तन मे जम्बीर (नीम्बू) का रस और पिप्पली-मूल की कल्क डाल कर सन्धान कर देना चाहिये।] ॥ ८६-९०- ॥

नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च ॥ ९१ ॥
तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन वा पिबेत्।
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत् ॥ ९२ ॥
पिबेदेरण्डतैलं[1] वा वारुणीमण्डमिश्रितम्।
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः ॥ ९३ ॥
श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम्।

(११) नागरादि योग—सोठ आधा पल (२ कर्ष), साफ किये तिल २ पल, गुड़ एक पल इनको कूट कर मात्रा मे गरम दूध से पीना चाहिये। यह वात-गुल्म, उदावर्त्त और योनिरोग को नष्ट करता है। अथवा एरण्ड तैल को वारुणी-मण्ड मे मिलाकर पीवे। इससे वातगुल्म का आराम होता है। जब कफ का अनुबन्ध हो तो पूर्वयोग और पित्त का अनुबन्ध हो तो पिछला योग बरते ॥ ९१–९३ ॥

साधयेत् शुद्धशुष्कस्य[2] लशुनस्य चतुष्पलम् ॥ ९४ ॥
क्षीरे जलाष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत्।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसी विषमज्वरम् ॥ ९५ ॥
हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः।
इति लशुनक्षीरम्।

(१२) लशुन-क्षीर—सूखे और छिलके उतार कर साफकिये लशुन की गिरिया ४ पल लेकर इनको जल मिश्रित आठ गुने दूध (३२ पल) मे सिद्ध करे, केवल दूध रह जाने पर इसको पीवे। इससे वातगुल्म, उदावर्त्त गृध्रसी, विषम ज्वर, हृदय रोग, विद्रधि और शोथ शीघ्र शान्त होते है। [यद्यपि दूध और लशुन विरोधी है, परन्तु तो भी रोग की महत्ता के कारण तथा आर्ष शास्त्र के प्रयोगवश उपयोग करना चाहिये।] ॥ ९४–९५ ॥

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम् ॥ ९६ ॥

१, 'पिबेदैरण्डक तैलं' इति वा। २, 'सिद्धशुष्कस्य' इति च पाठः ॥

गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ।

इति तैलपञ्चकम् ।

(१३) तैल-पंचक—एरण्ड तैल, प्रसन्ना, गोमूत्र, काजी और यवक्षार इनको उचित मात्रा में पीने से गुल्म, जठर और आनाह रोग नष्ट होते हैं।

पञ्चमूलीकषायेण सक्षीरेण शिलाजतु ॥ ९७ ॥
पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात्प्रमुच्यते ।

इति शिलाजतुप्रयोगः ।

(१४) शिलाजतु-प्रयोग—पंचमूल क्वाथ में दूध मिलाकर इसके साथ शिलाजतुका प्रयोग करने से वातगुल्म नष्ट होता है। [यहा पर बृहत्पंचमूल लेना चाहिये ।] ॥ ९७ ॥

वाट्यं यूषेण पिप्पल्या मूलकानां रसेन वा ॥ ९८ ॥
भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते ।
शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद्वातगुल्मिनम् ॥ ९९ ॥
स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ।

(१५) स्नेहयुक्त जो के अन्न को मूग आदि के यूष के साथ, अथवा पिप्पली प्रधान यूष के साथ, अथवा मूली के रस के साथ खाने से उदावर्त्त और वातगुल्म रोग शान्त होते हैं।

(१६) वातगुल्म में यदि शूल, आनाह और विबन्ध हो तो स्वेदाध्यायमें कहे नाड़ी-स्वेद, प्रस्तर-स्वेद और संकर स्वेद देने चाहिये ॥ ९८–९९- ॥

बस्तिकर्म परं विद्याद् गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम् ॥ १०० ॥
स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ।
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः ॥ १०१ ॥
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः ।
गुल्मघ्ना विविधा दृष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु बस्तयः ॥ १०२ ॥

इति बस्तिक्रिया ।

गुल्म को नष्टकरने के लिये बस्तिकर्म अतिशय उत्कृष्टहै । चूंकि यह कर्म पक्वाशय में वायु का शमन करके गुल्म को नष्टकरता है । इसलिये बारबार निरूह और अनुवासन बस्तियों के प्रयोग से वात-पित्त-कफजन्य गुल्म शान्त हो जाते हैं । सिद्धिस्थान में फलप्रद गुल्मनाशक बस्तियों का उपदेश किया है ॥ १००–१०२ ॥

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके ।
तानि मारुतगुल्मेषु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥ १०३ ॥

प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित् परम् ।

वात-व्याधि चिकित्सा मे गुल्मनाशक तैलो को कहेंगे । यह तैल वातगुल्मों मे पान अभ्यग और अनुवासन के रूप मे प्रयोग करने से फलदायक होते है । क्योंकि वात के शमन के लिये तैल श्रेष्ठ औषध है ॥ १०३-॥

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च ॥ १०४ ॥
समलाय प्रदेयं स्याच्छोधनं वातगुल्मिने ।
नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह ॥ १०५ ॥
शोधनार्थं घृतं देयं सविडक्षारनागरम् ।
नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम् ॥ १०६ ॥
पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके ।
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १०७ ॥
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ।
ततो घृतपलं दद्याद् यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ १०८ ॥
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद् रसभोजनम् ।
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान् ॥ १०९ ॥
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद् व्यपोहति ।

इति नीलिन्याद्यं घृतम् ।

(१७) वातगुल्म रोगी के पेट मे मल हो तो शोधन के लिये पूर्व कथित त्र्यूषणादि-घृत मे नीलिनी का चूर्ण मिलाकर प्रयोग करना चाहिये । (१८) नीलिन्याद्य घृत—नीलनीमूल, निशोथ, दन्तीमूल, हरड, कमीला इनसे साधित घी मे [घृत की अपेक्षा चौगुना पानी मिला कर] बिड नमक, यवक्षार और सोठ मिला कर विरेचन के लिये देना चाहिये । अथवा त्र्यूषणादि घृत मे इनका चूर्ण मिलाकर प्रयोग करना चाहिये । (१९) नीलिन्याद्य घृत (२)—गाय का घी १ प्रस्थ, नीलिनी मूल, त्रिफला, रास्ना, खरैटी, कुटकी, वायविडग, कटेरी इनको एक एक पल लेकर १ आढक पानी मे पकाना चाहिये । चतुर्थांश शेष रहने पर घी और दही १ प्रस्थ, सेहुण्ड का दूध १ पल मिला कर घी पकाना चाहिये । इस घी की एक पल मात्रा (आज कल १ तोला) को यवागू के मण्ड मे मिला कर देवे । इसके जीर्ण हो जाने पर और रोगी को विरेचन हो जाने पर मास रस का भोजन देवे । इस घी से गुल्म, कुष्ठ, उदर-रोग, व्यग, शोफ, पाण्डु रोग, ज्वर, श्वित्र, प्लीहा और उन्माद रोग नष्ट होते है ॥१०४–१०९॥

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः ॥ ११० ॥
शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम् ।

हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ॥ १११ ॥
समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम् ।
मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति ॥ ११२ ॥
तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम्[१] ।
सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ॥ ११३ ॥
या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते ।

वातगुल्म में पथ्य—मुर्गा, मोर, तीतर, कौंच, वर्त्तक, (बटेर), शालि चावल, मदिरा, घी ये सब वस्तुयें वातगुल्म में औषध हैं। वातगुल्म के रोगी के लिये उष्ण द्रव और स्निग्ध भोजन हितकारी है। अथवा मण्डयुक्त वारुणी का पीना या धनिये से (षडङ्गपानीय विधि से) पकाये जल का उपयोग उत्तम है। अग्नि के मन्द होने पर गुल्म बढ़ता है, अग्नि के बढ़ जाने पर गुल्म शान्त हो जाता है। इसलिये पुरुष को चाहिये कि न तो बहुत तृप्त होकर (पेट भरकर) भोजन करे और न लंघन ही करे। मात्रा में थोड़ा खावे। सब गुल्मों में प्रथम स्नेहन और स्वेदन करने पर फिर जो भी क्रिया की जाती है, वह अवश्य सफल होती है। रूक्ष (वात-प्रकोप की) अवस्था में की हुई क्रिया फलवती नहीं होती ॥११०–११३॥

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत् ॥ ११४ ॥
वैरेचनिकसिद्धेन पयसा सर्पिषाऽपि वा ।

वैद्य को चाहिये कि पित्तगुल्म को घातक समझकर शीघ्र उपचार करे। इसके लिये विरेचक वस्तुओं से सिद्ध हुए दूध या घी का प्रयोग करे ॥११४–॥

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकं त्रिफलात्वचः ॥ ११५ ॥
कार्षिका त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले ।
द्विपलं च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ॥ ११६ ॥
शृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम् ।
पिबेत्संमूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥ ११७ ॥
ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ।

इति रोहिण्याद्यं घृतम् ॥

(१) रोहिण्याद्य घृत—कुटकी, नीम की छाल, मुलैहठी, हरड़, बहेड़ा, आवला की बकली, त्रायमाणा प्रत्येक १ कर्ष, पटोल और निशोथ एक-एक पल, मसूर २ पल इनको घी से आठ गुणे जल में पकावे। अष्टमांश (४ पल)

---

१ 'तस्मादन्नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घितम्' इति च पाठः ।

शेष रहने पर छान ले। इसको चार पल घी के साथ रोगी को दे। इससे पैत्तिक गुल्म शान्त होता है, और ज्वर, श्वास, शूल, भ्रम, मूर्च्छा और अरुचि नष्ट होती है। [आजकल २ पल क्वाथ और २ पल घी बरते।] ॥११५-११७॥

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम् ॥ ११८ ॥
पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः।
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा ॥ ११९ ॥
कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः।
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च ॥ १२० ॥
पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत्।
पित्तरक्तभवं गुल्मं विसर्पं पैत्तिकं ज्वरम् ॥ १२१ ॥
हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद् घृतोत्तमम्।

इति त्रायमाणाद्यं घृतम्।

(२) त्रायमाणाद्यघृत—त्रायमाणा ४ पल, पानी दस गुना (चालीस पल) लेकर पकाना चाहिये। पञ्चमांश (८ पल) रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें कुटकी, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, तामलकी (भूई आवला), वीरा (क्षीरकाकोली, शतावरी या शालिपर्णी), जीवन्ती, चन्दन, नीला कमल प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर इनका कल्क, आवले का रस ८ पल, दूध ८ पल, घी ८ पल लेकर सब से घृत सिद्ध करे। यह घृत पित्त-रक्तजन्य गुल्म, वीसर्प, पित्तजन्य ज्वर, हृदय रोग, कामला और कुष्ठ को नष्ट करता है ॥ ११८-१२१ ॥

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं[१] विपाचयेत् ॥ १२२ ॥
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत्।

इत्यामलकाद्यं घृतम्।

(३) आमलकाद्यघृत—आवले का रस या क्वाथ ८ प्रस्थ, गन्ने का रस ८ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ, और हरड़ का कल्क १ शराव (८ पल) लेकर घृत पकाना चाहिये। यह घी पित्त गुल्म को नष्ट करता है ॥ १२२- ॥

द्राक्षां मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम् ॥ १२३ ॥
परूषकाणि त्रिफलां साधयेत्पलसंमिताम्।
जलाढके पादशेषं रसमामलकस्य च ॥ १२४ ॥
घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम्।
साधयेत्तद् घृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥ १२५ ॥

१ 'घृतपादं' इति च पाठः।

प्रयोगात्पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत् ।

इति द्राक्षाद्यं घृतम् ।

(४) द्राक्षाद्यघृत—मुनक्का, महुवा, पिण्डखर्जूर, विदारीकन्द, शतावरी, फालसा, त्रिफला, इनको एक-एक पल लेकर २ आढक जल मे क्वाथ करे । (२ प्रस्थ) रहने पर छान ले । इसमे आवले का रस दो प्रस्थ, ईख का रस २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, और घी २ प्रस्थ मिलावे । कल्कार्थ हरड़ ८ पल ले । इनके द्वारा घृत पकावे । शीतल होने पर इसमे चतुर्थांश शर्करा और मधु (मिलित) मिलाकर प्रयोग करे । यह पित्त गुल्म और पैत्तिक रोगो को नष्ट करता है[1] ॥ १२३–१२५– ॥

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले ॥ १२६ ॥
शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत् ।
तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत् ॥ १२७ ॥
रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम् ।

इति वासाघृतम् ।

(५) वासाघृत—जड समेत वासा (अडूसा) को लेकर इसको कुचल कर आठ गुणे पानी मे क्वाथ करे । जब अष्टमांश रह जाये तब छान कर वासा के फूलो का कल्क मिला कर घी सिद्ध करे । घी के ठण्डा होने पर मधु मिलावे यह घी पित्त-गुल्म, रक्त पित्त, ज्वर, श्वास, कास और हृदय-रोग को नष्ट करता है । [यह वासा-घृत रक्तपित्त के वासा-घृत से पृथक् है । इसलिये उसे चतुर्गुण पानी मे सिद्ध किया है । अष्टांगसंग्रहकार दोनो को एक ही माना है] ॥ १२६–१२७ ॥

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम् ॥ १२८ ॥
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ।
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥ १२९ ॥
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ।

(६) त्रायमाणा को दो पल लेकर ४ प्रस्थ (६४ पल) पानी मे पकावे, अष्टमांश रहने पर इसको छान कर कोसा होने पर इसमे समान मात्रा दूध को मिलावे, इसको पीकर ऊपर से शक्ति-अनुसार गरम दूध पीवे । इससे विरेचन होने पर पैत्तिक गुल्म शान्त हो जाता है ।

[अष्टांगसंग्रह मे त्रायमाणा से ही दूध को सिद्ध करके प्रयोग करना लिखा है] ॥ १२८–१२९– ॥

१. महुवे के स्थान पर मधुक पाठ मे मुलहठी अर्थ होगा ।

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत् ॥ १३० ॥
लिह्यात्कम्पिल्लकं वाऽपि विरेकार्थं मधुद्रवम् ।

(७) पित्त-गुल्म में विरेचन के लिये द्राक्षा और हरड़ के क्वाथ में गुड़ मिलाकर अथवा कमीले को मधु में मिलाकर चाटे ॥ १३० ॥

दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम् ॥ १३१ ॥
चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य वा ।

(८) पित्त-गुल्म में अभ्यंग के लिये घी (शतधौत या सहस्रधौत), चन्दनाद्य तैल, या मुलहठी के क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल का उपयोग करे। इससे दाह की शान्ति होती है ॥ १३१ ॥

ये च पित्तज्वरार्तानां सतिक्ताः क्षीरबस्तयः ॥ १३२ ॥
हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ।

पित्त-गुल्म में वस्तियां—पित्तज्वर के रोगियों के लिये तिक्त द्रव्यों से सिद्ध दूध की जो बस्तियां कही हैं, और जिन बस्तियों को सिद्धि-स्थान में आगे कहेंगे उनका पित्त-गुल्म में प्रयोग करे ॥ १३२ ॥

शालयो जाङ्गलं मांसं गव्याज्ये पयसी घृतम् ॥ १३३ ॥
खर्जूरामलकं द्राक्षा दाडिमं सपरूपकम् ।
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं पानार्थं सलिलं शृतम् ॥ १३४ ॥
बलाविदारिगन्धाद्यैः पित्तगुल्मचिकित्सितम् ।

आहार के लिये शालि धान्य, जांगल मांस, गाय और बकरी के घी और दूध, खजूर, आंवला, द्राक्षा, अनारदाना, फालसा, इनको भोजन के लिये दे और पीने के लिये बला और विदारीगन्धादि स्वल्प पंचमूल से षडंग पानीय विधि द्वारा साधित जल पीने के लिये देवे, यह पित्तगुल्म की चिकित्सा है ॥ १३३–१३४ ॥

आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके ॥ १३५ ॥
यवागूभिः खडैर्यूषैः संधुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ।
शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ ॥ १३६ ॥
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ।

पित्तगुल्म में यदि आम का अनुबन्ध हो, या आमयुक्त कफ अथवा आमयुक्त वायु का संसर्ग हो तो प्रथम लंघन कराके यवागुओं द्वारा और खड यूषों से अग्नि का प्रदीपन करे। सब दोषों का शमन और प्रकोप अग्नि के उपर ही निर्भर करता है। इसलिये सदा अग्नि की रक्षा करनी चाहिये और निदानों (कारणों) का परित्याग करना चाहिये ॥ १३५–१३६– ॥

वमनार्हाय वमनं प्रदद्यात्कफगुल्मिने ॥ १३७ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते ।
परिवेष्ट्य प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान् ॥ १३८ ॥
भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे क्षिपेत् ।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत् ॥ १३९ ॥
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद् गुल्मं प्रमाणवित् ।
विमार्गजं यदा पश्येद्यथालाभं प्रपीडयेत् ॥ १४० ॥
मृद्नीयाद् गुल्ममेवैकं न त्वत्र हृदयं स्पृशेत् ।

कफ-गुल्म की चिकित्सा—(१) कफ-गुल्म का रोगी यदि वमन के योग्य हो तो उसको वमन देवे । स्नेहन और स्वेदन क्रिया से गुल्म को शिथिल बना कर इसको वस्त्र से लपेट देवे । फिर एक घडे (घटीयन्त्र) मे जलते हुए बल्वज (तृणविशेष) और कुशाओं को डाल देवे और घडे के मुख को गुल्म पर लगा देवे, इससे गुल्म घडे के मुख की ओर खीचा जाकर पकडा जाता है [वायु के निकल जाने से शून्य स्थान बनने से यन्त्र गुल्म को खीच लेता है, यन्त्र मे से वायु निकालने के लिये जलती घास यन्त्र मे रक्खी जाती है । आग के बुझने पर परन्तु गरम रहने पर यन्त्र को लगावे] । जिस समय गुल्म पकडा जाये, उस समय घटीयन्त्र को उतार ले । इस गुल्म को वस्त्र से बांधकर प्रमाण का समझने वाला वैद्य चीर देवे, अब विमार्ग, अजपद और आदर्श इनमे से जो भी मिले उस से इसको दबावे जिससे दोष निकल जाय, गुल्म का ही मर्दन पीडन करे । हृदय पर किसी प्रकार का आघात (रक्तक्षय से या भय से) नही आने देवे । [आज कल यह कार्य कपिंग से किया जाता है । घास के स्थान पर स्पिरिट का उपयोग किया जाता है 'विमार्ग' चमारों का यन्त्र है । इसमे वे चमडे को सीधा काटते है । इसको रापडी कहते है । 'अजपद' बकरी के पैर के समान लकडी का बना यन्त्र होता है ।] ॥ १३७—१४० ॥

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च ॥ १४१ ॥
श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ।

(२) कफज गुल्म पर तिल, एरण्डबीज, अलसी, सरसों इन का लेप करके सुहाते हुए गरम लोहे के पात्रों से सेक करे ॥ १४१ ॥

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम् ॥ १४२ ॥
कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुबिडदाडिमम् ।

इति दशमूलीघृतम् ।

(३) दशमूली घृत—दशमूली के क्वाथ से और त्रिकटु, यवक्षार, सैन्धा नमक, हींग, बिड नमक, और अनारदाना इनके कल्क से साधित घी के प्रयोग से कफगुल्म शान्त होता है। कोई २ वैद्य दशमूल का कल्क भी डालते है। [श्री गंगाधर सेन ने अनार का छिलका डालना लिखा है।] ॥ १४२– ॥

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ॥ १४३ ॥
साध्यं विदारिगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके।
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पली नागरं वचाम् ॥ १४४ ॥
विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं बिडं यटीम्।
चित्रकं मधुकं रास्ना पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् ॥ १४५ ॥
प्रस्थं च पयसः कृत्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ॥ १४६ ॥
प्लीहापाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत्।

इतिभल्लातकाद्यं घृतम्।

(४) भल्लातकाद्यघृत—भिलावा १ पल, विदारीगन्धादि स्वल्प पञ्चमूल (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी गोखरू, कटेरी, बडी कटेरी), एक पल, पानी दो आढक, हींग, यवक्षार बिड नमक, कचूर, चीता, मुलहठी, रास्ना प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनका कल्क बनावे, घी २ प्रस्थ मिलाकर घृत-पाक करे। यह भल्लातक घृत कफ-गुल्म नाशक, प्लीहा, पाण्डुरोग, श्वासरोग, ग्रहणी रोग, और का· को नष्ट करता है। [मात्रा २ मासे से ४ मासा।] ॥ १४३–१४६ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥ १४७ ॥
पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
क्षीरप्रस्थेन[1] तत्सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम् ॥ १४८ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम्।

इति पञ्चकोलघृतम्।

(५) पञ्चकोल घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चविका, चित्रक, सोंठ और यवक्षार प्रत्येक एक पल, घी २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ इनसे यथाविधि घृत पाक करे। यह घृत कफ-गुल्म ग्रहणी रोग, पाण्डु रोग, प्लीहा, कास, और ज्वर को नष्ट करता है। [इसको 'क्षीरषट्पल घृत' भी कहते हैं।] ॥१४७–१४८॥

त्रिवृता त्रिफला दन्ती दशमूलं पलोन्मितम् ॥ १४९ ॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम्।

१ 'क्षीरप्रस्थं च' इति वा पाठः।

सर्पिरैरण्डजं तैल क्षीर चैकत्र साधयेत् ॥ १५० ॥
स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत् ।
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च ॥ १५१ ॥
प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम् ।
इति मिश्रकः स्नेहः ।

(६) मिश्रक स्नेह—निशोथ, त्रिफला, दन्तीमूल दशमूल प्रत्येक वस्तु एक-एक पल, इनको चार गुणे जल (६० पल) मे पका कर चतुर्थांश (१५ पल) शेष रखे । इसमे क्वाथ के समान (१५ पल) प्रत्येक घी, ऐरण्ड तैल, दूध मिलाकर सिद्ध करना चाहिये । इस स्नेह को मधु के साथ मिलाकर प्रयोग करे । कफ-गुल्म, कफ-वातजन्य विबन्ध, कुष्ठरोग, प्लीहारोग, उदररोग और योनिरोगो मे विशेष रूप से इसका प्रयोग करे । [श्री चक्रपाणि दूध को क्वाथ के समान लेने को कहते है, तथा घी और एरण्ड तैल को इस मिलित द्रवाश से चतुर्थांश लेने का आदेश करते है । अष्टाग-सग्रह मे क्वाथ के लिये सोलह गुणा जल लेकर सोलहवा भाग शेष रखने का वचन है ।] ॥१४६-१५१-॥

यदुक्तं वातगुल्मघ्नं स्रंसनं नीलिनीघृतम् ॥ १५२ ॥
द्विगुण तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम् ।

(७) वात-गुल्म मे जो नीलिनी घृत विरेचन के लिये कहा है, उसी को दुगुनी मात्रा मे कफ-गुल्म मे विरेचन के लिये बरते ॥१५२॥

सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ॥ १५३ ॥
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।

(८) निसात के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध मे भली प्रकार भावना देकर एक कर्ष मात्रा [आजकल ४ से ६ रत्ती] मधु और घी के साथ खाना चाहिये । इससे भली प्रकार विरेचन होता है ॥१५३-॥

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः ॥ १५४ ॥
दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च ।
अष्टभागस्थितं तं च रस पूतमधिक्षिपेत् ॥ १५५ ॥
दन्ती समं गुडं पूतं क्षिपेत्तत्राभयाश्च ताः ।
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम् ॥ १५६ ॥
चूर्णितं पलमेकं च पिप्पलीविश्वभेषजम् ।
तत्साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलसमं मधु ॥ १५७ ॥

क्षिपेच्चूर्णपलं चैकं त्वगेलापत्रकेशरात् ।
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम् ॥ १५८ ॥
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः ।
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम् ॥ १५९ ॥
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम् ।
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपयोजिता ॥ १६० ॥
निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः ।
इति दन्तीहरीतकी ।

(८) दन्ती-हरीतकी—२५ हरड़ो को एक पोटली मे ढीला बाधकर, दन्तीमूल २५ पल लेकर दो द्रोण पानी मे पकावे । जब अष्टमाश (४ प्रस्थ) शेष रह जाय तब छान लेवे इसमे २५ पल गुड मिलाकर छान ले । इसमे अब हरड़ो को छोड़ दे फिर हरड़ो को निकाल कर गुठली निकाल दे । इन हरड़ो को ४ पल तिल तैल मे भून कर गुड मिश्रित क्वाथ मे मिला दे । इसमे निशोथ का चूर्ण ४ पल, पिप्पली और सोठ एक पल मिलाकर मन्द २ आच पर पकावे । जब लेह तैय्यार हो जाय तब नीचे उतार कर तैल के समान शहद (४ पल), दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपात और नागकेसर का मिलित चूर्ण १ पल मिलावे । इसमे से एक पल अवलेह चाट कर और एक हरड़ को खाने से सुखपूर्वक विरेचन होता है । नीरोग और स्निग्ध पुरुष मे एक प्रस्थ दोष बाहर आता है । गुल्म, सूजन, अर्श, पाण्डुरोग, अरुचि, हृदयरोग, ग्रहणी-रोग, कामला, विषम ज्वर, कुष्ठ, प्लीहा, आनाह इससे नष्ट होते है । इसका सेवन निर्दोष है । इसका पथ्य मास रस और भात है । मास रस इतना हो जिससे भात पतला बन जाये । [यहा पर प्रस्थ १३॥ पल का समझे । वमन, विरेचन और शोणित-मोक्षण मे १३½ पल का एक प्रस्थ बतलाया गया है] ॥ १५४–१६० ॥

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम् ॥ १६१ ॥
अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शश्चिकित्सिते ।
यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम् ॥ १६२ ॥
द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ताः कफे मताः ।
य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम् ॥ १६३ ॥
सिद्धा निरत्ययाः शस्ता दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते ।

कफ गुल्म मे प्रयोग करने योग्य निरूह बस्तियो का सिद्धि-स्थान मे कहेगे ।

फलप्रद अरिष्ट प्रयोगों को ग्रहणी तथा अर्शरोग की चिकित्सा में कहेंगे। जो चूर्ण और गुटिकायें वातगुल्म में कही हैं, उनमें यवक्षार, हींग और अम्लवेतस की मात्रा को दुगुना करके (शेष चूर्ण को उसी परिमाण में) कफ-गुल्म में प्रयोग करे। ग्रहणी रोग में जो क्षार कहे हैं, उनको कफ-गुल्म में प्रयोग करे, ये क्षार निर्दोष और प्रशस्त हैं। जब किसी भी चिकित्सा से लाभ न हो तभी अन्त में दाहकर्म करे ॥ १६१–१६३ ॥

प्रपुराणानि धान्यानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ॥ १६४ ॥
कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च।
शुष्कमूलकयूषश्च बिल्वस्य वरुणस्य च ॥ १६५ ॥
चिरबिल्वाङ्कुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च।
बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः ॥ १६६ ॥
तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत्।
पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम् ॥ १६७ ॥
कफगुल्मी पिबेत्काले जीर्णं माध्वीकमेव वा।
यवानीचूर्णितं तक्रं बिडेन लवणीकृतम् ॥ १६८ ॥
पिबेत्सन्दीपनं वातमूत्रवर्चोनुलोमनम्।

आहार—तीन चार वर्ष पुराने धान्य, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, कुलथी, मूंग का यूष, पिप्पली का यूष, सोंठ का यूष, सूखी मूली का यूष, बेलगिरी, वरुण, करंज के अंकुर, अजवायन और चित्रक का यूष कफ-गुल्म में उत्तम है। बिजौरा, हींग, अम्लवेतस, क्षार, अनारदाना, छाछ, तैल और घी इनके साथ व्यंजन (सूप शाक आदि) बनावे। कफ-गुल्म रोगी को प्यास लगने पर स्वल्प पंचमूल से सिद्ध किया पानी या पुरातन वारुणी (ताड़ या खजूर का मद्य) अथवा पुरातन माध्वीक (मधु, महुवे, अंगूर के रस से बना मद्य) पीने के लिये दे। तक्र में अजवायन का चूर्ण और बिड नमक मिलाकर पीवे। यह तक्र अग्निदीपक, वायु, मल, मूत्र का अनुलोमन करती है ॥ १६४–१६८ ॥

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः ॥ १६९ ॥
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः।
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः ॥ १७० ॥
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति।
गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम् ॥ १७१ ॥
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम्।

असाध्यता—जो गुल्म धीरे-धीरे बढ कर बडे भारी स्थान को घेर लेता है, जिसने जड पकड ली हो, सिराओ से व्याप्त, कछुए के समान ऊपर को उठा हुआ, दुर्बलता, अरुचि, जी मचलाना, कास, वमन, बेचैनी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा, प्रतिश्याय से युक्त होता है, वह गुल्म असाध्य है। ज्वर, श्वास, वमन और अतीसार से पीडित गुल्म रोगी के हृदय, नाभि और हाथ पाव मे शोथ हो जाय तो रोगी की मृत्यु हो जाती है। यह शोथ उसको पीडित करता है ॥ १६६—१७१ ॥

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे ॥ १७२ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीराय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।

रक्त-गुल्म की चिकित्सा—(१) गर्भकाल अर्थात् दस मास व्यतीत हो जाने पर गर्भवती के शरीर का स्नेहन और स्वेदन करके [घृत आदि को] स्निग्ध विरेचन दे। जैसे—एरण्ड तैल ॥ १७२ ॥

पलाशक्षारपात्रे[1] द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः ॥ १७३ ॥
गुल्मशथिल्यजननी पक्त्वा मात्रा प्रयोजयेत् ।

(२) पलाश-क्षार यमक—तिल तैल २ पात्र (२ आढक), घी २ पात्र, पलाश क्षारोदक [ढाक की भस्म को ६ गुने पानी में २१ बार परिस्रुत करके तय्यार किया क्षारोदक] चार आढक लेकर स्नेह पाक करे। जब झाग उठ जाये और आकृति फटे दूध के समान हो जाये तब स्नेहपाक समझे। इस यमक की मात्रा रोगिणी को पिलावे इससे गुल्म शिथिल हो जाता है। [मात्रा ३ माशा] ॥ १७३- ॥

प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम् ॥ १७४ ॥
क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः ।
आभ्यां वा भावितान्दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान् ॥ १७५ ॥
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान् वा सुभावितान् ।
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः[2] ॥ १७६ ॥
किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम् ।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥ १७७ ॥
लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत् ।
बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् ॥ १७८ ॥

१ 'पादे' इति च पाठ.। २ 'समाक्षिकान्' इति च पाठ ॥

अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद् गुल्मप्रभेदनम् ।
प्रवर्त्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम् ॥ १७९ ॥
घृततैलेन चाभ्यङ्ग पानार्थं तरुणीं सुराम् ।
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः ॥ १८० ॥
कार्या वातरुगार्ता याः सर्वा वातहराः पुनः ।
घृततैलावसेकाश्च तित्तिरीश्चरणायुधान् ॥ १८१ ॥
सुरा समण्डा पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥ १८२ ॥
प्रयोजयेदुत्तर वा जीवनीयेन सर्पिषा ।
अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुवासनम् ॥ १८३ ॥

(१) यदि इस प्रकार से गुल्म का भेदन न हो तो योनि-शोधन करावे । इसके लिये (१) क्षार से युक्त तिल-कल्क या सेहुण्ड के दूध से युक्त तिल-कल्क अथवा क्षार और सेहुण्ड के दूध से भावित कटु मछलियो (शफरी मछली) को योनि मे रखे । [यहा पर तिल-कल्क न लेकर मास (छुछुन्दरी या मूषक) का प्रयोग करना अच्छा है । श्रीगगाधर की भी यही मान्यता है, क्षार मे पलाशक्षार या यवक्षार बरते ।]

(२) पिचुओ (फाया), को सूअर या मछली के पित्तो से अच्छी प्रकार भावना देकर अथवा मधु-युक्त विरेचन द्रव्यो या मधु-मिश्रित वमन-द्रव्या से पिचुओं को भावित करके योनि में रखे ।

(३) योनि के शोधन के लिये किण्व (सुरा-बीज) को गुड और पलाश-क्षार मे मिला कर योनि मे रखे । रक्तपित्तनाशक क्षार (नीलोत्पल क्षार) मधु और घी के साथ चटावे ।

(४) अन्नपान मे—लहसुन, तीक्ष्ण मदिरा, मछलिया देवे । दूध, गोमूत्र और क्षार से युक्त दशमूल क्वाथ की उत्तर बस्ति देवे ।

(५) यदि योनि से रक्त स्रावित न हो तो गुल्म को फाडने की चिकित्सा करे । यदि रक्त योनि से बहता हो तो मास रस और चावल दे, घी और तैल की मालिश करे, पीने के लिये सुरा दे । रक्त के अधिक बहने पर रक्तपित्त नाशक क्रिया करे । वातव्याधि हो तो वातनाशक चिकित्सा करे । घी और तैल का परिषेक, तीतर, मुर्गे के मास-रस का भोजन, सुरा, मण्ड-युक्त सुरा, अम्ल रस द्रव्यो से युक्त घी का पान करावे । रक्त के अधिक बहने पर जीवनीय गण से साधित घृत की उत्तर बस्ति देवे । तिक्तक घृत से

अनुवासन दे, अथवा तिक्त द्रव्यों से युक्त जीवनीय घृत से अनुवासन करावे ॥ १७४–१८३ ॥

तत्र श्लोकाः—स्नेहः स्वेदः सर्पिश्चूर्णानि बृंहण गुडिकाः ।
वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥ १८४ ॥
सर्पिः सतिक्तसिद्ध क्षीर प्रस्रसनं निरूहाश्च ।
रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसशमनयोगाः ॥ १८५ ॥
उपनाहनं सशस्त्र पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य ।
संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥ १८६ ॥
स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखन विरेकश्च ।
सर्पिर्बस्तिगुडिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥ १८७ ॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।
गुल्मस्य रौधरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥ १८८ ॥
पथ्यान्नपानसेवाहेतूना वर्जनं यथास्वं च ।
नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि ॥ १८९ ॥
हेतुर्लिंगं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यतानुयोगाश्च ।
गुल्मचिकित्सितसंग्रह एतावानग्निवेशस्य ॥ १९० ॥

वात-गुल्म में—स्नेह, स्वेद, घृत, चूर्ण, बृ हण गुटिकायें, वमन, विरेचन, रक्त-मोक्षण करे। पित्त गुल्म मे—तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत, दूध, विरेचन, निरूह, रक्तमोक्षण, आश्वासन, सशमनीय योग, उपनाहन, पकने पर शस्त्र-क्रिया, अन्तः गुल्म के प्रभिन्न होने पर सशोधन और समशन चिकित्सा करे। कफ-गुल्म में—स्नेहन, स्वेदन, भेदन, लघन, वमन, विरेचन, घृत, बस्तियां, गुटिका, चूर्ण, अरिष्ट-पान, क्षार-प्रयोग, रक्तमोक्षण और अन्त में दाह करना यह चिकित्सा-क्रम है। स्त्रियों में होने वाले रक्त-गुल्म का चिकित्सा-क्रम कह दिया है। पथ्यकारी खान-पान, रोग के अपने कारण का परित्याग, नित्य अग्नि की रक्षा, गुल्म-रोगी को स्नेहन देकर पश्चात् सब कार्यो का करना, गुल्म का हेतु, लक्षण, चिकित्साविधि, साध्यासाध्यता और योग इतना गुल्म की चिकित्सा का सग्रह अग्निवेश ने बतलाया है ॥ १८४–१९० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
गुल्मचिकित्सित नाम पञ्चमोऽध्याय समाप्तः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब प्रमेह की चिकित्सा का उपदेश करते है। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥१-२॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः ।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गानुवाच मेहान् शमनं च तेषाम् ॥ ३ ॥
आस्यासुख स्वप्नसुख दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ ४ ॥

निर्मोह, निरभिमानी, तृष्णारहित, आकाङ्क्षारहित, महाज्ञानी, महातपस्वी पुनर्वसु ने उचित समय पर अग्निवेश का प्रमेह, उसके कारण, लक्षण और चिकित्सा का उपदेश दिया।

कफ-प्रमेह का निदान—सुख का जीवन बिताना (चलना फिरना नहीं), आराम तलबी में लेटे रहना, दही, ग्राम्य, औदक (जलचर) जन्तु और आनूप (जल-प्रधान) देश के पशु-पक्षियों का मांस-रस, दूध, नूतन खान-पान (नवीन अनाज और नूतन मद्य), गुड से बने पदार्थों का अति सेवन तथा अन्य कफकारक पदार्थ कफ-प्रमेह को उत्पन्न करते है ॥३-४॥

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य ।
करोति मेहान्समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥ ५ ॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून्प्रमेहाननिलः करोति ।
दोषो हि बस्ति समुपेत्य मूत्रं संदूष्य मेहाञ्जनयेद्यथास्वम् ॥ ६ ॥

सम्प्राप्ति—(१) दूषित कफ-मेद, मांस और शारीरिक क्लेद को दूषित करके वस्ति मे पहुच कर प्रमेहो को उत्पन्न करता है। (२) उष्ण द्रव्यों से प्रवृद्ध और कुपित पित्त मेद आदि को दूषित करके पैत्तिक प्रमेहो को उत्पन्न करता है। (३) कफ-पित्त दोषो के क्षीण होने पर वायु, मज्जा, वसा, ओज और लसीका को बस्ति मे लाकर प्रमेह को उत्पन्न करता है। (४) दूषित दोष बस्ति मे पहुच कर मूत्र को दूषित बनाकर अपने अपने लक्षणो वाले प्रमेहों को उत्पन्न करते है ॥ ५-६ ॥

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षट् याप्या, न साध्याः पवनाच्चतुष्काः ।
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्त्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ ७ ॥
कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः ।
मज्जारसौजः पिशितं च दूष्यं प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥ ८ ॥

(१) सम क्रिया होने से कफजन्य दस प्रमेह साध्य है, (२) विषम क्रिया होने से पित्तजन्य छः प्रमेह याप्य है और (३) महात्यय अर्थात् बहुत आपत्तिकारक होने से वातजन्य चार प्रमेह असाध्य है ।

(१) समक्रिय—जो ओषधियां दूष्य, मेद, मज्जा, लसीका आदि को शान्त करते है, वे ही ओषधियां कफ को भी शान्त करती है, इसलिये इनकी क्रिया समान है । (२) विषमक्रिय—जो ओषधियां कटु, तिक्त आदि मेद, मज्जा को कम करती है, वे पित्त को बढ़ाती है, और जो मधुर आदि रस पित्त को शान्त करते है, वे इनको बढ़ाते है, इसलिये विषम क्रिया है । (३) महात्यय—मज्जा, ओज, लसीका आदि महान् धातुओं का इसमे क्षय होता है । स्निग्ध चिकित्सा जो वायु को शमन करती है, इनको बढ़ाती है । रूक्ष चिकित्सा वायु को बढ़ाती है । इसलिये ये असाध्य है[1] ।

प्रमेह मे कफ, पित्त और वायु ये तीन दोष है, मेद, रक्त, शुक्र, आप्य (जलीय भाग) वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज और मांस ये दूष्य है । प्रमेहियो के बीस प्रकार के ही प्रमेह होते है ॥ ७–८ ॥

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम् ।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा बालुकया युतं वा ॥ ९ ॥
विद्यात्प्रमेहान्कफजान्दशैतान्

दस प्रकार के कफजन्य प्रमेह—(१) जिसमे मूत्र जल के समान हो (उदक-मेह), २–गन्ने के रस के समान हो (इक्षुमेह), ३–मूत्र घना हो (सान्द्रमेह), ४–जिसमें मूत्र नीचे घना और ऊपर स्वच्छ हो (सान्द्रप्रसाद प्रमेह), ५–मूत्र श्वेत हो (शुक्लमेह), ६–शुक्रमिश्रित मूत्र हो (शुक्रमेह), ७–मूत्र शीतल हो (शीतमेह), ८–मूत्र का वेग धीमा हो (शनैर्मेह), ९–मूत्र लार के समान हो (लालामेह), १०–मूत्र बालुका के कणों से युक्त हो (सिकतामेह), इन दस प्रमेहो को कफ से उत्पन्न हुआ जाने ॥ ९- ॥

---

१ प्रमेह मे दोष और दूष्य की समानता का होना ही सुखसाध्यता का लक्षण है । ज्वर मे ऋतु और दोष की समानता, प्रमेह मे दोष और दूष्य की समता तथा रक्तगुल्म मे पुरातनता ये सुखसाध्यता के चिह्न कहे जाते है ।

क्षारोपमं कालमथापि नीलम् ।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान्प्रमेहान्षड्शन्ति पैत्तान् ॥ १० ॥

पित्तजन्य छ प्रमेह—(१) क्षार के समान 'क्षारमेह', (२) काले वर्ण का मूत्र 'कालमेह', (३) नीलेवर्ण का मूत्र 'नीलमेह', (४) हल्दी के समान वर्ण का मूत्र 'हारिद्रमेह', (५) मजीठ के वर्ण का 'माञ्जिष्ठमेह', (६) लालवर्ण का 'रक्तमेह', ये छः पित्तजन्य प्रमेह है ॥ १० ॥

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम् ।
चतुर्विधं मूत्रयतीह वातात्श्लेष्मसु धातुष्वपकर्षितेषु ॥ ११ ॥
वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः ।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो मज्जादिसाद्गुण्यमुपैत्यसाध्यः ॥ १२ ॥

चार प्रकार के वातिक प्रमेह—(१) मज्जामेह, (२) ओजामेह, (३) वसामेह और (४) लसीकामेह (जिसमें लसीका की तारें निकलती है) ये चार प्रमेह आरम्भक धातुओं (मज्जा, ओज आदि) के क्षीण होने पर होते है । अथवा पित्त और कफ की अपेक्षाकृत न्यूनता होने से प्रमेह होते है ।

प्रमेह में अपने वात आदि दोषों के अनुसार वर्ण, रस, स्पर्श अथवा गन्ध होता है । असाध्य वातजन्य प्रमेह में श्याव, अरुण, शूलयुक्त तथा मज्जा, वसा, लसीका या ओज के समान गुण होता है ॥११–१२॥

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता तु शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ॥ १३ ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥ १४ ॥

पूर्वरूप—पसीना, शरीर से गन्ध का आना, अंगों में शिथिलता, लेटने, बैठने और सोने में प्रीति, हृदय, नेत्र, जीभ और कान में मैल का आना, शरीर में मोटापन, केश, नखो का अधिक बढना, शीत की चाह, गला और तालु का शुष्क होना, मुख में मधुरता, हाथ और पाव के तलुवे में जलन, मूत्र पर (मधुरता से) चिउटियों का आना, ये प्रमेह के पूर्वरूप है ॥ १३–१४ ॥

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च ।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य ॥ १५ ॥

प्रमेह रोगी दो प्रकार के हैं । जैसे एक स्थूल और बलवान्, दूसरा कृश तथा दुर्बल शरीर का । इनमे से कृश व्यक्ति का बृंहण करना चाहिये और प्रबल दोष और अधिक बलवान् पुरुष में संशोधन करना चाहिये । चिकित्सा

दो प्रकार की है, सशोधन और सशमनी। इनमे जिन पुरुषो की माता-पिता के द्वारा जन्म से प्रमेह होता है वे कृश होते है और जिन को अधिक खाने से या स्निग्ध भोजन से होता है, वे बलवान् होते है।

[दो प्रकार के प्रमेह होते है (१) सहज, और (२) अपथ्य से उत्पन्न। माता-पिता के बीजदोष से उत्पन्न 'सहज' है, प्रतिकूल आहार से उत्पन्न 'अपथ्यज' होता है। प्रथम प्रकार का प्रमेही कृश, अल्पभोजी और प्यास बहुत अनुभव करता है। दूसरे प्रकार का प्रमेही स्थूल, बहुत खानेवाला, सेज पर पडे रहने वाला, आलसी होता है। [सुश्रुत।]॥ १५ ॥

स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय।
ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम्॥ १६ ॥

उपचार—(१) स्निग्ध रोगी के मल के सशोधन के लिये कल्पस्थान मे वर्णित नाना प्रकार के योगो का प्रयोग करे। इसके लिये वमन और विरेचन का प्रयोग करे। वमन और विरेचन द्वारा मल निकल जाने पर प्रमेह मे सन्तर्पण ही करे। स्नेहन के लिये सरसो, अलसी, इगुदी आदि के तैल हो या प्रियग्वादि गण से सिद्ध घृत आदि से स्नेहन करे॥ १६ ॥

गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन।
प्रमेहिणः स्युः परिबृंहणानि[1] कार्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम्॥१७॥
संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया सशमनी प्रयोज्या।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः॥ १८ ॥
ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गास्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः।
यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यं मद्यान्ससक्तूनपि चाप्यपूपान्॥ १९ ॥
मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः पुराणशाल्योदनमाददीत।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम्॥ २० ॥
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही।
यवस्य भक्ष्यान्विविधास्तथाऽद्यात्कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान्॥२१॥
निशिस्थितानां त्रिफलाकषायैः स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम्।
तान्सीधुयुक्तान्प्रपिबेत्प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव॥ २२ ॥

(२) प्रमेह-रोगी को अपतर्पण कराने से गुल्म, क्षय, मूत्रेन्द्रिय वा बस्ति मे शूल, मूत्रग्रह (मूत्र का कम आना) हो जाता है। इसके लिये रोगी की अग्नि देखकर बृहण चिकित्सा करे।

---

१ 'परितर्पणानि' इति च पाठ।

(३) जो प्रमेह रोगी संशोधन के योग्य न हो उसके लिये संशमनी चिकित्सा करे। उसको प्रमेह की शान्ति के लिये—मन्थ, कषाय, जौ, चूर्ण, अवलेह और लघु भक्ष्य पदार्थों का सेवन करावे।

(४) विष्किर, प्रतुद पक्षियों का तथा जांगल पशु-पक्षियों के मन-मोहक सुस्वादु मांस-रसों के साथ, रूक्ष यवान्न, वाट्य (जौ का मण्ड), पुराना मद्य, सत्तू, अपूप (बड़े) मूंग आदि का यूष, तिक्त शाक, पुराने शालियों का भात, दन्ती तेल, इगुदी (हिंगोट) का तैल, अलसी तथा सरसों के तैल के साथ साठी आदि तृणधान्यों को दे। प्रमेह रोगी को खास कर जौ का भोजन करावे। कफ-प्रमेही को मधु के साथ जौ के नाना प्रकार के पदार्थ खाने के लिये दे।

(५) प्रमेह का रोगी त्रिफला के क्वाथ में जौ को डालकर रात भर रख दे। पीछे से इनको सत्तू बनाकर जल में आलोडित करके मधु मिला कर तर्पण बनावे। इन तर्पणों को सीधु के साथ मिलाकर प्रति दिन पान करे ॥१७—२२॥

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषायास्तैर्भावितानां च पृथग्यवानाम्।
सक्तूनपूपान्सगुडान्सधानान्भक्ष्यांस्तथाऽन्यान्विविधांश्च खादेत् २३
खराश्वगोहंसपृषद्भृतानां[1] तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ॥२४॥
संशोधनोल्लेखनलंघनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति पित्तप्रभवान्विरेकाः संतर्पणः संशमनो विधिश्च॥ २५ ॥
दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत्प्रमेही।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसेनामलकीफलानाम् ॥ २६ ॥

(६) कफप्रमेह में जो कषाय कहे हैं, उन कषायों से पृथक् २ रूप में जौ को भावित करके सत्तू, अपूप, धाना (भुने जौ) और अन्य भक्ष्य पदार्थों को बनाकर गुड़ के साथ खावे।

(७) गदहा, घोड़ा, गाय, हंस, पृषत् (हरिण) इनके द्वारा खाये हुए जौ जो उनके मल में बाहर आवें उनसे नाना प्रकार के भक्ष्य बना कर देवे। इसी प्रकार वेणुयव (बांस के जौ, वंशफल) और गेहूँ के बने भक्ष्य पदार्थ सेवन करने के लिये देवें।

(८) उचित समय में दिये गये संशोधन, उल्लेखन (वमन), लंघन कफप्रमेह को नष्ट करते हैं, संतर्पण, संशमन और विरेचन पित्तजन्य प्रमेहों को जीतते हैं।

---

१ 'खराश्वगोवेनुकसंभृतानां' इति च पाठः।

(६) दारु हरिद्रा, हरड, बहेडा, आवला और मोथा इनके क्वाथ पीवे, अथवा हल्दी के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर आवलों के रस के साथ पीवे ॥२३-२६॥

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रं पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च ।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च ॥ २७ ॥
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि ।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा॥२८॥
यवान्युशीराण्यभया गुडूची चव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः ।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपदिष्टा मधुसंप्रयुक्ताः ॥ २९ ॥

कफप्रमेह के दस योग—(१) हरड, कायफल, मोथा और लोध, (२) पाठा, वायविडग, अर्जुन, धन्वन (धावन की छाल), (३) हल्दी, दारुहल्दी, तगर, वायविडग, (४) कदम्ब, शाल, अर्जुन, अजवायन, (५) दारुहल्दी, वायविडग खैर और धव की छाल, (६) देवदारु, कूठ, अगरु और लालचन्दन, (७) दारुहल्दी, अग्निमन्थ, त्रिफला और पाठा, (८) पाठा, मूर्वा और गोखरू, (९) अजवायन, खस और हरड तथा गिलोय, (१०) चविका, हरड, चीतामूल, सतवन की छाल, ये दस कषाय श्लोकों के चतुर्थ भागों में कहे गये हैं। इनको मधु के साथ मिलाकर कफ-प्रमेह में बरते ॥ २७-२९ ॥

उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम् ।
पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ॥ ३० ॥
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम् ।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणि प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥ ३१ ॥
अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम् ।
पैत्तेषु मेहेषु दशैव दृष्टाः पादैः कषायाः मधुसंप्रयुक्ताः ॥ ३२ ॥

पैत्तिक प्रमेह में दस प्रयोग—(१) खस, लोध, अजन (रसाजन) लाल चन्दन, (२) खस, मोथा, आवला और हरड, (३) परवल, नीम की छाल, आवला, गिलोय, (४) मोथा, हरड, पद्माख और इन्द्रजो (कूडे की छाल), (५) लोध, गन्धबाला, कालीयक (पीतकाष्ठ चन्दन) धाय के फूल, (६) नीम की छाल, अर्जुन की छाल, अम्बाडा, हल्दी, नीला कमल, (७) सिरस की छाल, सर्जत्वक्, अर्जुन की छाल, नाग केसर, (८) फूलप्रियगु, श्वेतकमल, नीलोत्पल, ढाक के फूल, (९) अश्वत्थ, पाठा, असन (पीतशाल) की छाल, वेतस की छाल, (१०) कटकटेरी, (दारुहल्दी), नीलोत्पल, मोथा, ये दस

कषाय-योग श्लोक के चतुर्थांशो मे कहे गये है । इनको शहद के साथ मिलाकर प्रयोग करे । ये पित्तनाशक है ॥ ३०–३२ ॥

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ कषाययोगौ विहितास्तु सर्वे ।
मन्थस्य पाने यवभावनायां स्युर्भोजने पानविधौ पृथक्च ॥ ३३ ॥
सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु ।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ॥ ३४ ॥

(१) सब से पूर्व (दार्वी और सुराह्वा) कहे दो योगो को सब प्रकार के प्रमेहो मे देवे । इन बाईस प्रयोगो को मन्थ के पान मे, जौ की भावना देने मे, भक्ष्य और पेय पदार्थो के सस्कार मे विवेचनापूर्वक देवे ।

(२) वात प्रमेह मे इन्ही कषायो से सिद्ध घी और तैल का प्रयोग करे । इन कषायो से मेद और कफ शान्त होते है और स्नेहन से वायु शान्त होता है ॥ ३३–३४ ॥

[वातज और कफपित्तज मे यापन के लिये कषाय पीये वसामेह मे अग्निमन्थ का, मज्जामेह मे गिलोय और चीते का, उसमे कूठ, कुड़ा, पाठा और कटुरोहिणी मिला ले । हस्तिमेह मे हाथी, शूकर, गधा, ऊट इनकी अस्थि के सार का उपयोग करे । मधुमेह मे कदर और खदिर का, कफानुगतादि मेहो मे तदनुसार उपदेश किये कषायो से साधित तैलो का उपयोग करे और पित्तानुगत मे घृत और यमको का प्रयोग करे—अष्टाग-सृ०] ।

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि ।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥ ३५ ॥
पिबेद्रसेनामलकस्य वापि कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले ।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ॥ ३६ ॥

(३) कफ प्रमेह और पित्त-प्रमेह मे—कमीला, सतवन की छाल, शाल की लकडी इनका चूर्ण या बहेडा, रोहेडा की छाल, कुटज की छाल इनका चूर्ण अथवा केथ के फूलो के चूर्ण का मधु के साथ चाटे । अथवा इन्ही तीनो योगो मे से एक का चूर्ण (एक कर्ष) करके आवले के रस के साथ पीवे । औषध के जीर्ण होने पर पुराने शालि आदि के भात को जागल पशु-पक्षियो के स्वादु मास-रसो के साथ खावे ॥ ३५–३६ ॥

दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात्कफस्य पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्य ।
तैलं कफे स्यात्स्वकषायसिद्धं पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥ ३७ ॥

वायु के साथ पित्त या कफ का अनुबन्ध देखकर स्नेह विधि मे भेद करना चाहिये । अर्थात् कफ मे कफघ्न औषधियो के कषाय मे सिद्ध तैल बरते । पित्त का अनुबन्ध होने पर पित्तघ्न औषधियो के कषाय मे सिद्ध घृत बरते ॥३७॥

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कैर्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः ।
वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तैर्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥ ३८ ॥
मञ्जिष्ठया वाऽगुरुचन्दनैश्च सर्वैः समुस्तैः कफवातजेषु ।
मेहेषु तैलं, विपचेद् घृतं तु पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥ ३९ ॥

(५) त्रिकण्टकाद्य तैल, घृत और यमक—(१) गोखरू, अश्मन्तक, सोमवल्क (श्वेत खदिर) । (२) भिलावा अतीस, लोध । (३) वच, परवल, अर्जुन, नीम की छाल, नागरमोथा । (४) हल्दी, पद्माख, अजवायन । (५) मजीठ, अगर और लाल चन्दन इन पाच योगो को मोथे के साथ मिला कर कफ-वातजन्य प्रमेहो (कफमेह मे वायु का योग हो) मे, तैल का पाक करे । तैल से चतुर्थांश कल्क और चौगुने जल मे धीरे २ तैल पकावे । पित्त-जन्य प्रमेह मे वायु का अनुबन्ध हो तो इनके कल्क से घृत पाक करे । तीनो दोषो के लक्षण हो तो इन्ही द्रव्यो के कल्क से घी और तैल के यमक को यथा-विधि सिद्ध करके प्रयोग करे[1] । ॥३८–३९॥

फलत्रिकं दारुनिशा विशालां मुस्ता च निःक्वाथ्य निशां सकल्काः ।
पिबेत्कषाय मधुसंप्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥ ४० ॥

(६) फल त्रिकादि क्वाथ—त्रिफला, दारुहल्दी, विशाला (इन्द्रायण), मोथा इनका क्वाथ करके हल्दी के कल्क का प्रक्षेप मिला कर मधु के साथ प्रवृद्ध प्रमेहो मे पीवे ॥४०॥

लोध्रं शटी पुष्करमूलमेलां मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यवानीम् ।
चव्यं प्रियंगुं क्रमुकं विशालां किराततिक्तं कटुरोहिणीं च ॥ ४१ ॥
भार्ङ्गीनतं चित्रकपिप्पलीनां मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम् ।
कलिङ्गकान्केशरमिन्द्रसाह्वां नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥ ४२ ॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा पूते चतुर्भागजलावशेषे ।
रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः ॥ ४३ ॥
लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान् क्षिप्रं निहन्याद् द्विपलप्रयोगात् ।
पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम् ॥४४॥
इति लोध्रासवः[2] ।

---

१ यहा पर पाच योग है । सब के साथ मोथा मिलाना चाहिये । कई आचार्य 'समुस्तैः' के स्थान पर 'समस्तै' पढते है । उनके लिये एक ही योग है । अष्टाग-संग्रह मे इसको एक ही योग पढा है । वहा पर चतुर्जातक का प्रयोग करने के लिये लिखा है । २ 'मध्वासव' इति च पाठः ।

(७) लोध्रासव—लोध्र, कचूर, पोहकरमूल, छोटी इलायची, मूर्वा मूल, वायविडंग, त्रिफला, अजवायन, चविका, फल प्रियंगु, क्रमुक (सुपारी या पट्टिका लोध), इन्द्रायण, चिरायता, कुटकी, भार्गी, तगर, चीतामूल, पिप्पलीमूल, कूठ, अतीस, पाठा, इन्द्रजौ, नागकेसर, इन्द्रसाह्वा (छोटी इन्द्रायण), नखी, तेजपत्र, कालीमिर्च, प्लव (कैवर्ती मोथा) प्रत्येक वस्तु १ कर्ष लेकर दो द्रोण पानी में क्वाथ करे। चतुर्थांश ((२ आढक) रहने पर छान ले। इसमें एक आढक मधु मिला कर घी से भावित पात्र में डाल कर पन्द्रह दिनों तक सन्धान करके रख दे। मात्रा—दो पल है, यह लोध्रासव कफजन्य, पित्तजन्य प्रमेहों का, पाण्डुरोग, अर्श अरुचि, ग्रहणीरोग, किलास और नाना प्रकार के कुष्ठों का नष्ट करता है ॥४१–४४॥

क्वाथः स एवाष्टपले च दन्त्या भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात्।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः क्षौद्रं च तावत्पृथगासवौ तौ ॥ ४५ ॥

(८) दन्त्यासव—पूर्वोक्त लोध्रासव के क्वाथ में दन्तीमूल के आठ पल, मिसरी ८ पल, शहद क्वाथ से आधा (१ आढक) मिला कर रखे। यह दन्त्यासव है। (९) भल्लातकासव—लोध्रासवोक्त क्वाथ आधा द्रोण, विशुद्ध भिलावा का चूर्ण ४ पल, मिसरी ८ पल, शहद क्वाथ से आधा डाल कर सन्धान करे। ये दोनों आसव कफजन्य और पित्तजन्य प्रमेहों को नष्ट करते हैं ॥ ४५ ॥

सारोदकं चाथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा।
शीधु पिबेद्वा निगदं प्रमेही माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा ॥४६॥

(१०) षडङ्गपानीय विधि से खैर की लकड़ी का साधित जल, कुशामूल का जल (क्वाथ), शहद का शरबत, त्रिफला का क्वाथ या रस, दोष रहित शीधु (जौ का मद्य), या पुरातन श्रेष्ठ माध्वीक (मधु या द्राक्षा आदि से बना मद्य) पीवे ॥ ४६ ॥

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां खादेद्यवानां विविधांश्च भक्ष्यान्।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः सन्तर्पणोत्थान्[1] शमयेत्प्रमेहान् ॥४७॥
भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगाच्छुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः।
श्वित्रं च कुष्ठं च कफं च कृच्छ्रं तथैव मुद्गामलकप्रयोगात् ॥४८॥
सन्तर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः ॥४९॥

१ संतर्पणजन् इति च पाठः।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः ।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ॥५०॥
क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेहहेतुः[1] प्रसमीक्ष्य तस्मात् ।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥ ५१ ॥
या वातमेहान्प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणाना विहिता क्रिया सा ।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षिताना कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता॥५२॥
यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः ।
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥ ५३ ॥

(१०) पशु-पक्षियो के शलाका पर भुने मास, जौ से बने नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थ खाव । सतर्पण से उत्पन्न प्रमेहो का सशोधन, आरिष्ट, कषाय, अवलेहो द्वारा शान्त कर ।

(११) भुने हुए जौ को, सूखे सत्तुओ का, मूग ओर आवलो के आहार को नित्य खाने से प्रमेह, श्वित्र, कुष्ठ, कफ रोग और मूत्रकृच्छ्र नही होते । (१२) सतर्पण से उत्पन्न रोगो मे तथा मेदस्वी पुरुषो के लिये विरूक्षण योग जो पहिले सतर्पणीय अध्याय मे तथा 'अष्टौ-निन्दितीय' अध्याय मे कहे है, उनका कफज और पित्तज प्रमेहो मे प्रयोग करे । (१३) नाना प्रकार की व्यायामो से, बलपूर्वक मर्दन से, स्नानजल के परिषेको से, खस, दालचीनी, इलायची, अगरु, चन्दन आदि के लेपन से प्रमेह नष्ट होते है । (१४) प्रवृद्ध क्लेद, मेद और कफ प्रमेह के कारण है, इसलिये वैद्य को चाहिये कि कफ-पित्तज प्रमेहो मे अपतर्पण करे । (१५) वात-प्रमेहो की जो चिकित्सा प्रथम कही है, वही चिकित्सा वातोल्बण प्रमेही की होनी चाहिये । क्योकि प्रमेहो मे अत्यधिक कर्षण होने से वायु प्रकुपित हो जाती है, इसलिये ये वातोल्बण है । असाध्य वातजन्य प्रमेहो का चिकित्साविधि मे विचार करना व्यर्थ है ।

(१६) जिन जिन कारणो से प्रमेह उत्पन्न होता है, प्रमेही को चाहिये कि उनका सेवन न करे । जैसे—स्वस्थ पुरुषो मे रोगोत्पत्ति के कारणों को सेवन न करने का विधान है उसी प्रकार यहा भी कारणो को सेवन न करना ही चिकित्सा है ॥ ४७—५३ ॥

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः ।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥५४॥

१ 'नाश प्रयाति' इति च पाठ ।

की स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने के लिये कुष्ठ-नाशन अध्याय में संग्रह किया है ॥ १७७–१७९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
कुष्ठचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

अब हम 'राजयक्ष्मा की चिकित्सा' का वर्णन करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा ।
कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥ ३ ॥
रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः ।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ ४ ॥
दुहितॄणामसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः ।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥ ५ ॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमशुभाम् ।
भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥ ६ ॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम् ।
रजःपरीतमबलं[1] यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥ ७ ॥
सोऽभिभूतोऽतिबलिना[2] गुरुक्रोधेन निष्प्रभः ।
देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥ ८ ॥
अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः ।
प्रसादं कृतवान्सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ॥ ९ ॥
स विमुक्तो ग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः ।
ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥ १० ॥
क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकोऽर्थो दुःखसंज्ञितः ।
यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ ११ ॥

---

१ 'रजोऽन्धमबलं दीनं' इति च । २ 'गुरुणा' इति च

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्या मानुषं लोकमागतः ।
लब्ध्वा चतुर्विध हेतुं समाविशति मानवान् ॥ १२ ॥

यक्ष्मा की उत्पत्ति का उपाख्यान—देवताओ के कहते हुए ऋषियो ने चन्द्रमा के काम व्यसन से सम्बन्धित पुराण मे वर्णित कथा को इस प्रकार सुना है—

भगवान् प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओ का विवाह चन्द्रमा के साथ हुआ था। इन कन्याओ को भार्या रूप मे लेकर चन्द्रमा ने सबके साथ समानता का व्यवहार नही किया। शरीर पर ध्यान न रखते हुए उसने रोहिणी के साथ अति-आसक्ति का व्यवहार किया। इस आसक्ति से शरीर का स्नेह क्षीण होने के कारण चन्द्रमा का शरीर कृश हो गया। शेष स्त्रियो ने चन्द्रमा के इस असमान व्यवहार की बात दक्ष प्रजापति से कही। तब दक्ष प्रजापति के मुख से नि.श्वास रूप मे मूर्त्तिमान् क्रोध उत्पन्न हुआ। भार्या रूप मे सबका ग्रहण करने पर समान व्यवहार न होने पर असमान व्यवहार करने वाला चन्द्रमा को गुरु (प्रजापति) ने शाप दिया। इससे रजोगुण से युक्त निर्बल चन्द्रमा मे यक्ष्मा ने प्रवेश किया उसको यक्ष्मा हो गया[1]। वह चन्द्रमा गुरु (श्वशुर) के अत्यन्त बलवान् क्रोध से तिरस्कृत होकर कान्तिरहित हो गया। तब देवो और देवर्षियो को साथ मे लेकर चन्द्रमा गुरु (प्रजापति) की शरण मे गया। इसके पश्चात् चन्द्रमा की बुद्धि शुद्ध हो गई जान कर गुरु प्रसन्न हो गये। इसके पीछे अश्विनी-

१ (१) प्रजापति की अट्ठाईस कन्याये अट्ठाईस नक्षत्र ये है। (१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिरा, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसु, (८) पुष्या, (९) आश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वा फाल्गुनी, (१२) उत्तरा फाल्गुनी, (१३) हस्ता, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूला, (२०) पूर्वाषाढा, (२१) उत्तराषाढ़ा, (२२) श्रवणा, (२३) धनिष्ठा, (२४) शतभिषा, (२५) पूर्वा भाद्रपदा, (२६) उत्तरा भाद्रपदा, (२७) रेवती और (२८) अभिजित्।

(२) राजयक्ष्मा के लक्षण—स्नेह का परिक्षय, शरीर का कृश और निष्प्रभ (ओज का ह्रास) होना, ये तीन लक्षण है जो कि सबसे प्रथम शरीर पर दिखाई देते है। क्षीण होते हुए चन्द्र मे ये तीनो लक्षण स्पष्ट होने से चन्द्र की कथा से ही राजयक्ष्मा को जोड दिया है। दिन रात्रि ये दो अश्वी है। वे ही क्षीण होते हुए चन्द्र के क्षय को दूर करके पुनः पुनः पूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार यह अलकार से कथन है।

कुमारो ने उसकी चिकित्सा की। इस प्रकार रोग से मुक्त चन्द्रमा विशेष रूप से शोभित होने लगा, उसका ओज बढने लगा और शुद्ध सत्त्व (मन) को प्राप्त हुआ। क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग ये सब एक ही अर्थ को बतलाते है। यह रोग सबसे प्रथम नक्षत्रराज चन्द्रमा को हुआ, अतएव राजयक्ष्मा नाम से कहा जाता है। यह यक्ष्मा रोग अश्विनीकुमारो के हुकार से भयभीत होकर मनुष्य-लोक मे आगया। यह चार प्रकार के कारणो को प्राप्त करके मनुष्यो मे प्रवेश कर जाता है ॥ ८–१२ ॥

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम्।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥ १३ ॥

यक्ष्मा के चार कारण—(१) अपने बल वा शक्ति से अधिक कार्य करना, (२) वेगो का रोकना, (३) धातुक्षय और (४) विषम भोजन, राजयक्ष्मा के ये चार कारण है ॥ १३ ॥

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः।
पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥ १४ ॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते।
वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्यामौ विधावति ॥ १५ ॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः।
कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥ १६ ॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः।
जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरस्थश्चोरसो रुजम् ॥ १७ ॥
क्षणनाच्चोरसो रक्तं कासमानः कफानुगम्।
जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति ॥ १८ ॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते।
एकादशभिरात्मज्ञः सेवेतातो[१] न साहसम् ॥ १९ ॥

(१) शक्ति से अधिक कार्य करने से उत्पन्न क्षय—खूब युद्ध करना, खूब अध्ययन (पढना), बहुत भार उठाना, बहुत मार्ग चलना, बहुत लघन, बहुत प्लवन (कूदना), गिरना, चोट लगना, साहस तथा शक्ति से बाहर के अन्यान्य कार्य करने पर पुरुष की छाती मे क्षत हो जाता है। तब प्रकुपित वायु-पित्त और कफ दोनो दोषो को उदीर्ण करके इधर-उधर भागता है। शिर मे पहुच कर शिरःशूल उत्पन्न करता है, गले मे आश्रित होकर कण्ठोद्ध्वंस,

१. 'भजेत्तस्मात्' इति वा पाठः।

कास, स्वरभेद और अरुचि उत्पन्न करता है। पार्श्व मे स्थित पार्श्वशूल को गुदा मे स्थित होकर अतीसार को, सन्धियों मे स्थित वायु जम्भाई और ज्वर को, उरः मे स्थित वायु छाती मे दर्द को उत्पन्न करता है। उरः (फेफड़ों) मे छल होने से रोगी के खांसते समय कफ से मिला रक्त बाहर आता है। छाती के जर्जरित होने से कष्ट के साथ कफ निकलता है। साहसिक यक्ष्मा इन कारणों से उत्पन्न होता है, यह यक्ष्मा ग्यारह लक्षणो सहित होता है। इसलिये अपने सामर्थ्य को जानने वाला पुरुष कभी साहस नही करे॥ १४–१९॥

ह्रीमत्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥ २०॥
तदा वेगप्रतीघातात्कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव[1] विकारान्कुरुतेऽनिलः॥ २१॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥ २२॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥ २३॥

(२) वेग-सन्धारण से उत्पन्न यक्ष्मा—लज्जा से, घृणा से वा भय के कारण जब मनुष्य वायु, मूत्र तथा मल के उपस्थित वेगों को रोकता है, तब वेगों के रुक जाने से प्रकुपित वायु कफ और पित्त को ऊपर, नीचे, तिरछे तीनों गतियों मे प्रेरित करके अनेक विकारो को उत्पन्न करता है। तब प्रतिश्याय, कास, स्वरभेद, अरोचक, पार्श्वशूल, शिरःशूल, ज्वर, कधो मे पीड़ा, अंगमर्द बार बार वमन, अतीसार ये नाना विकार तीनो लक्षणो से उत्पन्न होते हैं। राजयक्ष्मा के ये ग्यारह रूप है, जिनको देख कर राजयक्ष्मा महान् रोग कहा जाता है॥ २०–२३॥

हर्षोत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्षणात्।
व्यवायानशनाभ्यां च शुक्रमोजश्च हीयते॥ २४॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषानुदीरयन्॥
प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्॥ २५॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्।
करोति चांससन्तापमेकादशमिमान् गदान्॥ २६॥

---

१ 'तिर्यगधः कुर्याद्' इति च

स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ ३४ ॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च ।
प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥ ३५ ॥
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम् ।
स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥ ३६ ॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि ।
शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥ ३७ ॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः ।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप—प्रतिश्याय (जुकाम), दुर्बलता, दोषरहित पदार्थों में भी दोष का दीखना, शरीर में बीभत्सता दीखना, घृणा होना, खाते हुए भी बल और मांस का क्षीण होना, स्त्री-प्रियता (मैथुन की चाह), मद्यप्रियता, मांसप्रियता, शर्मीलापन (लोगों से मिलने में सकोच), खान पान में मक्खियों, घुण, केश, तिनकों का गिरना, केश और नखों का जल्दी जल्दी बढ़ना, स्वप्न में पक्षियों तथा व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं से पराजित होना, बालों, अस्थियों और राख के ढेर पर चढ़ना, तालाबों का सूखते हुए, पर्वतों को तथा वनों को क्षीण होते हुए और ताराओं को गिरते हुए देखना, यह बहुत रूप वाले यक्ष्मा के पूर्वरूप हैं ॥ ३३–३७ ॥

रूपं तस्य यथोद्देशं परं शृणु सभेषजम् ॥ ३८ ॥
यथा स्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः ।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना ॥ ३९ ॥
स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् ।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥ ४० ॥
तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम् ।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे ॥ ४१ ॥
तस्मात्पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः ।
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥ ४२ ॥
रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते ।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ॥ ४३ ॥
जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः ।
येषां संघातयोगेन राजयक्ष्मेति कल्प्यते ॥ ४४ ॥

अब यक्ष्मा के रूप और औषध सुनो—शरीर में अपनी गरमी से धातुओं का पाक (पोषण) होता है। धातु अपने अपने स्रोतों द्वारा जाकर धातु का

पोषण करता है, रस से रक्त का और रक्त से मास का पोषण होता है। स्रोतों के रुक जाने से, रक्त आदि धातुओं के क्षीण होने से और धातुओ की उष्णिमा के घट जाने से राजयक्ष्मा रोग उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था मे कोष्ठाग्नि आमाशय मे जिस अन्न का परिपाक करती है, उसका अधिक भाग मल बन जाता है। कुछ थोडा सा भाग ही ओज मे परिणत होता है। इसलिये राजयक्ष्मा के रोगी मे मल की रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि मल के सिवाय अन्य सब धातु इसमे क्षीण हो जाते है अत' यक्ष्मा रोगी का बल (शक्ति) मल ही है[1]। अत. रोगी को अतिसार से बचाना चाहिये। स्रोतो के रुक जाने पर अपने स्थान मे ही रस का सञ्चय अर्थात् वृद्धि होने लगती है, यह रस खासी के वेग के कारण (आमाशय से) ऊपर की ओर मुख नाक से अनेक रूपों मे प्रवृत्त होता है। इसके पश्चात् छ. या ग्यारह रोग (लक्षण यक्ष्मा के) हो जाते है, जिनके एकत्र समूह को राजयक्ष्मा के नाम से कहते है ॥ ४०–४४ ॥

यक्ष्मा के लक्षण—

कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजौ।
शोणितश्लेष्मणोश्छर्दिः श्वासः कोष्ठामयोऽरुचिः ॥ ४५ ॥
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः षडिमानि वा।

यक्ष्मा के ग्यारह रूप—कास, कन्धो मे ताप, (पीडा) स्वरभेद, ज्वर, पार्श्वशूल, शिरोवेदना, रक्तवमन, कफ का आना, श्वास, कोष्ठामय (अतिसार), अरुचि, ये यक्ष्मा के ग्यारह रूप है ॥ ४५- ॥

कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः ॥ ४६ ॥

छः रूप—कास, ज्वर, पार्श्वशूल, स्वरभेद, मलभेद और अरुचि ॥ ४६ ॥

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ ४७ ॥

---

१ आहार रस के जीर्ण होते समय पाचकाग्नि से प्रसाद और मल दो भाग बनते है। प्रसाद भाग भी स्थूल और सूक्ष्म दो भागो मे बट जाता है। सूक्ष्म भाग उसी धातु का पोषण करता है, और स्थूल भाग आगे पहुच जाता है, वहा पर अग्रिम धातु की गरमी से तीन भाग बनते है। इस प्रकार होते समय मज्जा से दो ही भाग बनते है, उसमे मलभाग नही होता। यक्ष्मा के रोगी मे मल भाग अधिक बनता है, प्रसाद भाग कम बनता है। ऐसा यत्न करना चाहिये कि शरीर इस मल मे से भी अधिक से अधिक प्रसाद-अश को ले सके, अतः मल की रक्षा करने को कहा है।

बल और मास के क्षीण होने पर इन ग्यारह या छः अथवा तीन (ज्वर, कास, रक्तवमन) लक्षणो से युक्त यदि रोगी हो तो उसको असाध्य समझे। परन्तु यदि रोगी का बल और मास क्षीण न हुआ हो और उसको ग्यारह लक्षण भी हो तो भी उसको साध्य समझे ॥ ४७ ॥

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा ।
मारुताध्मातशिरसो मारुतः श्यायते प्रति ॥ ४८ ॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षणः ।
तस्य रूप शिरःशूल गोरव घ्राणविप्लवः ॥ ४९ ॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः ।
इन्द्रियाणामसामर्थ्य यक्ष्मा चातः प्रवर्तते ॥ ५० ॥
पिच्छिलं बहल विस्रं हरित श्वेतपीतकम् ।
कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥ ५१ ॥

(१) वायु से पूर्ण शिर वाले रोगी के नासिका-मूल मे स्थित कफ, रक्त या पित्त जिस समय वायु के प्रति गमन करते है, तब शरीर को कम करने वाला भयानक प्रतिश्याय (जुकाम) उत्पन्न होता है। शिरमे दर्द, भारीपन, नासिका से स्राव बहना, ज्वर, कास, कफ का उत्क्लेश, स्वरभेद, अरुचि, क्लम, इन्द्रियो का अपने विषय मे प्रवृत्त न होना, ये प्रतिश्याय के पूर्वरूप है। पीछे से प्रतिश्याय यक्ष्मा मे बदल जाता है। यक्ष्मा रोगी खाँसते समय कफ से मिश्रित चिकना, घना, दुर्गन्धयुक्त, हरा, श्वेत, पीला रस (थूक) थूकता है ॥४८–५१॥

अंसपार्श्वाभितापश्च तापः पादकरस्य च ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५२ ॥

राजयक्ष्मा का लक्षण—अस और पार्श्वो का अभिताप (पीडा), हाथ और पैरो मे दाह, जलन, सर्वशरीरगत ज्वर यह राजयक्ष्मा के लक्षण है ॥५२॥

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्कासवेगात्सपीनसात् ।
स्वरभेदो भवेद्वाताद्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥ ५३ ॥
तालुकण्ठपरीदाहः[1] पित्ताद्वक्तुमसूयते ।
कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते ॥ ५४ ॥
सन्नो रक्तविबन्धत्वात्स्वरः कृच्छ्रात्प्रवर्त्तते ।
कासातिवेगात्करुणः पीनसात्कफवातिकः ॥ ५५ ॥

(२) स्वरभेद—वायु से, पित्त से, कास से, पीनस से, स्वरभेद होता है।

१ 'परिशोषः' इति च।

इनमे वात से उत्पन्न स्वरभेद मे— स्वर रूक्ष, निर्बल और कम्पित होता है, पित्त के कारण—तालु और कण्ठ मे दाह होता है, रोगी बोलना पसन्द नहीं करता, उसे बोलने मे कष्ट होता है। कफ के कारण—स्वर मन्द (धीमा), बधा (रुका) हुआ, खुरखुर करता है, रक्त से उत्पन्न मे—रक्त का विबन्ध होने से स्वर बैठा हुआ और बहुत कष्ट से प्रवृत्त होता है, खाँसी के अतिवेग के कारण स्वरभेद मे स्वरयन्त्र खराब हो जाता है, पीनस (प्रतिश्याय) से उत्पन्न स्वरभेद के लक्षण कफजन्य, वातजन्य प्रतिश्याय के समान होते है ॥५३–५५॥

पार्श्वशूलं त्वनियतं संकोचायामलक्षणम् ।

(३) पार्श्वशूल—सकोच तथा विस्तार निश्चित नही है, यह लक्षण (पार्श्वशूल) भी अवश्यम्भावी नही है, पार्श्वशूल कभी सकोच मे होता है, और कभी आयाम अवस्था मे होता है। पार्श्वशूल—यक्ष्मा मे कभी तो फेफड़ो के सकुचित अवस्था मे होता है, और कभी फेफड़ो के फूलने की अवस्था मे होता है, निमोनिया की तरह एक अवस्था मे निश्चित नही रहता।

शिरःशूलं ससतापं यक्ष्मणः स्यात्सगौरवम् ॥ ५६ ॥

(४) यक्ष्मा के रोगी को शिर मे शूल, सन्ताप (दाह) और भारीपन प्रतीत होता है ॥ ५६ ॥

अतिखिन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात् ।
कण्ठात्प्रवर्तते रक्त श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसंचितः ॥ ५७ ॥
रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मासादीन्नानुपद्यते ।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति वा ॥ ५८ ॥

(५) शरीर के अति शिथिल या दुर्बल होने के कारण, विषम भोजन करने पर, रोगी के कण्ठ द्वारा उत्क्लेश से सञ्चित रक्त और कफ की प्रवृत्ति होती है। मार्गों के रुके होने से रक्त मास आदि धातुओ मे वह पहुँचता (वह फुफ्फुसो मे सचित हो जाता) है, अथवा आमाशय मे सचित होने (बढ़ने) पर उत्क्लेश के कारण कण्ठ की ओर आ जाता है। रक्त का वमन होता है ॥५७-५८॥

वातश्लेष्मविबन्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति ।
दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते ॥ ५९ ॥

(६) छाती के वायु और कफ से भरे होने पर श्वास (श्वास मे कठिनता) रोग उत्पन्न होता है। वातादि दोषो द्वारा अग्नि के मन्द हो जाने से पिच्छायुक्त अतिसार होता है ॥ ५९ ॥

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितैः ।
जायतेऽरुचिराहारैस्तुष्टैरर्थैश्च मानसैः ॥ ६० ॥

कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात् ।
वाताद्यैररुचि जाता मानसी दोषदर्शनात् ॥ ६१ ॥
अरोचकात्कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि ।
छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः ॥ ६२ ॥
सर्वं त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम् ।
परीक्ष्यावस्थितं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥ ६३ ॥

(७) जिह्वा और हृदय में आश्रित वात, पित्त, कफ, पृथक् पृथक् अथवा समस्त दोषों से या मानसिक विषय (काम, शोक, क्रोध) के दूषित होने से आहार में अरुचि हो जाती है। मुख में कषाय रस होने पर वातजन्य, तिक्त-रस होने पर पित्तजन्य, मधुररस होने पर कफजन्य अरुचि को समझना चाहिये। मन के अप्रिय (द्विष्ट) वस्तु के दर्शन से मानसी अरुचि उत्पन्न होती है। अरुचि, कास का वेग, दोष का उत्क्लेश और भय इन अनेक कारणों से जो वमन होता है, वह अन्य विकारों में भी उपद्रव रूप होता है। सब यक्ष्मा त्रिदोषजन्य है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि रोगी की अवस्थानुसार दोषों के बलाबल को देखकर चिकित्सा करे ॥ ६०–६३ ॥

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये ।
पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु ॥ ६४ ॥
पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च ।
परिषेकावगाहांश्च यावकं वाट्यमेव च ॥ ६५ ॥
लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्स्नेहोपबृंहितान्[1] ।
लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥ ६६ ॥
सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ।
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ॥ ६७ ॥
तेन षड् विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ।
मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपकल्पितैः ॥ ६८ ॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत् ।
पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥ ६९ ॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम् ।
पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥ ७० ॥

---

१ 'स्नेहोपसहितान्' इति च ।

प्रतिश्याय, शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरभग और पार्श्वशूल मे नाना प्रकार की साधारण (सशमनी) चिकित्साए सुनो।

(१) प्रतिश्याय मे—स्वेद, अभ्यग, धूप, आलेपन, परिषेक, अवगाहन, यावक (यवान्न), वाट्य (यवमण्ड, जौ का दलिया) इनका प्रयोग करे। (२) लाव, तीतर, मुर्गा और बटेर, इनके मासो से लवण, अम्ल कटु रसयुक्त उष्ण और घी आदि से युक्त मास रसो की कल्पना करे। (३) पिप्पली, जौ, कुलथी, सोठ, अनारदाना (अनार का रस) आवला इनके द्वारा साधित घी आदि से स्निग्ध बनाकर बकरी के मास का प्रयोग करे। इसके प्रयोग से प्रतिश्याय आदि छ विकार शान्त होते है। (४) मूली या कुलथी से यथाविधि यूप सिद्ध करके अथवा जौ, गेहूँ, शालि के अन्न के सात्म्य के अनुसार रोगी को देवे। (५) वारुणी मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग अथवा विदारीगन्ध आदि पञ्चमूल से सिद्ध जल या धनिया और सोठ से साधित जल, अथवा तामलकी (भूई आवला) से सिद्ध जल, या चारो पर्णिनियो (मुद्गपर्णी, माषपर्णी शालपर्णी और पृश्निपर्णी) से सिद्ध जल पीने के लिये देवें। इनसे ही साधित जल मे या इनमे सस्कृत भक्ष्य बनाकर देवे ॥६४-७०॥

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः।
संकरस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥ ७१ ॥
स्वेदयेत्पत्रभङ्गेण शिरश्च परिषेचयेत्।
बलागुडूचीमधुकशृतैर्वा वारिभिः सुखैः ॥ ७२ ॥
बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः ॥ ७३ ॥
औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम्।
सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ७४ ॥
जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च।
वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥ ७५ ॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाश्च संस्कृताः।
शस्यन्ते च चतुःस्नेहा शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥ ७६ ॥
शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने।
आलेपनं स्यात्सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत् ॥ ७७ ॥

स्वेदन—(१) कृशरा (तिल, चावल, उडद की यवागू), उत्कारिका (रोटी के समान बना खाद्य द्रव्य जौ आदि का), उडद, कुलथी, जौ, पायस

(खीर अथवा मावे के रूप मे) द्वारा सकर-स्वेद की विधि से, पार्श्व, कण्ठ, छाती और शिर पर स्वेद दे। (२) वातहर पत्तो से अथवा खरैटी, गिलोय, मुलहठी, इनसे साधित सुहाते गरम क्वाथ से शिर का परिषेचन करे। (३) बकरे वा मछली के सिर के क्वाथो से नाडीस्वेद द्वारा अथवा वातनाशक द्रव्यो से भावित क्वाथो से नाडी स्वेद विधि द्वारा कण्ठ सिर और पार्श्वों मे स्वेदन करे। [वातहर औषधिया—बिल्व, अग्निमन्थ, काश्मर्य, श्रेयसी, पाटला, बला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारिका, एरण्ड और मूलक।] (४) औदक या आनूप पशु-पक्षियो के मास से अथवा पचमूल क्वाथ से या काजी मे घी, तैल, वसा आदि स्नेह मिलाकर नाड़ीस्वेद दे। (५) जिनके सिर, पार्श्व और कन्धो मे शूल होता हो उनके लिये १—जीवन्ती, सोया, बला, मुलहठी २—वचा, वेशवार, विदारी, मूली, ३—औदक मास, ४—आनूप मास इनसे पृथक् २ सस्कृत उपनाह लगावे। [अस्थि से रहित पिसा मास सिजाकर काली मरिच मिलाकर तैयार किया 'वेशवार' कहाता है।] (६) शिर, पार्श्व और कन्धो के शूल मे—सोया, मुलहठी, कूठ, तगर, चन्दन इनको घी मे मिला कर लेप करे ॥ ७१–७७ ॥

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम् ।
पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ॥ ७८ ॥
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा ।
शतावरी पयस्या च कत्तृणं मधुकं घृतम् ॥ ७९ ॥
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्तिताः ।

(७) प्रदेह—१—जिन यक्ष्मा के रोगियो मे द्वन्द्व दोष के कारण शिर, स्कन्ध और पार्श्व मे वेदना होती हो, उनके लिये आधे २ श्लोक मे समास होने वाले निम्न लिखित प्रदेहो का लेप करना चाहिये। यथा—१—खरैटी, रास्ना, तिल, घी, मुलहठी, नीलाकमल, २—गुग्गुल, देवदारु, चन्दन, केशर (अथवा नागकेसर) और घी, ३—क्षीरकाकोली, बला, विदारी, लाल सहजन, पुनर्नवा, ४—शतावरी, क्षीरकाकोली (अथवा विदारीकन्द), कत्तृण, मुलहठी और घी इनका लेप करे ॥ ७८–७९ ॥

शस्ताः संसृष्टदोषाणा शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥ ८० ॥
नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चोत्तरभक्तिकाः ।
तैलान्यभ्यङ्गयोगानि बस्तिकर्म तथा परम् ॥ ८१ ॥
जलौकालाबुश्रृङ्गैर्वा प्रदुष्टं व्यधनेन वा ।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ॥ ८२ ॥

(१८) सिर, पार्श्व और स्कन्ध मे शूल होने पर—नस्य, धूमपान, भोजन के पश्चात् स्नेहपान, अभ्यंग के लिये तैल और बस्तिकर्म करे। पित्त से दूषित रक्त को जलौका, कफ से दूषित को अलाबु, वात से दूषित को शृङ्ग द्वारा, अथवा अति दूषित व्यापक रूप मे रक्त को शिरावेध से निकाले ॥ ८०—८२ ॥

प्रदेहः सघृतश्चेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः ।
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ॥ ८३ ॥
प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम् ।
कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम् ॥ ८४ ॥

(९) पद्माख, खस, चन्दन इनको घी में मिलाकर अथवा दूब, मुलहठी, मजीठ और नागकेशर इनको घी मे मिला कर प्रलेप करे। (१०) पुण्डरीक काष्ठ, सम्भालु, पद्म (कमल), नागकेसर (अथवा कमल-केसर), नीलोत्पल, कशेरु, क्षीरकाकोली इन्हे पीस कर घी के साथ मिलाकर लेप करे ॥ ८३—८४ ॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ॥ ८५ ॥
माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिशृतेन वा ।
परिषेकः प्रयोक्तव्य इति सशमनी क्रिया ॥ ८६ ॥

इति संशमनी क्रिया ।

(११) चन्दनाद्य तैल, अथवा शतधौत घृत का अभ्यंग उत्तम है। दूध या मुलहठी के क्काथ का परिषेचन हितकारी है। (१२) सुशीतल वर्षाजल से अथवा चन्दनादि गण (चन्दनाद्य तैलोक्त) के क्काथ से परिषेचन करे। यह सशमन चिकित्सा का उपदेश कर दिया ॥ ८५-८६ ॥

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् ।
स्नेहस्वेदोपपन्नाना सस्नेहं यन्न कर्षणम् ॥ ८७ ॥

(१३) यक्ष्मा के जिन रोगियो मे दोष की अधिकता हो उनको प्रथम स्नेहन और स्वेदन कराके पीछे से स्नेह युक्त वमन और स्नेहयुक्त विरेचन देवे। परन्तु ये वमन-विरेचन ऐसे होने चाहिये जिनसे रोगी का शरीर कृश या निर्बल न हो जाय ॥ ८७ ॥

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि ।
अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ॥ ८८ ॥

यक्ष्मा रोगी मल के स्रसन (टूटकर लगने) मात्र से मर जाता है। इसलिये रोगी के बल की अपेक्षा न करके दी गई विरेचन की मात्रा का क्या

कहना ? उससे तो मर ही जायेगा। इसलिये बहुत ही विचार कर अमलतास, निशोथ आदि का मृदु विरेचक उपयोग करे ॥ ८८ ॥

योगानल्लंशुद्धकोष्ठाना कासे श्वासे स्वरक्षये।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत् ॥ ८९ ॥
बलाविदारिगन्धाद्यैर्विदार्या मधुकेन वा।
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्य स्यात्स्वर्यमुत्तमम् ॥ ९० ॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला।
क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम् ॥ ९१ ॥
शिरः पार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम्।
प्रयुज्यमानं बहुशो घृतमौत्तरभक्तिकम् ॥ ९२ ॥

जब कोष्ठ शुद्ध हो जाये तो कास, श्वास, स्वरक्षय मे, शिर शूल, पार्श्वशूल और असशूल मे निम्न लिखित सिद्ध योगो का प्रयोग करे।

(१) बला, विदारीगन्धादिगण (स्वल्प पचमूल), अथवा विदारीकन्द और मुलहठी इनके क्वाथ मे तथा सैन्धा नमक के कल्क से सिद्ध घृत का नस्य देने से स्वरभग मिटता है[1] (२) पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, खरैटी और गाय का दूध इनसे साधित घृत का नस्य स्वरभेद को नष्ट करता है। (३) शिरःशूल, पार्श्वशूल और असशूल, कास और श्वास को नष्ट करने के लिये भोजन के पश्चात् प्राय घृतपान करे ॥ ८९–९२ ॥

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च।
बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान्प्रबाधते ॥ ९३ ॥

(४) दशमूलाद्य घृत—दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, मासरस २ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ, बला का कल्क १ शराव, इनसे यथाविधि सिद्ध किया हुआ घी शिरःशूल आदि रोगो को नष्ट करता है ॥ ९३ ॥

भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्नि प्रविचारितम्।
रास्नाघृतं वा मक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम् ॥ ९४ ॥

(५) भोजन के मध्य मे या भोजन के पश्चात् यक्ष्मा के रोगी की अग्नि

---

१ श्री गगाधर सेन ने पाठ निम्न पढा है—'बलाविदारीगन्धाभ्या पिप्पल्या मधुकेन च ॥' अष्टाग-सग्रह मे पिप्पल्या के स्थान पर 'विदार्या' है। विदारीगन्धा से शालपर्णी का ग्रहण होगा। इस प्रकार से दो योग मानकर बला, शालपर्णी, पिप्पली, मुलहठी और सैन्धानमक इनसे घृत सिद्ध करना चाहिये, ऐसा योग माना है।

के बलानुसार, रास्ना घृत को दूध के साथ, अथवा बलाघृत को दूध के साथ में दे। [रास्नाघृत आगे इसी अध्याय में कहेंगे और बलाघृत वातरक्त-चिकित्सा में कहा है। यहां पर दोनों घृतों को चतुर्गुण दूध में रास्नाकल्क, या बला कल्क द्वारा सिद्ध करे] ॥ ९४ ॥

लेहान्कासापहान्स्वर्यान्श्वासहिक्कानिबर्हणान् ।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु ॥ ९५ ॥
घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम् ।
सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम् ॥ ९६ ॥
दशमूलशृतात्क्षीरात्सर्पिर्यदुदियान्नवम् ।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥ ९७ ॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम् ।

इसके आगे कास, श्वास, शिर:शूल, पार्श्वशूल और स्कन्धशूल को नष्ट करने वाले स्नेह और लेहों को सुनो।

(१) खर्जूर, मुनक्का, मुल्हठी, फालसा और पिप्पली इनके एक शराव कल्क से ८ प्रस्थ जल में २ प्रस्थ घृत यथाविधि पकावे। यह घृत स्वरभेद, कास, श्वास को नष्ट करता है।

(२) दशमूल से साधित दूध से निकाले हुए नूतन घी को पिप्पली और मधु के साथ खाने से स्वरभेद, शिर:शूल, पार्श्वशूल, असशूल, कास श्वास और ज्वर नष्ट होता है। अथवा पांचों पंचमूलों से साधित दूध से निकाले ताजे घी को पिप्पली और मधु के साथ खाने से स्वरभेद आदि सातों विकार नष्ट होते हैं ॥ ९५–९७ ॥

पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद् यदुदियाद् घृतम् ॥ ९८ ॥
पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ॥ ९९ ॥

(३) पंच-पंचमूल घृत—ब्राह्म-रसायन में कहे पांचों पंचमूलों का क्वाथ ८ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ यथाविधि पकावे। यह घृत यक्ष्मा के स्वरभेद, शिर:शूल, असशूल, पार्श्वशूल, कास, श्वास और ज्वर को नष्ट करता है ॥ ९८–९९ ॥

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा ।
त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः ॥ १०० ॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः ।

नागरं चित्रको लाजाः पिप्पल्यामलकं गुडः ॥ १०१ ॥
श्लोकार्धविहितानेतॉल्लिह्यान्मधुसर्पिषा ।
कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहास्तथा ॥ १०२ ॥

(४) चार लेह—१—पिण्डखजूर, पिप्पली, मुनक्का, हरड़, काकड़ाशृगी और दुरालभा। २—त्रिफला, पिप्पली, मोथा, सिंघाड़ा, गुड और शर्करा। ३—क्षीरकाकोली, कचूर, पोहकरमूल, तुलसी, शर्करा, और गुड़। ४—सोंठ, चीता, लाजा, पिप्पली, आँवला और गुड आधे आधे श्लोको मे कहे हुए इन चार योगो को मधु और घी के साथ चाटने से कास, श्वास, स्वरभेद और पार्श्वशूल नष्ट होते है ॥ १००–१०२ ॥

सितोपला तुगाक्षीरी पिप्पली बहुला त्वचम् ।
अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥ १०३ ॥
चूर्णितं प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम् ।
सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ॥ १०४ ॥
हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे ।

(५) सितोपलादि लेह—मिसरी १६ भाग, बशलोचन ८ भाग, पिप्पली ४ भाग, इलायची २ भाग और दालचीनी १ भाग इस प्रकार पीछे से पूर्व के द्रव्य को दुगुना लेकर मधु और घी मे चाटे। इसके प्रयोग से श्वास, कास और कफ नष्ट होता है। सुप्तजिह्वा (जिसमे स्पर्श या मधुर आदि रसों का ज्ञान नही होता), अरुचि, मन्दाग्नि, पार्श्वशूल, हाथ पॉव शरीर मे जलन, ज्वर और ऊर्ध्वगामी रक्त-पित्त मे लाभकारी है ॥ १०३–१०४– ॥

वासासर्पिः शतावर्या सिद्धं वा परमं हितम् ॥ १०५ ॥

(६) वासा घृत और शतावरी (कल्क और कषाय) से सिद्ध घृत अतिशय हितकारी है ॥ १०५ ॥

दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम् ।
भागान्पलोन्मितान्कृत्वा पलं पर्पटकस्य च ॥ १०६ ॥
पचेद्दशगुणे तोये दशभागावशेषिते ।
रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान्समावपेत् ॥ १०७ ॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः ।
तामलक्याः किराताना तिक्तस्य कुटजस्य च ॥ १०८ ॥
फलाना शारिवायाश्च सुपिष्टान्कर्षसंमितान् ।
ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥ १०९ ॥

ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम् ।
तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिरपोहति ॥ ११० ॥
इति दुरालभादि घृतम् ।

(७) दुरालभादि घृत—दुरालभा, गोखरू, चारो पर्णिनियाँ (मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी और पृश्निपर्णी) खरैटी, पित्तपापड़ा प्रत्येक १–१ पल इनको दस गुने (२० प्रस्थ) पानी मे पकावे। जब दसवाँ भाग रह जाये तो छान ले। इसमे कचूर, पोहकरमूल, पिप्पली, त्रायमाणा, तामलकी (भुई आँवला), चिरायता, कुडे के फल (इन्द्रजौ) और सारिवा प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनका कल्क मिला दे, घी एक प्रस्थ और दूध घी से दुगुना (२ प्रस्थ) मिला कर यथाविधि घी सिद्ध करे। यह घी ज्वर, दाह, भ्रम, कास, कधो मे पीड़ा, पार्श्व-शूल, शिर:शूल, तृष्णा, वमन और अतिसार को नष्ट करता है ॥ १०६–११० ॥

जीवन्ती मधुकं द्राक्षा फलानि कुटजस्य च ।
शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री गोक्षुरकं बलाम् ॥ १११ ॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम् ।
पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत् ॥ ११२ ॥
एतद् व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम् ।
रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति ॥ ११३ ॥
इति जीवन्त्यादिघृतम् ।

(८) जीवन्त्यादि घृत—जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पोहकरमूल, कटेरी, गोखरू, बला, नीला कमल, भूई आँवला, त्रायमाणा, दुरालभा और पिप्पली ये सम परिमाण मे लेकर इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। यह घृत रोगसमूह रूप रोगराज (यक्ष्मा) के ग्यारह प्रकारों के रूप को नष्ट करता है। [यहाँ पर पानी चार गुणा लेवे] ॥ १११–११३ ॥

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम् ।
साधयित्वा रसे तस्मिन्पयो गव्यं सनागरम् ॥ ११४ ॥
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह ।
सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत्प्रयोजयेत् ॥ ११५ ॥

(९) बलादि क्षीर—बला, स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी इनको सम परिमाण मे लेकर आठ गुने जल मे क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर छान ले। इसमे क्वाथ से चतुर्थांश गाय का दूध, दूध से अष्टमांश सोंठ, पिण्डखजूर, घी, पिप्पली मिलावे। इनसे सिद्ध दूध मे

मधु मिला कर प्रयोग करे। यह घी ज्वर, कास और स्वरभग को नष्ट करता है ॥ ११४–११५ ॥

आजस्य पयसश्चैव प्रयोगो जाङ्गला रसाः ।
यूषार्थं चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः ॥ ११६ ॥
ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः ।
यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते ॥ ११७ ॥
कफप्रसेके बलवान् श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः ।
पयसा फलयुक्तेन मधुरेण रसेन वा ॥ ११८ ॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया ।
वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम्[1] ॥ ११९ ॥
यवगोधूममाध्वीकशीध्वरिष्टसुरासवान् ।
जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत् ॥ १२० ॥
श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान्स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत् ॥ १२१ ॥
क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते ।
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥ १२२ ॥

(१०) बकरी का दूध, जागल पशु-पक्षियो का मास-रस, यूष के लिये चना, मूग, मोठ का व्यवहार करे। (११) ज्वर की संशमन चिकित्सा जो प्रथम कह चुके है, उसी मे घृत मिला कर यक्ष्मा रोगी के दाह और ज्वर मे व्यवहार करे। (१२) बलवान् और कफ प्रकृति वाले पुरुष को यदि कफ-प्रसेक हो तो वमन करावे। इसके लिये मैनफल युक्त मधुर दूध से या मैनफल से युक्त माम-रस से अथवा वमनीय द्रव्यो से सिद्ध की गई घृतयुक्त यवागू द्वारा रोगी को वमन करावे। (१३) वमन होने के पीछे भोजन के समय अग्नि-दीपक लघु अन्न खिलावे। (१४) जौ, गेहूँ, माध्वीक मद्य, शीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव, जागल मास को शूलाकृत कर अर्थात् शलाका पर भूनकर उस मास से कफ को नष्ट करे। (१५) फेफड़ो मे कफ के अधिक होने से वायु इस कफ को बाहर करता है, इसको कफ-प्रसेक कहते है। इसको स्निग्ध और उष्ण चिकित्सा से शान्त करे। हृदय के लिये प्रिय वातनाशक और लघु खान-पान पथ्य है। जो चिकित्सा कफ प्रसेक की है, वही वमन मे भी प्रशस्त है॥ ११६–१२२ ॥

---

१ 'सवान्तोऽद्याच्च लघ्वन्नमन्नकाले सदीपनम्' इति ग ।

प्रायेणोपहताग्नित्वात्सपिच्छमतिसार्यते ।
प्राप्नोत्यास्यस्य वैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ॥ १२३ ॥
तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिबर्हणान् ।
वक्त्रशुद्धिकरान्कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान् ॥ १२४ ॥
सनागरानिन्द्रयवान्पिबेद्वा तण्डुलाम्बुना ।
सिद्धां यवागूं जीर्णे च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः ॥ १२५ ॥
पाठां बिल्वं यवानीं च पातव्यं तक्रसंयुतम् ।
दुरालभां शृङ्गवेरं पाठां च सुरया सह ॥ १२६ ॥
जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम् ।
पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये ॥ १२७ ॥
एतानेव च योगांस्त्रीन्पाठादीन्कारयेत्खडान् ।
स[1]सूपधान्यान्सस्नेहान्साम्लान्ग्रहणान्परान् ॥ १२८ ॥
वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्धयोः ।
श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ॥ १२९ ॥
[2]मातुलुङ्गस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत् ।
स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान् साङ्ग्राहिकान् परान् ॥ १३० ॥
चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत् ।
खडान्दधिसरोपेतान्ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ॥ १३१ ॥
मांसानां लघुपाकानां रसाः साङ्ग्राहिकैर्युताः ।
व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ॥ १३२ ॥
स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम् ।
तक्रं सुरा सचुक्रिका दाडिमस्याथवा रसः ॥ १३३ ॥
दीपनं ग्राहि निर्दिष्टं भेषजं भिन्नवर्चसे ।

(१६) अग्नि के मन्द होने से प्रायः आँव से युक्त अतिसार हो जाता है, मुख का स्वाद बदल जाता है, भोजन भी अच्छा नहीं लगता। इसके लिये अग्नि को बढाने वाले और अतिसार नाशक तथा मुख को शुद्ध करने वाले और अरुचि को नष्ट करने वाले प्रयोगों का व्यवहार करे।

(१) सोंठ और इन्द्रजौ के चूर्ण को चावलों के मण्ड के साथ पीवे। औषध के जीर्ण होने पर चांगेरी (तिपतिया), छाछ और अनारदाना से सिद्ध यवागू को पीवे। (२) पाठा, बेलगिरी, अजवायन इनको सम परिमाण में

१. 'सचुक्रधान्यान्' इति पाठः। २ 'अयं श्लोकः क्वचिद् न पठ्यते'।

लेकर छाछ के साथ पीवे। दुरालभा, अदरक और पाठा इनको सम परिमाण में लेकर सुरा के साथ पीवे। (३) जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, कैथ और सोंठ इनको समान भाग लेकर पेया (यवागू) के मण्ड के साथ पिलाने से अतिसार शान्त होता है। (४) ऊपर कहे पाठा आदि तीन योगो से खडयूष बनावे। इन खडयूषो को मसूर आदि दाल के योग्य, धान्य, घी आदि स्नेह से युक्त, चागेरी छाछ और अनारदाने से खट्टे कर ले। ये अत्यन्त साग्राहिक (मल को बाधनेवाले) है। (५) वेतस (अम्ल-वेतस), अर्जुन, जामुन, मृणाली (वीरणमूल या लामज्जक), सहजन, श्रीपर्णी (गम्भारी), मदयन्ती (नवमल्लिका या मेंहदी), यूथिका (जूही), बिजौरा, धातकी, अनार इनके पत्तो से, घी आदि स्नेह से, कपित्थ आदि अम्ल, लवण से युक्त खडों को बनावे। ये पदार्थ अत्यन्त सग्राही है[1]। (६) चागेरी, चुक्रिका (इमली) और दुग्धिका (गुजराती मे नागला दूधेली) इनसे पृथक् २, दही का सर भाग (मलाई), घी और अनारदाने से यथाविधि खड बनावे। व्यजन के लिये शीघ्र पचाने वाले मासरसो को बेलगिरी आदि सग्राही वस्तुओ से सिद्ध करके दे दे। भोजन के लिये लाल चावल उत्तम हैं। (७) पीने के लिये स्थिरा, पचमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) से सिद्ध जल, छाछ, सुरा, सिरका और अनार का रस दे। अतिसार से पीडित यक्ष्मा रोगी के लिये दीपन और ग्राही औषध कह दी है॥१२३-१३३॥

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु ॥ १३४ ॥
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम्।
तद्वत्प्रक्षालयेदास्यं धारयेत्कवलग्रहान् ॥ १३५ ॥
पिबेद् धूमं ततो मृष्टमद्याद्दीपनपाचनम्।
भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ॥ १३६ ॥
त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम्।
दार्वी त्वचो यवानी च पिप्पल्यस्तेजवत्यपि ॥ १३७ ॥
यवानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः।
श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ॥ १३८ ॥
गुलिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम्।
एषामालोडितानां वा धावयेत्कवलग्रहान् ॥ १३९ ॥

---

१ वेतस, अर्जुन, जामुन, एक योग, मृणाली, सहजन दूसरा योग और श्रीपर्णी आदि को पृथक् २ बरते। यह कविराज श्रीजयदेव की सम्मति है।

सुराभाध्वीकसीधूना तैलस्य मधुसर्पिषोः।
कवलान्धारयेदिष्टान्क्षीरस्येक्षुरसस्य च ॥ १४० ॥

(१७) मुख की विरसता को नष्ट करने वाली और रुचिकारक ओषधियो को सुनो—

(१) दोनो समय प्रात साय (भोजन से पूर्व प्रात और सायं भोजन के पीछे, सोते समय) मुख को साफ करने के लिये दातुन करे ; (२) कषायो से मुख का प्रक्षालन करे, (३) मुख म कवल धारण करे। पीछे से प्रायोगिक धूम पान करे। दीपक-पाचक औषध और हितकारी, मन लुभाता खान-पान खावे। (४) पाच योग—(१) दालचीनी, मोथा, इलायची, धनिया, (२) मोथा, आवला, दालचीनी, (३) दारुहल्दी, दालचीनी, अजवायन, (४) पिप्पली, तेजबल, (५) अजवायन और तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल या इमली) ये पाच योग श्लोक के एक २ चरण मे कहे है, ये रोचक और मुख को शोधन करते है। इनकी गोलिया बना कर मुख मे रक्खे, इनके चूर्णो से मुख को साफ करे। इनको पानी मे घोल कर (या छाछ आदि मे भी) मुख मे कवल धारण करे। (५) सुरा, माध्वीक, सीधु, तेल, घी, मधु, दूध और गन्ने का रस इनमे से जो अभीष्ट हो, उसका कवल मुख मे धारण करे ॥ १३४–१४० ॥

यवानी तिन्तिडीकं च नागरं साम्लवेतसम्।
दाडिम बदर चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ॥ १४१ ॥
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम्।
पिप्पलीना शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ॥ १४२ ॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत्।
जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ॥ १४३ ॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम्।
कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥ १४४ ॥
इति यवानीषाडवम्।

(१८) यवानीषाडव—अजवायन, तिन्तिडीक, सोठ, अम्लवेतस, अनारदाना, खट्टे बेर प्रत्येक एक कर्ष, धनिया, सचल नमक, जीरा, दालचीनी प्रत्येक आधा कर्ष, पिप्पली १०० (सख्या मे), मरिच काली २००, खाण्ड ४ पल लेकर मिलावे। यह चूर्ण जिह्वा का विशोधक, भोजन मे रुचि करने वाला हृदयशूल, प्लीहा, पार्श्वशूल विबन्ध, आनाह, कास, श्वास, ग्रहणी और अर्शरोग को नष्ट करता और सग्राहक है ॥१४१–१४४॥

तालीशपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा ।
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ॥ १४५ ॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा ।
कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम् ॥ १४६ ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम् ।
वम्यतीसारशूलघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥ १४७ ॥
कल्पयेद् गुटिकां चैव चूर्णं पक्त्वा सितोपलैः ।
गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः ॥ १४८ ॥
इति तालीशाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च ।

(१७) तालीशाद्य चूर्ण—तालीशपत्र १ भाग, काली मिरिच २ भाग, सोंठ ३ भाग, पिप्पली ४ भाग, वंशलोचन ५ भाग, दालचीनी ॥ भाग, छोटी इलायची ॥ भाग, खाण्ड पिप्पली से आठगुणा (३२ भाग) मिलावे, यह चूर्ण कास, श्वास, अरुचि को नष्ट करता है, अग्निदीपक है। हृदयरोग, पाण्डु, ग्रहणी, शोष, प्लीहा, ज्वर, वमन, अतिसार और शूल को नष्ट करता है और ऊर्ध्ववात का अनुलोमन करता है। खाण्ड की चासनी करके उसमें ये वस्तुयें मिला कर गुटिकायें भी बना सकते हैं। ये गुटिकायें चूर्ण की अपेक्षा अधिक लघु हैं, क्योंकि इनका पाक आग पर होता है ॥ १४५–१४८ ॥

शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित् ।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ॥ १४९ ॥
शोषिणे बार्हिणं दद्याद् बर्हिशब्देन चापरान् ।
गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत्सूपकल्पितान् ॥ १५० ॥
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् ।
भृष्टान्मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि ॥ १५१ ॥
लोमशान्स्थूलनकुलान्बिडालांश्चोपकल्पितान् ।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥ १५२ ॥
सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा ।
मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥ १५३ ॥
गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं[1] भिषक् ।
दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये ॥ १५४ ॥

पथ्य-कल्पना प्रकार को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि जो यक्ष्मा के

१ 'वेशवारकृतान्' इति पाठः ।

रोगी सूख रहा हो ओर जिसका मास क्षीण होता जा रहा हो, उसको मास खाने वाले प्राणियो का मास देवे। क्योंकि इस प्रकार के प्राणियो का मास अति पुष्टिकारक होता है।

(१) यक्ष्मारोगी को मोर का मास देवे। गीध, उल्लू, चाषपक्षी के मास को विधिपूर्वक पकाकर रोगी का मोर का मास कहकर देवे। [ज्ञात होने पर वह शायद घृणा से न खाये, इसलिये मोर के नाम से देवे]।

(२) इसी प्रकार से कौआ का मास तीतर के नाम से, सापो का वर्मि (मछली विशेष) के नाम से, भूने हुए गिण्डोयो को मछली की आते कहकर देवे। लोमड़ी, बड़े नेवले, लड़ी, गीदड़ के बच्चो के मास को विधिवत् बनाकर शशक का मास कहकर देवे। सिंह, भालू, तरक्षु, (लकड़बग्घा), व्याघ्र (बघेरा), अन्य इसी प्रकार के मास खाने वाले प्राणियो के मासो को मृग का मास कहकर मास की वृद्धि के उद्देश्य से देवे। मास की वृद्धि के लिये हाथी, गैंडा, घोड़ा, इनके मासो से वेशवार बनाकर उनको भैंसे का मास बतला कर देवे॥ १४९–१५४॥

मासेनोपचिताङ्गाना मासं मासकरं परम्।
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥ १५५॥
मासानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत्।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि॥ १५६॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत्।
तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मासान्येतानि दापयेत्॥ १५७॥
बर्हितित्तिरिदक्षाणा हसाना शूकरोष्ट्रयोः।
खरगोमहिषाणा च मास मासकरं परम्॥ १५८॥
योनिरष्टविधा चोक्ता मासानामन्नपानिके।
ता परीक्ष्य भिषग्विद्वान्दद्यान्मासानि शोषिणे॥ १५९॥

मास से पुष्ट अगो वाले प्राणियो का मास विशेषत मास को बढाता है। तीक्ष्ण, उष्ण और लघु होने से विशेषकर पशु-पक्षियो का मास श्रेष्ठ है। जिसने जो मास कभी प्रथम खाया नहीं इसलिये उसे वह अच्छा न लगे तो सुख से खिलाने के लिये छिपाकर देना होता है। क्योकि यदि रोगी जान जाये तो खाने से इन्कार कर देगा अथवा खाकर घृणा से वमन कर देगा। इसलिये धोखे से छिपाकर इन मासो को देवे। मोर, तीतर, मुर्गा, हस, सुअर, ऊट, गधा, गाय, और भैस इनका मास विशेषतः मास का बढाता है। अन्नपानाध्याय

मे मासो के प्राप्तिस्थान (योनि) आठ प्रकार के बतलाए हैं। वैद्य को चाहिये कि विवेचनापूर्वक यक्ष्मा के रोगी को उन मासो का प्रयोग करावे ॥१५५–१५६॥

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ।
आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ॥ १६० ॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः ।
कफपित्तपरीताना प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ॥ १६१ ॥
विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ॥ १६२ ॥
मासमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च ।
नियतानल्पचित्तस्य चिर काये न तिष्ठति ॥ १६३ ॥

जो यक्ष्मा का रोगी वात-प्रधान हो उसको प्रसह, भूशय, आनूप, जलज और जलचर पशु-पक्षियो का मास मात्रा मे भोजन के लिये देना चाहिये। जिस यक्ष्मा-रोग मे कफ और पित्त प्रबल हो उसको प्रतुद, विष्किर और धन्वज (जागल) पशु पक्षियो का मास देवे। विधिपूर्वक तैयार किये, मन को लुभाने वाले मृदु, शुभ रस और सुगन्धि से युक्त इन मासो का रोगी खावे। मास का आहार करते हुए और माध्वीक को पीते हुए उदारचित्त [जो चिन्ता नहीं करता] रोगी के शरीर मे यक्ष्मा देर तक नहीं रहता ॥१६०–१६३॥

वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ॥ १६४ ॥
प्रसन्ना वारुणी शीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मासानि भक्षयेत् ॥ १६५ ॥
मद्यं तैक्ष्ण्योष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात्स्रोतसा मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्त धातवः ॥ १६६ ॥
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्र शोषः प्रशाम्यति ।

जो मनुष्य प्रतिदिन वारुणी-मण्ड का सेवन करता है, शरीर का बहि-शोधन करता है, उपस्थित वेगो को नही रोकता उसको यक्ष्मा रोग पीडित नही कर सकता। प्रसन्ना, वारुणी, शीधु, अरिष्ट, आसव, मधु इनमे से जो पदार्थ रोगी को योग्य लगे उसे अनुपान के रूप मे पान करे और मास खावे। मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, विशद और सूक्ष्म होने से बलात् स्रोतो के मुखो को शीघ्र खोल देता है, मुखों के खुल जाने से रस आदि सातो धातुओ का पोषण होता है। धातुओ के पोषण होने से यक्ष्मा रोग शीघ्र शान्त हो जाता है ॥१६४–१६६॥

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥ १६७ ॥
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ।

घृत-सेवन—मांसभोजी मनुष्य पशु-पक्षियों के मांस रस [घी से चौगुना] से सिद्ध घृत का उपयोग करे और जो मांसभोजी न हो वह घी से दश गुणे गाय के दूध में घी को सिद्ध करके शहद के साथ खाये ॥१६७॥

सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायिकैः ॥ १६८ ॥
क्षीरमांसरसोपेतैॱघृत शोषहरं परम् ।

(१) दशमूलादि घृत—गाय का घृत २ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, मांसरस ८ प्रस्थ, दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ, जीवनीय गण आदि मधुर द्रव्य मिलित १ शराव, इनसे यथाविधि घी पकावे, यह अति शोषनाशक है ॥१६८॥

पिप्पली-पिप्पलीमूल-चव्य-चित्रक-नागरैः ॥ १६९ ॥
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम् ।

(२) पंचकोलादि घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चविका, चीता, सोंठ, यवक्षार मिलित १ शराव इनका कल्क, घी २ प्रस्थ, दूध ८ प्रस्थ लेकर घृतपाक करना चाहिये । यह घृत स्रोतों का शोधक है ॥ १६९ ॥

रास्ना-बला-गोक्षुरक-स्थिरा-वर्षाभु-साधितम् ॥ १७० ॥
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद् घृतम् ।

(३) रास्नादि घृत—रास्ना, बला, गोखरु, सालपर्णी, पुनर्नवा, इनके क्वाथ में, जीवन्ती और पिप्पली इनका कल्क, दूध मिलाकर घृत सिद्ध कर लेवे । यह घी शोष को नष्ट करता है ॥१७०॥

यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुना सह ॥ १७१ ॥
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह ।
शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः ॥ १७२ ॥

सेवन विधि—इन घृतों को यवागुओं के साथ मिलाकर पीना चाहिये, अथवा शहद के साथ चाटे अथवा इन घृतों को अन्न के साथ खावे । शोष-रोगियों के लिये यह अन्न-पान विधि कह दी है ॥ १७१–१७२ ॥

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः ।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥ १७३ ॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च ।

---

१. 'रसोपेतं' इति च ।

उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनरक्तः सुखैः करैः ॥ १७४ ॥
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् ।

इसके आगे बहि -परिमार्जन विधि कहते है—

(१) यक्ष्मा के रोगी को चन्दनाद्य तैल आदि से अच्छी प्रकार मालिश करके तैल, दूध और पानी से भरे कोष्ठ मे बिठाना चाहिये । इससे स्रोतो के मुख खुलते है, शरीर मे बल और पुष्टि आती है । (२) इस मिश्रक स्नेह से बाहर निकल आने पर हाथो से घी या तैल लगाकर (धूप मे) सुख से बैठे रोगी के शरीर पर मालिश करे और सुख से उबटन करे ॥ १७३–१७४–॥

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥ १७५ ॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥ १७६ ॥
माषास्तिलाश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
त्रिगुणं यवचूर्णेन[1] दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥ १७७ ॥
एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

उत्सादन योग—(१) जीवन्ती, शतवीर्या [श्वेत दूब अथवा शतावरी], विकसा [मजीठ], पुनर्नवा, असगन्ध, अपामार्ग, तर्कारी [जयन्ती], मुलहठी, बला, विदारीकन्द, श्वेत सरसो, कूठ, चावल, अलसी, उड़द, तिल, किण्व (सुराबीज), इनको समभाग लेकर चूर्ण करे । इस चूर्ण मे तिगुना जौ का चून, दही और थोड़ा शहद मिलाकर उबटन करे यह उबटन पुष्टि, बल और वर्ण को देता है ॥ १७५–१७७– ॥

गौरसर्षपकल्केन गन्धैश्चापि सुगन्धिभिः ॥ १७८ ॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः ।

(१) स्नानीय जल—श्वेत सरसो के कल्क से साधित जल से ग्रीष्म काल में, सुगन्धित गन्ध द्रव्यो से साधित जल से शीत काल मे और जीवनीय गण से साधित जल से वर्षा ऋतु मे स्नान करे । [अष्टाग सग्रहकार के मत से जीवनीय गण की औषधियों के क्काथ मे सरसो और सुगन्धित द्रव्यो का कल्क डालकर स्नान करना चाहिये । शीतकाल मे उष्ण जल से और ग्रीष्मकाल मे शीत जल से स्नान करना चाहिये] ॥ १७८– ॥

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ॥ १७९ ॥
स्पृश्यान्संस्पृश्य संपूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः ।

---

१. 'यवचूर्णं द्विगुणितं' इति वा पाठः ।

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत्पानभोजनम् ॥ १८० ॥
इष्टमिष्टैरुपहितं सुखमद्यात्सुखप्रदम् ।

(१) पथ्य गन्ध पुष्पमाला, स्वच्छ वस्त्र, आभूषणो से शोभित रोगी गाय, देवता, स्वर्ण आदि मगलकारक वस्तुओ का स्पर्श करके, देव, ब्राह्मण और वैद्या का पूजन करके, मनको पसन्द, वर्ण, रस, स्पर्श और गन्ध वाले, हितकारी, सुखदायक अन्न-पान को अभीष्ट व्यजनो के साथ खावे ॥ १७६–१८०–॥

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ॥ १८१ ॥
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च ।
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि[१] ॥ १८२ ॥
यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥ १८३ ॥

(२) शोष के रोगी को एक साल पुराने धान्य देने चाहिये । ये धान्य लघु, वीर्य से पूर्ण, स्वादु और गन्ध से युक्त, आनन्ददायक होने चाहिये, इस प्रकार के धान्य अतिपथ्य अर्थात् हितकारक है । क्षतक्षीण चिकित्सा मे जो पथ्य करेंगे, बल, मास की वृद्धि के लिये उसका भी यक्ष्मा-रोग मे प्रयोग करे ॥ १८१–१८३ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ।
बस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः ॥१८४॥
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ।
यथर्तुविहितैः स्नानैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥ १८५ ॥
सुहृदा रमणीयानां प्रमदाना च दर्शनैः ।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥ १८६ ॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणा समुपासनैः ।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥ १८७ ॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरप्यहिंसया[२] ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥ १८८ ॥

अभ्यग से (तैल आदि की मालिश से) उबटन से, स्नान से, अवगाहन से, शरीर का बहि -परिमार्जन करने से, बस्तियो से, दूध-घी से, मास से, मास रस और भात से, मन के प्रिय मद्य से, मन को लुभाने वाले गन्धो के सेवन से,

---

१ 'लघूनि हीनवीर्याणि तानि पथ्यतमानि हि' इति च पाठ क्वचित् ।

२. 'रविहिंसया' इति वा ।

ऋतु के अनुकूल स्नानों से, नूतन-स्वच्छ वस्त्रों के पहिनने से, सुन्दर मित्रों तथा स्त्रियों के दर्शन से, कर्णप्रिय गाने, बजाने की ध्वनि से, आनन्द और सान्त्वना से, गुरुओं के सत्संग से, ब्रह्मचर्य से, दान से, तप से, देवताओं की भक्ति से, सत्य से, शुभाचरण से, मंगलकारी और अहिंसात्मक कार्यों से, वैद्य और ब्राह्मण की पूजा से और शुभ-कार्यों के करने से यक्ष्मा-रोग नष्ट हो जाता है ॥ १८४–१८८ ॥

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः ।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ १८९ ॥

पुरातन काल में जिस यज्ञ क्रिया से यक्ष्मा रोग जीत लिया गया हो, उस वेदविहित यज्ञ को आरोग्य का इच्छुक पुरुष करे ॥ १८९ ॥

तत्र श्लोकौ—प्रागुत्पत्तिर्निमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः ।
समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः ॥ १९० ॥
नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता ।
इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते ॥ १९१ ॥

उपसंहार—राजयक्ष्मा-रोग की उत्पत्ति, कारण, प्राग्-रूप, रूप तथा चिकित्सा का संक्षेप और विस्तार से कह दिया है। राजयक्ष्मा नाम का कारण, साध्यता, असाध्यता, कष्टसाध्यता ये सब राजयक्ष्म-चिकित्सा में संग्रह कर दिये हैं ॥ १९०–१९१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
राजयक्ष्मचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे उन्माद की चिकित्सा कहते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः ।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः ॥ ३ ॥

बुद्धि (अवबोध), स्मृति (स्मरण), ज्ञान (तत्त्वज्ञान), तप (द्वन्द्व सहिष्णुता व्रत, तपश्चरण आदि) इनके निवास आश्रयभूत, प्राणियों की

रक्षा मे श्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने उचित अवसर पर, अग्निवेश के प्रश्न करने पर उन्माद-रोग के कारण, लक्षण और चिकित्सा का अग्निवेश को उपदेश किया ॥३॥

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥४॥

उन्माद के कारण और सामान्य लक्षण—विरुद्ध (सयोग-विरुद्ध जैसे—मछली और दूध), विष आदि से दूषित और अपवित्र खान-पान, देव, गुरु-जन, (माता-पिता और आचार्य) और द्विजो (ब्राह्मणो) का तिरस्कार, भय था हर्ष के कारण मन पर आघात होना, (इसी प्रकार क्रोध, शोक, चिन्ता आदि से मन पर चोट पहुचना) और शरीर की क्रियाओं का विषम होना, ये सब बाते उन्माद रोग के कारण है ॥ ४ ॥

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ ५ ॥

सम्प्राप्ति—उपरोक्त कारणों से अल्पसत्त्व अर्थात् दुर्बल व्यक्ति मे मल (वात आदि दोष) प्रकुपित होकर, बुद्धि ज्ञान और स्मृति के आश्रय-स्थान हृदय को दूषित कर देते है और मनोवह स्रोता का आश्रय लेकर पुरुष के चित्त को शीघ्र ही मोहित अर्थात् विपरीत ज्ञान वाला और विचलित कर देते है ॥५॥

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

लक्षण—धी-विभ्रम (बुद्धि का भ्रश), सत्त्वपरिप्लव (मन की अति चञ्च-लता), आखो मे व्याकुलता (इधर-उधर देखना), अधीरता, असम्बद्ध वाणी, हृदयशून्यता अर्थात् भाव से रहित हृदय होना, ये सब निज और आगन्तुज दोनो प्रकार के उन्मादो के लक्षण है ॥ ६ ॥

स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाऽऽचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् ।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्यय चेत इतस्ततश्च ॥ ७ ॥

इस मूढ चित्तवाले पुरुष को न सुख का, न दुःख का और न आचार (मर्य्यादा) का, न धर्म का ज्ञान रहता है, इसलिये चित्त को कही भी शान्ति प्राप्त नही होती । इस व्यक्ति की स्मृति, बुद्धि और सज्ञा सब नष्ट हो जाती है, यह व्यक्ति चित्त को इधर-उधर डोलाता रहता है ॥ ७ ॥

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः ।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु[१] वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥८॥

---

१ 'पञ्चविधस्य भूयो' इति वा ।

बुद्धि, मन और स्मृति का भ्रंश होना ही उन्माद का स्वरूप है। कारण-भेद से उन्माद रोग दो प्रकार का है। (१) निज—शरीर के दोष से उत्पन्न और (२) आगन्तुज। इस उन्माद की उत्पत्ति पांच प्रकार की है। (१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपातज और ५ आगन्तुज[1]) प्रत्येक के लक्षण और चिकित्सा पृथक् २ कहेंगे ॥ ८ ॥

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ९ ॥
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ १० ॥

(१) वातजन्य उन्माद—रूक्ष अल्प और शीतल अन्न से, वमन या विरेचन-रूप मे दोषों का निकालने वाले कर्मो से रस-रक्त आदि धातुओं का क्षय होने से, उपवासों से, बढ़ा हुआ वायु अल्पसत्त्व (निर्बल) व्यक्ति के चिन्ता, शोक क्रोध, लोभ, काम आदि से युक्त हृदय को दूषित करके, बुद्धि स्मृति का भी शीघ्र ही नष्ट (चचल, अस्थिर, बेचैन) कर देता है।

लक्षण—इसके कारण से व्यक्ति बिना स्थान (बिना अवसर) ही जोर मे हसने लगता है, मुस्कराता है, नाचता है, रोता है, अगों का इधर-उधर चलाता है, रोता है। रोगी का शरीर कठोर, कृश, अरुण (लाल) वर्ण का हो जाता है, आहार के जीर्ण होने पर रोग का बल बढ जाता है, ये वातजन्य उन्माद के लक्षण है ॥ ९–१० ॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ११ ॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥ १२ ॥

(२) पित्तज उन्माद—अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाही और उष्ण आहार से कुपित हुआ पित्त अनात्मवान् (अधीर, निर्बल) पुरुष के हृदय मे स्थित

१ सुश्रुत और अष्टाग-संग्रह मे विषजन्य उन्माद का मान कर छः प्रकार के उन्माद माने है। वहां कहा है—'षडुन्मादा भवन्ति'। परन्तु क्योंकि विष की मद-संज्ञा होने से इसका निजोन्माद मे ही अन्तर्भाव करना चाहिये। जैसे—'यथास्वं तत्र भेषजम्'।

सुश्रुत—'यश्च मद्यकृतः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः।
सर्व एव मदा नर्ते वातपित्तकफात् त्रयात् ॥

होकर, हृदय को दूषित करके शीघ्र ही अति भयकर, तीव्र, उन्माद को उत्पन्न करता है।

लक्षण—विना अवसर के ही अमर्ष अर्थात् अक्षमा, क्रोध करना, संरम्भ (किसी काम मे बहुत जलदी करना), नगा हो जाना, सतर्जन (भर्त्सना), अभिद्रवण (भागना), शरीर का उष्ण होना, क्रोध करना, छायायुक्त स्थान की चाह, शीतल खान-पान की इच्छा का होना, शरीर मे पिलाई की झलक होना, ये सब पित्तजन्य उन्माद के लक्षण है। इस मे रोग का बल भोजन की जीर्ण-अवस्था मे अधिक होता है ॥ ११–१२ ॥

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रवृद्धः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन्संजनयेद्विकारम् ॥ १३ ॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥१४॥

(३) कफज उन्माद—मन्द चेष्टाशील (प्राय करके शयन, आसन आदि पर रहने वाले), व्यक्ति के अति भोजन करने से, ऊष्मा अर्थात् उष्णता की इच्छा सहित कफ, मर्म अर्थात् हृदय मे बढ कर, बुद्धि और स्मृति का नाश करके चित्त को मोहित कर उन्माद रोग को उत्पन्न करता है[1]।

लक्षण—वाणी और शरीर की चेष्टा का मन्द होना, अरोचक (अरुचि), स्त्रीसग की चाह, एकान्त, निर्जन स्थान की अभिलाषा, नीद का अधिक आना, छर्दि और लालास्राव, आहार के खाने पर रोग का बल बढना, नख, त्वचा, मूत्र आदि का श्वेत होना कफोन्माद के लक्षण है ॥ १३-१४ ॥

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स तु हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १५ ॥

(४) सन्निपातजन्य उन्माद—तीनो दोषो से मिलकर उत्पन्न हुआ उन्माद अति दारुण होता है। इसमे वात आदि तीनो दोष कारण रूप से सम्मिलित रहते है, इसलिये इसमे सब दोषो के लक्षण भी रहते है। इसमे चिकित्सा परस्पर विरोधिनी होने के कारण यह असाध्य है ॥ १५ ॥

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितॄणामभिधर्षणानि ।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥ १६ ॥

---

१ कफोन्माद मे उष्णता की अभिलाषा होती है। जैसा कि सुश्रुत मे कहा है—
"निद्रापरोऽल्पकथनोऽल्पभुगुष्णसेवी-
रात्रौ भृश भवति चापि कफप्रकोपात् ।"

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥
अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैश्च गुणप्रभावैः।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥ १८ ॥

(५) आगन्तुज उन्माद—देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस (राक्षस और ब्रह्मराक्षस) और पितर इन आठों ग्रहों का तिरस्कार करना, नियमपूर्वक व्रतादि का आचरण न करना और पूर्वजन्म में उत्तम कर्म न होना ये आगन्तुज उन्माद रोग के कारण है।

लक्षण—(१) जिस उन्माद-रोगी में अमानुषीय (दैवी), वाणी, पराक्रम, शूरता, शरीर क्रियायें दिखाई दें, जिसका ज्ञान, बुद्धि, स्मृति, विज्ञान (शिल्प सम्बन्धी ज्ञान), और अमानुषी बल (मनुष्य सीमा से अधिक) प्रतीत हो, जिस उन्माद का काल निश्चय न हो (कभी प्रात, कभी मध्याह्न और कभी सायंकाल हो), इस प्रकार के उन्माद को भूतोन्माद जानना चाहिये। जिस प्रकार अपने गुणों के प्रभाव से दर्पण में छाया (प्रतिबिम्ब) और सूर्य कान्त-मणि में सूर्य की किरणें प्रवेश करती है, परन्तु दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार से देव आदि भी मनुष्य के शरीर को दूषित किये बिना ही अपने गुणों के प्रभाव से अतिवेग से प्रविष्ट हो जाते है। [ये वात आदि दोषों के समान शरीर को दूषित नहीं करते] ॥ १६–१८ ॥

आघातकालास्तु सपूर्वरूपाः प्रोक्ता निदानेऽथ सुरादिभिश्च।
उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध कालं च गम्यान्पुरुषांश्च तेषाम् ॥ १९ ॥

अभिगमनीय पुरुषों पर आघात (आक्रमण) के काल और आगन्तुज उन्माद के पूर्वरूप ये निदान स्थान में प्रथम कह दिये है। अब देवता आदि आठों ग्रहों के द्वारा उत्पन्न उन्माद के लक्षण, अभिगमन-काल और यह रोग जिन पुरुषों को होता है यह सब पृथक् २ सुनो।

[यद्यपि देव आदि का प्रवेश दिखाई नहीं देता तथापि ज्ञान, विज्ञान-शीलता आदि लक्षणों से इनका अनुमान करना चाहिये] ॥ १६ ॥

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमप्रधृष्यमकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेद-मूत्र-पुरीष-वातं शुभगन्धं फुल्ल-पद्म-वदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात् ॥ २० ॥

(१) देवोन्माद—दृष्टि प्रसन्न (निर्मल आख) हो, गम्भीर हो, लज्जाशील हो, क्रोध से रहित हो, निद्रा से रहित हो, भोजन की अभिलाषा से रहित हो,

थोडे पसीने हो, थोडे ही मूत्र और मल हो, थोड़ा बोले, शोभन गन्ध हो, खिले हुए कमल के समान विकसित मुख हो, ऐसे लक्षणो वाले पुरुष को देवग्रहो से उन्मत्त हुआ जाने ॥ २० ॥

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपाहारचेष्टाव्याहार तैरुन्मत्तं विद्यात् ॥ २१ ॥

(२) गुरु वृद्ध आदि से उत्पन्न उन्माद—गुरु, वृद्ध, सिद्ध (इन तीन ग्रहभेदो) और ऋषियो के अभिशाप, अभिचार, और अभिध्यान के अनुकूल जिस रोगी की चेष्टा आदि हो, उसको गुरु, वृद्ध और सिद्ध ग्रहो से उन्मत्त हुआ जाने[1] ॥ २१ ॥

अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषिणमरोचकाविपाकपरीतं पितृभिरुन्मत्तं विद्यात् ॥ २२ ॥

(३) पितृग्रह—मलिन दृष्टि, लोगो की ओर आख उठा कर न देखे, निद्राशील, निरुद्धवाक् (रुक रुक कर बोले), अन्न की चाह न रखे, परन्तु पितृभोज्य तिल गुड़ आदि की चाह करे, अरोचक, अविपाक (मन्दाग्नि) युक्त हो, ऐसे पुरुष को पितृग्रहो से उन्मत्त समझे ॥ २२ ॥

चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमप्रधृष्यं मुख-वाद्य-नृत्य-गीतान्न-पान-स्नान-माल्य-धूप-गन्ध-रतिं रक्त-वस्त्र-बलि-कर्म-हास्य-कथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात् ॥ २३ ॥

(४) गन्धर्व-ग्रह—मुख से बाजा बजावे, नाचे, गावे, खान-पान, स्नान, माला, धूप और सुगन्धित वस्तुओ की चाह करे, लाल वस्त्र, बलिकर्म, हास्य, कथा (बातचीत), अनुयोग (पूछने की इच्छा) करे और शुभ गन्ध युक्त हो, ऐसे मनुष्य को गन्धर्व-ग्रह से उन्मत्त हुआ जाने ॥ २३ ॥

असकृत्स्वप्न-रोदन-हास्यं नृत्य-गीत-वाद्य-पाठ कथान्न-पान-स्नान-माल्य-धूप-गन्ध-रतिं रक्त-विप्लुताक्षं द्विजाति-वैद्य-परिवादिनं रहस्यभाषिणमिति यक्षोन्मत्तं विद्यात् ॥ २४ ॥

(५) यक्षोन्माद—बार-बार नींद ले, लेटे, रोवे, हसे, नाचे, गावे-बजावे, पाठ करे, बातचीत, खानपान, स्नान, माला, धूप, गन्ध मे इच्छा रखे, आखे लाल और भय से चकित हो, ब्राह्मण आदि द्विजो तथा वैद्यो की निन्दा करे,

---

१ अष्टाग-सग्रह मे १८ ग्रह गिने है। जैसे—सुर, असुर, गन्धर्व, उरग, यक्ष, राक्षस, ब्रह्मराक्षस, पिशाच, प्रेत, कूष्माण्डक, ककाल, दौर्किर, वेताल, पितृ, ऋषि, गुरु, सिद्ध और वृद्ध।

एकान्त मे बातचीत करे, ऐसे प्रकृति वाले पुरुष को यक्षग्रह से उन्मत्त हुआ जाने ॥ २४ ॥

नष्टनिद्रमन्न-पान-द्वेषिणमनाहारमप्रतिबलिनं शस्त्र-शोणित-मांस-रक्त-माल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥ २५ ॥

(६) राक्षसोन्माद—रात को नींद न आये, रोगी रात को बिचरे, खान-पान से द्वेष रखे, बिना आहार के भी अति बलवान् हो, शस्त्र, रक्त, मांस, लाल माला की चाह करे और दूसरे को डांट का भय दिखावे, ऐसे व्यक्ति को राक्षस-ग्रह से उन्मत्त जाने ॥ २५ ॥

प्रहास-नृत्य-प्रधानं[1] देव-विप्र-वैद्य-द्वेषावज्ञाभिः स्तुति-[2] वेद-मन्त्र-शास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥२६॥

(७) ब्रह्मराक्षस—हास्य करे और नृत्य करे, देव, ब्राह्मण और वैद्यों मे द्वेष, अनादर तथा देवता आदि की स्तुति करे, वेद, मंत्र, धर्मशास्त्र इनके अनेक उदाहरण दे, लकड़ी, डेले आदि से अपने शरीर को आघात पहुंचावे, ऐसे व्यक्ति को ब्रह्मराक्षस से उन्मत्त समझे ॥२६॥

अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्य-गीत-हासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं[3] संकर-कूट-मलिन-रथ्याचैल-तृणाश्म-काष्ठाधिरोहणरतिं[4] संभिन्न-रूक्ष-वर्ण-स्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥ २७ ॥

(८) पिशाचोन्माद—अस्वस्थ मन हो, नाचे, गावे, हँसे, सम्बद्ध और असम्बद्ध बातचीत करे, संकर (झाड़ू से एकत्र किये धूल तिनके आदि), कूट (मिट्टी का ढेर), मैले रास्ते, मलिन वस्त्र, तिनके, पत्थर, लकड़ी इन पर चढ़ने की प्रवृत्ति हो, जिसके वर्ण मिलेजुले हों, स्वर रूखा और एक समान न रहता हो (बदलता रहे), नंगा रहे, इधर-उधर भागे, एक स्थान पर न बैठे, दूसरे के सामने अपने दुःख की कथा कहे तथा स्मृति नष्ट हो गई हो, ऐसे व्यक्ति को पिशाचग्रह से उन्मत्त समझे ॥ २७ ॥

तत्र शौचाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च देवाः, स्नान-शुचि-विविक्त-सेविनं धर्म-शास्त्र-श्रुति-काव्य-कुशलं प्रायः षष्ठिनवम्योर्ऋषयः, मातृ-पितृ-गुरु-वृद्ध-सिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वास्तु स्तुति-गीत-वादित्र-रतिं पर-

---

१ 'प्रहासानृतवादिनं' इति । २ 'वशाभिष्टुति-' इति । ३. 'बद्धप्रभाषिणं' इति च । ४. 'तृणेषु आरोहण-' इति च पाठः ।

दार-गंध-माल्य-प्रियं शो चाचारं द्वादश्या चतुर्दश्या च, सत्त्व-बल-रूप-गर्व-शौर्य-युक्त माल्यानुलेपनं हास्यप्रियमतिवाकरणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्या च यक्षाः, स्वाध्याय-तपो-नियमोपवास-व्रतचर्या-देव-यति-गुरु-पूजारति नष्टशौचं ब्रह्मवादिनं शूरमानिन देवतागार-सलिल-क्रीडनरति प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीन-सत्त्व-पिशुन-स्त्रैण-लुब्धं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु पुरुषं छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति[1] । इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥ २८ ॥

आगमन काल—इनमे शौच (शुचि, पवित्र) आचार वाले, तप और वेदाध्ययन मे पण्डित पुरुष के छिद्र (त्रुटि अवकाश) को ढूढकर प्रायः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा या त्रयादशी के दिन उसको देवग्रह आक्रान्त करते हैं। ऋषिग्रह—स्नान, पवित्र द्रव्य, एकान्तस्थान सेवी, धर्मशास्त्र, वेद मे कुशल व्यक्ति को प्राय करके छठी या नवी तिथि के दिन आक्रान्त करते है। पितृग्रह—प्रायः माता, पिता, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्य की सेवा करने वाले में त्रुटि देखकर दशमी या अमावस्या-तिथि मे आक्रमण करते है। गन्धर्वग्रह—स्तुति, गाने-बजाने मे रत, परस्त्री, गन्ध और माला के प्रिय, पवित्र आचार वाले व्यक्ति मे छिद्र देखकर प्राय बारहवी या चौदहवी तिथि मे आक्रमण करते है। यक्षग्रह—सत्त्व, बल, रूप, अहकार, शौर्य से युक्त माला, अगराग और हास्य के प्रिय, अतिवाक्पटु व्यक्ति मे छिद्र पाकर प्रायः करके शुक्लपक्ष की एकादशी या सप्तमी मे आक्रमण करते है। ब्रह्मराक्षस—स्वाध्याय, तप, नियम उपवास, ब्रह्मचर्य, देवता, सन्यासी और गुरुओ की पूजा न करने वाले, भ्रष्टाचार, अपवित्र, अपने को ब्राह्मण और अब्राह्मण कहने वाले अर्थात् अब्राह्मण होने पर ब्राह्मण और ब्राह्मण होने पर अब्राह्मण कहने वाले, अपने को शूर गिनने वाले, मन्दिर और पानी मे क्रीडा करने वाले मे छिद्र देखकर पञ्चमी या पौर्णमासी के दिन आक्रमण करते है। राक्षस और पिशाच—प्राय दुर्बल, छली स्वभाववाले, चोर, लोभी, धूर्त्त पुरुष मे छिद्र पाकर द्वितीया, तृतीया और अष्टमी के दिन आक्रमण करते है।

[सुश्रुत मे कहा है—देवग्रह पौर्णमासी मे, असुर सन्ध्याकालो मे, गन्धर्व प्राय अष्टमी मे यक्ष प्रतिप्रदा मे, पितृ-जन कृष्णपक्ष मे, सर्प पञ्चमी मे, राक्षस रात्रि मे और पिशाच चतुर्दशी मे आक्रमण करते हैं।]

---

१ प्रतिवाक्य 'धर्षयन्ति' इति क्रियापद च पठ्यते क्वचित्।

ग्रह असख्य हैं, उनमे ये ही आठ ग्रह अधिक दीखने से मुख्य है, इसलिये इन्ही आठ ग्रहो की व्याख्या की है ॥ २८ ॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसरम्भान्निःसंज्ञमन्येष्वात्मनि वा पातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः, तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानमर्मा प्रतिहन्यमानपाणिः सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धिश्च हिंसार्थमुन्मत्तो ज्ञेयस्तं परिवर्जयेत् ।।२९।।

इन सब भूतोन्मादो मे जो पुरुष क्रोध के वेग के कारण हाथो को ऊचा उठा कर विना किसी शका या सकोच के, बिना ज्ञान के अपने या पराये पर मारने के लिये पटके तो उसे असाध्य समझना चाहिये । इसी प्रकार से जिस रोगी की आखो से आसू बहे, लिग-इन्द्रिय से रक्त आता हो, जीभ कट जाये, नासिका से पानी बहता हो, त्वचा फट जाये, मारने के लिये दोनो हाथ उठा रक्खे हों, निरन्तर कराहता (अव्यक्त शब्द करता) रहता हो, देखने मे भद्दा कुरूप, प्यासा, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, उसे हिंसार्थी उन्माद रोगी (पागल) समझे, वह रोगी असाध्य है ।

[चरकोपस्कार मे साध्य-असाध्य के विषय मे लिखा है कि—इन सब भूतोन्मादो मे उन्माद का प्रयोजन हिंसा, रति और पूजा है । इनमे से हिंसार्थी उन्माद असाध्य है और रति और पूजा के निमित्त हुए उन्माद साध्य है ।] ॥२९॥

रत्यर्चनकामोन्मादिनौ तु भिषगभिचाराभिशापाभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत् ॥ ३० ॥

रति और पूजन के लिए उत्पन्न उन्माद मे वैद्य को चाहिये कि अभिचार और अभिशाप को समझ कर इनके अग भूत जो उपहार (बलि आदि) हो, उसके साथ मन्त्र विधि और भैषज्य विधि (घृतपान आदि) द्वारा चिकित्सा करे॥३०॥

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्तराभ्यां भेषजविधिं व्याख्यास्यामः ॥ ३१ ॥

इसके आगे निज और आगन्तुज दोनो प्रकार के उन्मादो का सक्षेप और वस्तार से चिकित्सा का उपदेश करेंगे ॥ ३१ ॥

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित् ।
कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ ३२ ॥
कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् ।
स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥ ३३ ॥

वात आदि दोषों के भेदों को जाननेवाले वैद्य वातजन्य उन्माद की

उत्पन्नावस्था मे घृत का पान करावे । क्योंकि कफ पित्त द्वारा मार्ग के अवरुद्ध होने से प्रथम वमन, विरेचन रूपी शोधन करना उचित है। शोधन स्नेहयुक्त और मृदु हो इससे वायु का प्रकोप नहीं होता।

कफ और पित्त से उत्पन्न उन्मादो मे भी रोगी का स्नेहन और स्वेदन करके वमन और विरेचन देना उचित है। रोगी के शुद्ध होने पर पेया विलेपी रूप से अन्न सेवन का क्रम चालू करे ॥ ३२–३३ ॥

निरूहान् स्नेहबस्तींश्च[1] शिरसश्च विरेचनम् ।
ततः कुर्याद्यथादोषं तेषा भूयस्त्वमाचरेत् ॥ ३४ ॥
हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः ।
मनःप्रसादमाप्नोति स्मृतिं सञ्ज्ञां च विन्दति ॥ ३५ ॥

पीछे से निरूह (आस्थापन), स्नेह बस्ति (अनुवासन), शिरोविरेचन करावे। दोष के अधिक होने पर दोषानुसार बार बारव मन, विरेचन करावे। वमन आदि कार्यो से हृदय (छाती), चक्षु आदि इन्द्रियो के, शिर, कोष्ठ (आमाशय-पक्वाशय) के शुद्ध होने पर रोगी का मन प्रसन्न हो जाता है, वह स्मृति और संज्ञा (ज्ञान) को प्राप्त करता है ॥ ३४–३५ ॥

शुद्धस्याऽऽचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ।
ताडनं च मनोबुद्धिदेहसंतर्जनं हितम् ॥ ३६ ॥

शोधन करने पर भी यदि रोगी मे आचार की अपवित्रता हो तो तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अजन, दण्ड आदि से पीटना, मन, बुद्धि और शरीर को उद्विग्न करने वाले कार्य करने हितकारी हैं ॥ ३६ ॥

यः शक्तो विनयेत्पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः ।
अपेतलोष्ठकाष्ठाद्यैः संरोध्यश्च तमोगृहे ॥ ३७ ॥
तर्जनं त्रासनं दानं सान्त्वनं हर्षणं भयम् ।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥ ३८ ॥

जो उन्माद-रोगी नम्रता से वश मे आ सके उसको सुदृढ और सुखकारक जिनसे उसे देह मे पीड़ा या व्रण न हो ऐसे वस्त्रों से बाध कर अन्धकारयुक्त घर मे बन्द कर दे। घर मे से ढेले, लकड़ी आदि सब हटा देवे जिससे ये न चुभें न किसी प्रकार की चोट लगे। तर्जन (डाट डपट), करना, दान, हर्षोत्पादन, आश्वासन, भयदिखाना, विस्मय (चकित करना), आदि क्रियाओं से विस्मृत हुआ मन (विमूढ चित्त) पुनः प्रकृति में आ जाता है ॥३७–३८॥

---

१. 'निरूहणस्नेहबस्ती' इति वा ।

प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः ।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ॥ ३९ ॥

प्रदेह, उत्सादन (उबटन), अभ्यंग (तैल मर्दन), धूम और घृतपान ये सब वस्तुए मन, बुद्धि, स्मृति और संज्ञा को प्रबुद्ध करती है, इनका प्रयोग करना उचित है ॥ ३९ ॥

सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः ।

आगन्तुज उन्माद मे रति तथा अर्चना की कामना से उत्पन्न उन्मादो मे घृतपान आदि भेषजविधि तथा ओषधि, मणि, मगल, बलि आदि मन्त्र विधि का प्रयोग करे ।

अतः सिद्धतमान्योगाञ्छृणून्मादविनाशनान् ॥ ४० ॥
हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥ ४१ ॥

अब विस्तार से अति सिद्ध (परीक्षित) फलप्रद उन्मादनाशक योगों को सुनो—

(१) हींग, सौवर्चल (सचल), व्योष (सोठ, मरिच, पिप्पली), इनमे प्रत्यक दो पल परिमित लेकर इनके कल्क से, घी एक आढक और गाय का मूत्र चार आढ़क लेकर घृतपाक करे, यह घृत उन्माद का नाशक है ॥ ४०–४१ ॥

विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम् ।
स्थिराऽनन्ता रजन्यौ द्वे शारिवे द्वे प्रियङ्गुकम् ॥ ४२ ॥
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम् ।
तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ॥ ४३ ॥
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ ।
कल्कैः कर्षसमैरेतैर्विंशत्यष्टाभिरेव च ॥ ४४ ॥
चतुर्गुणे जले सम्यक्[1] घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
अपस्मारे ज्वरे कासे श्वासे मन्देऽनले क्षये[2] ॥ ४५ ॥
वातरक्ते[3] प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके ।
छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च ॥ ४६ ॥
कण्डू-पाण्ड्वामयोन्माद-विष-मेह-गदेषु च ।
भूतोपहतचित्ताना गद्गदानामरेतसाम्[4] ॥ ४७ ॥

---

१. 'पक्त्वा' इति । २ 'मन्देऽनलक्षये' इति ।
३ 'वातरोगे' इति । ४ 'सचेतसाम्' इति च पाठः ।

शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम् ।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम् ॥ ४८ ॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ।

इति कल्याणकं घृतम् ।

(२) कल्याणक घृत—विशाला (गवाक्षी), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), कौन्ती (रेणुका और 'कान्ता' पाठ में—मोटी इलायची), देवदारु, एलवालुक (एलुआ), स्थिरा (शालपर्णी), नत (तगर), हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, फूल प्रियगु, नीला कमल, छोटी इलायची, मजीठ, दन्तीमूल, अनार, नागकेसर, तालीशपत्र, बड़ी कटेरी, मालती (चमेली के नये फूल), वायविडग, पृश्निपर्णी, कूठ, लाल चन्दन, पद्माख इन अट्ठाईस ओषधियों में प्रत्येक एक कर्ष लेकर इनके कल्क द्वारा, घी एक प्रस्थ, पानी चार प्रस्थ लेकर घृत पाक करे[1]। यह कल्याणक नाम का घृत अपस्मार, ज्वर, कास, शोष, मन्दाग्नि, क्षय, वातरक्त, प्रतिश्याय, तृतीयक, चतुर्थक ज्वर, छर्दि, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, वीसर्प, कण्डू, पाण्डु-रोग, उन्माद, विष और प्रमेह रोगों में हितकारी है, भूतों से आक्रान्त चित्त वाले अव्यक्त वाणी वाले, अल्प शुक्र पुरुषों और वन्ध्या स्त्रियों के लिये प्रशस्त है। यह कल्याणक घृत धन के लिये हितकारी, कल्याणकारी, आयुप्रद, बलप्रद तथा सब प्रकार के ग्रहों से उत्पन्न रोगों का नाशक है ॥४२–४८॥

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ॥ ४९ ॥
रसे तस्मिन्पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे ।
वीरा-द्विमाष-काकोली-स्वयंगुप्तर्षभकर्द्धिभिः ॥ ५० ॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत्स्यात्कल्याणक महत् ।
बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम् ॥ ५१ ॥

इति महाकल्याणक घृतम् ।

(३) महाकल्याणक घृत—इन विशाला आदि अट्ठाईस वस्तुओं और स्थिरा आदि इकीस द्रव्यों से क्वाथ विधि से क्वाथ करे। इसमें पहिली बार ब्याई (खारके की) गाय का दूध, घी से चतुर्गुण मिलावे। फिर वीरा (पृश्निपर्णी या शतावरी), द्विमाष (मुगपर्णी और माषपर्णी), काकोली, कौंच,

---

१. चरकोपस्कार में—'कान्ता' पाठ है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी—बड़ी इलायची का ग्रहण है जैसे—'वरा विशाला भद्रैला देवदार्वेलवालुकैरि'ति। 'कौन्ती' पाठ निर्णयसागर की प्रति में है।

ऋषभ और ऋद्धि तथा मेदा इनको परस्पर सम भाग लेकर इनके कल्क से घृतपाक करे, यह महाकल्याणक घृत है ॥ ४९-५१ ॥

जटिला पूतना केशी चारटी मर्कटी वचाम् ।
त्रायमाणां जया वीरा चोरकं कटुरोहिणीम् ॥ ५२ ॥
कायस्था शूकरी छत्रामतिच्छत्रा पलङ्कषाम् ।
महापुरुषदन्ता च वचःस्था नाकुलीद्वयम् ॥ ५३ ॥
कटम्भरा वृश्चिकाली स्थिरा चाऽऽहृत्य तैर्घृतम् ।
सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ५४ ॥
महापैशाचिक नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ।
बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालाना चाङ्गवर्धनम् ॥ ५५ ॥

इति महापैशाचिकं घृतम् ।

(४) महापैशाचिक घृत—जटिला (जटामासी), पूतना (हरड), केशी (भूतकेशी), चारटी (पद्मचारिणी अथवा ब्रह्मयष्टि), कर्कटी (कौंच), वच, त्रायमाणा, जया (अरणि), वीरा (पृश्निपर्णी या काकोली), चोरक (सुगन्धित द्रव्य, इसे भूटानी लोग बेचते है) कुटकी, कायस्था (सुरसा वा क्षीरकाकोली), शूकरी (वाराही कन्द या विधारा), छत्रा (धनिया), अतिच्छत्रा (सौफ), पलकषा (लाख या गुग्गुल), महापुरुषदन्ता (शतावरी), वच स्था (आवला), नाकुली द्वय (दोनो रास्ना अथवा सर्पाक्षी और सर्पगन्धा), कटम्भरा (कटभी), वृश्चिकाली (बिच्छू बूटी), स्थिरा (शालपर्णी), इन को लाकर इनके क्वाथ और कल्क से घृत सिद्ध करे । यह घृत चतुर्थक ज्वर उन्माद, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करता है । यह महापैशाचिक नामक घृत अमृत के समान बुद्धि, स्मृतिकारक, तथा बालको के अगो को बढाने वाला है ॥ ५२-५५ ॥

लशुनाना शतं त्रिंशदभया त्र्यूषणात्पलम् ।
गवा चर्ममसीप्रस्थमाढकं क्षीरमूत्रयोः ॥ ५६ ॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थमेभिः सिद्धं प्रयोजयेत् ।
हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्त्वा च मधुमाणिकाम् ॥ ५७ ॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान्विषमज्वरान् ।
अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥ ५८ ॥

इति लशुनाद्यं घृतम् ।

(५) लशुनाद्य घृत—लहसुन एक सौ, हरड़ तीस, मिलित सोठ, मरिच, पिप्पली एक पल, गाय का चमड़ा जलाकर तैयार की राख एक प्रस्थ, गाय

का दूध एक आढ़क, गाय का मूत्र एक आढ़क, पुरातन (दस साल पुराना) घृत एक प्रस्थ, इन सब से यथाविधि घृत पाक करे। सिद्ध होने पर छान कर ठण्डा होने पर इसमें हींग का चूर्ण एक पल और शहद दो कुडव मिला देवे। यह घृत पान, अभ्यंग, नस्य में प्रयोग करने से दोषजन्य, आगन्तुज उन्माद रोग, विषमज्वर और अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है ॥ ५६-५८ ॥

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम्।
तदर्धं दशमूलस्य द्वयाढकेऽपां विपाचयेत् ॥ ५९ ॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा।
कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः ॥ ६० ॥
दाडिमाम्लसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः।
साधयेत् त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥ ६१ ॥
यवानीचव्यहिङ्ग्वम्लवेतसैश्च पलार्धिकैः।
सिद्धमेतत्पिबेच्छूलगुल्माशोजठरापहम् ॥ ६२ ॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरकृमीन्।
वातश्लेष्मामयान्सर्वानुन्माद चापकर्षति ॥ ६३ ॥

इति द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम्।

(६) लशुनाद्य घृत (२)—रस, गन्ध आदि से युक्त लहसुन को छिलके रहित करके उसकी गिरी ५० पल, मिलित दशमूल २५ पल, इनको दो आढक जल में पकावे। जब चौथाई रह जाये तो वस्त्र से छान ले। फिर पुरातन घृत एक प्रस्थ, लशुन का रस १ प्रस्थ, बेर मूली, वृक्षाम्ल (समाक दान), बिजौरा, अदरक, अनार का रस, सुरा, मस्तु, कांजी ये प्रत्येक आधा प्रस्थ, त्रिफला, देवदारु, सैन्धानमक, त्रिकटु, अजमोदा, दीप्यक (जीरा), चव्य, हींग, अम्लवेत प्रत्येक आधा पल, लेकर घृत सिद्ध करे। यह सिद्ध हुआ घृत शूल, गुल्म, अर्श, उदर रोग, ब्रध्न, पाण्डु-रोग, प्लीहा, योनि दोष, ज्वर, कृमि और वात-कफ रोगों और उन्माद को नष्ट करता है ॥ ५९-६३ ॥

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थावयस्थया।
सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥ ६४ ॥
केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद् घृतम्।
पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद् गृहेऽपि वा ॥ ६५ ॥
विशेषतः पुराणं च घृतं त पाययेद्भिषक्।

हींग, हिंगुपर्णी (वेणुपत्री या डीकामारी), कायस्था (हरड़), वयस्था (आंवला), इनके कल्क से सिद्ध घृत अथवा वयस्था (आंवला), हींग, चोरक

(सुगन्धित द्रव्य) इनसे सिद्ध घृत उन्माद रोग मे हितकारी है, ये दो योग हैं। अथवा हीग, सौवर्चल, त्रिकटु द्वारा पुरातन घृत को सिद्ध करके पिलावे उन्माद रोगी को घी की उत्तम मात्रा (जो कि २४ घण्टे अर्थात् दिन-रात मे जीर्ण हो) पिला कर पानी रहित गढे या घर मे बन्द कर देवे[1] ॥६४—६५॥

उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ॥ ६६ ॥
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम् ।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम् ॥ ६७ ॥
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद् ग्रहमोक्षणम् ।
गुणकर्माधिकं स्थानादास्वादात्कटुतिक्तकम् ॥ ६८ ॥
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद्वर्षशतस्थितम्[2] ।
दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम् ।
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः ॥ ६९ ॥

(७) पुरातन घृत—जो घी दस साल पुराना हो जाये, जिसमे कि तीव्र गन्ध आने लगे, जिसका रग लाख के समान लाल हो जाये, वह शीतवीर्य होता है, उसका नाम पुराना घृत है। दस वर्ष के पीछे घृत अति पुरातन हो जाता है इसको 'प्र-पुराण' कहते हैं। वह त्रिदोषनाशक पवित्र होने से खासकर ग्रह रोगो को नष्ट करता है, पीने से अधिक गुणशाली है, स्वाद मे कटु-तिक्त रस है, कान, आख के रोगो को नष्ट करता, विषनाशक और पवित्र करने वाला है। और बारह साल पुराने घृत से कोई भी रोग असाध्य नही है। इसके देखने, छूने और सूघने से बीसर्प और ग्रह-रोग नष्ट होते है। वह अपस्मार, विष, उन्माद और वायु रोगों मे अमृत के समान प्रशस्त है ॥६६—६९॥

एतैरौषधवर्गैर्वा विधेयत्वं न गच्छति ।
अञ्जनोत्सादनालेपान्नावनादींश्च योजयेत् ॥ ७० ॥
शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा ।
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् ॥ ७१ ॥
इति नस्याञ्जनम् ।

---

[1] उत्तम मात्रा का लक्षण—दिन रात्रि भर मे बिना दोष उत्पन्न किये जो जीर्ण हो सके वह मात्रा कुष्ठ, विष, उन्माद ग्रह, अपस्मार को नाश करती है। एक दिन रात मे जीर्ण होने वाली स्नेह की उत्तमा मात्रा, पूरे दिन मे जीर्ण होने वाली मध्यमा और आधे दिन मे जीर्ण होनेवाली ह्रस्वमात्रा कहाती है।
२. 'यत्स्याद् द्वादशवार्षिकम्' इति च पाठः।

तद्वद् व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिङ्गुसर्षपाः ।
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ७२ ॥

इति नस्यमञ्जनम् ।

(८) यदि उन्माद रोगी उपरोक्त ओषधि समूहों से वश मे न आवे, वह कहा न माने, तब (१) हिंगु, कल्याणक आदि घृतो मे वर्णित ओषधियों से अजन, उत्सादन (उबटन), आलेप और नस्य करे । (२) शिरीष के बीज, मुलहठी, हीग, लहसुन, तगर, वच, कुठ, इन सब को बकरी के मूत्र मे पीस कर इसका नस्य और अजन दे । (३) इसी प्रकार से व्योष (त्रिकटु, सोंठ, मरिच, पिप्पली), हल्दी, दारु-हल्दी, मजीठ, हीग, सरसो, सिरस के बीज इनको बकरी के मूत्र मे पीस कर नस्य और अजन करे यह उन्माद, ग्रह और अपस्मार रोगो को नष्ट करता है ॥७०–७२॥

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गहिङ्गुनी[1] हिङ्गुपत्रिकाम् ।
वर्त्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः ॥ ७३ ॥
तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान् ।
भूतार्त्तानमरार्तांश्च नरार्तांश्चैव गोमये ॥ ७४ ॥
मरिचं चाऽऽतपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः ॥ ७५ ॥

इत्यञ्जनम् ।

(४) अपामार्ग (चिरचिटा) के बीज, हींग और हींगुपत्रि प्रत्येक एक एक भाग, काली मिर्च आधा भाग, इनको गाय और गीदड के पित्त के साथ पीस कर वर्त्ती बनावे । इस वर्त्ती को अपस्मार, उन्माद तथा ज्वर रोगी, भूत और देवताओ से पीडित व्यक्तियो मे तथा नेत्र रोगो मे प्रयोग करे । (५) वात आदि दोष के कारण से अथवा भूतो के कारण से यदि दृष्टि विकृत हो गई हो तो काली मिरच को गाय और शृगाल के पित्त मे एक मास तक व्याप्त करके धूप मे रखे, फिर इसका अजन करे ॥७३–७५॥

सिद्धार्थको वचा हिङ्गुकरञ्जो देवदारु च ।
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम् ॥ ७६ ॥
समांशानि प्रियंगुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् ॥ ७७ ॥
नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ।

१. 'अपामार्ग हिङ्गुल' इति वा पाठः ।

अपस्मार-विषोन्माद-कृत्यालक्ष्मीज्वरापहः ॥ ७८ ॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ।

(९) सिद्धार्थ (श्वेत सरसो), वच, हींग, करञ्ज, देवदारु, मजीठ, त्रिफला, श्वेता (श्वेत अपराजिता), कटभी (बापुभा), त्वक् (दालचीनी), त्रिकटु (सोठ, मरिच, पिप्पली), प्रियङ्गु, शिरीष के बीज, हल्दी, दारुहल्दी इन सबका समान भाग लेकर बकरी के मूत्र मे पीस ले। यह अगद पान, नस्य, आलेपन, अजन, उद्वर्तन और स्नान मे प्रयोग करने पर अपस्मार, विष, उन्माद, कृत्या (मारण क्रिया), अलक्ष्मी और ज्वर को नष्ट करता है। इस अगद के पानादि से भूतो से भय नही रहता। राजसभा मे सफलता मिलती है ॥ ७६—७८ ॥

सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् ॥ ७९ ॥
प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिः कृता पिबेत् ।
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः ॥ ८० ॥

(१०) सिद्धार्थक आदि वस्तुओ द्वारा गोमूत्र मे सिद्ध किया घृत भी यही फल देता है, मुख से पानी बहने पर, पीनस मे, उन्माद मे गन्ध-वस्तुओ (दाह ज्वर चिकित्सा मे कथित अगरु आदि वस्तुओ) से बनी धूमवर्त्ति तथा सूत्र-स्थान मे कथित श्वेता, ज्योतिष्मती आदि वैरेचनिक वस्तुओ को हींग के साथ धूमवर्त्ती करके प्रायोगिक धूम विधि से पीवे[1] ॥ ७९—८० ॥

शल्लकालूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः ।
मूत्र-पित्त-शकृल्लोम-नखैश्चर्मभिरेव च ॥ ८१ ॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः—

(११) शल्लक (शजारु), उल्लू, बिल्ली, गीदड, भेडिया, बकरा इन पशुओ के मूत्र, पित्त, शकृत् (मल), लोम, नख, चमडे से परिषेक, अजन, प्रधमन (विरेचन चूर्ण रूप नस्य), नस्य, धूम, वातजन्य और कफजन्य उन्माद मे प्रायः करके करना चाहिये ॥८१-॥

पैत्तिके च प्रशस्यते ॥ ८२ ॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ।
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च ॥ ८३ ॥

१ वैरेचनिक धूम—'श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालमन शिला ।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमो मूर्धविरेचने' ॥

(१२) पित्तजन्य उन्माद में तिक्त वस्तुओं से तथा जीवनीय-गण की ओषधियों से सिद्ध घृत का पान, तथा मिश्रक स्नेह (यमक) का प्रयोग करे। इसी प्रकार से शीतल, मधुर, लघु खान-पान देने चाहिये ॥८२-८३॥

शङ्खे केशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ ८४ ॥

(१३) शस्त्र कर्म को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि उन्माद, अपस्मार और विषम-ज्वर में, शंख प्रदेश, कान, ललाट के मध्य में और केशों के अन्तिम भाग के सन्धि स्थान में स्थित सिरा का वेधन करे[1] ॥ ८४ ॥

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्थापयेत्सुखम्।
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते ॥ ८५ ॥

(१४) अथवा रोगी को कल्याणक घृत आदि और मांस से तृप्त कराके सामने की वायु से रहित घर में आराम के साथ रखे। इस प्रकार करने से बुद्धि और स्मृति के भ्रंश को छोड़ कर रोगी संज्ञा (चेतना) को प्राप्त कर लेता है और उन्माद रोग से मुक्त हो जाता है ॥ ८५ ॥

आश्वासयेत्सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः।
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ॥ ८६ ॥

(१५) मित्र लोग धर्म, अर्थयुक्त वचनों से आश्वासन देवें, इष्ट वस्तु के नाश को कहे, आश्चर्यकारक वस्तुओं को दिखावें ॥ ८६ ॥

बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे।
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तलोहतैलजलैः स्पृशेत् ॥ ॥ ८७ ॥
कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे।
रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य यथा शमम् ॥ ८८ ॥

(१६) शरीर पर सरसों का तैल लगाकर, हाथ, पांव बांध कर पीठ के भार धूप में लेटावे। कौंच या गरम लोहे, गरम तैल या गरम जल से स्पर्श करे। कशा (कोड़ों) से पीटे, बांधे, एकान्त घर में बन्द रखे। इस प्रकार करने से रोगी का विक्षिप्त चित्त शान्त हो जाता है ॥ ८७ ८८ ॥

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्।
त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥ ८९ ॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ ९० ॥

---

१ सुश्रुते—शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे।

देवदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं महत्।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥ ९१ ॥

(१७) विष का दाढ निकाले हुए सर्प से, दान्त (पले हुए, नम्र) सिंह और हाथी अथवा हाथ मे शस्त्र लिये हुए चोरो या शत्रुओ से उसको डरावे। अथवा राजकर्मचारी इसको बाहर लेजा कर, इसके हाथ पाव बाध कर मारने का भय दिखाये और कहे राजा ने तुम्हारे वध की आज्ञा दी है। क्योंकि कषादि के ताडन रूपी शरीर-क्लेश से प्राणो का भय कही अधिक होता है, इस कारण से विक्षिप्त मन शान्त हो जाता है ॥ ८९-९१ ॥

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते।
तस्य तत्सदृशप्राप्तिशान्त्याश्वासः शमं नयेत् ॥ ९२ ॥
काम-शोक-भय-क्रोध-हर्षेर्ष्या-लोभ-सम्भवान्।
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥ ९३ ॥

इष्ट वस्तु के नाश होने से जिसका मन विक्षिप्त हुआ हो, उस रोगी को उस वस्तु के समान वस्तु की प्राप्ति से, सान्त्वना तथा आश्वासन द्वारा शान्त करे। काम, शोक, मद, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या और लोभ के कारण से जिसका मन विक्षिप्त हुआ हो तो परस्पर विरुद्ध द्वन्द्वों से वह शान्त हो जाता है। कामजन्य उन्माद क्रोध से, क्रोधजन्य काम से, भयजन्य और शोकजन्य क्रोध और काम से, शान्त हो जाते है ॥ ९२-९३ ॥

बुद्ध्वा देशं वयःसात्म्यं दोषं कालं बलाबले।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे ॥ ९४ ॥
देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्।
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥ ९५ ॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदुभैषज्यमाचरेत्।
पूजा बल्युपहाराश्च मन्त्राञ्जनविधीस्तथा ॥ ९६ ॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमाश्च जपस्वस्त्ययनानि च।
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाऽऽचरेत् ॥ ९७ ॥

दोषजन्य (निज) और आगन्तुज उन्माद मे देश, वय, सात्म्य, दोष, काल, बल और अबल की परीक्षा करके उपरोक्त चिकित्सा करे। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि देवग्रह, ऋषिग्रह, पितृग्रह, गन्धर्वग्रह इनसे आक्रान्त उन्माद रोगी मे तीक्ष्ण अंजन आदि तथा क्रूर कर्मो का प्रयोग न करे। इनकेलिये घृत आदि कोमल ओषधि का प्रयोग करे[1]।

---

१ सुश्रुत मे भी कहा है—न च रूक्ष प्रयुञ्जीत प्रयोगं देवताग्रहे।
त्र ते पिशाचादन्यत्र प्रतिकूलं न चाचरेत् ॥

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा—पूजा, बलि कर्म, उपहार कर्म, मन्त्र, अजनविधि, शान्ति कर्म, यज्ञ, होम, जप, मगलकर्म, वेदोक्त नियम, प्रायश्चित्त आदि सेवन करे ॥ ९४–९७ ॥

भूतानामधिप देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रयतो नित्य जयत्युन्मादजं भयम् ॥ ९८ ॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये ।
तेषा पूजा च कुर्वाण उन्मादेभ्यो विमुच्यते ॥ ९९ ॥
बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः ।
सत्याचारतपोज्ञानप्रदानन्नियमव्रतैः ॥ १०० ॥
देवगुह्यकविप्राणा गुरूणा पूजनेन च ।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥ १०१ ॥

नित्य प्रति भूतो (प्राणियो) के अधिपति, जगत् के ईश्वर-महेश्वर का पूजन करने से उन्माद का भय नही रहता । रुद्र के 'प्रमथ' नामक जो गण लोक मे विचरते है, उनकी प्रतिदिन पूजा करने से आगन्तुज उन्माद से मनुष्य मुक्त हो जाता है । बलि कर्म से, मागलिक कार्यो से, होम से, ओषधियों और अगदो के धारण करने से, सत्य आचार से, तप से, ज्ञान से, दान से, नियम, व्रत के पालन से, देवता, गाय, ('गुह्यक', पाठ हो तो यक्ष), ब्राह्मण, गुरु-जनो के पूजन से, सिद्ध फलदायक मन्त्र तथा ओषधियो से आगन्तुज-उन्माद शान्त होता है ॥ ९८–१०१ ॥

यच्चोपदेक्ष्यते किंचिदपस्मारचिकित्सिते ।
उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥ १०२ ॥
निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥१०३॥

उन्माद और अपस्मार रोग मे हेतु और दूष्य की समानता है । इसलिये अपस्मार चिकित्सा मे जो कुछ विशेष कहेगे वह सब इस उन्माद मे भी बरतना चाहिये । मास और मद्य के सेवन से पृथक्, पथ्यभोजी, अन्दर और बाहर से पवित्र तथा सत्त्वगुण से युक्त और जो जितेन्द्रिय व्यक्ति होता है, वह निज और आगन्तुज दोनो प्रकार के उन्मादो से मुक्त रहता है ॥१०२-१०३॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थाना बुद्ध्यात्ममनसा तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥ १०४ ॥

उन्माद से छूटने के लक्षण—इन्द्रियो तथा इनके विषयो मे निर्मलता, बुद्धि, आत्मा और मन की प्रसन्नता, वात आदि धातुओ का अपनी स्वाभाविक

स्थिति मे आ जाना, ये उन्माद से मुक्त (प्राय' सब रोगो से मुक्त) व्यक्ति के लक्षण हैं ॥ १०४ ॥

तत्र श्लोकः—उन्मादाना समुत्थाना लक्षणं सचिकित्सितम् ।
निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥ १०५ ॥

उपसहार—निज और आगन्तुज उन्मादो के कारण, लक्षण, चिकित्सा को वैद्यो मे श्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने इस अध्याय मे कह दिया ॥१०५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
उन्मादचिकित्सित नाम नवमाऽध्याय. ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातोऽपस्मारचिकित्सित व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे अपस्मार-रोग की चिकित्सा की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः ।
तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसंप्लवात् ॥ ३ ॥

वैद्यों मे ज्ञानी अथवा भेषज को जानने वाले विद्वान् स्मृति के नष्ट होने को ही अपस्मार कहते है[1] । इसमे बुद्धि और सत्त्व (मन) के विभ्रश होने से अन्धकार मे घुसने के समान प्रतीति अर्थात् ज्ञान का अभाव या मोह और शरीर की चेष्टाये बीभत्स हो जाती हैं ॥ ३ ॥

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजिनाम् ।
रजस्तमोभ्या विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ॥ ४ ॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा ।
मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्त्तते ॥ ५ ॥

---

१ सुश्रुत मे अपस्मार-सज्ञा की व्याख्या इस प्रकार की है ।
स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जने ।
अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽय व्याधिरन्तकृत् ॥ सुश्रु ते ॥
अपगतः स्मारः स्मरण-अनुभूतार्थविज्ञानं यस्मिन् रोगे सोऽपस्मार ।
जिस रोग मे स्मृति अर्थात् अनुभूत पदार्थ का ज्ञान नष्ट हो जाता है वह 'अपस्मार' कहाता है । यह रोग रोगी का मृत्युकारक होता है ।

निदानपूर्वक सम्प्राप्ति—अपथ्यसेवी और अपवित्र भोजन करने वालों मे तथा जिन पुरुषों मे शरीर दोष अस्थिर तथा बहुत होते है, उनमें सत्त्वगुण वाले मन मे रज और तम के बढ़ने से तथा चिन्ता, काम, भय, क्रोध, शोक, उद्वेग आदि मानसिक विकारों से मन पर आघात होने पर (इन मानसिक कारणों से रज और तम बढ़ते है) और चेतना स्थान हृदय के शारीरिक वातादि दोषों से व्याप्त हो जाने पर अपस्मार रोग उत्पन्न होता है ॥ ४-५ ॥

धमनीभिः श्रिता[१] दोषाहृदय पीडयन्ति हि ।
सपीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥ ६ ॥

जिस समय आश्रित (वात आदि शारीरिक) दोष वेग को उत्पन्न करके हृदयमूल वाली धमनियों द्वारा हृदय मे पहुच जाते है, उस समय चेतना-स्थान हृदय के पीडित होने से पुरुष भ्रान्तचित्त और मोह को प्राप्त होकर दु खी होता है ॥ ६ ॥

पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि ।
जिह्वाक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥ ७ ॥
दोषवेगे च विगते सुप्तवत्प्रतिबुद्ध्यते ।

सामान्य लक्षण—अपस्मार रोगी असत् (अविद्यमान) रूपों को भी देखता है, भूमि पर गिरता है, कापता है । आख और भौहे टेढी (कुटिल) हो जाती है, मुख से लार बहती है, हाथ और पाव को इधर-उधर फेकता है, इस प्रकार से बीभत्स चेष्टाए करता है । दोष के वेग के शान्त होने पर रोगी सो कर उठने के समान जागता है[२] ॥ ७—॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः ॥ ८ ॥

दोषो के पृथक् पृथक् तथा समस्त होने से अपस्मार चार प्रकार का है । (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक और (४) सन्निपातजन्य, चारों के लक्षण कहते है ॥ ८ ॥

---

१ 'धमनीभिश्रिता' इति वा पाठ• ।

२ सुश्रुत मे भी कहा है—

सज्ञावहेषु स्रोतस्सु दोषव्याप्तेषु मानव• ।
रजस्तम परीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥
विक्षिपन् हस्तपादौ च विजिह्मभ्रूविलोचनः ।
दन्तान् खादन् वमन्फेन विवृताक्षः पतेत् क्षितौ ॥

कम्पते प्रदशेद्दन्तान्[1] फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषाणि च कृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ९ ॥

(१) वातिक-अपस्मार के लक्षण—वायु के कारण उत्पन्न अपस्मार का रोगी कांपता है, दांतों को काटता है, मुख से झाग उगलता है, जोर जोर से सांस लेता है, कठोर तथा काले रंग के रूपों को देखता है। [इसमें बार बार प्रबोध और बार बार अपस्मार होता है] ॥ ९ ॥

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः ।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ १० ॥

(२) पैत्तिक अपस्मार के लक्षण—रोगी के मुख से निकला झाग, नख आदि अंग, मुख और आंखें पीली होती है, पीले, लाल रूपों को देखता है, रोगी को प्यास और गरमी अनुभव होती है, शरीर गरम रहता है, सब जगत् को आग से व्याप्त अर्थात् चारों ओर आग ही आग देखता है ॥ १० ॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ ११ ॥

(३) कफजन्य अपस्मार के लक्षण—रोगी के मुख से निकली झाग, नख आदि अंग, मुख और आंखें श्वेत होती है, शरीर ठण्डा, रोमाञ्चित और भारी होता है, रोगी श्वेत रूपों को देखता है, यह रोगी देर में संज्ञा (चेतना) प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

सर्वैरेतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ १२ ॥

(४) त्रिदोषजन्य अपस्मार में इन तीनों दोषों के लक्षण मिले रहते हैं। यह सन्निपातजन्य अपस्मार असाध्य होता है, इसी प्रकार क्षीण पुरुष में हुआ तथा पुराना अपस्मार असाध्य होता है ॥ १२ ॥

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ १३ ॥

मल (अपस्मार के प्रारम्भिक दोष) बारह दिन, पन्द्रह दिन या एक मास में अथवा कुछ कम या अधिक समय में [जब काल, प्रकृति, दूष्य आदि से] बलवान् हो जाते हैं। तब अपस्मार रोग को उत्पन्न करते हैं ॥ १३ ॥

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां संप्रबोधनम् ।
तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात्कर्मभिर्वमनादिभिः ॥ १४ ॥

---

१. 'दशते दन्तान्' इति वा पाठः ।

वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्[1] ॥ १५ ॥

चिकित्सा—वैद्य को चाहिये कि प्रथम अपस्मार के उत्पन्न होने पर ही तीक्ष्ण वमन आदि कार्यों द्वारा हृदयवह तथा मनोवह स्रोतों को रोकने वाले शारीरिक तथा मानसिक दोषो को निकाल कर हृदयवह और मनोवह स्रोतों का प्रबोधन करे। वातिक अपस्मार मे बस्ति कर्म, पैत्तिक में विरेचन कर्म और श्लैष्मिक अपस्मार मे वमन कर्म प्रधानत करने चाहियें, और शेष कर्म भी करने चाहिये ॥ १४–१५ ॥

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च।
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनाञ्छृणु ॥ १६ ॥

जिस समय ऊर्ध्व (ऊपर के) और अध (नीचे के) सब मार्गों का शोधन हो जाये, और भली प्रकार अन्न-सेवन आदि से शरीर मे बल आ जावे, तब अपस्मार को शान्त करने के लिये जिन निम्नलिखित योगों को बरतना चाहिये उनको सुनो ॥ १६ ॥

गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्।
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥ १७ ॥

इति पञ्चगव्यं घृतम्।

(१) पञ्चगव्य घृत—गाय के गोबर का रस, गाय का दही, गाय का दूध, गाय का मूत्र इनके बराबर गाय का घृत लेकर घृतपाक-विधि से सिद्ध करे। यह घृत अपस्मार, कामला आर ज्वर को नष्ट करता है ॥१७॥

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला रजन्यौ कुटजत्वचम्।
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनी कटुरोहिणीम् ॥१८॥
सम्पाकं फल्गुमूलं च पौष्करं सदुरालभम्।
द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥ १९ ॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुका त्रिवृता निचुलानि च।
श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्ती भूनिम्बचित्रकौ ॥ २० ॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम्।
क्षिपेत्पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि तैः प्रस्थं सर्पिषः पचेत् ॥ २१ ॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः।
पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम् ॥ २२ ॥

---

१ 'समाचरेत्' इति च।

अपस्मारे तथोन्मादे श्वयथावुदरेषु च ।
गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलासु भगन्दरे ।
अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थिकविनाशनम ॥ २३ ॥
इति महापञ्चगव्यं घृतम ॥

(२) महापञ्चगव्य घृत—क्षुद्र और लघु दोनो पञ्चमूल (दशमूल), त्रिफला (हरड़, बहेडा, आवला), हल्दी, दारुहल्दी, कडे की छाल, सतवन की छाल, चिरचिटा, नील, कुटकी, अमलतास, काकोडुम्बरिका (छठ गूलर) की जड, पोहकरमूल, दुरालभा प्रत्येक वस्तु दो पल, पानी एक द्रोण इनका क्वाथ-विधि से क्वाथ करे । जब चतुर्थांश रह जाये तब छान ले । इसमे भार्गी, पाठा, त्रिकटु (सोठ, मरिच, पिप्पली), निशोथ, निचुल (जलवेतस या समुद्रफल) के फल, श्रेयसी (गजपिप्पली), आढकी (तुवर), मूर्वा, दन्तीमूल, चिरायता, चीता, श्वेत सारिवा और कृष्ण सारिवा, रोहिष तृण, भूतीक (अजवायन), मदयन्तिका (नवमल्लिका) ये द्रव्य प्रत्यक एक कर्ष ले, इनको बारीक पीस कर क्वाथ मे डाले । गाय का घी एक प्रस्थ और घी के बराबर गोबर का रस और गौ के ही दही, दूध और मूत्र लेकर घृत सिद्ध करे । इस घृत का नाम 'महापञ्चगव्य' घृत है । यह घृत अपस्मार, उन्माद ज्वर, कास, शोथ, उदररोग, गुल्म, अर्श, पाण्डु, कामला और हलीमक रोगो मे अमृत के समान है, यह घृत अलक्ष्मी (दुर्भगता), ग्रह रोगो और चातुर्थिक-ज्वर का विनाश करता है १८–२३

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च ।
पुराण घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित् ॥ २४ ॥

(३) ब्राह्मी घृत—ब्राह्मी का स्वरस, वच, कूठ और शखपुष्पी इन से पुरातन गो-घृत सिद्ध करे । यह घृत उन्माद, अलक्ष्मी, अपस्मार और पाप को नष्ट करता है ॥ २४ ॥

घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां वर्षे बास्ते चतुर्गुणे ।
मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयानाशनम् ॥ २५ ॥

(४) बैल और बकरे का मूत्र चार भाग, सैन्धव और हीग का कल्क एक भाग, इनसे सिद्ध किया घृत अपस्मार, हृदय रोग, ग्रह रोगो को नष्ट करता है । [यहा पर गौ और बकरी स्त्री जाति का मूत्र न लेकर नर बैल और बकरे का ही मूत्र लेना चाहिये[१]] ॥ २५ ॥

---

१ यद्यपि चतुष्पाद मे स्त्रीलिंग ही प्रशस्त है, तथापि यहा पर पुल्लिंग ही लेना चाहिये । कहा भी है—स्त्रीणा गुरु च तीक्ष्ण च न तु पुंसा तथाविधम् ।
पित्ताशिका· स्त्रियो यस्मात् सौम्यास्तु पुरुषाः स्मृताः ॥

वचासम्पाककैटर्यवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।
सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम् ॥ २६ ॥

(५) वचा, शम्पाक (अमलतास), कैटर्य (कट्फल), वयःस्था (आवला या गिलोय), हींग, चोरक (चोरपुष्पी सुगन्धित द्रव्य), पलकषा (गुग्गुलु), इनके कल्क से, चार गुणे पानी में सिद्ध घृत वातिक, श्लैष्मिक अथवा गुल्म के समान वात, कफ दोनों से उत्पन्न अपस्मार में हितकारी है ॥२६॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविनाशनम् ॥ २७ ॥

(६) तिल का तैल एक प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, जीवनीय गण की दस औषधियों में से प्रत्येक एक-एक पल लेकर इनका कल्क, दूध एक द्रोण, इनमें घृत सिद्ध करे, यह घृत अपस्मार का नाशक है ॥ २७ ॥

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे ।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २८ ॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति ।

(७) दूध एक आढक, गन्ने का रस एक आढक, काश्मरी (गम्भारी) का क्वाथ घी से आठ गुणा, जीवनीय आदि ओषधियां प्रत्येक एक कर्ष, इनके कल्क से एक प्रस्थ गोघृत सिद्ध करे। यह घृत वातजन्य और पित्तजन्य (अथवा वात-पित्तजन्य) अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है ॥ २८-॥

तद्वत्काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम् ॥ २९ ॥

(८) इसी प्रकार से कास (सरकण्डा), विदारीकन्द, गन्ना, कुश, इनके क्वाथ में सिद्ध घृत वातजन्य, पित्तजन्य अपस्मार को नष्ट करता है ॥२९॥

मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात् ।
तद्वत्सिद्धं घृतप्रस्थं पित्तापस्मारभेषजम् ॥ ३० ॥

(९) आवले का रस एक द्रोण, मुलहठी का कल्क दो पल, घी एक प्रस्थ इनसे यथाविधि सिद्ध घृत पैत्तिक अपस्मार को नष्ट करता है ॥३०॥

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ।
सिद्धं स्याद् गोशकृन्मूत्रैः स्नानोत्सादनमेव च ॥३१॥

अभ्यंग—(१) बकरे का मूत्र चार सेर, सरसों का तैल एक सेर, इनसे सिद्ध किये तैल का अभ्यंग करे। इसी प्रकार गाय के गोबर से उबटन और गाय के मूत्र से स्नान करे ॥ ३१ ॥

कटभीनिम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचा रसे ।
सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते ॥ ३२ ॥

(२) कटभी (वापुवा) नीम की छाल, कट्वग (स्योनाक), मधुशिग्रु (लाल शोभाजन की छाल) इनके क्वाथ मे गोमूत्र के समान सरसो का तैल मिला कर तैल सिद्ध करे, यह तैल अभ्यग के लिये उत्तम है । [इसमे क्वाथ चतुर्थांश के स्थान पर तृतीयाश करे तभी स्नेह से चतुर्गुण होगा] ॥३२॥

पलङ्कषावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः ।
जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिङ्गुचोरकैः ॥ ३३ ॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम् ।
मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ॥ ३४ ॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम् ।

(३) पलकषा (गुग्गुलु), वचा, पथ्या (हरड़), वृश्चिकाली (बिच्छू-बूटी), सरसों, जटिला (जटामासी), पूतना (हरड़), केशी (भूत केशी), नाकुली (रास्ना या सर्पगन्धा), हीग, चोरक (चोर पुष्पी, सुगन्धित द्रव्य), लसुन, अतिरसा (शतावरी या जलज यष्टि मधु), चित्रक, कूठ, मासाहारी पक्षियो (गीध, चील आदि) की बीठ इनमे से जो भी मिल सके उनका कल्क चतुर्थांश, सरसो का तैल एक भाग और बकरे का मूत्र चार भाग लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये, इससे अपस्मार-रोग शान्त होता है ॥३३-३४–॥

एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं संप्रलेपनम् ॥ ३५ ॥

(४) गुग्गुलु आदि ओषधियोसे ही धूपन और प्रलेप भी करना चाहिये ॥३५॥

पिप्पली लवणं शिग्रुं हिङ्गु हिङ्गुशिराटिकाम्[1] ।
काकोली सर्षपान्काकनासा कैटर्यचन्दने ॥ ३६ ॥
शुनः स्कन्धास्थिनखरान्पर्शुकाश्चेति पेषयेत् ।
बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात्सधूपनः ॥ ३७ ॥

(५) पिप्पली, सैन्धा नमक, सहजन, हीग, हिङ्गुशिराटिका (वंशपत्री या डीकामारी), काकोली, सरसों, काकनासा (कौआठूटी), कैटर्य (कट्फल), चन्दन, कुत्ते के कधे की हड्डी, नख और पसलियो को बकरे के मूत्र के साथ पुष्य-नक्षत्र मे पीस कर उनका प्रलेप और धूप देना चाहिये ॥३६–३७॥

---

१ 'हिंगुशिवाटिकाम्' इति वा पाठ ।

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः ।
उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम् ॥ ३८ ॥

(६) अपेतराक्षसी (कृष्ण तुलसी), कूठ पूतना (हरड), भूतकेशी, चोरक इनको बकरे के मूत्र मे पीस कर उबटन करे और मूत्रों से अवसेचन (स्नान) करावे ॥३८॥

जलौकाशकृता तद्वद् दग्धैर्वा बस्तलोमभिः ।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः ॥ ३९ ॥

(७) इसी प्रकार जाक की विष्ठा से अथवा बकरे के बालों को जलाकर उनसे, या गधे की अस्थि से, अथवा हाथी के नखो के चूर्ण से, या गाय की पूछ के बालो को जला कर इनको बकरे के मूत्र मे पीसकर उबटन लगावे[1] ॥३९॥

कपिलाना गवा मूत्रं नावनं परम हितम् ।
श्वशृगालबिडालाना सिंहादीना च शस्यते ॥ ४० ॥

नस्य—(१) पिंगल वर्ण की (कपिला) गायो का मूत्र नस्य के लिये अति उत्तम है। इसी प्रकार कुत्ते, गीदड, बिल्ली, सिंह आदि का मूत्र भी नस्य के लिये उत्तम है ॥ ४० ॥

भार्गी वचा नागदन्ती श्वेतश्वेता[2] विषाणिका ।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः ॥ ४१ ॥
योगास्त्रयोऽतः षड बिन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक् ।

(२) तीन योग—(१) भार्गी, वचा और नागदन्ती, (२) श्वेतश्वेता (श्वेत अपराजिता या दूधिया वच) और विषाणिका (मेढासिंगी), (३) ज्योतिष्मती (मालकगनी) और नागदन्ती (बडी दन्ती, पर्व पुष्पिका) इनको मूत्र के साथ पीस ले। ये तीन योग है। इनके पाच या छ बिन्दुओ से वैद्य अपस्मार रागी की नाक मे नस्य देवे ॥ ४१ ॥

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्जकैः ॥ ४२ ॥
श्यामापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रैश्च बस्तजैः ।
साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम् ॥ ४३ ॥

(३) त्रिफला, सोठ, मरिच, पिप्पली, पीतद्रु (हलदू), यवक्षार, फणिज्झक (तुलसी भेद), श्यामा, (त्रिवृत्), अपामार्ग, करञ्जुवा इनका कल्क

---

१ 'जलौका' के स्थान पर 'जतुका' पाठ हो तो मकडी का ग्रहण करना उचित है। २ 'शतश्वेता' इति वा ।

चतुर्थांश, सरसों या तिल का तैल एक भाग, बकरे का मूत्र चार भाग लेकर तैल सिद्ध करे। इसका नस्य लेने से अपस्मार-रोग नष्ट होता है ॥ ४२–४३ ॥

पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च।
भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम् ॥ ४४ ॥

(४) पिप्पली, वृश्चिकाली (बिच्छू बूटी), कूठ और पाचों नमकों मे से जो मिले और भार्गी इन सब का चूर्ण करके नाक मे फूक द्वारा नस्य देना चाहिये। यह एक उत्तम औषध है ॥ ४४ ॥

कायस्थाञ्छारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा।
सव्योषान् बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत् ॥ ४५ ॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते।
विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः ॥ ४६ ॥

अंजन—(१) कायस्था (तुलसी या छोटी इलायची), शरद्-ऋतु मे उत्पन्न मूग (हरे मूग), मोथा, उशीर (खस), जौ, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) इन सब को बकरे के मूत्र मे पीस कर नेत्राजन वर्त्ती बनावे। अपस्मार, उन्माद, साप का काटा, अर्दित-वात, विषपान, गर (संयोगज विष) से पीडित और जलमृत अर्थात् जल मे डूबा पुरुष (पेट मे बहुत पानी जाने से जो मृत के तुल्य हो)[1] उसके लिये ये वर्तिया अमृत के समान जीवनप्रद होती है ॥ ४५–४६ ॥

मुस्तं वयःस्था त्रिफला कायस्था हिंगु शाद्वलम्।
व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बास्तमेषपशव्रिभिः ॥ ४७ ॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्।
किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च ॥ ४८ ॥

(२) मोथा, वयस्था (गिलोय), त्रिफला, कायस्था (हरड़), हींग, शाद्वल (दूब, नई घास), सोंठ, मरिच पीपल, उडद और जौ इनको बकरे, बैल और मेंढे के मूत्र मे पीसकर (तीनों के मूत्र से) नेत्राजन वर्त्ती बनावे।

---

१ जलमग्न पुरुष के लक्षण—

विष्टब्धपायुमूर्धाक्षमाध्मातोदरमेहनम्।
विद्याज्जलमृतं जन्तुं शीतपादकराननम् ॥

गुदा, सिर, आखे अकड जावें, पेट और लिंग फूल जावे, पैर, हाथ और मुख ठण्डे पड जावें उसे जलमृत पुरुष जाने।

इनका प्रयोग अपस्मार, उन्माद, किलास (श्वेत कुष्ठ) और विषम-ज्वर मे करे ॥ ४७-४८ ॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम् ।

(३) पुष्य-नक्षत्र मे कुत्ते के पित्त को लेकर उसका अजन करने से अपस्मार नष्ट होता है ।

तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम् ॥ ४९ ॥

धूपन—(१) पुष्य-नक्षत्र मे कुत्ते के पित्त का लेकर पुराने घृत के साथ मिलाकर धूपन देना भी अपस्मार की उत्तम औषध है ॥ ४६ ॥

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपन मारयेद्भिषक् ॥ ५० ॥
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते ।
स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति स्मृति संज्ञा स विन्दति ॥ ५१ ॥

(२) नेवला, उल्लू, बिल्ली, गीध, कीट (बिच्छू), साप और कौवा इनके मुख, पख ओर पुरीषो मे अपस्मार-रोगी को धूपन देवे । इन उपरोक्त सिद्ध फलदायक कर्मो से अपस्मार-रोगी के हृदय और मनोवह-स्रोत शुद्ध हो जाते है और रोगी को सज्ञा (चेतना) आ जाती है ॥ ५०-५१ ॥

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिम् ।
पश्येत्तस्य भिषक्कुर्यादागन्तून्मादभेषजम् ॥ ५२ ॥

जिस अपस्मार मे वात आदि दोषो से अधिक लक्षण दिखाई देते हों, उसको आगन्तुज समझे । इस आगन्तुज-अपस्मार मे आगन्तुज-उन्माद की चिकित्सा करे अर्थात् घृतपान और मन्त्रादि-चिकित्सा करे ॥ ५२ ॥

अतत्त्वाभिनिवेश नामक महारोग का निदान और चिकित्सा —

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः ।
भगवान् प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः ॥ ५३ ॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम् ।
तत्र नोक्तं ततः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम् ।
शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाऽऽह पुनर्वसुः ॥ ५४ ॥

अपस्मार[1] का हेतु, लक्षण, चिकित्सा सुनने के अनन्तर हाथ जोड़ कर अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से निवेदन किया—भगवन् ! आपने सूत्रस्थान

१. अतत्त्वाभिनिवेश-रोग का लक्षण और चिकित्सा का अंश आर्ष नही है, यह चक्रदत्त और उनके गुरु-जनो, का मत है ।

में 'अतत्त्वाभिनिवेश' नामक जो महारोग कहा है, उसकी आकृति, लक्षण, हेतु वश पर आपने नहीं कहे थे, उनको मैं सुनना चाहता हूँ। उसे आप यहा पर कहिये। सुनने की इच्छा वाले शिष्य के वचन को सुन कर भगवान् महर्षि ने कहा—॥ ५३-५४ ॥

महागदं सौम्य शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम् ।
मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान्निगृह्णतः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥ ५५ ॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः ।
दोषाः संदूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ॥ ५६ ॥

हे सौम्य! महागद के हेतु, लक्षण और चिकित्सा को सुनो—जो व्यक्ति नित्यप्रति मलिन (अपवित्र) और अपथ्य आहार का सेवन करता है, मूत्र, पुरीष आदि के उपस्थित वेगो को रोकता है, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आदि कारणो को अति सेवन करता है रजोग्रस्त और मोह (तम) से आवृत उस पुरुष मे प्रकुपित शारीरिक वात आदि दोष हृदय मे पहुँच कर मनोवह और बुद्धि-वह (सज्ञावह), सिराओं (स्रोतो) को दूषित कर देते है ॥५५-५६॥

रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चाऽऽवृते ।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढाल्पचेतसः ॥ ५७ ॥
करोति विषमां बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥ ५८ ॥

रज और तम रूपी मानस दोषो के अधिक बढने से सत्त्व-सज्ञक मन और बुद्धि घिर जाते है, ढप जाते है। शारीरिक दोषों के बढने से हृदय व्याकुल हो जाता है। इस अवस्था मे पुरुष को मोह (मूर्च्छा) आ जाती है, चेतना कम हो जाती है, नित्य, अनित्य और हित, अहित कार्यों मे विपरीत बुद्धि करने लगता है। आप्त विद्वान् इसको 'अतत्त्वाभिनिवेश' नामक महारोग कहते हैं ॥ ५७-५८ ॥

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संसाध्य वमनादिभिः ।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥ ५९ ॥

चिकित्सा—रोगी को प्रथम स्नेहन और स्वेदन कराके वमन आदि क्रियाओ से शुद्ध करे। पीछे से अग्नि को बढाने के लिये पेया आदि कर्म तथा मेधावर्धक, पवित्र अन्नपानो से चिकित्सा करे ॥५९॥

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत्[1] पञ्चगव्यमुदाहृतम् ।
तत्सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं[2] रसायनम् ॥ ६० ॥

ब्राह्मी के (कूठ आदि से मिले) स्वरस से युक्त जो पंचगव्य घृत प्रथम कहा है, उसका सेवन करना चाहिये। शङ्खपुष्पी का स्वरस और जो मेधावर्धक रसायन प्रथम कहे है, उनका सेवन करना चाहिये ॥६०॥

सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्तधर्मार्थवादिनः ।
संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ६१ ॥

मन के अनुकूल अच्छे आप्त, धर्म और हित की बात कहने वाले मित्र लोग उस रोगी को विज्ञान (शिल्प-शास्त्र), धैर्य (चित्त की स्थिरता), स्मृति (भूतार्थ-विज्ञान) और समाधि (मन के नियमन) मे लगावे ॥६१॥

प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम् ।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचा वा मधुसयुताम् ॥ ६२ ॥

(१) तिल तैल के साथ मिला लहसुन का रस प्रतिदिन सेवन करे। (२) शतावरी के रस का दूध के साथ ले, (३) ब्राह्मी स्वरस, (४) कूट के स्वरस, या (५) वच के चूर्ण को मधु के साथ प्रयोग करे ये पाच योग है ॥ ६२ ॥

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः ।
तस्माद्रसायनैरेन प्रायशः समुपाचरेत् ॥ ६३ ॥

अपस्मार रोग मे शारीरिक और मानसिक दोष एक साथ कुपित होते है और वह महामर्मो मे आश्रित होता है। और यदि यह रोग देह मे एक बार स्थान पा जावे और चिरस्थायी हो जावे तो वह अति कष्टसाध्य हो जाता है। इसलिये इस अपस्मार की प्रायः अनेक रसायनो से चिकित्सा करे ॥६३॥

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा ।
रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते ॥ ६४ ॥

अपस्मार और उन्माद के रोगियो की जल, अग्नि, वृक्ष, पर्वत और अन्य विषम स्थानो से सदा रक्षा करे। क्योकि इन का देखने मात्र से उत्पन्न हुआ वेग प्राणघातक होता है ॥ ६४ ॥

तत्र श्लोकौ—हेतुः कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा ।
सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम् ॥६५॥

---

१. 'स्वरसंयुक्त' इति । २ 'सेव्यं' इति वा ।

महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम् ।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते ॥ ६६ ॥

उपसंहार—अपस्मार-रोग के कारण, प्रकुपित दोष जिस प्रकार से अपस्मार-रोग को उत्पन्न करते हैं, सामान्य लक्षण तथा पृथक्-पृथक् लक्षण और चिकित्सा, अतत्त्वाभिनिवेश नामक महागद के कारण, लक्षण और चिकित्सा, यह सब विषय भगवान् आत्रेय ने प्रजा की हितकामना से 'अपस्मार-चिकित्सित' अध्याय में कह दिये ॥ ६५-६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽपस्मारचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे क्षतक्षीण-चिकित्सा की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १-२ ॥

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित् ।
क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥ ३ ॥

उदार कीर्ति, ब्रह्मर्षि तथा परमार्थ तत्त्व के जानने वाले, भगवान् पुनर्वसु ने उरःक्षत से क्षीण व्यक्ति की चिकित्सा के लिये निम्नलिखित चिकित्सा-विधि का उपदेश दिया है ॥ ३ ॥

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।
पततो विषमोच्चेभ्यो युध्यमानस्य चाधिकैः ॥ ४ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वान्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ ५ ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ ६ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चातिप्रनृत्यतः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ ७ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ ८

कारण और सम्प्राप्ति—धनुष को अधिक खीचते हुए, अति अधिक भारी भार को उठा कर ले जाते हुए, ऊची-नीची जगह से गिरने पर, अपने से अधिक बलवान् व्यक्तियो से युद्ध करते हुए, दौड़ते हुए घोडे या बैल को वा दम्य (तरुण बैल, घोडे या भैसे) को रोकते हुए, शिला, काष्ठ (लकडी), पत्थर, निघात (मुद्गर) आदि को दूर फेकते वा दूसरो पर मारते हुए, बहुत जोर-जोर से ऊचे स्वर से पढते हुए, दूर तक अति वेग से भागते हुए, बड़ी भारी नदी को तैरते हुए, घोड़ो के साथ-साथ दोड़ते हुए, एक दम अचानक कूदते हुए, बहुत तेजी के साथ नाचते हुए, तथा इसी प्रकार के अन्य क्रूर कार्यो से अथवा दूसरे व्यक्ति से वक्षस्थल पर जार से चोट लगने पर, स्त्रियों मे अतिप्रसङ्ग करनेवाले के, रूखा, अल्प (हीन मात्रा मे), वा प्रमित अथात् एक रस खानेवाले व्यक्ति के, वक्ष स्थल मे क्षत हो जाता है, इससे क्षतक्षीण नामक बलवान् रोग उत्पन्न हाना है[1] ।

[जल्पकल्पतरुकार ने क्षतक्षीण को दो प्रकार का माना है। एक अति स्त्री-प्रसग, प्रमिताशन आदि से उत्पन्न और दूसरा क्रूरकार्यो से उत्पन्न । परन्तु परन्तु शुक्र-क्षय से क्षत-क्षय उत्पन्न नही होता, वह तो क्षयजन्य यक्ष्मा है उसको प्रथम कह दिया है ।] ॥ ४–८ ॥

उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विदह्यते ।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्ग प्रवेपते ॥ ९ ॥
क्रमाद्वीर्य बल वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते ।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्य विड्भेदोऽग्निवधस्तथा ॥ १० ॥
दुष्टः श्यावः सदुर्गन्धिः पीतो विग्रथितो बहुः ।
कासमानस्य चाभीक्ष्ण कफः सास्रः प्रवर्तते ॥ ११ ॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थ तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ।

लक्षण—उर स्थल (छाती) मे अत्यन्त वेदना या पीडा होती है, छाती फटती, दो टुकडे होती प्रतीत होती है, जलन सी प्रतीत होती है, पार्श्व दबते प्रतीत होते है, अग शुष्क हो जाते है, अग कापते है । वीर्य (सामर्थ्य), बल, वर्ण (कान्ति), रुचि (भोजन मे इच्छा) ओर अग्नि धीरे-धीरे घट जाती है । ज्वर, पीडा, मन की दीनता (उदासी), अतिसार, जाठर-अग्नि का नाश

१ राजयक्ष्मा और क्षतक्षीण मे भेद करना चाहिये । क्षतक्षीण की उपेक्षा से यक्ष्मा अनुबन्ध के रूप मे उत्पन्न हो जाता है । भेद कहा भी है—

शोषश्लीहाढ्यवाताश्च स्वरभेदं क्षत क्षयम् ॥

(भोजन का अविपाक या न पचना), उत्पन्न हो जाता है। बार बार खासी आती है, खासने मे दूषित, काला या पीला, दुर्गन्धयुक्त, बॅधा हुआ (ग्रथित), मात्रा मे बहुत तथा रक्त मिश्रित कफ बाहर आता है। शुक्र और ओज के क्षीण होने से उर क्षत का रोगी अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) हो जाता है ॥६–११॥

अव्यक्त लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ १२ ॥

छाती मे दर्द आदि पूर्वोक्त लक्षण जब तक अव्यक्त या थोड़े से व्यक्त होते हैं, वही इस रोग के पूर्वरूप हैं ॥ १२ ॥

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥ १३ ॥

उर.क्षत होने पर—छाती मे दर्द, रक्त का वमन और कास विशेष रूप से होता है। क्षतक्षीण अर्थात् शुक्र के क्षय से रक्तमिश्रित मूत्र तथा पार्श्व, पीठ और कटि मे जकडाहट, वेदना अथवा स्थिरता आ जाती है ॥ १३ ॥

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ १४ ॥

साध्य और असाध्य के रूप—यदि रोगी बलवान् हो, अग्नि भी प्रदीप्त हो, लक्षण थोडे हो और रोग नया (एक साल से कम का) हो तो वह साध्य होता है। जो रोग एक साल पुराना हो गया हो तो वह याप्य है, जिस रोगी मे सब लक्षण विद्यमान हो वह असाध्य है। वह चिकित्सा करने योग्य नहीं है ॥ १४ ॥

चिकित्सा—

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम् ।
सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात्सशर्करम् ॥ १५ ॥

(१) जब छाती मे क्षत हुआ पता लगे तब लाख को मधु मे मिला कर दूध के साथ पी लेवे। इसके जीर्ण होने पर दूध और शर्करा के साथ अन्न खावे[१] ॥ १५ ॥

पार्श्वबस्तिरुजश्चाल्पपित्ताग्निस्ता सुरायुताम् ।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषा पाठा सवत्सकाम् ॥ १६ ॥

(२) रोगी को पार्श्वशूल और बस्तिशूल हो तथा अल्पपित्त और अल्पाग्नि

---

१ अष्टागसग्रह मे कहा है—

उरस्यन्त क्षते सद्यो लाक्षा क्षौद्रयुता पिबेत् ।
क्षीरेण शालीन् जीर्णेऽद्यात् क्षीरेणैव सशर्करान् ॥

(मन्दाग्नि) हो तो लाख का सुरा के साथ पीवे। यदि रोगी को अतीसार हो तो लाख को मोथा, अतीस, पाठा और इन्द्रजौ के क्वाथ (काढे) के साथ पीवे ॥ १६ ॥

लाक्षा सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम् ।
त्वक्क्षीरींसमितं क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥ १७ ॥

(३) दीप्ताग्नि रोगी लाख, घी, माम, जीवनीय गण की औषधियां, मिश्री त्वक्क्षीरी (वंशलोचन) और समिता (गोधूम, गेहूँ का चूर्ण) को दूध में पका कर पीये ॥ १७ ॥

इक्ष्वालिकबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः ।
शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत्क्षती ॥ १८ ॥

(४) उरःक्षत रोगी सन्धान के लिये इक्षुवालिका, बिस (मृणाल की जड) ग्रन्थि (पिप्पली मूल), पद्मकेसर और चन्दन इनसे पकाये दूध में मधु मिला कर पिये ॥ १८ ॥

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम् ।
ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥ १९ ॥

(५) उरःक्षत में ज्वर और दाह होने पर आम (अग्नि पर न भुने, कच्चे) जौ के चूर्ण को चौगुने दूध में पका कर घी में मिला कर शर्करा (शक्कर) और मधु के साथ खावे। अथवा शक्कर और मधु से मिले जौ के सत्तुओं को दूध में मिला कर खावे ॥ १६ ॥

कासी पर्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ॥ २० ॥

(६) कास, पार्श्वशूल, पोरुओं में पीडा और अस्थिशूल होने पर महुए के फूल, मुलहठी, द्राक्षा, वंसलोचन, पिप्पली और बला इनके चूर्ण को घी और शहद में मिला कर चाटे ॥ २० ॥

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा ।
सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥ २१ ॥
संचूर्ण्य मधुना युक्ता गुलिकाः संप्रकल्पयेत् ।
अक्षमात्रा ततश्चैका भक्षयेन्ना दिने दिने ॥ २२ ॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दिमूर्च्छां मदं भ्रमम् ।
रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥ २३ ॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम् ।

गुलिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥ २४ ॥
इत्येलादिगुटिका ।

(७) एलादि गुटिका—छोटी इलायची, पत्र (तेजपात), त्वच (दालचीनी) ये प्रत्येक आधा कर्ष, पिप्पली आधा पल, शर्करा, मुलहठी, खजूर, द्राक्षा (दाख) प्रत्येक एक-एक पल इन सब का चूर्ण करके मधु के साथ गोलियां बनावे । रोगी को चाहिये कि प्रतिदिन एक कर्ष परिमित गुटिका खावे । ये गुटिकायें तर्पणी (वृष्य) है । कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, वमन, मूर्च्छा, मद भ्रम, रक्तवमन, प्यास, पार्श्वशूल, अरोचक, शोष, प्लीहा, आढ्यवात, स्वरभेद, क्षत, क्षय और रक्तपित्त को नष्ट करती है ॥ २१-२४ ॥

रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्ड यूषेस्तोयेन वा पिबेत् ।
चटकाण्डरसं वाऽपि रक्त वा छागजाङ्गलम् ॥ २५ ॥

(८) रक्त के अधिक आने पर कुक्कुट के अण्डों को मूग आदि के यूष (रस) के साथ अथवा जल के साथ पीवे । अथवा चटक (चिड़िया) के अण्डे के रस को यूष के साथ पीवे, बकरी या हरिण आदि जंगली पशुओं के रक्त को पीवे ॥ २५ ॥

चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम् ।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्ध द्राक्षारसपयोघृतैः ॥ २६ ॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्ध वा तण्डुलीयकम् ।

(९) रक्त मिश्रित थूक आने पर—शर्करा, पुनर्नवा और लाल चावलो का चूर्ण मिला कर खावे । द्राक्षा रस, दूध, घी इनके साथ सिद्ध करके पीवे । अथवा महुवे का फूल, मुलहठी, इनका क्वाथ, क्वाथ के समान दूध, इनमे तण्डुलीयक (चौलाई) सिद्ध करके पीवे ॥ २६ ॥

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्ट ससैन्धवम् ॥ २७ ॥
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनले ।
शृतक्षीरसरेणाद्यात्सक्षौद्रघृतशर्करम् ॥ २८ ॥

(१०) उर क्षत रोगी मे यदि वायु अनुलोम-मार्ग से प्रवृत्त न हो तो सुरा मे भुनी अजा की वसा (चर्बी) को सैन्धे नमक के साथ सेवन करे । यदि उरःक्षत-रोगी क्षाम (क्लान्त) और क्षीण शरीर हो, अग्नि प्रबल हो और नीद न आती हो तो अजा-मेद (बकरे की चर्बी) को पके हुए दूध के सर भाग (मलाई) के साथ मिला कर घी, मधु, शर्करा के साथ खावे ॥२७-२८॥

शर्करा च यवक्षौद्रजीवकर्षभकौ मधु ।

शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणः क्षतः कृशः ॥ २९ ॥
क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः ।
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ॥ ३० ॥

(११) कृश और क्षीण उर क्षत-रोगी जो, गेहूँ, जीवक, ऋषभक इनके चूर्ण को शर्करा के समान भाग लेकर मधु के साथ चाटे। ऊपर से गरम दूध पीये, मांस और रक्त बढ़ाने वाले मांसभक्षी पशु-पक्षियों के मांस के रस को घृत में भून कर पिप्पली-चूर्ण और मधु के साथ मिला कर खावे ॥२९–३०॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः ।
तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ॥ ३१ ॥
साश्वकर्णैः शृतात्क्षीराद्दध्नाज्जातेन सर्पिषा ।
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः ॥ ३२ ॥

(१२) उर:क्षत और क्षीणशुक्र पुरुष बट, गूलर, पीपल, पिलखन, साल प्रियङ्गु, ताड का मस्तक, जामुन की छाल, पियाल, पद्माख, अश्वकर्ण (पीतशाल) इनका समान भाग लेकर इनके कल्क के साथ पके दूध में से निकले घी के साथ चावल खाये ॥३१–३२॥

यष्ट्याह्वानागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम् ।
पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम् ॥ ३३ ॥

(१३) मुलहठी और नागबला का क्वाथ (एक तृतीयांश रहने पर), दूध, घी के समान, कल्कार्थ, पयस्या (क्षीरकाकोली), पिप्पली, वंशलोचन इनके कल्क से दूध के समान घृत (एक भाग) सिद्ध करे। यह घृत उर क्षत में उपयोगी है ॥ ३३ ॥

कोललाक्षारसे तद्वत्क्षीराष्टगुणसाधितम् ।
कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम् ॥ ३४ ॥

(१४) कोल (सूखे बेर) और लाक्षा रस (अथवा क्वाथ) और घी से आठ गुणे दूध में, कट्वङ्ग (श्योनाक), दारुहल्दी की छाल, कूडे की छाल, इन्द्रजौ इनके कल्क से घृत सिद्ध करे। यह घृत उर:क्षत में हितकारी है[1] ॥ ३४ ॥

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम् ।
चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके ॥ ३५ ॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम् ।

---

१ अष्टाङ्गसंग्रह में अष्टगुण दूध का ही विधान है। यथा—
घृतं वाष्टगुणे क्षीरे कोललाक्षारसान्वितम् ॥

ऋद्धि परूषकं भार्ङ्गी मृद्वीका बृहती तथा ॥ ३६ ॥
शृङ्गाटकं तामलकी पयस्या पिप्पली बलाम् ।
बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि ॥ ३७ ॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान् ।
धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः ॥ ३८ ॥
एषां प्रस्थोन्मितान् भागान् घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुला तथा ॥ ३९ ॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्मरिचानि च ।
चूर्णितानि विनीयास्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः ॥ ४० ॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् ।
सुधामृतरसं प्राश्य क्षीरमांसरसाशिना ॥ ४१ ॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान्कृशान्वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥ ४२ ॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत् ।
पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥ ४३ ॥
इत्यमृतप्राशघृतम् ।

(१५) अमृतप्राश-घृत—कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक, शतावरी, जीवन्ती, सोंठ, कचूर, मूगपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, श्वेत और लाल दोनों पुनर्नवा, मुलहठी, कौंच, शतावरी, ऋद्धि, फालसा, भार्गी, मुनक्का, बड़ी कटेरी, सिंघाड़ा, तामलकी (भूई आवला), पयस्या (विदारी), पिप्पली, खरैटी, बदर (बेर), अक्षोट (अखरोट), खजूर, वाताम (बादाम), अभिषुक (पिस्ता) इसी प्रकार के अन्य मधुर, स्निग्ध और बृंहण फल प्रत्येक एक-एक कर्ष, आवले का स्वरस, विदारी का रस, गन्ने का रस, बकरे के मांस का रस और गाय का दूध प्रत्येक एक प्रस्थ लेकर इनके साथ घी का एक प्रस्थ सिद्ध करे। सिद्ध होकर शीतल हो जाने पर मधु आधा प्रस्थ (आठ पल), शर्करा पचास पल, मरिच, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर प्रत्येक आधा पल लेकर इनका चूर्ण इसमें मिला देवे।

यह घृत क्षतक्षीण व्यक्तियों के लिये अमृत के समान है। सुधा और अमृत के समान है[1], इस घी को खाकर पीछे से दूध और मांस रस के साथ अन्न खावे।

१ सुधा और अमृत दोनों पर्याय हैं तथापि इतना विवेक है कि नागों ने-

यह अमृतप्राश घृत नष्टशुक्र, क्षतक्षीण, दुर्बल, रोगों से कृश हुए, अति-मैथुनशील, हीनमास, वर्ण, स्वर से हीन व्यक्तियों को पुष्टकरता है। यह घृत कास, हिक्की, ज्वर, श्वास, दाह, प्यास, रक्तपित्त, वमि, मूर्च्छा, हृदय रोग, योनिरोग और मूत्ररोग को नष्ट करता है, यह घृत पुत्रदायक अर्थात् वीर्यवर्धक है ॥३५-४३ ॥

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम् ।
दर्भमूलं पृथक्पर्णां पलाशर्षभको स्थिराम् ॥ ४४ ॥
पलिकान् साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥ ४५ ॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः ।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्द्रव[1]शूलनुत् ॥ ४६ ॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकास[2]शोपक्षयापहः ।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नाना बलमासदः ॥ ४७ ॥
इति श्वदंष्ट्रादिघृतम् ।

(१६) श्वदंष्ट्रादि घृत—गोखरू, खस, मजीठ, खरैटी, गम्भारी, रोहिषतृण, दर्भमूल, पृश्निपर्णी, ढाक, ऋषभक, शालपर्णी प्रत्येक एक एक पल लेकर आठ गुणे जल में पकावे। चतुर्थांश रहने पर इसमें घी से चौगुना दूध मिलावे। कल्कार्थ—कोंच, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावरी, ऋद्धि, द्राक्षा, शर्करा, श्रावणी (गोरखमुण्डी), बिस (मृणाल) इनका घी से एक चतुर्थांश कल्क लेकर उसके द्वारा घी का एक प्रस्थ सिद्ध करे।

यह घृत वातजन्य और पित्तजन्य हृदयशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, कास, शोष और क्षय का नष्ट करता है, धनुष, भार, स्त्री, मद्य, यात्रा से क्षीण व्यक्तियों का बल और मास देता है ॥ ४४-४७ ॥

मधुकाष्टपलं द्राक्षाप्रस्थकाथे घृतं पचेत् ।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥ ४८ ॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत् ।
समं शक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम् ॥ ४९ ॥
इति शक्तुप्रयोगः ।

जिसको खाया था वह सुधा और देवों ने जिसका पान किया था वह अमृत कहाया था। नाग और देव दोनों उनको सेवन कर दीर्घजीवी और अमर हुए ऐसी प्रसिद्धि है। इन दोनों के ही तुल्य यह अमृतप्राश घृत समझना चाहिये।चक्र०

१ 'हृद्द्रव' इति। २ 'काम' इति च पाठ०।

(१७) सक्तु प्रयोग—मुलहठी आठ पल, सूखी दाख एक प्रस्थ इनके क्काथ मे पिप्पली का कल्क आठ पल मिला कर घी का एक प्रस्थ (१६ पल) सिद्ध करे। सिद्ध होने पर जब ठण्डा हो जाये तब मधु आठ पल, शर्करा (खाण्ड) आठ पल मिलावे। इस घी को सत्तू के समान भाग मे मिला कर खावे। यह घृत क्षतक्षीण और रक्तगुल्म रोगो मे हितकारी है ॥ ४८-४६ ॥

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद् घृतात्।
अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान्पचेद्भिषग् ॥ ५० ॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्र द्विप्रस्थं विनयेत्ततः।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥ ५१ ॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम्।

(१८) आवले का रस एक प्रस्थ, विदारी का रस एक प्रस्थ, गन्ने का रस एक प्रस्थ, जीवनीय गण का रस एक प्रस्थ, बकरी का दूध एक प्रस्थ, गाय का दूध एक प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, इन सात वस्तुओ को पकावे। इस घृत के शीतल होने पर शर्करा एक प्रस्थ (१६ पल) और मधु एक प्रस्थ मिलावे। यह घृत यक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, कास, प्रमेह और क्षय को नष्ट करता है, यौवन को बनाये रखने और बुढापे को दूर करने वाला, आयुर्वर्धक और मास शुक्र तथा बल को बढाता है ॥ ५०—५१—॥

घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥ ५२ ॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम्।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥ ५३ ॥

(१६) पित्त के प्रबल होने पर घी चाटे, वायु के अधिक होने पर घृतका पान करे। पित्त के अधिक होने पर चाटा हुआ घृत पित्त को तो शान्त करता है और मात्रा में थोड़ा होने से जाठर-अग्नि का नाश नही करता। वायु के अधिकता मे पिया हुआ घृत स्निग्ध और गुरु होने से वायु को शमन करता है वायु रूक्ष और लघु होता है। बलवान् वायु पक्वाशय से जिस उष्णिमा को ले जा रहा हो, उसको शान्त करता है ॥ ५२—५३ ॥

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि च।
त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि[१] योजयेत् ॥ ५४ ॥

क्षाम (क्लान्त शरीर), क्षीण और कृश अगो-वाले व्यक्तियों मे उपरोक्त घृत

१ 'पानानि' च पाठः।

वंशलोचन, पिप्पली, लाजा इनके चूर्णो से गाढा (घन) पान बना कर सेवन करावे ॥ ५४ ॥

सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत् ।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

(२०) सर्पिर्गुड— (१) वंशलोचन, पिप्पली और लाजा चूर्ण से घने बनाये घृतों को मधु के साथ सेवन करे पीछे से दूध पीवे । इस प्रकार करने मे शुक्र, सामर्थ्य, बल और पुष्टि शीघ्र प्राप्त होती है ॥ ५५ ॥

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा ।
पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्टयंशका अपि ॥ ५६ ॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसाशिके ।
जीवनीयैः पचेत्कल्कैरक्षमात्रैर्घृताढकम् ॥ ५७ ॥
सितापलानि पूतेऽस्मिन् शीते द्वात्रिंशदावपेत् ।
गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च ॥ ५८ ॥
सक्षौद्रं कुडवांशं तत्सर्वं खजमूर्च्छितम् ।
स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत् ॥ ५९ ॥
ताञ्जग्ध्वा पलिकान् क्षीरं मद्यं चानुपिबेत्कफे ।
शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्शिते ॥ ६० ॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते ।
शस्ताः पार्श्वशिरःशूले विभेदे स्वरवर्णयोः ॥ ६१ ॥

इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः ।

(२१) सर्पिर्गुड(२)—क्वाथ के लिये खरैटी, विदारीकन्द, लघुपच मूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, छोटी कटेरी और गोखरू) पाचों क्षीरी वृक्षों (बड़, पीपल, पिलखन, गूलर, अश्वत्थ) के नवीन कोमल पत्ते प्रत्येक एक मुष्टि (पल) लेकर आठ गुणे जल मे क्वाथ करे। चतुर्थांश रहने पर उतार ले । कषाय से दुगुना दूध, विदारी का स्वरस तथा बकरे का मांस रस प्रत्येक कषाय के समान, अथवा एक एक आढक, कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक आदि जीवनीय गण की दस ओषधियां प्रत्येक एक एक कर्ष, घृत एक आढक (चार प्रस्थ) लेकर यथाविधि घृतपाक करे । सिद्ध होने पर छान कर इस घृत मे मिश्री बत्तीस पल, गेहूँ, पिप्पली, वंशलोचन, सिंघाड़ा इनमे से प्रत्येक का चूर्ण और शहद प्रत्येक एक एक कुडव (चार पल) मिला कर खौचे से भली प्रकार चलावे, जिससे गाढा हो जाये । फिर इनकी एक एक पल की गुटिकाये

बाध कर शक्ति बढाने के लिये भूर्जपत्र (भोजपत्र) से लपेट दे। इन गुटिकाओं का एक पल परिमित मात्रा मे खाकर, यदि वायु और पित्त की अधिकता हो तो ऊपर से दूध पीवे, कफ की प्रबलता हो तो मद्य का अनुपान करे। ये सर्पिगुड शोष, क्षत, कास क्षीण, श्रम, भार और स्त्री-प्रसग से कृश हुए व्यक्तियो के लिये, रक्तवमन, पीनस, उरोदाह, पार्श्वशूल, शिर शूल स्वरभेद और विवर्णता मे हितकारी है ॥ ५६–६१ ॥

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः।
वीरर्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः॥ ६२ ॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः।
धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात्पचेत् ॥ ६३ ॥
शर्करार्धतुला शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च।
क्षिप्त्वा सर्पिर्गुडान्कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान् ॥ ६४ ॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्त हलीमकम्।
शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णा हन्युः कार्श्यं सकामलम् ॥ ६५ ॥
इति तृतीयसर्पिर्गुडकाः।

सर्पिर्गुड (३)—वशलोचन, श्रावणी (गोरखमुण्डी), द्राक्षा, मूर्वा, जीवक, ऋषभक, वीरा (पृश्निपर्णी या शतावरी), ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बड़ी कटेरी, कोंच, खजूर, मेदा प्रत्येक द्रव्य एक एक पल लेकर दूध के साथ खूब बारीक पीस ले। आंवले का रस एक प्रस्थ, विदारी का रस एक प्रस्थ, गन्ने का रस एक प्रस्थ, घी एक प्रस्थ लेकर उपरोक्त कल्क के साथ घृत सिद्ध करे। घी के शीतल होने पर शर्करा पचास पल, मधु आठ पल मिला कर घृतपिण्ड बना लेवे। ये घृतपिण्ड कास, हिचकी, ज्वर, यक्ष्मा, तमक श्वास, रक्तपित्त, हलीमक, शुक्रक्षय, निद्राक्षय, तृष्णा, कृशता और कामला को नष्ट करते है ॥६२–६५॥

नवमामलकं द्राक्षा[1]मात्मगुप्ता पुनर्नवाम्।
शतावरी विदारी च सभागा पिप्पली तथा ॥ ६६ ॥
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात्।
यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च ॥ ६७ ॥
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढकं शर्कराशृते।
क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान् ॥६८॥
कुर्यात्तान्भक्षयेत्क्षीणः क्षतशुष्कश्च मानवः।

१ 'द्राक्षा नवामामलकी' इति वा पाठः।

तेन सद्यो रसादीना वृद्ध्या पुष्टिं स विन्दति ॥ ६९ ॥
इति चतुर्थसर्पिर्गुडकाः ।

सर्पिर्गुड (४)—नूतन आमले, द्राक्षा, कोंच, पुनर्नवा, शतावरी, विदारीकन्द, मजीठ, पिप्पली प्रत्येक द्रव्य दस पल, सोठ आठ पल, मुलहठी, सुवर्चल (सोचल नमक) प्रत्येक दो पल, त्रिवृत् दो पल इन सब को मिला कर चूर्ण कर ले। फिर दूध, घी और तैल प्रत्येक को एक एक आढक लेकर शर्करा के साथ पकावे। जब गाढा हो जावे तब इसमे आमले आदि सब वस्तुओ का चूर्ण मिला कर बिल्व अर्थात् एक एक पल के गुड (गोले) बाध ले। यह गुड क्षीण, उर क्षत तथा कृश रोगी को खाने चाहिये। इससे रसादि की वृद्धि होकर शीघ्र पुष्टि प्राप्त होती है ॥६६–६९॥

गोक्षीराद्द्व्याढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम् ।
विदार्याः स्वरसात्प्रस्थं रसात्प्रस्थं च तैत्तिरात् ॥ ७० ॥
दद्यात्सिध्यति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान् ।
मधूकपुष्पं कुडवं प्रियालकुडवं तथा ॥ ७१ ॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः[२] खर्जूराणा च विंशतिम् ।
पृथग्बिभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम् ॥ ७२ ॥
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात्कर्षमेव च ।
तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत् ॥ ७३ ॥
सिद्धेऽस्मिन्कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान् ।
कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान् ॥ ७४ ॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च ।
शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते ॥ ७५ ॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम् ।

---

(१) अष्टांगसंग्रह मे थोडा पाठभेद है। यथा—

'सशर्कराश्रृते क्षीरघृततैलाढकत्रये।
चूर्णीकृत्य क्षिपेत् पक्वसान्द्रे दशपलाः पृथक् ॥
द्राक्षात्मगुप्ता वर्षाभूसमगाभीरुपिप्पली ।
तद्वद् विदार्यामलके प्रस्थार्धं विश्वभेषजम् ॥

(क) 'जल्पकल्पतरु' मे 'समगा' के स्थान पर 'समाशा' और 'शर्कराश्रृते' के स्थान पर 'शर्कराशते' पाठ है। २ 'तुगाक्षीर्यार्धकुडवा खर्जूराणिच विंशतिम्' इति। ३ पृथग् बिभीतकानक्ष• च पाठः।

योनिदोषक्षतस्रावहृताना चापि योषिताम् ॥ ७६ ॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद् यासां म्रियेत वा ।
धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः ॥ ७७ ॥
इति सर्पिर्मोदकः ।

सर्पिर्मोदक—गाय का दूध आधा आढक, घी एक प्रस्थ, गन्ने का रस एक आढक, विदारी का स्वरस एक प्रस्थ, तीतर का मास रस एक प्रस्थ इन सब को मिला कर पकावे । जब यह सिद्ध हो जाय तब इसमें महुए का फूल चारपल, पियाल चार पल, वशलोचन दो पल, खजूर बीस पल, बिभीतक की मज्जा बीस पल, पिप्पली चार पल, खाण्ड (गुड) तीस पल, मुलहठी एक कर्ष जीवनीय गण की प्रत्येक औषधि आधा पल लेकर इन सब को गन्ने के रस में बारीक पीस कर सिद्ध किये घृत में मिला देवे । [अथवा महुए के फूल आदि वस्तुओं को गन्ने के रस में पीस कर इनका कल्क बनाले, फिर गाय का दूध आदि वस्तुओं में इसको मिला कर घृतपाक विधि से घृत बनाले] । इस प्रकार से घृत के सिद्ध होने पर मधु एक कुडव, मरिच, अजाजी (कृष्ण जीरा) प्रत्येक एक एक पल मिला कर मोदक (लड्डू) बनवाले । ये मोदक वात रक्त, रक्तपित्त, उरःक्षत, कास, क्षय, छाती में स्थित रक्त में, शोषरोगी, क्षीणशुक्र, कृश, दुर्बल, वृद्ध, पुष्टि, बल, वर्ण का चाहने वालो के लिये, योनि दोष और रक्तस्राव से पीड़ित स्त्रियों और बन्ध्या स्त्रियों वा जिनका गर्भ गिर जाता या मर जाता हो उनके लिये हितकारी है । ये मोदक धन्य, बलवर्धक, वीर्य और रक्त को बढ़ाते हैं ॥ ७०—७७ ॥

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते ।
वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत् ॥ ७८ ॥

स्त्रीसेवी अति कामी पुरुष के बस्ति प्रदेश में यदि वायु शूलादि विकार उत्पन्न करे, तब वातनाशक, बृंहण वृष्य योगों का प्रयोग करे ॥ ७८ ॥

शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण वा ।
संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत्कासज्वरापहम् ॥ ७९ ॥

(१) गरम दूध के साथ शर्करा और पिप्पली के चूर्ण को अथवा (२) शर्करा और पिप्पली के चूर्ण को घी वा मधु के साथ लेने से कासज्वर नष्ट होता है ॥ ७९ ॥

फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम् ।
स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम् ॥ ८० ॥

(२) अति मैथुन से क्षीण पुरुष विदारी और गन्ने के रस मे पका कर, घी मे भून कर (घी का बघार देकर), अनार या आवले से खट्टा करके मुद्गादि यूष पीवे, यह यूष अतिशय बृंहण (वृष्य) है ॥ ८० ॥

शक्तूनां वस्त्रपूताना मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम् ।
यवान्नसात्म्यो[1] दिप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः ॥ ८१ ॥

(३) क्षीण व्यक्ति जिसको जौ अनुकूल हो और जिसकी जाठर अग्नि प्रदीप्त हो वह जौ के सत्तु को पानी मे घोलकर मन्थ बना लेवे । इस मन्थ को कपड़े से छान कर इसमे घी और मधु मिला कर पीवे ॥ ८१ ॥

जीवनीयोपसिद्धं वा घृतभृष्टं तु जाङ्गलम् ।
रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थे सशर्करम् ॥ ८२ ॥

(४) क्षतक्षीण व्यक्ति के व्यजन के लिये जीवक, ऋषभक आदि जीवनीय गण की ओषधियो के साथ घी मे भूने जागल पशुओ के मास रस को शर्करा मिला कर देव । [उसके साथ वे चावल, रोटी आदि खावें] ॥८२॥

गोमहिषाश्वनागाजः[2] क्षीरैर्मांसरसस्तथा ।
यथाग्नि भोजयेद्यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः ८३ ॥

(५) बैल, भैस, घोड़ा, हाथी और बकरा इनके मास-रस तथा दूधों के साथ अनार, आवले आदि फलो से खट्टा बना कर घी से सस्कृत कर मुद्गादि यूषो के साथ यवान्न खिलावे ॥ ८३ ॥

दीप्तेऽग्नौ विधिरेषः स्यान्मन्दे दीपनपाचनः ।
यक्ष्मिणा विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते ॥ ८४ ॥

क्षतक्षीण व्यक्ति को यदि अग्नि दीप्त हो तो उपरोक्त विधि बरते । अग्निमन्द हो तो दीपन पाचन विधि बरते । यदि अतीसार हो तो यक्ष्मा रोग मे वर्णित मलसग्राही विधि का प्रयोग करे । जैसे—॥ ८४ ॥

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात्पले ।
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ॥ ८५ ॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके ।
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥ ८६ ॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत् ।
रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत् ॥ ८७ ॥

इति सैन्धवादिचूर्णम् ।

१ 'यावन्नसात्म्यो' इति । २ 'गोमहिष्यविनागाजैरि'ति च पाठः ।

(१) सैन्धवादि चूर्ण—सैन्धव एक पल, सोंठ दो पल, सचल नमक दो पल, वृक्षाम्ल (समगदाना या पकी इमली) चार पल, अनारदाना चार पल, अर्जक (तुलसी) पत्र चार पल, मरिच एक पल, अजाजी (जीरा) १ पल, धनिया दो पल, शर्करा बारह पल इन सबका चूर्ण करले। फिर अग्नि के अनुसार इसकी मात्रा खान-पान में बरते। यह चूर्ण रोचक, अग्निदीपक, बलकारक पार्श्वशूल, कास और श्वास रोगों का नाशक है ॥ ८५-८७ ॥

एका षोडशिका धान्याद् द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः ।
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लाद् द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ॥ ८८ ॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात्पञ्च पलानि च ।
तच्चूर्णं षोडशपले शर्करायां विमिश्रयेत् ॥ ८९ ॥
मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः ।
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् ॥ ९० ॥

इति षाडवः ।

(२) षाडव—धनिया, एक षोडशिका (पल[1]), अजाजी (जीरा) दो पल, अजवायन दो पल, अनारदाना चार पल, वृक्षाम्ल चार पल, सौवर्चल (सचल नमक) एक पल, सोंठ एक कर्ष, कपित्थ (कैथ) की मज्जा पांच पल, इन सब को चूर्ण करके सोलह पल शर्करा में मिलावे। यह षाडव अग्निवर्धक है, मन्दाग्नि और अतिसार में पूर्व की भांति मात्रानुसार देवे। यह रोचक, दीपक, बलवर्धक और कासनाशक है ॥८८-९०॥

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धनम् ।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ॥ ९१ ॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः ।
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ॥ ९२ ॥

नागबला मूल की छाल का चूर्ण आधा कर्ष लेकर प्रतिदिन आधा कर्ष बढ़ाते हुए एक पल की मात्रा तक बढ़ा कर सेवन करावे। प्रथम दिन आधा कर्ष, दूसरे दिन एक कर्ष, तीसरे दिन डेढ़ कर्ष, चौथे दिन दो कर्ष इसी प्रकार से आठवें दिन चार कर्ष या एक पल खावे। चूर्ण को दूध के साथ सेवन करावे। आठ दिन के पीछे एक पल,मात्रा में चूर्ण खावे। एक मास तक अन्न न खाकर केवल दूध ही पीना चाहिये, यह प्रयोग श्रेष्ठ है। यह योग पुष्टि, आयु, बल और आरोग्य को देता है। इसी प्रकार से मण्डूकपर्णी, सोंठ और मुलहठी की भी नागबला चूर्ण के समान प्रयोगविधि है ॥९१-९२॥

---

१ पल मुष्टि॰ प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका बिल्वं षोडशिका चाम्रमिति (च॰क॰१२)

यद्यत्संतर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु ।
अन्नपानं निषेव्यं तत्क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥ ९३ ॥
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम् ।
तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यबलं तथा ॥ ९४ ॥

जो जो अन्न सन्तर्पण करने वाला, शीत परन्तु विदाही नहीं, हितकारी लघु है वह सब सुखार्थी क्षतक्षीण रोगियों को सेवन करना चाहिये ।

राजयक्ष्मा के रोगी, कास-रोगी और रक्तपित्त रोगी के लिये जो पथ्य कहा है, वह सब क्षतक्षीण-रोगी के लिये अग्निबल, रोगबल और सात्म्य तथा शरीर का बल देख कर प्रयोग करना चाहिये ॥९३–९४॥

उपेक्षिते[१] भवेत्तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः ।
प्रागेवाऽऽगमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ ९५ ॥

क्षतक्षय रोग की उपेक्षा करने से यह यक्ष्मा-रोग का कारण हो जाता है। इसलिये यक्ष्मा रोग के होने से पूर्व ही क्षतक्षीण रोग की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये ॥ ९५ ॥

तत्र श्लोकौ—क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम् ।
असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिमेव च ॥ ९६ ॥
उक्तवान् ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
तत्त्वार्थविद्वीतरजस्तमोमोहः[२] पुनर्वसुः ॥ ९७ ॥

उपसंहार—क्षतक्षीण रोग का कारण, सामान्य लक्षण, विशेष लक्षण, साध्य, याप्य, असाध्य, साध्य रोग की चिकित्सा ये सब विषय क्षतक्षीण चिकित्सा में तत्त्वज्ञानी, रज, तम और मोह से रहित भगवान् आत्रेय ने अपने ज्येष्ठ शिष्य अग्निवेश को उपदेश किया ॥९६–९७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने क्षतक्षीणचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे श्वयथु (शोथ) रोग की चिकित्सा की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

१. 'उपेक्षितो' इति । २ 'तमोदोषः' इति च पाठः ।

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः ।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत्प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ॥ ३ ॥

वैद्यों में श्रेष्ठ, देवों और सिद्धजनों से सेवित, अत्रि के पुत्र मुनिश्रेष्ठ पुनर्वसु से अग्निवेश ने शोथ नामक महारोग के यथावत् प्रकोपक कारण, लक्षण और चिकित्सा विषयक प्रश्न किया ॥ ३ ॥

तस्मै जगादागदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्रिप्रवरोऽत्रिजस्तान् ।
वातादिभेदान्त्रिविधस्य सम्यङ् निजान्निजेकाङ्गजसर्वजस्य ॥४॥

अगद (आरोग्य) को बतलाने वाले आयुर्वेद रूप महानदी के बहाने वाले श्रेष्ठ पर्वतरूप भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को निज (शारीरक) और आगन्तुज, एकाङ्गज तथा सर्वाङ्गज शोथ तथा वातादि भेद से निज तीन प्रकार के शारीरिक शोथ का उपदेश किया ॥ ४ ॥

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ५ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्गर्भोपघातो[1] विषमा प्रसूतिः ।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः[2] प्रदिष्टः ॥६॥

कारण—शोधन (वमन आदि कर्म), आमय (रोगज्वर आदि), अभक्त (उपवास) से कृश हुए और बलरहित पुरुषों का क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, भारी पदार्थों का सेवन, दही, आम (कच्चे फल आदि), मिट्टी, शाक, विरोधी और दूषित अन्न (जैसे—मन्दक दही) और गर अर्थात् विषयुक्त भोजन का सेवन, अर्श रोग, अचेष्टा अर्थात् शारीरिक व्यायाम आदि क्रिया का न करना, आलस्य में पड़े रहना, शोधन योग्य शरीर का शोधन न करना, गर्भ का निष्पीडन, विषम प्रसव (आम-गर्भपात आदि) और वमन आदि कार्यों का मिथ्या आचरण ये सब शरीरजन्य शोथ के कारण हैं ॥ ५–६ ॥

बाह्यत्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्न्यशनीविषाद्यैः ।
आगन्तुहेतुः ।

बाह्य त्वचा को दूषित करने वाले, काष्ठ, आग, शल्य (कांटा आदि), पत्थर, विष, लोह आदि से अभिघात (चोट) लगने से उत्पन्न शोथ आगन्तुज होते हैं ।

त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥ ७ ॥

निज शोथके भेदः—निज शोथ तीन प्रकार का होता है । (१) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त, (२) आधे शरीर में व्याप्त और (३) एक अवयव में व्याप्त ॥७॥

---

१ 'मर्मोपघातो' इति च पाठः । वहां पर मर्मस्थान पर चोट लगना अर्थ करना चाहिये । २ 'श्वयथौ' इति च पाठः ।

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सदूषयतीह वायुः ।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ८ ॥

सम्प्राप्ति—उपरोक्त कारणो से कुपित वायु जिस समय इस शरीर में बाह्य सिराओं मे पहुच कर कफ, रक्त और पित्त को दूषित कर देता है, तब दूषित कफ, रक्त और पित्त से मार्गो के रुक जाने पर वायु इधर-उधर न जाकर, वही पर फैल कर सूजन रूप मे शोथ को उत्पन्न कर देता है ॥ ८ ॥

उरःस्थितैरूर्ध्वमधश्च वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैश्च मध्ये ।
सर्वाङ्गगैः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित्स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥९॥

शोथारम्भक दोष जब श्लेष्मा के स्थान आमाशय मे स्थित होते हैं, तब शरीर के ऊपर के भाग म शोथ होता है । और जब वायु के स्थान पक्वाशय में दोष स्थित होते हैं, तब शरीर के निचले भाग में शोथ होता है । जब पित्त के स्थान में मध्य भाग मे दोष स्थित होते हैं, तब मध्य मे शोथ होता है[1] । समस्त शरीर मे व्याप्त दोष समस्त शरीर मे शोथ उत्पन्न करते है और शरीर के एक देश (कण्ठ, तालु आदि) मे स्थित दोष एक अंग में शोथ करते हैं ॥ ९ ॥

ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम् ।
सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तत्संज्ञमभ्येति भिषग्जित च ॥१०॥

पूर्वरूप—अंगों मे उष्णिमा, दवथु (दाह, उपताप), सिराओं का विस्तार (तनावा), ये शोथ रोग के पूर्वरूप है । सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त शोथ सन्निपात-जन्य होता है । इस शोथ में जो दोष अधिक होता है उसी के नाम से वह कहा जाता है और उसी दोष के अनुसार चिकित्सा होता है । [वात दोष की अधिकता होने पर वातिक और पित्त और कफ की अधिकता से पैत्तिक और श्लैष्मिक कहा जाता है] ॥ १० ॥

---

१ सुश्रुत मे कहा है—

"दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ।
पक्वाशयस्था मध्ये च वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥

आमाशयगत दोष ऊपर की ओर शोथ पैदा करते है, पक्वाशयगत दोष मध्य मे और मलस्थान मे स्थित दोष नीचे के अंगो मे शोथ उत्पन्न करते है। सारे देह मे व्याप्त दोष समस्त देह में शोथ पैदा कर देते हैं ।

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमुष्माऽथ सिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षाङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ११ ॥

सामान्य लक्षण—अगो मे भारीपन, सूजन, शोथ की चञ्चलता, अस्थिरता (वायु के कारण), सूजन, उष्णिमा और शिराओ का पतलापन, रोमहर्ष, अग की विवर्णता ये शोथ के सामान्य लक्षण है ॥ ११ ॥

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽनिलः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥१२॥

वातिक शोथ—यह शोथ अस्थिर इधर-उधर चलता रहता है, त्वचा पतली हो जाती है, कर्कश, लाल काला वर्ण, प्रसुप्ति (स्पर्श की अज्ञता), हर्ष (चिनचिन् वेदना या रोमहर्ष), विना कारण के ही पीडा होना (कभी दर्द होना और कभी रुक जाना), दबाने से शोथ शान्त हो जाता है, परन्तु दबाव हटा लेने पर फिर उठ जाता है, शोथ का जोर दिन के समय अधिक रहता है। यह शोथ जल्दी उठता और जल्दी शान्त हो जाता है ॥ १२ ॥

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते स्पर्शरुग[1]क्षिरागकृत्सपित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥१३॥

पैत्तिक शोथ—कोमल, गन्धयुक्त, इसका रग काला, पीला या लाल होना है। इसके साथ रोगी मे भ्रम (चक्कर आना), ज्वर, पसीना, प्यास और मूर्च्छा रहती है। इसमे तीव्र दाह रहता है, छूने मात्र से दर्द होती है, आखो मे भी लाली दौड़ जाती है, इस पित्तजन्य शोथ मे अतिशय दाह (जलन) और पाक होता है ॥ १३ ॥

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥१४॥

कफजन्य शोथ—भारी और स्थिर होता है, इस शोथ का रग भूरा, धूसर रहता है। रोगी को अरोचकता, मुख से लाल स्राव, निद्रा, वमन और अग्निमान्द्य होता है। यह सूजन देर मे उत्पन्न होता है और देर मे ही शान्त होता है। दबाने से दब जाता है और फिर ऊपर नही उठता, इसका रात्रि मे बल अधिक होता है ॥ १४ ॥

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः ।
स हन्ति मर्मा[2]नुगतोऽथ राजिमान्परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः[3] ॥१५॥

१ 'स्पर्शसहो' इति पाठान्तरम् । २ 'महार्तिमर्मा' इति पाठान्तरम् ।
३ 'परिस्रवन् भीमबलश्च सर्वशः' इति च पाठः ॥

असाध्य-शोथ—रोगों से कृश हुए, निर्बल व्यक्ति का, वमन, श्वास आदि उपद्रवों से युक्त शोथ और मर्म स्थान का शोथ, जिस शोथ में रेखायें पड गई हों, निर्बल व्यक्ति में जिस शोथ से स्राव बहता हो और जो शोथ सर्वांग में व्याप्त हो वह असाध्य है।

शोथ के उपद्रव—वमन, श्वास, अरुचि, तृष्णा, ज्वर, अतीसार शोथ के ये सात उपद्रव[1] हैं ॥ १५ ॥

अहीनमांसस्य य एकदोषजो नवोऽबलस्तस्य सुखः स साधने ।
निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमैरुपाचरेत् तं बलदोषकालवित् ॥१६॥

साध्य शोथ—जिसका मांस हीन न हो, कृश न हो ऐसे बलवान् व्यक्ति का, शरीर के एक भाग में उत्पन्न, नवीन शोथ (जो देर का उत्पन्न न हुआ हो), सुखसाध्य है। रोगी और रोग के बल, दोष तथा काल को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि वह कारण, दोष, ऋतु (काल) के विपरीत क्रम से चिकित्सा करे॥१६॥

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः ।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम्[2] ॥ १७ ॥
उपाचरेत् स्नेहकृतं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिं च रूक्षजे ।
विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् ॥ १८ ॥
पयश्च मूर्छारतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते ।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ॥ १९ ॥

आमजन्य सर्व शरीर में व्याप्त शोथ में यदि दोष अल्प हो तो लंघन और पाचन क्रम से चिकित्सा करे। यदि दोषों की प्रबलता हो तो शोधन द्वारा दोषों को निकाल दे। शिरोगत शोथ में शीर्ष विरेचन, अधोभाग में स्थित शोथ में विरेचन, ऊर्ध्व भाग में स्थित शोथ में वमन देवे, स्नेहजन्य शोथ में विरूक्षण क्रिया और रूक्षजन्य शोथ में स्नेहन क्रिया करे। वातजन्य शोथ में मलावरोध हो तो निरूहण-बस्ति दे पित्तजन्य और वातजन्य शोथों में तिक्तक घृत दे। पित्तजन्य शोथ में यदि मूर्च्छा, बेचैनी, दाह और प्यास हो तो दूध पीवे। यदि रोगी शोधन के योग्य हो तो दूध को मूत्र के साथ देवे। कफजन्य शोथ में क्षार, कटु, उष्ण वस्तुओं से मिला कर मूत्र, तक्र (छाछ) और आसवों का उपयोग करे ॥ १७–१९ ॥

---

१ उपद्रवों के लिये देखिये (चरक० सू० अ० १८)।

२ 'रूर्ध्वमधस्तथोर्ध्वगम्' इति च पाठः।

ग्राम्यानूपं पिशितलवणं[1] शुष्कशाकं नवान्नं
गौडं पिष्टं दधि तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरमशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं रात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च ॥ २० ॥

अपथ्य—शोथ रोगी को चाहिये कि ग्राम्य पशुओं (बकरी, गाय आदि) का मांस जलचर प्राणियों और अनूप स्थान में रहने वाले भैंस, सूअर आदि का मांस, नमक, शुष्क शाक, नूतन अन्न, गुड से बनी वस्तुएँ, पिष्टान्न, दधि, कृशरा (तिल-तण्डुल), पिच्छिल द्रव्य, मद्य, अम्ल, धान (खिले भूने जौ), शुष्क मांस, गुरु, असात्म्य भोजन, विदाहकारक खानपान, दिन में सोना और मैथुन इन सब का परित्याग करे ॥ २० ॥

चिकित्सा —

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणी च सायोरजस्का त्रिफलारसेन।
पीता कफोत्थं शमयेत्तु शोफं मूत्रेण गव्येन हरीतकी वा ॥ २१ ॥

(१) त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), निशोथ, कुटकी इनके चूर्ण का लोह-भस्म और त्रिफला क्वाथ के साथ पीवे, अथवा गोमूत्र के साथ हरड लेने से कफजन्य शोथ शान्त होता है ॥ २१ ॥

हरीतकीनागरदेवदारुसुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।
सर्वं पिबेत् त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ॥ २२ ॥

(२) हरड, सोंठ, देवदारु और पुनर्नवा इनके चूर्ण को गरम पानी से पीवे। यह योग वात आदि तीनों शोथों में उपयुक्त है। अथवा इन सब चूर्ण को गोमूत्र के साथ पीवे। औषध के जीर्ण होने पर गरम पानी से स्नान करके दूध के साथ अन्न खावे ॥ २२ ॥

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान्प्रस्थेन धीरः पयसोऽक्षमात्रान्।
मयूरकं मागधिका समूलां सनागरां वा प्रपिबेत्सवाते ॥ २३ ॥

(३) धीर अर्थात् निवृत्त आम दोष वाला शोथ-रोगी वातजन्य शोथ में पुनर्नवा, सोंठ, मोथा इनके चूर्ण की एक कर्ष मात्रा दूध के साथ लेवे। अथवा मयूरक (अपामार्ग), मागधिका (पिप्पली), पिप्पलीमूल और सोंठ इनके चूर्ण की एक कर्ष-मात्रा को दूध के साथ पीवे ॥ २३ ॥

---

१ लवण के स्थान पर 'अबलम्' पाठ भी है। वहाँ पर निर्बल प्राणि का मांस त्याज्य समझना चाहिये।

दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना ।
द्विप्रस्थमात्रं च पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥ २४ ॥

(४) वातजन्य और पित्तजन्य शोथ में—दन्ती, निशोथ, सोठ, मरिच, पिप्पली और चीता इनके चूर्ण के साथ दूध पका कर पीवे। दन्ती आदि प्रत्येक का आधा २ पल लेकर दूध दो प्रस्थ पकावे। जब आधा रह जावे तब इस दूध को पिये यह दूध दोषनाशक है ॥ २४ ॥

सशुण्ठि पीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोपणसाधितं वा ।
त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥ २५ ॥

(५) चार योग—(१) सोठ, पीतद्रु (हल्दू) इनके क्वाथ से साधित दूध। (२) श्यामा (निशोथ), एरण्ड इनकी मूल और ऊषण (मरिच) इनसे साधित। (३) दालचीनी, देवदारु (वा दारुहल्दी), पुनर्नवा और सोठ इनसे साधित दूध। (४) गिलोय, सोठ और दन्ती इनसे साधित दूध वातजन्य और पित्तजन्य शोथ में पीना चाहिये। प्रत्येक द्रव्य आधा पल, दूध दो प्रस्थ जब आधा रह जाये तब प्रयोग कर ॥ २५ ॥

सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद्भोजनवारिवर्जी ।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनं मूत्रमथो गवां वा ॥२६॥

(६) भोजन और पानी छोड़ कर सात दिन तक अथवा एक मास तक केवल ऊटनी का दूध पीवे। अथवा गाय का मूत्र और भैंस का दूध पीवे अथवा केवल गाय या भैंस के दूध वा मूत्र पर ही गुजारा करे ॥ २६ ॥

तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं वा ।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥ २७ ॥

(७) शोथ रोगी को अतिसार और भारीपन हो तो सोठ, मरिच, पिप्पली, सचल नमक और शहद के साथ तक्र (मठा) पीवे। यदि रोगी का दोष के कारण या आम से युक्त मल आता हो तो हरड़ और गुड को समान मात्रा में अथवा सोठ और गुड को समान भाग में लेकर खावे ॥ २७ ॥

विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा प्राग्भुक्तमद्यादुरुबूकतैलम् ।
स्रोतोविबन्धेऽग्निररुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत्सुजातान् ॥२८॥

(८) यदि वायु और मल का अवरोध हो तो भोजन से पूर्व मास रस या दूध के साथ एरण्ड तैल पीवे। स्रोतो के रुकने पर, जाठराग्नि मन्द और भोजन की इच्छा न हो तो अच्छी प्रकार बने अरिष्टों का पान करे ॥ २८ ॥

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च ।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत्कूर्चिकमस्तुनस्तु ॥ २९ ॥

त्रिभागशेषं तु सुपूतशीतं द्रोणेन तस्याकृतमस्तुना च ।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीभ्याम् ॥३०॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात्प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान् ।
भगन्दरार्शः क्रिमिकुष्ठमेहान्वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कं च ॥ ३१ ॥

इति गण्डीराद्यरिष्टः ।

(९) गण्डीराद्यरिष्ट—गण्डीर (रामठ), भलावा, चित्रक, सोंठ, मरिच, पिप्पली, बडी और छोटी कटेरी के फल प्रत्येक दो प्रस्थ काटकर छोटे २ टुकडे कर लेवे। कांजी और मस्तु का एक द्रोण लेकर उपलों की आग पर पकावे। जब एक तृतीयांश रह जाय तब वस्त्र में छान कर शीतल कर लें। इसमें प्राकृत मस्तु (दधि मस्तु) का एक द्रोण और मिश्री १०० पल मिला देवे। फिर चित्रक और पिप्पली का घडे में लेप करके उस घडे मे इसको रख दें। फिर इस घडे को दस दिन तक खुले आकाश मे लटकते हुए छिके पर रख देवे। पीछे से जब इसमें गन्ध आ जाये तब इसको बरते। इस अरिष्ट के प्रयोग से भगन्दर, शोफ अर्श, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह, विवर्णता, कृशता और वातज हिचकी नष्ट होती है[1] ॥ २९–३१ ॥

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयानां द्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम् ।
शतं शतं क्षौद्रगुडात्पुराणात्तुलां तु[2] कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥ ३२ ॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीते स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना ।
शोफान्विबन्धान्कफवातजांश्च स हन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ॥ ३३ ॥

इत्यष्टशतोऽरिष्टः ।

(१०) अष्टशतारिष्ट—गम्भारी, आवला, मरिच, हरड, बहेडा, द्राक्षा इनके फल और पिप्पली प्रत्येक सो, पुराना क्षुद्रगुड (राब) १ तुला (१०० पल) इनको एक द्रोण पानी मे मिलाकर मधु से लिपे हुए घडे मे डाल कर ग्रीष्म-ऋतु मे सात दिनो तक और शीत ऋतु मे १५ दिन तक रख देवे[3]।

---

१ अष्टांगसंग्रह मे यही योग भल्लातकारिष्ट के नाम से दिया है उसमे गण्डीर का योग नही है —

'भल्लातकचित्रकविडङ्गबृहतीफलानि पृथग् द्विप्रस्थांशान्यम्लधान्याम्लद्रोणे गोमयाग्निना पक्वमित्यादि । २ 'जीर्णगुडात्तुलाञ्च सक्षुद्र' इति पाठः ।

३ वाग्भट में—त्रिफलामरिचद्राक्षापिप्पलीकाश्मर्यफलानां प्रत्येकं शतं गुडतुलामुदकद्रोणं च मधुलिप्तभाजनस्थं सप्ताहमुष्णे काले धारयेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, चिकि० १९) ।

इसके बन जाने पर इसके पीने से शोफ, कफ और वातजन्य विबन्ध (कब्ज) नष्ट होते हैं, तथा यह अष्टशत-अरिष्ट अग्निवर्धक है ॥३२-३३॥

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे दन्ती गुडूचीमथ चित्रकं च ।
निदिग्धिकां च त्रिपलानि पक्त्वा द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ॥३४॥
पूत्वा रसं द्वे च गुडात्पुराणात्तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम् ।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं पलो यवाना परतस्तु मासात् ॥३५॥
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः ।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धं जीर्णे पिबेद् व्याधिबलं समीक्ष्य ॥३६॥
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहभ्रमारोचकमेहगुल्मान् ।
भगन्दरं षड्जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः ॥ ३७ ॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च हिक्कां किलासं च हलीमकं च ।
क्षिप्रं जयेद् वर्णबलायुरोजस्तेजोन्वितो मांसरसान्नभोजी ॥ ३८ ॥

इति पुनर्नवाद्यरिष्टः ।

(११) पुनर्नवाद्यरिष्ट—श्वेत और लाल दोनों पुनर्नवा, बला और अतिबला, पाठा, वासा, गिलोय, चीता, छोटी कटेरी और आवला, बहेड़ा, हरड़ प्रत्येक तीन पल लेकर चार द्रोण पानी में क्वाथ करे। एक द्रोण रहने पर इसको छान लेवे। इसमें पुराना गुड़ २०० पल, ठण्डा होने पर मधु १ प्रस्थ, नागकेसर, दालचीनी, इलायची, मरिच, वालक और तेजपात प्रत्येक आधा पल मिलाकर, घी और मधु से लिप्त घड़े में डालकर जौ के ढेर में एक मास तक दबा कर रख दे। एक मास के पीछे जब गन्ध रसादि उत्पन्न हो जायें तो प्रातः काल (प्रथम दिन के भोजन जीर्ण होने पर) पीवे। इसकी मात्रा रोग और बल के अनुसार लेवे। इस अरिष्ट के जीर्ण होने पर मांस-रस के साथ अन्न खाने वाले व्यक्ति के हृदयरोग, पाण्डु, शोथ, प्लीहा, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, छ प्रकार के उदररोग, कास, श्वास, ग्रहणी, कुष्ठ, कण्डु, शाखा (हाथ-पाव) की वायु, विड्विबन्ध (कब्ज), हिचकी, किलास (श्वेत कुष्ठ), हलीमक-रोग शीघ्र नष्ट होते हैं, रोगी का वर्ण बल, आयु और तेज बढ़ते हैं ॥ ३४-३८ ॥

फलत्रिकं दीप्यकचित्रकौ च सपिप्पली लोहरजो विडङ्गम् ।
चूर्णीकृत कौडविकं द्विरंशं क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य ।

मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं यवेषु तानेव निहन्ति रोगान् ॥३९॥
इति फलत्रिकाद्यरिष्टः ।

(१२) त्रिफलाद्यरिष्ट—त्रिफला दीप्यक (अजवायन), चीता, पिप्पली, लोह भस्म, वायविडंग प्रत्येक द्रव्य १ कुडव (चार पल), मधु ८ पल, पुराना गुड १०० पल, पानी एक द्रोण इन सब को घी से भावित घड़े में डालकर एक मास तक जौ की राशि में रख दे। इस अरिष्ट के बन जाने पर इसको पीवे। [जीर्ण होने पर पूर्ववत् मांस-रस के साथ अन्न भोजन करे]। यह अरिष्ट भी उपरोक्त रोगों को नष्ट करता है ॥३९॥

ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च प्रोक्ताः शुभाः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः ।
कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च निदिग्धिका चित्रकनागरे च ॥ ४० ॥
सपिप्पलीमूलरजन्यजाजी मुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम् ।

(१३) जो अरिष्ट अर्शरोग और पाण्डुरोग में कहे हैं, वे सब शोफ रोगियों के लिये भी हितकारी हैं। पिप्पली, पाठा, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, चीता, सोंठ, पिप्पलीमूल, हल्दी, अजाजी (जीरा), मोथा इन सब का चूर्ण करके गरम पानी के साथ पीने से त्रिदोषजन्य और पुरातन शोफ नष्ट होता है ॥४०॥

हन्यात् त्रिदोषं चिरजं च शोफं कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य ॥४१॥
अयोरजस्त्र्यूषणयावशूकं चूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन ।

(१४) इसी प्रकार चिरायता, सोंठ इनका चूर्ण भी गरम पानी के साथ पीने से पुरातन शोफ को नष्ट करता है। लोह भस्म, सोंठ, मरिच, पिप्पली, यवक्षार इनका चूर्ण त्रिफला क्वाथ के साथ पीने से त्रिदोषजन्य और पुरातन शोथ नष्ट होता है ॥ ४१ ॥

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वार्ययोरजो व्योषफलत्रिकं च ॥ ४२ ॥
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम् ।
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे सयष्टिकं चातिविषं पलाशम् ॥ ४३ ॥
सहिङ्गु कर्षं तु सुसूक्ष्मचूर्णं द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम् ।
स्याद्भस्मनस्तत् सलिलेन साध्यमालोड्य यावद् घनमप्रदग्धम् ॥४४॥
स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुंज्यात् ।
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शःपाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान् ।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥४५॥
इति क्षारगुडिका ।

(१५) क्षार-गुडिका—दो क्षार (सज्जीखार और जौखार), चारों नमक

(सैन्धव, सचल, विड् और उद्भिद), सोठ, मरिच, पिप्पली, हरड, बहेडा, आवला, पिप्पली मूल, वायविडग, तण्डुल, मोथा, अजवायन , देवदारु, बेलगिरी, इन्द्रजौ, चीतामूल, पाठा, मुलहठी, अतीस ये प्रत्येक एक-एक पल, हीग एक कर्ष इन सब का सूक्ष्म चूर्ण करले ।

शुष्क मूली और सोठ को जलाकर इनकी भस्म एक द्रोण लेकर चार द्रोण पानी मे घाल दे । फिर इसका वस्त्र मे छान कर इनमे उपरोक्त चूर्ण मिलाकर पकावे । जब गाढा हो जाये तब इसकी बेर के बराबर (दो शाण = ६ माषा) मात्रा बना ले । शुष्क होने पर प्रतिदिन मास रस के साथ अन्न को खाते हुए इसका उपयोग करे । इसके उपयोग से प्लीहारोग, उदररोग, श्वित्र, हलीमक, अर्श, पाण्डुरोग, अरोचक, शोष, शोफ, विसूचिका, गुल्म, गर (विष), अश्मरी, श्वास, कास और कुष्ठ-रोग नष्ट हो जाते है ॥ ४२—४५ ॥

प्रयोजयेदार्द्रकनागर वा तुल्य गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या ।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयो यूषरसान्नभोक्ता ॥ ४६ ॥
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहान् श्वासप्रतिश्यायालसकाविपाकान् ।
सकामलान् शोषमनोविकारान् कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः ॥४७॥
इति गुडार्द्रकप्रयोगः ।

(१६) गुडार्द्रक प्रयोग—आर्द्रक (अदरक) और गुड को समान मात्रा मे मिला कर आधे पल की मात्रा से आरम्भ करे । प्रतिदिन आधा पल बढाते हुए उत्कृष्ट मात्रा पाच पल तक लेजा कर इसको एक मास तक बरते । मात्रा के जीर्ण होने पर दूध, मूग, यूष और मास रस के साथ अन्न खावे । इसके प्रयोग से गुल्म, उदर, अर्श, शोथ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अविपाक, कामला, शोष, मानसिक-रोग और कफजन्य कास-रोग नष्ट होता है ॥४६—४७॥

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ।
शिलाह्वयं[1] च त्रिफलारसेन हन्यात् त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य ॥४८॥
इति शिलाजतुप्रयोगः ।

(१७) शिलाजतु प्रयोग—आर्द्रक के रस मे समान भाग गुड मिलाकर पीवे । इसके जीर्ण होने पर दूध के साथ चावल खावे । त्रिफला क्वाथ के साथ शिलाजित सेवन करने से त्रिदोषजन्य शोथ नष्ट होता है ॥ ४८ ॥

द्विपञ्चमूल्यास्तु पचेत्कषाये कंसोऽभयाना च शतं गुडस्य ।
लेहे सुसिद्धे च विनीय चूर्णं व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुषा स्थिते च ॥४९॥

१. 'जत्वश्मज' इति च ।

प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते किंचिच्च चूर्णादपि यावशूकात् ।
एकाभया प्राश्य ततश्च लेहाच्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम् ॥५०॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्मप्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान् ।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्तं वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान् ॥ ५१ ॥
इति कसहरीतकी ।

(१८) कस-हरीतकी—दशमूल का क्वाथ एक कस (आढक), गुठली रहित हरडे १००, गुड़ १०० पल लेकर पकावे । जब अवलेह सिद्ध हो जाये तो उतार ले और इसमे सोठ, मरिच, पिप्पली, दालचीनी, इलायची, तेजपात इनका चूर्ण मिला दे । खूब ठण्डा हो जाने पर मधु आधा प्रस्थ और जौखार १ कर्ष मिला दे । इसमे से एक हरड खाकर ऊपर से आधा पल अवलेह चाट ले । इसके खाने से अत्यन्त बड़ा हुआ शोथ-रोग, श्वास, ज्वर, अरोचक, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, सन्निपातजन्य उदर, पाण्डु-रोग, कृशता, आमवात, रक्तपित्त, अम्लपित्त, विवर्णता, मूत्र, वायु और शुक्र-रोग नष्ट होते है[1] ॥ ४९–५१ ॥

पटोलमूलासुरदारुदन्तीत्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः ।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ॥५२॥
कर्षोत्थितैस्तैः क्वथितः कषायो घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः ।
वीसर्पदाहज्वरसन्निपातांस्तृष्णां विषाणि श्वयथुं निहन्ति ॥५३॥
इति पटोलमूलादिघृतम् ।

(१९) पटोलमूलाद्यघृत—पटोलमूल, देवदार, दन्ती, त्रायन्ती (त्रायमाणा), पिप्पली, हरड, विशाला (इन्द्रायण), मुलहठी, कुटकी, चन्दन, निचुल (जलवेतस, समुद्रफल), दारुहल्दी प्रत्येक द्रव्य एक कर्ष इनको चौबीस पल जल मे क्वाथ करके चतुर्थांश करले । इस क्वाथ मे एक कुडव (चार पल) घी मिला कर पीवे । इस प्रकार से बना यह कषाय वीसर्प, दाह, सन्निपात ज्वर, तृष्णा, विष और शोथ को नष्ट करता है ॥ ५२–५३ ॥

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं व्यूषणवेतसाम्लम् ।
बिल्वात्फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथोऽपि चव्यम् ॥५४॥
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात् ।

---

१ वृद्ध वाग्भट मे—
'दशमूलक्वाथकसे पथ्याशत गुडतुलामिश्रमधिश्रयेत् ।
लेहीभूते तत्र त्रिकटुत्रिजातकयवक्षारचूर्णं प्रक्षिपेत् क्षौद्रार्धप्रस्थं च ॥'

अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निंच करोति दीप्तम्॥५५॥

इति चित्रकादिघृतम् ।

(२०) चित्रकाद्य घृत—यवानिका (अजवायन), चीता, धनिया, पाठा, दीप्यक (यवानी), सोंठ, मरिच, पिप्पली, अम्लवेतस, बेलगिरी, अनार, यवक्षार, पिप्पलीमूल, चव्य प्रत्येक द्रव्य को अक्षमात्र(कर्ष प्रमित) लेकर पीस कर एक आढक जल मे पकावे । चतुर्थांश क्वाथ रहने पर इसमे एक प्रस्थ घी मिला कर सिद्ध करे । यह घृत गुल्म, अर्श, कष्टमा य शोथ को भी नष्ट करता और अग्नि को बढाता है[1] ॥ ५४—५५ ॥

पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम् ।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ॥५६॥

इति चित्रकादिघृतम् ।

(२१) शोथ-रोगी को चाहिये कि चित्रक और यवक्षार से आठ गुणे पानी मे सिद्ध महावीर्य-घृत को पीवे । यह कल्याणक-घृत या अपस्मारोक्त पचगव्य घृत, वा कुष्ठ रोग मे कहे तिक्तघृत या महातिक्त घृत का पान करे ॥ ५६ ॥

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन ।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥ ५७ ॥
अर्शांसि शोफानिल[2]गुल्ममेहाश्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च ।
तक्रेण वाऽद्यात्सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ॥५८॥

इति चित्रकघृतम् ।

(२२)चित्रक-घृत —एक घडे मे चीते की जड की त्वचा को पीस कर लेप करे । जब सूख जाये तब इसमे दूध डाल कर दही जमावे । इस दही को मथानी से मथ कर घृत (मक्खन) को पृथक् कर ले । इस घी को चित्रक-मूल की त्वचा के कल्क द्वारा घडे के अन्दर की छाछ के साथ सिद्ध करे । यह सिद्ध घृत अर्श, शोथ, अतिसार, वातजन्य गुल्म प्रमेह को नष्ट करता है, अग्नि को बढाता है । इस तक्र के साथ या इस घी के साथ अन्न खावे अथवा इस तक्र के साथ सिद्ध यवागू पीवे ॥ ५७—५८ ॥

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः ।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टाः ॥ ५९ ॥

---

१ अष्टाग-सग्रह मे—दाडिमयवानीयवानकधनिकापाठाम्लवेतसमरिचपचकालबिल्वफलयावशूकानक्षमात्रान् सलिलाढके विपाच्य तत्कषायेण घृतप्रस्थ साधयेत् ।

२ 'अर्शांसि सामानिल' 'अर्शोतिसारानिल' इति च पाठौ ।

अर्शोतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः ।
या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् सा च समा तथैव ॥ ६० ॥

(२३) जीवन्त्यादि—जीवन्ती, अजाजी (जीरक), कचूर, पोहकरमूल, कारवी (अजमोदा), चित्रक, बेलगिरी, यवक्षार प्रत्येक द्रव्य १ बेर भर (दो शाण ६ मासा) वृक्षाम्ल (समगदाना) दो शाण लेकर इनके क्वाथ में यवागू सिद्ध करे, इसमें घी और तैल का छौंक लगावे । यह यवागू अर्श, अतिसार, वातगुल्म, शोफ हृदयरोग, मन्दाग्नि को नष्ट करती है । इसी प्रकार से दशमूल की प्रत्येक वस्तु दो शाण लेकर इनके क्वाथ में सिद्ध यवागू को घी और तैल में भून कर सेवन करने से अर्श, अतिसार आदि में समान फल होता है[१] ॥ ५९--६० ॥

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सव्योषणयावशूकः ।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम् ॥ ६१ ॥

(२४) पिप्पली क्वाथ या चूर्ण से साधित कुलत्थी का यूष, सोंठ, मरिच, पिप्पली और जौखार से सिद्ध मूग का यूष (रस) और विष्किर (बटेर आदि पक्षी) तथा जागल (हरिण आदि) पशुओं का मांस, कछुआ, गोह, मोर, शल्लक (भूमि में रहने वाले) पशुओं का मांस रस, सोंठ आदि से संस्कृत करके देवे ॥ ६१ ॥

सुवर्चिका गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम् ।
शाकार्थिनां शाकमतिप्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ॥ ६२ ॥

शाक—सुवर्चला (हुलहुल), गृञ्जनक (प्याज या गाजर), परवल, वायसी (मकोय), मूली, बेत और नीम ये शोथरोगियों के लिये उत्तम शाक हैं । भोजन में पुराने जौ और चावल उत्तम है ॥६२॥

अभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतद् बहिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत् ।

इस प्रकार से ये अन्तः औषध कह दिये, अब बाह्य औषधों को भली प्रकार सुनो—

स्नेहान्प्रदेहान्परिषेचनानि स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात् ॥ ६३ ॥

(१) यदि वायु की प्रबलता हो तो स्नेहन, प्रदेह, स्वेदन और परिषेचन करे ॥ ६३ ॥

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्तीत्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः ।
प्रियङ्गुथौणेयकहेममांसीतालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥ ६४ ॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम् ।

१ वृद्ध वाग्भट में-शटीपुष्करमूलककारवीचित्रकाजाजीजीवन्तीबिल्वमध्यक्षारवृक्षाम्लै-र्दशमूलेन च परीगृहीतानि घृततैलभृष्टानि पेयादीन्यन्यान्यल्पस्नेहलवणान्युपकल्पयेत्॥

वातान्वितेऽभ्यङ्गमुषन्ति तैलं सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥ ६५ ॥

इति शैलेयादितैलप्रदेहौ ।

(२) शैलेय आदि तैल और प्रलेप—शैलेय (शिला रस), कूठ, अगरु, देवदारू, कौन्ती (रेणुका), दालचीनी, पद्माख, इलायची, मोथा, बालक, पलाश, प्रियगु, स्थौणेयक (ग्रन्थिपर्ण, सुगन्धित द्रव्य), नागकेसर, जटामांसी, तालीशपत्र, कैवर्त मुस्ता, तेजपत्र, धनिया, श्रीवेष्टक (धूप), व्यामक (गन्ध-तृण), पिप्पली, स्पृक्का, नख (व्याघ्रनख) इन द्रव्यों में से जो भी मिल जायें उनके क्वाथ और कल्क से (क्वाथ तेल से चतुर्गुण और कल्क चतुर्थांश) तैल सिद्ध करे । इस तैल की वातजन्य शोथ में मालिश करे और इन द्रव्यों को सूक्ष्म पीस कर इनसे प्रलेप करे ॥ ६५ ॥

जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः ।

स्विन्नः कवोष्णं रविसन्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥६६॥

(३) एरण्ड, बासा, आक, सहजन, गम्भारी, तेजपात, अर्जक (तुलसी भेद) इनसे तैयार किये क्वाथ पानी में अवगाहन करने पर अथवा सूर्य की किरणों से गरम हुए पानी के स्नान करके खस आदि सुगन्धित द्रव्यों से लेप करे ॥ ६६ ॥

सवेतसाः क्षीरवता द्रुमाणां त्वचः समाञ्जिष्ठलतामृणालाः ।

सचन्दनाः पद्मकबालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥ ६७ ॥

आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च ।

स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च ॥ ६८ ॥

(४) पैत्तिक शोथ में—वट, गूलर, पीपल, पारस पीपल, पिलखन इन दूधवाले वृक्षों की छालें, मजीठ, सारिवा, मृणाल (बिस), अम्लवेतस (या जलवेतस), चन्दन, पद्माख, खस इनके क्वाथ और कल्क से सिद्ध तैल की मालिश और इनको बारीक पीस कर इनसे प्रलेप करे। शरीर पर तैल की मालिश करके सूर्य की किरणों से गरम पानी में स्नान करे। अथवा चन्दन, हरड और पद्माख का क्वाथ हितकारी है, या बड, गूलर, पीपल, पारस पीपल इन दूधिया वृक्षों का कषाय श्रेष्ठ है, या दूध मिला पानी स्नान के लिये उत्तम है। स्नान करने पर चन्दन का लेप करे ॥ ६७–६८ ॥

कफे तु कृष्णासिकतापुराणपिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः ।

कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेकश्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च ॥ ६९ ॥

(५) कफजन्य शोथ में—पिप्पली, सिकता (बालू), पुराण पिण्याक (तिल की पुरानी खली), सहजन की छाल, अलसी इनका लेप करे। कुलथी

सोंठ इनके क्वाथ से और गोमूत्र से स्नान करे। स्नान करने के पीछे चण्डा (चोरपुष्पी), अगरु का लेप करे ॥ ६९ ॥

बिभीतकानां गलमध्यलेपः सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रलेपः।
यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥७०॥
रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्गशिग्रुत्वचो मूषिकपर्णिका च।
निम्बार्जकौ व्याघ्रनखाः सदूर्वा सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ॥७१॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा पुनर्नवा चित्रकनागरे च।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्ट्रं शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः ॥७२॥

(६) वातादि सब प्रकार के दाहो में बहेडे के फल की मींगी का लेप करने से दाह मिटता है। शोथजन्य पिडकाओ पर मुलहठी, मोथा, कैथ के पत्ते और चन्दन का लेप करे।

(७) शोफ रोगी को—रास्ना, बासा, आक, त्रिफला, वायविडंग, सहजन की छाल, मूषिकपर्णी (पूंजीपत्रा), नीम, अर्जक (तुलसी भेद), व्याघ्रनखा (सुगन्धित द्रव्य), मूर्वा, सुवर्चला (हुलहुल), कुटकी, मकोय, बड़ी कटेरी, कूठ, पुनर्नवा, चीता, सोंठ इनमे से जो भी मिल सके उनको गोमूत्र मे पीस कर उबटन करे। मूली के जल से सेचन करे ॥ ७०–७२ ॥

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्।
अनेकसंख्याः कतिचिच्च तेषां निदर्शनार्थं शृणु चोच्यमानान् ॥७३॥

जो शोफ शरीर के भिन्न २ अवयवों मे उत्पन्न होते है, उनका स्थान, दूष्य, आकृति और नाम भेद से अनेक भेद हो जाते है। उनमें से कुछ एक उदाहरण के लिये कहे जाते है उनका सुनो[1] ॥७३॥

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।
अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि ॥७४॥

(१) जिस समय वातादि तीनो दोष अपने कारणो से कुपित होकर शिर में भयानक शोथ उत्पन्न करते है और गले के अन्दर घुरघुर शब्द उत्पन्न कर देते हैं, तब इसका 'शालूक' कहते है, इस शोथ के कारण श्वास मार्ग रुक जाता है[2] ॥ ७४ ॥

---

१ देखिये चरक सूत्रस्थान अ०१८ मे—विशिष्टा नामरूपाभ्यां निर्देश्याः शोथसंग्रहे।

२ सुश्रुत मे—कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यः तं कण्टशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥
कफ-दोष से उत्पन्न जो गाँठ बेर की गुठली के बराबर गले मे काँटे के

गलस्य सन्धौ चिबुके गले वा सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः ।
शोफो भृशार्तिस्तु बिडालिका स्याद्धन्याद् गले चेद्वलयीकृता सा ॥७५॥

(२) बिडालिका—गले और मुख की सन्धि में, गले या चिबुक में जो दाह और रक्तिमा से युक्त शोथ उत्पन्न होता है, जिससे श्वास-प्रश्वास में भी कठिनाई और अत्यन्त पीड़ा होती है, उसको 'बिडालिका' कहते हैं। यदि यह शोथ गले में कड़े के समान सम्पूर्ण गले में फैल जाय तो रोगी को मार डालती है[1] ॥७५॥

जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च ।

(३) तीनों दोषों के कारण तालु में 'तालु विद्रधि' हो जाती है, इसमें जलन, रक्तिमा और पाक हो जाता है। जिह्वा के ऊपर कफ के कारण 'उपजिह्विका' हो जाती है, जिह्वा के नीचे 'अधिजिह्विका' हो जाती है[2] ।

यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात् पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः ॥ ७६ ॥
स्याद्दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः कफाच्छोणितसंचयोत्थः ।

(४) रक्त पित्त के कारण दाँतों के मांसों अर्थात् मसूड़ों में जो पाक हो जाता है उसका नाम 'उपकुश' है। मसूड़ों में भी कफ के कारण रक्त का सञ्चय होने से उत्पन्न शोथ (सूजन) को दन्तविद्रधि' कहते हैं ॥ ७६ ॥

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः ॥ ७७ ॥
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ।

(५) गले के बाहर की ओर में एक सूजन हो तो उसे 'गलगण्ड' कहते हैं, यदि एक से अधिक कई सूजन हो तो उसे 'गण्डमाला' कहते हैं। यदि इस गण्डमाला में पीनस, पार्श्वशूल, कास, ज्वर, छर्दि ये उपद्रव हो तो असाध्य है, अन्यथा साध्य है[3] ॥ ७७ ॥

तेषां सिराकायशिरोविरेका[4] धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम् ॥ ७८ ॥
सलङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि प्रघर्षणं[5] स्यात् कवलग्रहश्च ।

समान चुभती है, वह कड़ी और स्थिर हो तो शस्त्रद्वारा चीर कर ठीक होती है उसे 'कण्ठ-शालूक' कहते हैं।

१ बलास एवायतमुन्नतं च शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ सुश्रुत ॥

२ यस्य श्लेष्मा प्रकुपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते ।
आशु संजनयेच्छोफं जायतेऽस्योपजिह्विका ॥

३ गले के अन्दर शोथ होने से गलग्रह होता है। विस्तार के लिये देखिये चरक सूत्रस्थान अ० १८। ४. 'येषां सिराकायशिरोविरेको' इति वा पाठः। ५. 'प्रहर्षणं' इति च ।

चिकित्सा—गात्र के एक भाग मे स्थित शोथो के लिये (१) सिराविरेक (नाडी से रक्त का निकाल देना), (२) काय विरेक (वमन और विरेचन), (३) शिरो-विरेक (शिरोविरेचन), (४) धूम का प्रयोग, (५) औषधि-साधित पुरातन घृत का पान (शोधन से पूर्व), (६) लघन, (७) औषधियो के कल्क मे प्रघर्षण और मुख जन्य शोथो मे कवलग्रह (गरारे) कराने चाहिये ॥ ७८ ॥

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् स्वरूपधारी स्फुरण सिराभिः ॥ ७९ ॥
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनार्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च ।

(६) ग्रन्थि—शरीर के किसी एक भाग मे वायु आदि दोष मासादि को दूषित करके गाठाकार शोथ उत्पन्न कर देते है, इसको ग्रन्थि कहते हैं । इसके ग्रथित होने से इसको ग्रन्थि कहते है । इसमे वातादि दोषो के समान दोष के अपने लक्षण रहते है । सिराजन्य-ग्रन्थि मे स्फुरण (फडकन) रहती है । मासजन्य-ग्रन्थि बहुत बडी तथा अल्प वेदनाशील होती है । मेदोजन्य ग्रन्थि अति स्निग्ध (चिकनी) और चल (हिलने-जुलने वाली होती है[1]) ॥७९॥

संशोधिते[2] स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेद[3]पक्वम् ॥ ८० ॥

---

१ सुश्रुत मे ग्रन्थि के लक्षण और निदान विस्तार से दिये हैं—
आयम्यते व्यथत एति तोद प्रत्यस्यते कृत्यत एति भेदम् ।
कृष्णोऽमृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्न. स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥
दन्दह्यते धूप्यति चोष्ममास पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः स पीतोऽप्यथ वापि पित्ताद् भिन्न स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥
शीतो विवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डू पाषाणवत् सहननोपपन्नः ।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपात् भिन्न स्रवेच्छुक्लघन च पूयम् ॥
(क) दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रन्थिर्भवेन्मूर्च्छत्सु जन्तुषु ।
सिरामास च संश्रित्य सस्वाप. पैत्तलक्षणः ॥
मासलैर्दूषित मासमाहारैर्ग्रन्थिमावहेत् ।
स्निग्ध महान्त कठिन सिरानद्ध कफाकृतिम् ॥
प्रवृद्ध मेदुरैर्मेदो नीत मासेऽथवा त्वचि ।
वायुना कुरुते ग्रन्थि भृश स्निग्ध मृदु चलम् ॥
श्लेष्मतुल्याकृति देहक्षयवृद्धिक्षयोदयम् ।
स विभिन्नो घन मेदस्ताम्रासितसित स्रवेत् ॥ अष्टागसग्रह ३–२४ ।
२ 'त शोधित' इति । ३. 'विनयेद्' इति ।

विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोपं[1] शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत् ।
अदग्ध ईषत् परिशोषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम् ॥ ८१ ॥
तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद्वीक्ष्य शरीरदेशान् ।

चिकित्सा—ग्रन्थि रोगी पुरुष को वमनादि से शोधन करके अपक्व ग्रन्थि को स्वेदन द्वारा ढीला करके पत्थर, लकड़ी, अगूठा, दण्डे आदि से विलीन करना चाहिये और यदि इस प्रकार से शान्त न हो तो शस्त्र से चीरकर सम्पूर्ण कोष (वास्तु ग्रन्थि) को निकाल कर अग्नि से जलावे और फिर मधु, घृतादि से व्रण के समान चिकित्सा करे। यदि ग्रन्थि को जलाया न जाये अथवा इसका कुछ भाग शेष रह जाये तो फिर से यह ग्रन्थि धीरे धीरे बढ़ जाती है। इसलिये कुशल वैद्यों को चाहिये कि चारों ओर से शरीर भागों को भली प्रकार से देख कर इसका सम्पूर्ण रूप में छेदन करे जिससे कहीं पर कोई भाग शेष न रह जाये[2] ॥ ८०—८१- ॥

शेषे कृते पाकवशेन शीर्यंस्ततः क्षतोत्थः प्रसरेद्विसर्पः ॥ ८२ ॥
उपद्रवं तं प्रविचार्य तज्ज्ञः स्वैर्भेषजैः पूर्वतरैर्यथोक्तैः ।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत् ॥८३॥

ग्रन्थि के सम्पूर्ण बाहर न निकलने पर यदि कुछ भाग शेष रह जाये और भाग्य से वह पक जावे तब क्षतजन्य विसर्प (रोग) फैलने लगता है। उस समय व्रण के उपद्रव तथा इसकी चिकित्सा को समझने वाला वैद्य भिन्न २ रोग की अपनी २ चिकित्सा अर्थात् विसर्प रोग की विसर्प-चिकित्सा और व्रण की व्रण-चिकित्सा प्रारम्भ में करे[3]। व्रण-चिकित्सा-विधि को जानने वाला वैद्य

---

१ 'सकोप' इति च पाठ । २ सुश्रुत म भी कहा है—
अमर्मजात शममप्रयातमपक्वमवापहरेद् विदार्य ।
दहेत् स्थिते वासृजि सिद्धकर्मा सद्य क्षतोक्त च विधि विदध्यात् ॥
सम्प्राप्ति—
व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुर्हि सिराप्रतानम् ।
सपीड्य सकोच्य विशोष्य चापि ग्रन्थि करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥
सु० नि० ११ ॥

३ व्रण के सोलह उपद्रव—विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥

इस व्रणभूत क्षत की शीघ्रता से चिकित्सा करे और औषध द्वारा उपद्रवों से व्रण को बचावे ॥ ८२–८३ ॥

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च ।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥ ८४ ॥
ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः ।
ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥ ८५ ॥

असाध्य ग्रन्थि—कुक्षि, उदर, गले और हृदय आदि मर्म स्थानों में आश्रित ग्रन्थि की चिकित्सा न करे। जो ग्रन्थि स्थूल और खर हो वह भी त्याज्य है। बालक, वृद्ध, नारी अथवा निर्बल में उत्पन्न ग्रन्थि भी असाध्य है। क्योंकि ग्रन्थि और अर्बुद में प्रदेश (स्थान), हेतु (निदान), आकृति (लक्षण), दोष (वातादि), दूष्य (रक्त, मांस और मेद) की समानता है, इसलिये चिकित्सा विधि को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि ग्रन्थि की विधि से ही अर्बुद रोग की चिकित्सा करे[1] ॥८४–८५॥

ताम्रा सशूला पिडका भवेद्या सा[2] चालजी नाम परिस्रुताम्रा ।
रोगे[3]ऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ॥ ८६ ॥

जिस पिडका का रंग ताम्र के समान हो, जिसमें बहुत वेदना होती हो तथा जिसमें से लसीका (लस) का स्राव होता हो उसको 'अलजी' पिडका कहते हैं। त्वचा और नख की सन्धि में मांस और रक्त को दूषित करने वाला और अति शीघ्र पकने वाला 'अक्षत' नाम का शोथ होता है। [सुश्रुत में भी इसी को 'चिप्य' नाम से कहा है[4] ॥८६॥

ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षगा या वर्तिर्निरर्तिः कठिनाऽऽयता च ।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात् ॥ ८७ ॥

---

१ सुश्रुत ने भी कहा—
वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा च ।
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति ॥

२ 'सात्वालजी' इति । ३ 'शोफेऽक्षत' इति च पाठः ।

४ अलजी—ददती त्वचमुत्थाने तृष्णामोहज्वरप्रदा ।
विसर्पत्यनिशं दुःखा दहत्यग्निरिवालजी ॥
चिप्य—नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम् ।
करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्यमादिशेत् ॥
अक्षत—तदेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि ॥

(७) विदारिका—जो शोथ बत्ती के समान वक्षण या कक्षा प्रदेश मे उत्पन्न होता है, जिसके कारण रोगी को ज्वर रहता है, शोथ कठिन और फैला रहता है, उसको 'विदारिका' कहते है। यह कफ और वायु को प्रधानता तथा निर्बल पित्त के कारण उत्पन्न होती है[1] ॥८७॥

विस्रावणं पिण्डिकयोपनाहः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा ।

इन अलजी आदि पिढ़काओं की दोषानुसार शोधनरूप, विस्रावण, रक्तमोक्षण आदि तथा उपनाह, पिण्ड-स्वेद, या पकने पर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु स्फोटाः सदाहज्वरतर्षयुक्ताः ॥८८॥

विस्फोटक—सम्पूर्ण शरीर मे या एक भाग मे दाह, ज्वर और प्यास से युक्त छाले उत्पन्न हो जाते है, उनको 'विस्फोटक' कहते है ॥ ८८ ॥

यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्या जनितास्तु[2] कक्षाः ।
यश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः॥ ८९ ॥

(८) कक्षा—पित्त और वायु के कारण उत्पन्न बहुत से स्फोट मिल कर जब यज्ञोपवीत के समान हो जाते है, तब इसको 'कक्षा' कहते है और जो पिड़काये इधर-उधर बिखरी रहती है, तथा कोई स्थूल, कोई सूक्ष्म और कोई मध्यम आकार की होती है, वे सब पित्त-प्रकोप से उत्पन्न समझनी चाहिये[3] ॥८९॥

सर्वत्र गात्रेषु मसूरमात्र्यो मसूरिकाः पित्तकफात्प्रदिष्टाः ।
विसर्पशान्त्यै विहिताः क्रिया या ता तासु कुष्ठे च हिता विदध्यात् ॥९०॥

(९) रोमान्तिका—सम्पूर्ण शरीर पर छोटी छोटी पिड़काये हो जाये जिन से रोगी को ज्वर, दाह और प्यास रहे, इन पिड़काओं मे खाज होती हो, रोगी को अरुचि तथा मुख से पानी आता हो तो इनको 'रोमान्तिका' कहते है ये पित्त और कफ से होती है।

(१०) मसूरिका—सम्पूर्ण शरीर मे मसूर के दाने के समान उत्पन्न पिडकाओ को 'मसूरिका' कहते है, ये पित्त और कफ से होती है।

मसूरिका और रोमान्तिका के लिये विसर्प तथा कुष्ठ रोग मे कथित चिकित्सा-विधि बरतनी चाहिये ॥ ९० ॥

---

१. विदारीकन्दवद् वृत्ता कक्षावक्षणसन्धिषु ।
रक्ता विदारिका विद्यात् सर्वजा सर्वलक्षणाम् ॥

२ 'पत्तानिलाञ्जाजनिभास्तु' इति च पाठः ।

३ विस्फोटक और कक्षा के लिये सुश्रुतनिदान अ० १३ देखिये।

अन्त्रोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा तु स्निग्धं च विद्यात्कठिनं च शोथम् ॥९१॥

(११) वृद्धिरोग—वृद्धिरोग सात प्रकार का है। जैसे—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, मूत्रजन्य, मेदोजन्य और आमजन्य। इनमे दोषजन्य वृद्धि मे दोनों के अपने-अपने लक्षण होते हैं[1]। अन्त्रवृद्धि मे आंत वृषणों मे उतर आती है और दबाने से फिर चढ जाती है। मूत्रजन्य वृद्धि मे कोमलता रहता है। मेदजन्यवृद्धि मे वृषण (अण्डकोश) का शोथ स्निग्ध और कठिन रहता है ॥ ९१ ॥

विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्केषु चैव व्रणवच्चिकित्सा ।
स्यान्मूत्रसेकः कफजं विपाट्य विशोध्य सीव्यं व्रणवच्च पक्वम् ॥९२॥

वृद्धिजन्य शोथ मे यदि आमावस्था (कच्चाई) हो तो पित्तजन्य वृद्धि मे विरेचन, वातजन्य मे अभ्यग, निरूह, लेप करना चाहिये और पकने पर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये। मूत्रजन्य, मेदजन्य और कफजन्य वृद्धि को आमावस्था मे शस्त्र से चीर कर, दोषों का शोधन कर पुनः सी देना चाहिये। पकने पर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९२ ॥

क्रिमेस्तृणादि[2]क्षणनव्यवायप्रवाहणात्[3] त्कटकाश्वपृष्ठैः ।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ॥९३॥

(१२) भगन्दर—कृमि (चिउटी) आदि के काटने से, तृणादि के क्षणन (खरेचने) से, गुदा-मैथुन से, वेगपूर्वक प्रवाहन (कुन्थन) से, उत्कट आसन से, घोडे की पीठ पर बैठने से गुदा के एक दो अगुल की दूरी पर जो अति वेदनायुक्त पिडका उत्पन्न होती है और जिसके पकने पर स्राव बहता है, उसको 'भगन्दर' कहते हैं[4]।

१ दोषानुसार लक्षण—

वातपूर्णो दृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ।
पक्वोडुम्बरसकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ॥
कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ।

सुश्रुत मे अन्त्रवृद्धि को असाध्य बतलाया है।

२ 'क्रिम्यस्थिसूक्ष्म' इति । ३ 'प्रवाहनान्यु' इति च पाठः ।

४ 'अपक्का पिडकापक्वास्तु भगदराः । भग दारयतीति भगदरः । ते तु भगगुदबस्तिप्रदेशदारणात् भगन्दरा उच्यन्ते' ।

सुश्रुत मे पाच प्रकार के 'भगन्दर' कहे हैं। अष्टाग-सग्रह मे द्वन्द्वज अधिक मानकर आठ प्रकार के भगन्दर माने गये हैं।

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः ।
स्यात्क्षारसूत्रेण सुपाचितस्य भिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ॥९४॥

चिकित्सा—विरेचन, ऐषणी से मार्ग पता लगा करके शस्त्र-द्वारा विपाटन कर मार्ग शोधन करना चाहिये, फिर गरम तैल से दाह (सेक) करना चाहिये । अथवा क्षारसूत्र द्वारा भली प्रकार विदीर्ण करके व्रण की भांति इसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

जङ्घासु पिण्डीप्रपदोपरिष्टात्स्यात् श्लीपदं मांसकफास्रदोषात् ।
शिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥ ९५ ॥

(१३) श्लीपद—जंघा और पिण्डलियों में आश्रित्य मांस और रक्त में स्थित तीव्र कफ दोष, पांव में आकर श्लीपद नामक शोथ को उत्पन्न करता है । यह शोथ मांस रक्त और कफजन्य है[१] । इसके लिये शिरामोक्षण और कफनाशक सम्पूर्ण विधि बरतनी चाहिये और सरसों का लेप करना चाहिये ॥ ९५ ॥

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा[२] दोषाः सुतीव्रं ननु रक्तपाकम् ।
कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पिणं जालकगर्दभाख्यम् ॥ ९६ ॥

(१४) जालगर्दभ—अपने कारणों से कुपित वातादि दोष, पित्तोल्बण और मन्द वात कफ की अवस्था में अति दाहकारक, अल्प, लालरंग के शोथ को उत्पन्न करते हैं, यह शोथ थोड़ा पकता है । इसके कारण रोगी को ज्वर और प्यास रहता है, यह शोथ विसर्प के समान फैलता है इसको 'जालगर्दभ' कहते हैं॥९६॥

विलंघनं[३] रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं[४] च ।
धात्रीप्रयोगाञ्छिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य ॥९७॥

चिकित्सा—वैद्य को चाहिये कि जालगर्दभ-रोग में लंघन, रक्तमोक्षण, रूक्ष-क्रिया, वमन-विरेचन, तथा आंवले का स्वरस, कल्कादि रूप में प्रयोग करे, तथा शीतवीर्य द्रव्यों को बारीक पीसकर उनका लेप करे ॥ ९७ ॥

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य[५] शोथप्रकारानिलादिलिङ्गैः ।
शान्तिं नयेद्दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदनभेददाहैः ॥ ९८ ॥

उपसंहार—इसी प्रकार यहां पर न कहे शोथ के अन्य भेदों की वायु आदि

---

१ कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्नवक्षणोरुजानुजंघास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफभ्रमं जनयन्ति । तत् श्लीपदमाचक्षते सु० नि० १२ ॥

२ 'प्रदिष्टा' इति । ३ 'विलेपनं' इति वा पाठः ।

४. 'कायविरेचनं च' इति वा पाठः । ५. 'निशम्य' इति वा पाठः ।

दोषो के लक्षणो से पहिचान करके दोषनाशक वमनादि कार्यों द्वारा तथा आलेपन (औषधियो के लेप), छेदन (शस्त्र-द्वारा), भेदन (पकने पर चीरना), और दाह-कर्म (अग्नि और क्षार से जलाना) से चिकित्सा करनी चाहिये ॥९८॥

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र ।
वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म ॥ ९९ ॥

आगन्तुज शोथ—प्रायः अभिघात के कारण कुपित वायु रक्त के साथ मिलकर लाल वर्ण का शोथ उत्पन्न करती है। इसके लिये विसर्पनाशक तथा वातरक्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। विषयुक्त प्राणियो के परिसर्पण, नख, मूत्रादि से जो शोथ उत्पन्न हो, उसमे विषनाशक कार्य करना चाहिये ॥९९॥

भवति चात्र—त्रिविधस्य दोषभेदात्सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च ।
श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम् ॥१००॥

उपसंहार—वातादि दोष भेद से, सम्पूर्ण आधे और एकदेशीय भेद से तीन प्रकार के तथा शालूक आदि भेद के कारण नाना प्रकार के शोथ के लक्षण, चिकित्सा को इस 'श्वयथु चिकित्सित' अध्याय मे भगवान् आत्रेय ने कह दिया है ॥ १०० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे उदर-चिकित्सा रोग की व्याख्या करते हैं, ऐसा भगवान् आत्रेय ने उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे ।
तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ॥ ३ ॥
आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्तकम् ।
पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद्वचः ॥ ४ ॥

सिद्ध और विद्याधर (देवयोनि) गण से व्याप्त, नन्दन वन के समान कैलास पर्वत पर कठोर तप करते हुए, साक्षात् धर्म के समान स्थित, आयुर्वेद को जानने वालों मे श्रेष्ठ, मर्त्यलोक मे भिषग्-विद्या के प्रवर्त्तक, जितात्मा भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने निवेदन किया ॥ ३–४ ॥

भगवन्नुदरदुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः ।
शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ॥ ५ ॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः ।
दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत् ॥ ६ ॥

भगवन्! बहुत से लोग दुःखदायी उदर रोगो से पीड़ित होते हैं, उनके सूखे हुए मुख, शरीर निर्बल, पेट और कोख फूले हुए दीखते है। इन उदर रोगियो की अग्नि, बल और आहार (भूख) नष्ट हो जाते हैं। वे किसी काम को करने मे भी समर्थ नही होते, ये दीन हुए, उचित चिकित्सा न करने पर अनाथों के समान प्राणो को त्याग देते है ॥ ५–६ ॥

तेषामायतनं संख्या प्राग्रूपाकृतिभेषजम् ।
यथावज्ज्ञातुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ॥ ७ ॥
सर्वभूतहितायर्षिः शिष्येणैवं प्रचोदितः ।
सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ८ ॥

इन उदर रोगो के कारण, संख्या, प्राग्रूप (पूर्वरूप), आकृति (रूप) और भेषज (औषध) के विषय मे आपका भली प्रकार उपदेश सुनना चाहता हूँ। अग्निवेश के इस प्रकार पूछने पर सब प्राणियो के लिये आत्रेय ऋषि ने सब प्राणियो को हितकारी वाक्य कहना आरम्भ किया ॥ ७–८ ॥

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः ।
मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ॥ ९ ॥
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः ।
प्राणाग्न्यपानान्संदूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥ १० ॥
त्वङ्मांसान्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन्भृशम् ।
जनयत्युदरं, तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ ११ ॥

अग्नि के मन्द होने से, मल की वृद्धि होने पर मनुष्यों मे नाना प्रकार के रोग समूह उत्पन्न होते है, और उदर रोग विशेष रूप से उत्पन्न होते है। अग्नि के मन्द होने पर, अन्न के पचन न होने पर, मलिन, मलकारक अपथ्य आहार के सेवन से दोष संचित होने पर प्राण, अग्नि (जाठराग्नि), और अपान वायु को दूषित करके अधर और उत्तर (ऊपर और नीचे के) दोनो मार्गों को रोक देते है। यह दोष-समूह त्वचा और मांस के बीच मे आकर कुक्षि (उदर, कोख) को बहुत अधिक फुला करके उदर रोग को उत्पन्न करते हैं उसके कारण और लक्षणों को सुनो ॥ ९–११ ॥

अत्युष्ण[1]-लवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्[2] ।
मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥ १२ ॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्षणात्कर्मविभ्रमात् ।
क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥ १३ ॥
स्रोतसां दूषणादामात्संक्षोभादतिपूरणात् ।
अर्शोबलिशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥ १४ ॥
अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥ १५ ॥

सामान्य कारण—अति उष्ण, लवण, क्षार, विदाही, अम्ल और संयोगजन्य विष के सेवन से, पेयादि अन्न कर्म के मिथ्या आचरण से, रूक्ष, विरुद्ध और अपवित्र भोजन के करने से, प्लीहा, अर्श (बवासीर) ग्रहणी रोग तथा यात्रा और भार आदि से कृश होने पर, वमन आदि कार्यों के मिथ्या आचरण से, रोगों से पीडित होने पर, चिकित्सा न करने पर, रूक्षता से, मल-मूत्र आदि के उपस्थित वेगों के रोकने से, मल और मूत्र के वाहक स्रोतसो के दूषित होने से, आम (अपक्व आहार) रस से, यान, वाहन (सवारी), आदि के संक्षोभ से, कुक्षि (पेट) के बहुत भर लेने (अति भोजन) से, अर्श (बवासीर) रोग से, बाल आदि को अन्न के साथ खाने से, मार्ग के अवरुद्ध होने पर, शर्करा, तृण आदि द्वारा आतो के फटने या चिर जाने पर, दोषों के बहुत अधिक सञ्चित होने से, और पाप कर्म के करने से, विशेष रूप से मन्दाग्नि वाले पुरुषों मे उदर रोग उत्पन्न होते हैं ॥१२–१५॥

क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात् ।
भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥ १६ ॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः ।
शश्वद् बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥ १७ ॥
पुरीषनिचयो वृद्धिरुदावर्तकृता च रुक् ।
बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाठ्यतेऽपि च ॥ १८ ॥
आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनैः ।
राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥ १९ ॥

उदररोग के पूर्वरूप—भूख का नाश, स्वादु (मधुर), अतिस्निग्ध और गुरु (भारी) अन्न खा लेने पर देर से पचता है । सब प्रकार का अन्न विदाह

१. 'अत्यम्ल' इति । २ 'अम्लरसा' इति च पाठः ॥

उत्पन्न करता है, रोगी को जीर्ण (पचा) या अजीर्ण (अनपचा) का ज्ञान नहीं होता ! अति तृप्तिपूर्वक खाये अन्न को सहन नहीं करता, पाव पर थोड़ी सूजन हो जाती है। निरन्तर बल का ह्रास होता रहता है, थोडी सी भी मेहनत से श्वास चढ जाता है। मल बढ जाता है और सञ्चित हो जाता है। बस्ति-सन्धि मे उदावर्त्त के कारण वेदना, पेट मे आध्मान (अफारा), थोड़े से भी भोजन से पेट ऊपर को बढता है, तन जाता है, फटता हुआ प्रतीत होता है, पेट पर नाड़ियों की रेखायें उत्पन्न हो जाती है और पेट की वलियां का नाश हो जाता है, ये उदर रोग के पूर्वरूप है[1] ॥१६–१६॥

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहानि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।
प्राणाग्न्यपानान्[2] सदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ २० ॥

सञ्चित दोष प्राण वायु अग्नि और अपान वायु को दूषित करके स्वेद और अम्बु (लसीका) को ले जाने वाले (त्वचा और मास के मध्य मे आश्रित) स्रोतों को रोक कर उदर-रोग उत्पन्न करते है ॥२०॥

कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च ।
मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम् ॥ २१ ॥

रूप—पेट मे अफारा और गुडगुडाहट, हाथ और पाव पर सूजन, अग्नि का मन्द होना, गालों पर चिकनापन (तेल के से पदार्थ का चमकना), शरीर मे कृशता ये उदर रोग के लक्षण है ॥२१॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ।
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ २२ ॥

उदर रोग आठ प्रकार का होता है। पृथक् पृथक् दोषों से तीन प्रकार का (१) वातिक, (२) पैत्तिक, (३) श्लैष्मिक, (४) सन्निपातजन्य, (५) प्लीहोदर, (६) बद्धोदर, (७) क्षतोदर और (८) उदकोदर। [इनमे से क्षतोदर को ही अन्य ग्रन्थों मे 'परिस्रावी उदर' कहा है] अब इनके पृथक् लक्षण सुनो ॥२२॥

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः ।
वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्बस्तिगुदमार्गगः ॥ २३ ॥
हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्तथा ।
आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥ २४ ॥

---

१ पूर्वरूप—बलवर्णकांक्षा वलीविनाशो जठरे च राजयः ।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुज पादगतश्च शोफ. ॥
सु० नि० ७ ॥

२ 'प्राणापानान् हि' इति पाठान्तरम् ।

वातोदर के कारण—रूक्ष, अल्प (हीन मात्रा) मे भोजन करने से, परिश्रम से, उपस्थित वेगों का रोकने से, उदावर्त्त से, मुसाफिरी, भार आदि द्वारा कृशता से, वायु कुपित होकर कुक्षि, हृदय बस्ति और गुदा के मार्ग मे पहुँच कर अग्नि का नाश करके और कफ को उसके स्थान (आमाशय) से लेकर, कफ के कारण मार्ग के रुक जाने से, त्वचा और मास के मध्य मे आश्रित होकर प्राणियों मे उदर रोग को उत्पन्न करती है ॥ २३-२४ ॥

तस्य रूपाणि—कुक्षि-पाणि-पाद-वृषण-श्वयथूदर-विपाटनमनियतौ च वृद्धिह्रासौ कुक्षि-पार्श्व-शूलोदावर्ताङ्गमर्द-पर्वभेद-शुष्क-कास-कार्श्य-दौर्बल्यारोचकाविपाका अधोगुरुत्वं वातवर्चोमूत्रसङ्गः श्यावारुणत्वं च नख-नयन-वदन-त्वङ्-मूत्र-वर्चसामपि चोदरं तन्वसित-राजीसिरा-सन्ततमाहतमाध्मातदृतिशब्दवद्भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरत्येतद्वातोदरं विद्यात् ॥ २५ ॥

वातोदर के लक्षण—कुक्षि (कोख) पाव और अण्डकोशों मे शोथ होना, उदर फटता प्रतीत होना, विना कारण के ही उदर का बढ़ना और घटना, कुक्षि मे शूल, पार्श्वशूल, उदावर्त्त, अगो मे वेदना, पर्व-सन्धियों का टूटना, सूखी खासी, शरीर मे कृशता, निर्बलता, भोजन मे अरुचि, अविपाक, उदर के निचले भाग पेड़ू मे भारीपन, वायु, मल और मूत्र का अवरोध, नख, आख, मुख, त्वचा, मल और मूत्र का श्याव (काला) या अरुण (लाल) रग होना, पेट पर पतली काली रेखाये और सिराये दीखना, टकोरने पर वायु से भरे, मशक के समान शब्द होना, पेट मे जब वायु ऊपर, नीचे या तिरछी चले तो दर्द और शब्द होना, ये वातोदर के लक्षण है ॥ २५ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः ।
विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥ २६ ॥
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम् ।
निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥ २७ ॥

पित्तोदर के कारण—कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण पदार्थों के सेवन से, अग्नि और धूप के सेवन से, विदाहकारक भोजनो से, अजीर्ण से तथा अध्यशन से (भोजन के ऊपर भोजन करने से) पित्त शीघ्र सचित हो जाता है । यह सचित पित्त वायु और कफ को साथ मे लेकर इनके द्वारा मार्ग को रोक कर, उन्मार्ग में गमन करके आमाशय मे अग्नि का नाश करता है, इससे उदर रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २६-२७ ॥

तस्य रूपाणि—दाह-ज्वर-तृष्णा-मूर्च्छातीसार-भ्रमाः कटुकास्यत्वं

हरितहारिद्रत्वं च नख-नयन-वदन-त्वङ्-मूत्र-वर्चसामपि चोदरं नील-पीत-हारिद्र-हरित-ताम्र-राजी-सिरावनद्धं दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यते क्लिद्यते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं च भवत्येतत् पित्तोदरं विद्यात् ॥२८॥

लक्षण—दाह, ज्वर, प्यास, मूर्च्छा, अतीसार और भ्रम, मुख का स्वाद कडुवा हो, नख, आख, मुख, त्वचा, मूत्र और मल का हरा या पीला (हल्दी के समान) वर्ण हो, उदर के ऊपर नीली पीली, हल्दी के समान (गहरी पीली), ताम्बे के रग की रेखाएँ और सिराएँ दिखाई दें, जलन हो, तपे, सन्तपित हो, ऊष्मा गरम बाष्प निकलते प्रतीत हो । पसीना आना, क्लिन्नता प्रतीत हो । स्पर्श में कोमल और शीघ्र पकने के स्वभाव का हो, ये पित्तोदर के लक्षण है ॥२८॥

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः ।
दधिदुग्धोदकानूपमांसैश्चात्युपसेवितैः ॥ २९ ॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृते[१]ष्वावृतोऽनिलः ।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्तरम् ॥ ३० ॥

कफोदर के कारण—परिश्रम न करने से, दिन मे सोने से, मधुर, अति-स्निग्ध, पिच्छिल भोजनो से, दही, दूध, जलचर तथा आनूप मास के अति सेवन से कुपित हुई श्लेष्मा स्रोतो को रोक देती है । स्रोतो के रुकने से उनमे घिरा वायु त्वचा और मास के बीच मे पहुच कर आतो का आश्रय लेकर कफ को ही पीड़ित करके उदर-रोग को उत्पन्न कर देता है ॥ २९–३० ॥

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्द-सुप्ति-पाणि-पाद-मुष्को-रु-शोफोत्क्लेश-निद्रा-कास-श्वासाः शुक्लत्वं च नख-नयन-वदन-त्वङ्-मूत्र-वर्चसामपि चोदरं शुक्लराजीसिरासन्ततं गुरु स्तिमितं स्थिरं कठिनं च भवत्येतच्छ्लेष्मोदरं विद्यात् ॥ ३१ ॥

उसके लक्षण—भारीपन, भोजन मे अरुचि, अविपाक (अजीर्ण), अगो मे वेदना, स्पर्शज्ञान का अभाव, हाथ पाव और अण्डकोशो पर शोथ, जीमच-लाना, नीद का अधिक आना, कास और श्वास, नख, आख, मुख, त्वचा, मूत्र और मल का श्वेत वर्ण होना, उदर का श्वेत रेखाओ तथा सिराओ मे भरा रहना । पेट भारी, स्तिमित (गीले वस्त्र मे ढपा सा) प्रतीत होना, स्थिर और कठिन होना ये कफोदर के लक्षण है ॥ ३१ ॥

दुर्बलाग्नेरपथ्यादिविरोधिगुरुभोजनात् ।
स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ॥ ३२ ॥

---

१ 'स्वावृतेष्वा' इति पाठान्तरम् ।

विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः संचितास्त्रयः ।
शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ ३३ ॥

सन्निपातोदर के कारण—दुर्बल अग्नि वाला पुरुष जब अपथ्य (अहित, अध्यशन या विषमाशन) आदि सेवन करे या आम (अपक्व आहार रस) अथवा विरोधि अन्न या गुरु भोजन का सेवन करे वा दुष्ट स्त्रियो द्वारा दिये रज, रोम, मल, मूत्र, अस्थि, नख आदि से मिले, अन्न को खावे, वा मन्द विषो (दूषीविष आदि) से, वातादि तीनो दोष कुपित होकर धीरे-धीरे कोष्ठ मे सचित होकर उदर रोग को उत्पन्न करते है¹ ॥ ३२–३३ ॥

तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते वर्णाश्च नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवत्येतत्सन्निपातोदरं विद्यात् ॥ ३४ ॥

सन्निपातोदर के लक्षण—इस सन्निपातोदर मे सब दोषो के मिलित लक्षण मिलते है। नख, आख, त्वचा आदि मे सब रंग दिखाई देते है। पेट पर भी नाना प्रकार की रेखाये और सिराये फैली होती है । इसको सन्निपातोदर कहते है। [सुश्रुत मे इसको दूष्योदर कहा है, यह असाध्य है] ॥ ३४ ॥

अशितस्यातिसङ्क्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः ।
अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ॥ ३५ ॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात्प्रवर्धते ।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥ ३६ ॥ इति ॥

प्लीहोदर—अति भोजन करने वाले पुरुष मे घोड़ा, गाड़ी की सवारी अथवा अति घूमने के कारण सक्षोभ उत्पन्न होने से, अति मैथुन से, भार उठाने से, अधिक मुसाफिरी से, वमन से, रोगजन्य कृशता से, बाये पार्श्व मे स्थित प्लीहा अपने स्थान से खिसक कर बढने लगती है। इसकी वृद्धि मे कारण बढे हुए रक्त और रस आदि है, जो कि अपने आश्रय को बढ़ाते है ॥ ३५–३६ ॥

तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते,

---

१ सुश्रुत मे कहा है—

स्त्रियोऽन्नपान नखरोममूत्रविडार्त्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गराश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद् वा ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषा कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिंगम् ।
प्रकीर्त्तितं दूष्योदरम् ॥ सु० नि० ७ वा ॥

स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ॥ ३७ ॥

रोगी की प्लीहा (तिल्ली) प्रथम कठिन और अष्ठीला (लोहे का गोला या छोटा पत्थर) के समान होती है, पीछे से बढ़ कर कछुए के बराबर हो जाती है। इसकी भी उपेक्षा करने पर प्लीहा धीरे-धीरे बढ़ कर कुक्षि (पार्श्व), उदर, अग्नि के स्थान (ग्रहणी) के चारो ओर बढ़ कर उदर रोग को उत्पन्न करती है ॥ ३७ ॥

तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाक-वर्चो-मूत्र-ग्रह-तमःप्रवेश-पिपासाङ्ग-मर्द-च्छर्दि-मूर्च्छाङ्गसाद-कास-श्वास-मृदु-ज्वरानाहाग्नि-नाशकार्श्यास्यवैरस्य-पर्व-भेदाः कोष्ठे वातशूलं चापि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति। एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात् तुल्य-हेतु-लिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात् ॥ ३८ ॥

उसके लक्षण—दुर्बलता, अरुचि, अविपाक, मल और मूत्र का अवरोध, तम-प्रवेश (ज्ञान का अभाव), पिपासा (प्यास), अगो मे वेदना, वमन, मूर्च्छा, अगो का टूटना, कास, श्वास, थोड़ा ज्वर रहना, आनाह (अफारा), अग्निनाश, कृशता, मुख की विरसता (फीकापन), पर्वो का टूटना (वेदना), कोष्ठ मे वायु और शूल होना है। उदर का रग लाल या विवर्ण (प्रकृतिस्थ वर्ण से रहित) होता है। उदर लाल वा फीके रग का, उस पर नीली, पीली, हरी रेखाये दीखती है।

प्लीहोदर की भाति यकृत् भी दक्षिण पार्श्व मे बढ कर उपरोक्त लक्षणो को उत्पन्न कर सकता है। इसके कारण और लक्षण तथा औषध प्लीहोदर के समान होने से इसका प्लीहोदर मे ही अन्तर्भाव होता है। इसको यकृतोदर जाने, इस प्रकार यकृत्-उदर, प्लीहोदर कह दिये ॥३८॥

पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे।
उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसंमूर्च्छनेन वा ॥ ३९ ॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः।
वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥ ४० ॥

बद्धगुदोदर—पलको के बालो को भोजन के साथ खाने से, उदावर्त्त या अर्श-रोग के कारण, पिच्छिलादि अन्न से आतों के मूर्छित होने (परस्पर चिपक जाने) के कारण, गुदमार्ग के रुक जाने से अपान वायु मार्ग के न

मिलने के कारण अग्नि का नाश कर देता है, इससे उदर रोग उत्पन्न होता है[1] ॥ ३९–४० ॥

तस्य रूपाणि–तृष्णा-दाह-ज्वर-मुख-तालु-शोषोरुसाद-कास-श्वास-दौर्बल्यारोचकाविपाक-वर्चो-मूत्र-सङ्गाध्मान-च्छर्दि-क्षवथु-शिरो-हृन्नाभिगुद-शूलान्यपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुण-नील-राजि-सिरावनद्धमराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इत्येतद् बद्धगुदोदर विद्यात् ॥४१॥

बद्धगुदोदर के लक्षण—तृष्णा, जलन, ज्वर, मुख और तालु मे शुष्कता, जघाओं मे पीड़ा, कास, श्वास, दुर्बलता, भोजन मे अरुचि, अविपाक, मल और मूत्र का अवरोध आध्मान, वमन, छींक का आना, शिरःशूल, हृदयशूल, नाभिशूल, और गुदा मे वेदना रहती है। पेट मे वायु मूर्च्छित रहता है; बाहर नही निकलता। पेट कठोर (कड़ा), लाल रग का, नीली रेखाओं और सिराओं से ढका होता है। अथवा उस पर राजि (रेखायें) बिलकुल नही होती। यह प्राय· नाभि से ऊपर गोपुच्छाकार होता है इसको 'बद्धगुदादर' जाने ॥ ४१ ॥

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः ।
भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥ ४२ ॥
इयात्पाकं रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवेद्बहिः ।
पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः ॥ ४३ ॥

छिद्रोदर—शर्करा (बालुका), तिनके, काष्ठ, अस्थि और काटे इनको अन्न के साथ खाने से, जृम्भा (जभाई) से अथवा अति भोजन से भीतर आतें चिर जाती है और अन्दर-अन्दर पक जाती है। इन पकी आतों से जो रस बाहर निकलता है, वह गुदा, आत्र और उदर मे एकत्र होकर उदर रोग को उत्पन्न कर देता है ॥ ४२–४३ ॥

तस्य रूपाणि—तदधो नाभ्याः प्रायोऽभिनिर्वर्तमानमुदकोदरस्य च यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयत्यपि चाऽऽतुरः स लोहित-नील-पीत-

---

१ सुश्रुत मे—यस्यात्रमन्नमुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग् वा ।
सञ्चीयते तत्र मल. स दोष क्रमेण नाड्यामिव सकरो हि ॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीष निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदर विट्समगन्धिक च ।
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदो विभाव्यः ॥ सु० नि० ७ ॥

पिच्छिल-कुणप-गन्ध्यामवर्चं उपवेशते। हिक्का-श्वास-कास-तृष्णा-प्रमेहारोचकाविपाक-दौर्बल्य-परीतश्च भवति। एतच्छिद्रोदरं विद्यात्॥ ४४॥

छिद्रोदर के लक्षण—यह छिद्रोदर प्राय नाभि के नीचे बढ कर शीघ्र ही जलोदर के लक्षणों को प्रकट करता है। छिद्रोदर में दोषो के अनुसार ही लक्षण होते है। रोगी का मल लाल, नीला, पीला, पिच्छिल, मुर्दे की गन्ध के समान कच्चा होता है। रोगी को हिचकी, श्वास, कास, प्यास, प्रमेह, अरुचि, अविपाक और दुर्बलता रहती है इसको 'छिद्रोदर' जाने॥ ४४॥

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा।
अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः॥ ४५॥
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः।
वर्धयेता तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ॥ ४६॥

उदकोदर—मन्दाग्नि वाला व्यक्ति स्नेहपान करले वा क्षीण और अति कृश व्यक्ति की अग्नि बहुत अधिक पानी पीने से नष्ट हो जाये तो स्रोतो के मार्गो के बन्द हो जाने पर, कफ और जल से मिश्रित क्लोम मे स्थित वायु वहां पर पानी को बढा कर अपने स्वाभाविक स्थान से उदर मे लाकर उदर-रोग को उत्पन्न करते है॥ ४५-४६॥

तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षा-पिपासा-गुदस्राव-शूल-श्वास-कास-दौर्बल्यान्यपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शं भवति, एतदुदकोदरं विद्यात्॥ ४७॥

दकोदर के लक्षण—भोजन की इच्छा न होना, प्यास, गुदा से स्राव बहना, शूल, श्वास, कास और निर्बलता रहती है। उदर पर नाना प्रकार की रेखायें दिखाई देती है। पानी से भरी मशक के समान उदर का स्पर्श होता है। [एक तरफ टकोरने से तरग दूसरे पार्श्व मे आती है] इसको 'दकोदर' जाने॥ ४७॥

तत्र, अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्। उपेक्षिताना ह्येषा दोषाः स्वस्थानादपावृत्ता अपरिपाकाद् द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति॥ ४८॥

दकोदर के उत्पन्न होने के साथ ही, छर्दि (वमन) अतिसार आदि उपद्रव उत्पन्न होने और जल भरने से पूर्व ही जल्दी से चिकित्सा करनी चाहिये। चूंकि इन रोगियों की उपेक्षा करने से वातादि दोष अपने स्थान से च्युत

होकर परिपाक के कारण द्रव बनकर सन्धि और स्रोतों को क्लिन्न (आर्द्र) कर देते है। पसीना भी बाह्य स्रोतो के बन्द होने से बाहर न निकल कर तिरछा अन्दर ही जाकर इस जलको बढाता है। जिससे पिच्छा (सिम्बल की गोंद के समान लेस) उत्पन्न हो जाती है।

पिच्छा उत्पन्न होने पर पेट गोल, भारी, स्तिमित, तथा टकारने पर कोमल शब्द वाला, कोमल स्पर्शयुक्त होता है। रेखायें सब नष्ट हो जाती है, नाभि पर छूने से ही फैलने लगता है (तरंग चल जाती है) ॥ ४८ ॥

तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजिकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पतीति। ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः। तस्य रूपाणि—कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः सिरान्तर्धानगमनमुदकपूर्णदृतिसंक्षोभस्पर्शत्वं च, तदातुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति छर्द्यतीसार-तमक-तृष्णा-श्वास-कास-हिक्का-दौर्बल्य-पार्श्व-शूलारुचि-स्वरभेद-मूत्रसङ्गादयः, तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ॥ ४९ ॥

पिच्छा के उत्पन्न होने के पीछे उदक (पानी) पैदा होता है। लक्षण—पार्श्वो मे बहुत वृद्धि हो जाती है। सिरायें नही दीखती। पानी से भरी मशक के समान स्पर्श और संक्षोभ (गति) होता है। इसके आगे रोगी का वमन, अतिसार, तमक श्वास, प्यास, कास, हिचकी, दुर्बलता, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभेद, मूत्रावरोध आदि अनेक उपद्रव होने प्रारम्भ हो जाते है, इन उपद्रवो के होने पर रोगी असाध्य हो जाता है। ४९ ॥

इस प्रसङ्ग में—

भवति चात्र—वातात्पित्तात्कफात्प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात्।
परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत् ॥ ५० ॥

वैद्य वायु से पित्तजन्य, पित्त से कफजन्य, कफ से प्लीहोदर, प्लीहोदर से सन्निपातोदर, सन्निपातोदर से दकोदर को कष्टसाध्य समझे ॥ ५० ॥

---

१ अष्टांगसंग्रह मे कहा भी है—

उपेक्षया च सर्वेषु दोषाः स्वस्थानतश्च्युताः।
पाकाद् द्रवा द्रवीकुर्युः सन्धीन् स्रोतोमुखान्यपि ॥
स्वेदस्तु बाह्यस्रोतःसु विहतस्तिर्यगास्थितः।
तदेवोदकमाप्याय पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत्।
गुरूदरं स्थिरं वृत्तमाहतं च सशब्दवत् ॥

पक्षाद् बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥ ५१ ॥

बद्धगुदोदर और छिद्रान्त्रोदर दोनो पन्द्रह दिन के पीछे और दकोदर उत्पन्न होने के साथ ही प्राय नाश का कारण होता है। [दकोदर, छिद्रोदर और बद्धगुदोदर ये अनुकूल चिकित्सा से कभी अच्छे भी हो जाते है। चक्र०]५१

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् ।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च सत्यजेत् ॥ ५२ ॥
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट् ।
मूर्च्छा छर्द्यतिसारो च निहन्त्युदरिण नरम् ॥ ५३ ॥

असाध्य रोगी—जिस रोगी को आखें सूज जायें इन्द्रिय (लिङ्ग) कुटिल (टेढ़ा) हो जाये, रोगी की त्वचा क्लिन्न (चिकनाहटयुक्त) और पतली हो, बल, रक्त, मांस और अग्नि क्षीण हो जाये, ऐसे रोगी की चिकित्सा न करे। यदि हृदय आदि सब मर्म स्थानों पर शोथ हो जाये, रोगी को श्वास, हिचकी और मूर्च्छा, अरुचि, वमन तथा अतिसार हो उस रोगी को उदर रोग मार ही देता है। वैद्य उसको असाध्य समझे और छोड दे ॥ ५२-५३ ॥

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ ५४ ॥

प्राय सब उदर-रोग उत्पन्न होने के साथ ही कष्टसाध्य होते है। यदि रोगी बलवान् हो तो पानी उत्पन्न होने के पूर्व ही तथा रोग नया हो तो यत्नपूर्वक चिकित्सा करने मे साध्य है ॥ ५४ ॥

अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम् ।
सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम् ॥ ५५ ॥
नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति ।
हृन्नाभिवंक्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ॥ ५६ ॥
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके ।
लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विषि ॥ ५७ ॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः ।
उपक्रमेद्भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ॥ ५८ ॥

अजातोदक के लक्षण—उदर मे शोथ न हो, लाल वर्ण हलका सा दीखे, शब्द युक्त हो, बहुत अधिक भारीपन न हो, सदा गुडगुड शब्द आता हो, सिरा जाल दिखाई देता हो, वायु नाभि और आतो मे वेग करके छिप जाती हो, हृदय, नाभि, वक्षण, कटि, गुदा मे शूल रहता हो, कर्कश वायु बाहर

आती हो (रुक-रुक कर या अपान वायु बाहर आये), अग्नि बहुत मन्द न हो, सब रसो के खाने की इच्छा (लालन) हो, मुख मे विरसता न हो, मूत्र थोड़ा और मल बधा हुआ हो तो इन लक्षणो से पानी उत्पन्न नही हुआ, ऐसा जानकर दोष, बल, काल को समझनेवाला वैद्य इसकी चिकित्सा आरम्भ करे ॥५८॥

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत् ।
स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ॥ ५९ ॥
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद्वाससोदरम् ।
तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाऽऽध्मापयेत्पुनः ॥ ६० ॥
दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतसां मार्गरोधनात् ।
संभवन्त्युदराण्येवमतो नित्यं विशोधयेत् ॥ ६१ ॥

वातोदर की चिकित्सा—यदि रोगी बलवान् (शोधन के योग्य हो) तो प्रथम स्नेहन करना चाहिये । स्निग्ध तथा स्वेदन होने पर पीछे से स्नेहयुक्त विरेचन देना चाहिये । विरेचन द्वारा दोष के निकल जाने से क्षीण उदर को कपड़े से लपेट देना चाहिये । इस प्रकार बाधने से वायु को जगह नही मिलती, जिससे कि पुन आध्मान (फुलाव) नही कर सकती । शरीर मे दोषो के अतिमात्र सचित होने से स्रोतो का निरोध होता है, इसलिये उदर रोगी को प्रतिदिन विरेचन देना चाहिये ॥ ५९–६१ ॥

शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम् ।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च बले लब्धे क्रमात्पयः ॥ ६२ ॥

शुद्ध होने पर पेयादि क्रम पर रख कर बल के लिये रोगी को दूध पिलाना चाहिये । उत्क्लेश (कफ-सचय) के होने से पूर्व बल प्राप्त होने पर धीरे-धीरे दूध बन्द कर देना चाहिये ॥ ६२ ॥

यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम् ।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥ ६३ ॥

अल्प अम्ल और लवण से साधित मूग आदि के यूषो से अथवा मास रसो से रोगी की अग्नि को बढ़ाना चाहिये । यदि रोगी को फिर से उदावर्त्त हो जाये तो स्नेहन और स्वेदन कार्य करके आस्थापन बस्ति देनी चाहिये ॥ ६३ ॥

स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु ।
दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥ ६४ ॥

रोगी की सन्धि और अस्थियो मे स्फुरण और आक्षेप हो, पार्श्वशूल, पृष्ठशूल तथा कटिशूल हो, अग्नि प्रदीप्त हो, मल और वायु का अवरोध हो, रोगी रूक्ष हो तो अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ॥ ६४ ॥

तीक्ष्णाधोभागयुक्तः स्यान्निरूहो दाशमूलिकः ।
वातघ्नाम्लशृतैरण्डतिलतैलानुवासनः ॥ ६५ ॥

तीक्ष्ण और अधो-दोष-नाशक द्रव्यो से युक्त दशमूल के क्वाथ से उदर-रोगी को निरूह और आस्थापन देना चाहिये। वातनाशक अम्ल द्रव्यो से एरण्ड तैल और तिल-तैल पकाकर इनसे अनुवासन देना चाहिये ॥ ६५ ॥

अविरेच्य तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम् ।
सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम् ॥ ६६ ॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः ।
बस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद् बुधः ॥ ६७ ॥

जो रोगी निर्बल, वृद्ध, बालक, कोमल प्रकृति, अल्पदोष, प्रबलवायु होने से विरेचन के अयोग्य हो, उसकी घी, यूष, मांस रस, रसौदन (मांस रस से सिद्ध चावल) से, बस्ति, अभ्यंग, अनुवासन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥६६—६७॥

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत् ।
दुर्बलं त्वनुवास्याऽऽदौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना ॥ ६८ ॥
संजातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत् ।
पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥ ६९ ॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनाऽऽरग्वधेन वा ।

पित्तोदर की चिकित्सा—यदि रोगी बलवान् हो तो रोग के प्रारम्भ मे प्रथम विरेचन देना चाहिये। रोगी निर्बल हो तो प्रथम अनुवासन देकर पीछे से क्षीर-बस्ति द्वारा शोधन करना चाहिये। रोगी मे बल आने पर तथा अग्नि के प्रदीप्त होने पर पुनः रोगी को स्निग्ध करके विरेचन देना चाहिये। इसके लिये निशोथ के कल्क से अथवा एरण्ड के कल्क (या तैल) से या सातला और त्रायमाणा के कल्क द्वारा अथवा अमलतास के साथ दूध पका कर देना चाहिये ॥ ६९- ॥

सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥ ७० ॥
पुनःक्षीरप्रयोगं च बस्तिकर्म विरेचनम् ।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥ ७१ ॥

पित्तोदर मे यदि पित्त के साथ कफ मिश्रित हो तो मूत्रयुक्त दूध से, वायु का मिश्रण होने पर तिक्त-घृत मिश्रित दूध से विरेचन देना चाहिये। इस प्रकार आनुपूर्व कर्म द्वारा बार-बार क्षीर प्रयोग से विरेचन और बस्ति कर्म करने पर निश्चित रूप से रोगी का पित्तोदर शान्त हो जाता है[1] ॥ ७०—७१ ॥

---

१ अष्टांगसंग्रह मे कहा है—

संजातबलाग्निं च पुनः क्षीरेण सत्रिवृत्कल्केन, ऊरुबकशृतेन, सातलात्रायमाणाभ्यां वा, आरग्वधेन वा सश्लेष्मणि पित्ते समूत्रेण पयसा पुनः पुनः विरेचयेत् ॥

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम् ।
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ॥ ७२ ॥
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा ।
सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम् ॥ ७३ ॥

कफोदर की चिकित्सा—रोगी को स्नेहन और स्वेदन करवाके संशोधन करना चाहिये । फिर कफनाशक, कटुरस तथा क्षारयुक्त पेयादि अन्न द्वारा संसर्जन (भोजन) करना चाहिये । गोमूत्र, अरिष्ट का पान, लोह भस्म का प्रयोग और क्षारसिद्ध तैल के प्रयोगों से कफोदर को शान्त करना चाहिये ॥७२–७३॥

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत्क्रियाः ।
सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येय विजानता ॥ ७४ ॥
उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ॥ ७५ ॥
लिङ्गैः प्लीहोदरान् दृष्ट्वा रक्तं वापि स्वलक्षणैः ।

सन्निपातोदर मे सब दोषो की चिकित्सा करनी चाहिये । यदि सन्निपातोदर मे छर्दि (वमन), अतीसार आदि उपद्रव आ जायें तो उसको असाध्य समझना चाहिये । वैद्य को चाहिये कि प्लीहोदर मे उदावर्त्त, शूल, आनाह से वायु को, दाह, प्यास, मूर्च्छा और ज्वर से पित्त को, भारीपन, अरुचि, कठिनता से कफ को तथा सब दोषो के मिलित लक्षणो से सन्निपात को समझे । प्यास की अधिकता तथा पित्त के अन्य लक्षणो से रक्त को समझना चाहिये ॥७४–७५-॥

चिकित्सा संप्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम् ॥ ७६ ॥
स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम् ।
समीक्ष्य कारयेद् बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ॥ ७७ ॥
षट्पलं पाययेत्सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ।
सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणास्तथा ॥ ७८ ॥

वैद्य को चाहिये कि दोषानुसार और बलानुसार प्लीहोदर में चिकित्सा करे। इसके लिये स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, निरूह बस्ति और अनुवासन बस्ति का विचारपूर्वक प्रयोग करना चाहिये । प्यास की अधिकता आदि से रक्त की वृद्धि को समझ कर बाईं बाहु में सिरा-वेध द्वारा रक्त-मोक्षण करे । षट्पल या महाषट्पल घृत पिलाना चाहिये । रसायन विधि से वर्धमान-पिप्पली खिलानी चाहिये । गुड के साथ हरड देनी चाहिये । क्षार-अरिष्टो को बरतना चाहिये, यह चिकित्सा-क्रम कह दिया अब प्रयोगों को सुनो ॥७६–७८॥

पिप्पली नागरं दन्ती चित्रक द्विगुणाभयम् ।
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ७९ ॥

(१) पिप्पली, सोठ, दन्ती, चीता और बायविडंग प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग और हरड दो भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को गरम पानी से पीवे ॥ ७९ ॥

विडङ्गं चित्रकं शुण्ठीं सघृतां सैन्धवं वचाम् ।
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत्[1] ॥ ८० ॥

(२) बायविडग, चीता, सोठ, सैन्धा नमक और वच इनको शरावे मे जला कर भस्म कर ले। इस भस्म को घी मे मिलाकर दूध के साथ पीने से गुल्म और प्लीहा रोग नष्ट होते है ॥८०॥

रोहीतकलतानां तु काण्डकानभयाजले[2] ।
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च[3] सप्तरात्रस्थित पिबेत् ॥ ८१ ॥
कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरक्रिमीन् ।
तद्धन्त्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् ॥ ८२ ॥

(३) रोहितक (रोहेडा) के टुकडो को कूट कर तथा हरडों को गोमूत्र मे या जल मे भिगो कर रख दे। सात दिन के पीछे इस पानी को छान कर पीने से कामला, गुल्म, प्रमेह, अर्श, प्लीहा सब प्रकार के उदर रोग और कृमि नष्ट होते है। आषव के जीर्ण होने पर जागल मासरस के साथ भोजन खाना चाहिये ॥ ८१–८२ ॥

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥ ८३ ॥
पालिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया ।
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ८४ ॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ।
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः ॥ ८५ ॥

(४) रोहितक घृत—रोहेडे की छाल २५ पल, कोल (बेर) दो प्रस्थ लेकर आठ गुणे पानी मे क्वाथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान ले। इसमे पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य चित्रक और सोठ प्रत्येक एक-एक पल और रोहेडे की छाल का चूर्ण ५ पल लेकर इस कल्क द्वारा घृत का एक प्रस्थ सिद्ध

१. 'भवेत्' इति पाठान्तरम् । २. 'काण्डका० सामया जले' इति ।
३. 'मूत्रे वा श्रुतमेतच्च' इति च पाठः ।

करे। इस सिद्ध घृत का नित्य प्रति उपयोग करने से प्लीहा रोग, गुल्म, उदर, श्वास, कृमि, पाण्डुरोग और कामला शीघ्र शान्त होते हैं ॥ ८३—८५ ॥

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ।
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः ॥ ८६ ॥
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः ॥ ८७ ॥
लघून्यान्नानि संसृज्य भजेत्प्लीहोदरी नरः ।

(५) यदि प्लीहोदर इस चिकित्सा से शान्त न हो और वात-कफ की प्रधानता हो तो गुल्म के समान अग्नि-कर्म करना चाहिये। पित्तजन्य प्लीहोदर में जीवनीयगण से सिद्ध घृत तथा दूध की बस्तियों का उपयोग करना चाहिये। साथ ही रक्तमोक्षण, विरेचन और दूध पान कराना उत्तम है। प्लीहोदर में पेयादि क्रम करने के उपरान्त दीपनीय द्रव्यों से संस्कृत यूष, मांस रस और लघु अन्न देने चाहिये। यकृत्-उदर में प्लीहोदर के समान ही औषध का प्रयोग करना चाहिये ॥ ८६—८७—॥

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ॥ ८८ ॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ।
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ॥ ८९ ॥
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च ।

(६) बद्ध गुदोदर की चिकित्सा—रोगी को स्वेदन कराके तीक्ष्ण ओषधियों से युक्त मूत्र, तैल, लवण मिश्रित निरूह और अनुवासन देना चाहिये। विरेचक गुण वाले अन्न और तीक्ष्ण विरेचन देने चाहियें। उदावर्त-नाशक तथा वात-नाशक कर्म सब इसमें बरतने चाहिये ॥८८—८९॥

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ॥ ९० ॥
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक् ।

(७) छिद्रोदर की चिकित्सा—छिद्रोदर में स्वेदन को छोड़ कर शेष चिकित्सा कफोदर के समान करनी चाहिये। इस प्रकार से जब २ जल उत्पन्न हो तब २ उसको बार बार निकालते रहना चाहिये। [जब तक उपद्रव उत्पन्न न हो तब तक यह रोग याप्य है। उपद्रव उत्पन्न होनेपर असाध्य हो जाता है]॥९०॥

तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ॥ ९१ ॥
वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।

असाध्य छिद्रोदर—रोगी को प्यास, कास, ज्वर हो, रोगी की अग्नि, मांस

और भोजन घट जाये, श्वास रोग, शूल तथा इन्द्रिया निर्बल हो जाये तो असाध्य समझना चाहिये ऐसे रोगी की चिकित्सा न करे ॥९१॥

अपां दोषे ग्रहण्यादौ विदध्यादुदकोदरे ॥ ९२ ॥
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ।
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ॥ ९३ ॥
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः ।
सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसंघातजं मतम् ॥ ९४ ॥
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वेषु कारयेत् ।

(८) उदकोदर की चिकित्सा—उदकोदर मे प्रथम जलीय दोषों को निकालने के लिये मूत्र और क्षीरयुक्त तीक्ष्ण ओषधिया देनी चाहिये। भोजन मे अग्नि-दीपक और कफनाशक भोजन देने चाहिये। धीरे-धीरे पानी आदि द्रव वस्तुओं से रोगी को हटाना चाहिये।

प्राय सब उदर रोगो मे वातादि तीनों दोषो का मिश्रण रहता है। इसलिये सब उदरो मे तीनों दोषों की शमनी-क्रिया करनी चाहिये ॥९२—९४॥

दोषैः कुक्षौ हि संपूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ॥ ९५ ॥
तस्माद्भोज्यानि योज्यानि दीपनानि लघूनि च ।
रक्तशालीन्यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ॥ ९६ ॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधुशीधूंस्तथा सुराम् ।
यवागूमोदनं वापि यूषैरद्याद्रसैरपि ॥ ९७ ॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्च[1]मूलोपसाधितैः ।

उदर मे दोषों के भर जाने से अग्नि मन्द पड़ जाती है। इसलिये दीपनीय और लघु भोजन रोगी को देने चाहिये। इसके लिये लाल चावल, जौ, मूग, जांगल पशु पक्षियों का मांस, दूध, मूत्र, आसव-अरिष्ट, मधु, सीधु (गन्ने के रस को पका कर बनाया), सुरा (मद्य), यवागू, ओदन को अल्प स्नेह तथा अल्प खटाई वाले, कटु रस तथा पंचमूल क्वाथ से साधित मूग आदि के यूष तथा मांस-रस के साथ देना चाहिये ॥९५—९७॥

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ॥ ९८ ॥
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत् ।
तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च ॥ ९९ ॥
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत् ।

---

१. 'यत्र' इति च पाठः ।

इसमें अपथ्य—जलचर तथा जलमय प्रदेश के जन्तुओं का मांस, शाक (पत्ते आदि), पिट्ठी से बने पदार्थ, तिल, व्यायाम, पैदल, यात्रा, दिन मे सोना, सवारी पर चढ़ कर यात्रा करना इन सब बातों को छोड़ दे। इसी प्रकार से उदर-रोगी उष्ण, खट्टे, लवणयुक्त, विदाही और भारी पदार्थों का सेवन तथा पानी का पीना त्याग कर दे ॥९८–९९॥

नातिसान्द्रं मतं पाने स्वादु तक्रमपेलवम् ॥ १०० ॥
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी ।
वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम् ॥ १०१ ॥
शर्करामधुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत् ।
यवानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी ॥ १०२ ॥
पिबेन्मधुयुतं तक्रं व्यक्ताम्लं नातिपेलवम् ।
मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥ १०३ ॥
युक्तं प्लीहोदरी जातं सव्योषं तूदकोदरी ।
यवानी हपुषाजाजीसैन्धवैर्ग्रथितोदरी ॥ १०४ ॥
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम् ।

उदर रोगी को चाहिये कि पीने के लिये न तो बहुत घना (थोड़ा गाढ़ा), मधुर, तुरन्त का तैय्यार किया, अपेल्व अर्थात् मक्खन निकाला तक्र पीये। सन्निपातोदरी-रोगी को चाहिये कि तक्र मे सोठ, मरिच, पिप्पली, क्षार और नमक मिलाकर पीये। वातोदरी-रोगी तक्र मे पिप्पली और लवण मिलाकर पीये। पित्तोदरी-रोगी शर्करा और मरिच से युक्त तक्र पीये। कफोदरी-रोगी यवानी (अजवायन), सैन्धव और जीरा तथा सोठ, मरिच, पिप्पली से युक्त तक्र पिये। प्लीहोदर रोगी को चाहिये कि मधु युक्त, अम्ल रस बहुत मक्खन वाला नहीं (साधारण चिकास वाला) तक्र पिये। इस तक्र में मधु, तैल, वच, सोंठ, सौफ, कूठ, सैन्धा नमक मिलाकर पीये। दकोदर-रोगी सोंठ, मरिच, पिप्पली से युक्त छाछ पीये। ग्रथितोदर-रोगी यवानी (अजवायन), हऊबेर, जीरा और नमक से मिश्रित तक्र पिये। छिद्रोदर-रोगी पिप्पली और मधु से मिश्रित छाछ पीये ॥ १००–१०४ ॥

गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम् ॥ १०५ ॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ।

भारीपन तथा अरुचि के साथ जिन लोगों को मन्दाग्नि रहती हो, अतिसार हो तथा वातजन्य, कफजन्य उदर-रोग मे तक्र अमृत के समान गुणकारी है ॥१०५॥

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः ॥ १०६ ॥
शुद्धाना क्षामदेहानां गव्य छागं समाहिषम् ।

शोफ, आनाह, प्यास, मूर्च्छा से यदि उदर-रोगी पीड़ित हो तो उसको ऊटनी का दूध पीना चाहिये। विरेचन से शुद्ध हुए, निर्बल शरीर वालों के लिये गाय, बकरी और भैंस का दूध अमृत के समान है ॥ १०६ ॥

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः ॥ १०७ ॥
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं समैः ।

उदर-रोगी के पेट पर देवदारू, ढाक, आक, गजपिप्पली, सहजन, अश्वकर्ण (पीत साल) इनको समान भाग लेकर चूर्ण करके गोमूत्र में पीस कर लेप करना चाहिये। [इनको थोड़ा गरम करके लेप करना चाहिये] ॥१०७॥

वृश्चिकाली वचा कुष्ठ पञ्चमूली पुनर्नवाम् ॥ १०८ ॥
भूतीका नागरं धान्य जले पक्त्वाऽवसेचयेत् ।

वृश्चिकाली (बिच्छू बूटी), वच, कूठ, बिल्व, श्योनाक, गम्भारी, अरणी, पाढल, रक्त पुनर्नवा, श्वेत पुनर्नवा, सोंट, धनिया इनका क्वाथ करके इससे परिषेचन करना चाहिये [क्वाथ गोमूत्र में करना श्रेयस्कार रहेगा] ॥१०८॥

पलाशं कत्तृण रास्ना तद्वत्पक्त्वाऽवसेचयेत् ॥ १०९ ॥

इसी प्रकार से पलाश, कत्तृण (रोहिष घास), रास्ना इनका क्वाथ करके अवसेचन करना चाहिये ॥ १०९ ॥

मूत्राण्यष्टावुदरिणा सेके पाने च योजयेत् ।

उदर-रोगी के सेक और पीने के लिये आठो मूत्र (बकरी, भेड़, गाय, भैस, हाथी, ऊ ट, गधी और घोडे का) प्रशस्त है।

रूक्षाणा बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम् ॥ ११० ॥
दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि वक्ष्यते ।

जो उदर रोगी रूक्ष, प्रबल वात वाले और संशोधन के योग्य हैं, उनके लिये दीपनीय घृतो का उपदेश करते है ॥ ११० ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥ १११ ॥
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत् ।
कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्य रसेन च ॥ ११२ ॥
दधिमण्डाढकोपेतं[1] तत्सर्पिर्जठरापहम् ।
श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत् ॥ ११३ ॥

इति पञ्चकोलघृतम् ।

---

१ 'मण्डातकोपेत' इति च पाठः ।

(१) पञ्चकोल घृत—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ तथा यवक्षार प्रत्येक एक-एक पल मिलित छः पल, दशमूल का क्वाथ ५० पल (वृद्ध वाग्भट के वचन से ६४ पल), दधि का मण्ड (मस्तु) भाग १ आढक (६४ पल), इनके साथ एक प्रस्थ घी सिद्ध करे। यह घृत उदर रोग, शोथ, वातावरोध, गुल्म और अर्श को नष्ट करता है[१] ॥ १११-११३ ॥

नागरत्रिफलाप्रस्थं घृतं तैलं तथाऽऽढकम् ।
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम् ॥ ११४ ॥
कफमारुतसंभूते गुल्मे चैतत्प्रशस्यते ।

इति नागरघृतम् ।

(२) नागराद्य घृत—सोंठ और त्रिफला प्रत्येक एक-एक प्रस्थ, घी और तैल मिलित थमक एक आढक, मस्तु एक आढक इनको मिला कर घृत सिद्ध करे। यह घृत सब उदर रोगों को नष्ट करता है। कफ और वायु से उत्पन्न गुल्म-रोग में भी यह घृत उत्तम है ॥ ११४ ॥

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले ॥ ११५ ॥
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ।

इति चित्रकघृतम् ।

(३) चित्रक घृत—घी एक प्रस्थ, जल चार प्रस्थ, गोमूत्र दो प्रस्थ, चित्रक का कल्क १ पल, यवक्षार १ पल मिला कर घृत सिद्ध करे। इस घृत का उदर-रोगी पान करे ॥ ११५ ॥

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च ॥ ११६ ॥
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वापि पिबेद् घृतम् ।

इति यवाद्यं घृतम् ।

(४) यवाद्य-घृत—घृत एक सेर, जौ, बेर और कुलथी का क्वाथ ४ सेर, बिल्वादि पञ्चमूल का क्वाथ ४ सेर, सुरा ४ सेर, सौवीरक (कांजी) ४ सेर लेकर घृत सिद्ध करे यह घृत उदर रोग नाशक है।

उपरोक्त घृतों से जब उदर रोगी स्निग्ध हो जाये, शरीर में बल आ जाये और वायु शान्त हो जाये तो दोष समूह के स्नेह से शिथिल होने पर कल्पस्थान में वर्णित विरेचन देने चाहिये ॥ ११६ ॥

---

१. वाग्भट में पाठ इस प्रकार से है—'यावशूकपञ्चकोलषट्पलेन सा मस्तु दशमूलक्काथाढकद्वयेन च सिद्धं सर्पिःप्रस्थं प्रयोजयेत् ।' चक्रपाणि के मत से घी दो प्रस्थ लेना चाहिये। वह 'द्वि' शब्द की योजना दोनों ओर करते हैं।

एभिः स्निग्धाय संजाते बले शान्ते च मारुते ॥ ११७ ॥
स्रस्ते दोषाशये दद्यात्कल्पदृष्टं विरेचनम् ।
पटोलमूलरजनी विडङ्गत्रिफलात्वचम् ॥ ११८ ॥
कम्पिल्लको नीलिनी च त्रिवृता चेति चूर्णयेत् ।
षडाद्यान्कार्षिकानन्त्याँस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥ ११९ ॥
कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण वा पिबेत् ।
विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः ॥ १२० ॥
मण्डं पेयां च पीत्वा ना सव्योषं षडहं पयः ।
शृतं पिबेत्ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः ॥ १२१ ॥
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि ।
कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति ॥ १२२ ॥
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम् ।

इति पटोलाद्यं चूर्णम् ।

(१) पटोलमूलादि चूर्ण—पटोलमूल, हल्दी, बायविडंग, हरड, बहेडा, आवले की छाल, कमीला, नील, निशोथ इन सब का चूर्ण करले । इनमें पटोलमूल, हल्दी विडंग और त्रिफला की छाल प्रत्येक द्रव्य एक एक कर्ष, कमीला दो कर्ष, नील तीन कर्ष और निशोथ चार कर्ष ले इस चूर्ण की एक पल-मात्रा को गोमूत्र के साथ पीवे । इससे भली प्रकार विरेचन होने पर जांगल पशुओं के मांस-रस के साथ भोजन करे । पेया और मण्ड को पीकर सोंठ, मरिच, पिप्पली के साथ पकाया दूध छ दिन तक पीये । सातवें दिन फिर चूर्ण को पीये । इस प्रकार से बार-बार करना चाहिये । यह चूर्ण सब प्रकार के उदर रोगों को, उदकोदर को, कामला, पाण्डु और शोथ रोग को नष्ट करता है । उदर-रोगों में पटोलाद्य चूर्ण की अधिक प्रशंसा है[1] ॥११७–१२२॥

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम् ॥ १२३ ॥
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुशीधुभिः ।

(२) गवाक्षी (इन्द्रायण), शंखिनी, दन्ती, तिल्वक की छाल, वच इनका चूर्ण करले । इस चूर्ण को द्राक्षा क्वाथ, गोमूत्र, बडे और छोटे बेर के क्वाथ अथवा सीधु इनमें से किसी एक के साथ पीना चाहिये ॥१२३॥

---

१ अष्टांगसंग्रह में भी—पटोलमूलरजनीविडंगत्रिफला कर्षांशा, कम्पिल्लकनीलिनीफलत्रिवृतानां क्रमाद् द्वित्रिचतुर्भिः कर्षैर्युक्ताश्चूर्णयित्वा मूत्रेण पिबेत् । जीर्णे च पेयामण्डपो रसौदनाशी वा स्यात् । ततः षड्रात्रमित्यादि । संग्रह अ० चि० १७ ।

यवानी हवुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका ॥ १२४ ॥
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा ।
शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका ॥ १२५ ॥
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूल कुष्ठं लवणपञ्चकम् ।
विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं[1] तथा ॥ १२६ ॥
त्रिवृद्विशालयोर्द्वौ द्वौ सातला स्याच्चतुर्गुणा ।
एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम् ॥ १२७ ॥
नैतत्प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः ।

(३) नारायण चूर्ण—अजवायन, हऊबेर, धनिया, त्रिफला, उपकुञ्चिका (काला जीरा) कारवी (छोटा जीरा), पिप्पलीमूल, अजगन्धा (अजवायन), सोंठ, वच, सोंफ, जीरा, त्रिकटु, स्वर्णक्षीरी (हैमवती), चीता, यवक्षार, सर्जक्षार, पुष्करमूल, कूठ, सेन्धा नमक, सामुद्रक, सञ्चल, बिड् और उद्भिद् नमक बायविडंग ये सब द्रव्य समभाग, दन्ती तीन भाग, निशोथ और विशाला ये दो-दो भाग, सातला चार भाग मिला कर चूर्ण कर लेना चाहिये । यह नारायण-चूर्ण सब रोगों का नाशक है । जिस प्रकार से विष्णु भगवान् के सामने असुर नहीं खड़े रहते हैं, उसी प्रकार से इसके सामने रोग नहीं ठहरते, इसलिये इसका नाम नारायण-चूर्ण है ॥१२४–१२७॥

तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना ॥१२८॥
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया ।
दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः ॥ १२९ ॥
परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके ।

उदर-रोगी को यह चूर्ण तक्र के साथ, गुल्म-रोगी को बदर (बेर) के क्वाथ के साथ, वात-विबन्ध मे सुरा के साथ, वात-रोग मे प्रसन्ना (मद्य के ऊपर के स्वच्छ भाग) के साथ, मलावरोध मे दधि-मण्ड के साथ, अर्श रोग में अनार के रस के साथ, परिकर्त्तिका-रोग मे वृक्षाम्ल क्वाथ के साथ, अजीर्ण मे गरम पानी के साथ पीना चाहिये ॥१२८–१२९॥

भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे ॥ १३० ॥
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ।
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ॥ १३१ ॥

---

१. 'विडङ्गस्य समांशानि दन्त्या भागास्त्रयस्तथा' इति वा पाठः ।

यथार्ह[1] स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ।
इति नारायणचूर्णम् ।

भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास, कास, गलग्रह, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, कूठ, अग्निमान्द्य, ज्वर, दंष्ट्रा-विष (जागम विष), मूल विष (स्थावर विष), गर (निर्विष द्रव्य सयोगज विष) मे और कृत्रिम (विष द्रव्य सयोगज विष) मे यथायोग अनुपान के साथ पीना चाहिये[2]॥ १३०–१३१ ॥

हपुषा काञ्चनक्षीरी त्रिफला कटुरोहिणी ॥ १३२ ॥
नीलिनी त्रायमाणा च शातला त्रिवृता वचा ।
सैन्धवं काललवणं पिप्पली चेति चूर्णयेत् ॥ १३३ ॥
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः ।
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ॥ १३४ ॥
कुष्ठे श्वित्रे सरुजके सवाते विषमाग्निषु ।
शोथार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥ १३५ ॥
वातं पित्तं कफं चाऽऽशु विरेकात्सम्प्रसाधयेत् ।
इति हपुषाद्यं चूर्णम् ।

(४) हपुषाद्य-चूर्ण—हपुषा (हऊबेर), स्वर्ण क्षीरी, त्रिफला, कुटकी, नीलिनी, त्रायमाणा, सातला, निशोथ, वच, सैन्धा नमक, काला लवण (सचल या बिड् नमक), पिप्पली ये सब समान भाग लेकर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को सब प्रकार के गुल्मो मे, प्लीहा मे उदर-रोगो मे, कुष्ठ मे, श्वित्र-रोग में, दर्द युक्त उदर-रोग मे, वातयुक्त उदर विकार मे, अग्नि के विषम होने पर, शोथ, अर्श, पाण्डुरोग, कामला और हलीमक-रोग मे, अनार, त्रिफला, मास रस, मूत्र और गरम पानी जो योग्य अनुपान इनमे से दीखे उसके साथ लेना चाहिये। अनार का रस और त्रिफला का क्वाथ बरतना चाहिये। इस प्रकार लेने से यह चूर्ण विरेचन द्वारा वात, पित्त, कफ का शोधन कर देता है॥१३२-१३५॥

नीलिनीं निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च ॥ १३६ ॥
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत् ।
इति नीलिन्याद्यं चूर्णम् ।

---

१ 'यथार्थ' इति वा पाठः ।

२ स्थावरं जागमं चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम् ।
कृत्रिमं गरसंज्ञन्तु क्रियते विविधौषधैः ॥
संयोगे द्विविधं प्रोक्तं तृतीयं विषमुच्यते ।
गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ॥

(५) नीलिन्याद्य-चूर्ण—नीलिनी, निचुल (जलवेतस), सर्जक्षार और यवक्षार, सैन्धव, सामुद्र, विड्, सवल और उद्भिद्, चित्रक ये सब समान भाग लेकर चूर्ण कर लेने चाहिये। इस चूर्ण को घी के साथ पीने से उदर और गुल्म-रोग शान्त होते है ॥ १३६–॥

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं दधि ॥ १३७ ॥
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम् ।
तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥ १३८ ॥

(६) स्नुही क्षीर—दूध एक द्रोण (चार आढक), स्नुही (थोर) का दूध आधा प्रस्थ (८ पल) मिला कर दही जमानी चाहिये। इस दही का मथ कर घी निकालना चाहिये। फिर त्रिवृत् का कल्क चौथाई भाग और जल चार भाग और यह तैय्यार घृत १ भाग लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। इस घी का उचित मात्रा में पीना चाहिये ॥ १३७–१३८ ॥

स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृता षट्पलेन च ।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणा च शान्तये ॥ १३९ ॥
इति स्नुहीक्षीरघृतम् ।

(७) उपरोक्त सुधाक्षीर-विधि मे बनाये घृत को, आठ गुणे दूध मे, थोर का दूध १ पल और निशोथ का चूर्ण ६ पल इनके कल्क के साथ सिद्ध करके पीना चाहिये ॥ १३९ ॥

दधिमण्डाढके सिद्धात्स्नुक्क्षीरपलकल्किनात् ।
घृतप्रस्थात्पिबेन्मात्रा तद्वज्जठरशान्तये ॥ १४० ॥

(८) दधि मण्ड (दही का मस्तु) १ आढक, स्नुही का दूध १ पल, घृत १ प्रस्थ इनको यथाविधि पाक करके कोष्ठापेक्षी मात्रा मे पीने से उदर-रोग शान्त होते है ॥ १४०

एषां चानुपिबेत्पेयां पयो वा स्वादु वा रसम् ।
घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं[1] नागरकैः शृतम् ॥ १४१ ॥
पिबेदम्बु ततः[2] पेयां यूषं कौलत्थकं ततः ।
पिबेद् रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं पयोऽन्नं[3] प्रतिभोजितः ॥ १४२ ॥
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्या तथैव च ।
घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो भिषक् ॥ १४३ ॥
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ।

---

१ 'घृते जीर्णे विरिक्त तु कोष्णनागरकैः' इति ।
२. 'शुण्ठ्या पिबेत् ततः' इति च । ३ 'पयो वा' इति पाठान्तरम् ।

इन उपरोक्त घृतों को पीकर अनुपान रूप में मधुर दूध या मांस-रस पीना चाहिये। इस प्रकार करने से विरेचन होने पर घृत के जीर्ण हो जाने पर सोंठ के साथ पकाया गरम पानी पीना चाहिये। पीछे से पेया पीनी चाहिये। फिर कुलत्थी का यूष पीये। प्रथम दिन सोंठ से साधित पानी, दूसरे दिन पेया और तीसरे दिन कुलत्थी का यूष पीना चाहिये। यह स्नेह विरेचन रूक्षव्यक्ति को ही करना चाहिये। फिर दूध के साथ अन्न खाना चाहिये। इस प्रकार से तीन दिन घृत पान करे। जब तक स्निग्ध न हो जाये बार-बार घृत पान करे। कुशल वैद्य को चाहिये कि गुल्म-रोग, गर-दोषों में, उदर रोगों की शान्ति के लिये इन सिद्धफल घृतों को बनाये ॥ १४१–१४३ ॥

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ॥ १४४ ॥
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत् ।

पीलु के चतुर्थांश कल्क द्वारा चतुर्गुण पानी में सिद्ध घृत आनाह को नष्ट करता है। नीलिन्यादि-घृत तथा मिश्रक-स्नेह जो कि गुल्म-रोग में कहे हैं, उनको पीना चाहिये ॥ १४४ ॥

क्रमाल्लिहृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजिनाम् ॥ १४५ ॥
दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान्वक्ष्याम्यतः परम् ।

इस प्रकार से उदर-रोगी का विरेचन द्वारा शोधन होने पर जांगल मांस रस के साथ अन्न देना चाहिये। इसके आगे शेष दोष की शान्ति के लिये योगों को कहते हैं ॥ १४५ ॥

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत् ॥ १४६ ॥
मासयुक्तं तथा हस्तिपिप्पली विश्वभेषजम् ।

(१) उदर रोगी को जितेन्द्रिय होकर एक मास तक चीता और देवदारु के कल्क को अथवा हस्तिपिप्पली (अष्टांगसंग्रह के मत से चविका) और सोंठ इनके कल्क को दूध के साथ पीना चाहिये[1] ॥ १४६ ॥

विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः समैः ॥ १४७ ॥
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ।

(२) बायविडंग, चीता, दन्ती, चव्य, सोंठ, मरिच, पिप्पली प्रत्येक दो शाण लेकर चतुर्गुण जल में दूध सिद्ध करके पीने से उदर रोग शान्त होता है ॥१४७॥

पिबेत्कषायं त्रिफलादन्तीरोहितकैः श्रृतम् ॥ १४८ ॥
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्यात्तु[2] जाङ्गलैः ।

१. दोषशेषविजयाय च शीलयेच्चविकानागरं क्षीरेण पिष्टम् । संग्रह०अ०चि०१७
२ रसैरद्यात्सजाङ्गलै इति वा ।

मांसं वा भोजनं योज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम् ॥ १४९ ॥
क्षीरानुपानं गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत् ।

(३) त्रिफला दन्ती और रोहेड़े के क्वाथ मे सोठ, मरिच, पिप्पली और यवक्षार मिला कर पीना चाहिये । औषध के जीर्ण होने पर जांगल मांस-रस के साथ भोजन करना चाहिये । अथवा पूर्वोक्त सुधा-दूध से साधित घृत के साथ मांस या भोजन खाना चाहिये । गोमूत्र के साथ हरड़ खा कर ऊपर से दूध पीना चाहिये ॥ १४८-१४९ ॥

सप्ताहं माहिषं मूत्र क्षीर चानन्नभुक् पिबेत् ॥ १५० ॥
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम् ।

(४) और सब प्रकार का अन्न छोड़ कर एक सप्ताह तक भैंस का मूत्र और दूध (त्रिकटु मिला कर) पीना चाहिये, एक मास तक ऊंठ का दूध (त्रिकुटु मिला कर) पीना चाहिये । तीन मास तक त्रिकटु मिला कर बकरी का दूध पीना चाहिये ॥ १५०-॥

हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु ॥ १५१ ॥
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत् ।

(५) केवल दूध पर रहते हुए वर्धमान-पिप्पली विधि से एक हजार हरड़ो का सेवन करना चाहिये । अथवा शिलाजतु की विधि से शिलाजीत या गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५१- ॥

शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो मतः ॥ १५२ ॥
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा ।

(६) दूध के बराबर भाग मे आर्द्रक का रस मिला कर पीना चाहिये । आर्द्रक का रस १० भाग और तैल १ भाग लेकर सिद्ध करना चाहिये । यह तैल पीना चाहिये ॥ १५२- ॥

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम् ॥ १५३ ॥
शूलानाहविबन्धेषु सक्तुयूषरसादिभिः ।

(७) दूष्योदर (सन्निपातोदर) मे दन्ती-फल और द्रवन्ती-फल का तैल पीना चाहिये । शूल, अनाह, विबन्ध मे यह तैल मस्तु, यूष, या मांस रस के साथ लेना चाहिये ॥ १५३- ॥

सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च ॥ १५४ ॥
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे ।

(८) वातोदर मे—सरला, मधु, शिग्रु (लाल सहजन) और मूली के बीजसे उत्पन्न तैल अभ्यंग और पान करनेमें हितकारी हैं। ये शूलनाशक हैं ॥ १५४- ॥

स्तैमित्यारुचिहृल्लासेष्वल्पाग्नौ मद्यपाय च[1] ॥ १५५ ॥
अरिष्टान् दापयेत्[2] क्षारान्कफस्त्यानस्थिरोदरे ।
श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः[3] ॥ १५६ ॥

(९) वैद्य को चाहिये कि स्तिमितता (गीले वस्त्र से आच्छादित की भांति), अरुचि, जी मचलना, अग्नि मान्द्य, रोगी के मद्यपी होने पर कफजन्य उदर यदि कठिन और स्थिर हो तो कफ के विलयन के लिये अरिष्टों का प्रयोग करे ॥ १५५—१५६ ॥

पिप्पली तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम् ।
भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफला कटुरोहिणीम् ॥ १५७ ॥
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम् ।
कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च ॥ १५८ ॥
दधिसर्पिर्वसातैलमज्जयुक्तानि दाहयेत् ।
अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद्बिडालकपदं पिबेत् ॥ १५९ ॥
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः ।

(१०) पिप्पली, तिन्दुक, हींग, सोंठ, गजपिप्पली, भिलावा, सहजन का फल, त्रिफला, कुटकी, देवदारू, हल्दी, दारुहल्दी, सरला, अतिविषा (अतीस), स्थिरा (शालिपर्णी), कूठ, मोथा और पाचों नमक (सैन्धव, सचल, सामुद्र, बिड् और उद्भिद्) ये सब द्रव्य समान भाग लेकर इनको दही, घी, वसा, मज्जा, और तैल में मिला करके [हाण्डी मे बन्द कर उपलो मे रखकर] जलाना चाहिये ॥ १५७—१५९ ॥

हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च ॥ १६० ॥
विषूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् ।

भोजन के पीछे इस क्षार की एक कर्ष-मात्रा को मदिरा, दधि-मस्तु, गरम जल, अरिष्ट, सुरा या आसव किसी एक वस्तु मे घोल कर पीना चाहिये। यह क्षार हृदयरोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्श, उदर-रोग, विसूचिका, उदावर्त्त और वाताष्ठीला को नष्ट करता है[4] ॥१६०॥

---

१. 'मद्यपस्तथा' इति च । २ 'अरिष्टान् वा पिबेत्' इति च ।

३. इति श्लोकार्धं क्वचिद् नापि पठ्यते ।

४ वाताष्ठीला—"नाभेरधस्तात् संजातः संचारी यदि वाचलः ।
अष्ठीलावद् घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायात उन्नतः ।
वाताष्ठीलां विजानीयात् ॥ निदान० ॥

क्षारं चाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ॥ १६१ ॥
कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च ।
पिप्पली चित्रकं शुण्ठी त्रिफला त्रिवृता वचाम् ॥ १६२ ॥
द्वौ क्षारौ शातला दन्ती स्वर्णक्षीरी विषाणिकाम् ।
कोलप्रमाणा वटिकाः पिबेत्सौवीरक युताम् ॥ १६३ ॥
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे चोदकोदरे ।

(११) बकरी की मीगनियों को जला कर इस भस्म को छ गुणे पानी मे धोल लेना चाहिये, फिर इस पानी को नितार लेना चाहिये। दूसरी बार फिर पानी मिला कर फिर नितार लेना चाहिये। इस प्रकार इक्कीस बार करके क्षारोदक बना कर इसको पका कर क्षार बनाना चाहिये। यह क्षार एक कर्ष, पिप्पलीमूल, सैन्धव, सञ्चल, सामुद्र, विड, उद्भिद् पाचो नमक, पिप्पली, चित्रक, सोठ, त्रिफला, निशोथ, वच, यवक्षार, सर्जक्षार, शातला, दन्ती, सत्यानाशी और विषाणिका (मेढासिगी) इनका समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इन सब चूर्ण और क्षार का गोमूत्र मे पकाना चाहिये। पकाने पर जब गाढा हो जाय तब बेर के बराबर दो शाण की गोली बना कर सौवीरक-काजी के साथ पीना चाहिये। इससे शोथ, अविपाक और उदकोदर नष्ट होता है। इसको भोजन के पीछे पीना चाहिये ॥१६१–१६३॥

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ॥ १६४ ॥
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् ।
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ॥ १६५ ॥
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येषां तथा पित्तकफानिलाः ।

(१२) उदर रोग की शान्ति के लिये साठी के चावलों को गोमूत्र मे भिगो कर इनके द्वारा दूध मे यवागू सिद्ध करनी चाहिये। रोगी का यह यवागू यथेच्छ खिलानी चाहिये। पीछे से गन्ने का रस पीना चाहिये। इस प्रकार करने से उन्मार्ग मे गये वात,पित्त,कफ दोष अपने स्थान मे आ जाते है ॥१६४-१६५॥

शङ्खिनीस्नुक्त्रिवृद्दन्तीचिरिबिल्वादिपल्लवैः ॥ १६६ ॥
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद्भिषक् ।
ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ॥ १६७ ॥
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम् ।

(१३) मल कठिन हो तो रोगी को भोजन से पूर्व शंखिनी, स्नुही (थोर), निशोथ, दन्ती, चिरिबिल्व (करज) आदि वृक्षों के पत्तों का शाक खिलाना

चाहिये। इनके कारण से मल और दोष के शिथिल होने पर शेष दोष का निकालने के लिये कल्याणकारी क्षार को मूत्र के साथ देना चाहिये ॥१६६–१६७॥

पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतम् ॥ १६८ ॥
जनयेद्यस्य तैलं स बिल्वक्षारेण ना पिबेत्।

(१४) जिस उदररोगी में वायु पार्श्वशूल, ऊरुस्तम्भ और हृदय-पीड़ा को उत्पन्न करदे, उसको बिल्व क्षारोदक के साथ तैल पिलाना चाहिये ॥१६८॥

तथाऽग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः ॥ १६९ ॥
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः।
तैलं पक्त्वा भिषग् दद्यादुदराणां प्रशान्तये ॥ १७० ॥
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः।

(१५) इसी प्रकार से अग्निमन्थ, स्योनाक, ढाक, तिल नाल इनसे तैय्यार किये क्षार, खरैटी, केला, अपामार्ग इनके बनाये क्षारों को छः गुणे पानी में घोल कर इक्कीस बार नितार लेना चाहिये। इस क्षारोदक से तैल पकाना चाहिये। अग्निमन्थ आदि सातों के क्षारों से पृथक् पृथक् तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल उदर रोगी को देना चाहिये। इससे वातजन्य[1] हृदयग्रह और पार्श्वशूल मिटते हैं ॥ १६९–१७०- ॥

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ॥ १७१ ॥
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमैरण्डजं हितम्।

(१६) वायु द्वारा कफ के या वायु द्वारा पित्त के अथवा पित्त-कफ दोनों से वायु के आवृत होने पर बलवान् उदररोगी को अपनी औषध से सिद्ध एरण्ड तैल देना चाहिये ॥ १७१ ॥

सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराधमतीह तम् ॥ १७२ ॥
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत्।
सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ॥ १७३ ॥
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत्।

(१७) यदि रोगी का भली प्रकार विरेचन देने पर तथा वस्त्र से पेट बांधने पर भी आध्मान-अफारा हो जाये तो स्निग्ध, अम्ल, लवण से सिद्ध निरूह बस्तियों से चिकित्सा करनी चाहिये। यदि वस्त्र बांधने पर भी वायु आध्मान करे तो क्षार गोमूत्र युक्त तीक्ष्ण बस्तियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥१७२–१७३॥

---

१ वातकृतेषु पार्श्वशूलोपस्तम्भहृद्ग्रहेषु बिल्वक्षाराम्भसा तैलं पाययेत्। स्योनाकाग्निमन्थतिलकुन्तलकदल्यपामार्गान्यतमक्षारेण वा विपक्वं तैलम्। अष्टांगस०चि०१७

क्रियातीते त्रिदोषे च जठरे चाप्रशाम्यति ॥ १७४ ॥
ज्ञातीन्ससुहृदो दारान्ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरून् ।
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन् ॥ १७५ ॥

(१८) सन्निपातोदर मे तथा जिस उदररोग मे सम्पूर्ण चिकित्सा विधि करने पर भी रोग शान्त न हो तो वैद्य को चाहिये कि सम्बन्धियो को, मित्रो को, स्त्रियों को, ब्राह्मणों को, राजा को और पूज्यजनो को सूचित करके निम्न कार्य करे ॥ १७४-१७५ ॥

अक्रियाया ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत् ।
एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः[1] ॥ १७६ ॥
पानभोजनसयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत् ।
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ॥ १७७ ॥
भक्षयेत्तदुदरिण प्रविचार्य भिषग्वरः[2] ।
तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ॥ १७८ ॥

सबों को सूचित करदे कि चिकित्सा के न करने पर तो मृत्यु अवश्यम्भावी है, चिकित्सा करने पर जीवन का सन्देह है, शायद बच भी जाये । इस प्रकार कहकर मित्रो से आज्ञा लेकर वैद्य पीने मे और भोजन में स्थावर-विष का प्रयोग करे । इसके लिये अश्वमारक (कनेर), रत्तिया, काकादनी-मूल के कल्क को मन्त्र के साथ देना चाहिये । अथवा कुपित कृष्ण सर्प जिस फल को काटे, जिसमे विष छोड देवे, उस फल को विचार कर उदर रोगी को खाने के लिये देना चाहिये । [यह देख लेना चाहिये कि फल मे विष की मात्रा अधिक तो नही है, इसके लिये किसी पशु या पक्षी को खिलाकर देख लेना चाहिये] ॥१७६-१७८॥

विषेणाशु प्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते ।
विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम् ॥ १७९ ॥
पाययेत भिषग् दुग्धं यवागूं वा यथाबलम् ।
त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयवबास्तुकम् ॥ १८० ॥
भक्षयेत्कालशाकं वा सुरसोदकसाधितम् ।
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् ॥ १८१ ॥
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत् ।

---

१ इत्यर्धं श्लोक केषुचित् पुस्तकेषु न पठ्यते ।

२ 'प्रदापयेत्' इति वा पाठः ।

विष के प्रमाथी होने से धातु आदि मे छिपे दोष तथा उन्मार्ग मे पहुचे दोष समूह पृथक् होकर शीघ्र ही बाहर निकल आते है ।

विष के कारण दोष के बहार निकल आने पर रोगी को शीतल जल से स्नान कराके दूध या यवागू खाने के लिये देनी चाहिये ।

निशोथ, मण्डूकपर्णी, यवशाक, बथुए का शाक और कालशाक इनको इन्ही के स्वरस मे बना कर खाने को देना चाहिये । इन शाको मे अम्ल और लवण न मिला कर कुछ पके और कुछ न पके शाको को एक मास तक बिना किसी और अन्न के खाना चाहिये । प्यास लगने पर इनका ही स्वरस पीना चाहिये ॥ १७६—१८१- ॥

एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात्परं ततः ॥ १८२ ॥
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः ।

इस प्रकार से एक मास तक रहने पर शाक द्वारा दोषा के निकल जाने से निर्बल हुए रोगी का प्राणदायक ऊट का दूध पिलाना चाहिये ॥ १८२- ॥

इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम् ॥ १८३ ॥
वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम् ।
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक् ॥ १८४ ॥
विपाट्यान्त्रं ततः पश्चाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः ।
सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत् ॥ १८५ ॥

(१६) शस्त्र-चिकित्सा—जिन शल्य चिकित्सको ने अनेक बार शस्त्र-कर्म देखा है, उनको छिद्रोदर और बद्धोदर मे शल्य-कर्म करना चाहिये ।

बुद्धिमान् और शस्त्र-कर्म मे कुशल वैद्य बद्ध-गुदोदर और क्षतान्त्रोदर मे नाभि के नीचे वाम भाग मे चार अगुल परिमित स्थान को बचा कर कर्मोचित मात्रा मे शस्त्र से चीरा लगाये । इस प्रकार से कुक्षि को चीर कर और आतो (दोष युक्त आत्रभाग) का बाहर निकाल कर इनको देख कर, केश आदि को दूर करके पुन. आतो को घी से चिकना करके पूर्व की भाति रख देवे ॥१८३-१८५॥

मूर्छनाद्यच्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत् ।

आत के सम्मूर्छन (मिलने) से जो बद्धगुदोदर उत्पन्न हुआ हो उसमे मल या चिकास को हटा कर घी से चिकना करके पृथक् करना चाहिये । बाह्य व्रण को सी देना चाहिये ।

छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः ॥ १८६ ॥
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलिकान् ।
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रैषैः सीव्येद् व्रणं ततः ॥ १८७ ॥

छिद्रोदर मे छिद्रयुक्त आतो को निकाल कर इनकी परीक्षा करके शर्करादि का हटा कर, अन्त स्राव का शोधन करके, छिद्रयुक्त स्थान पर बड़ी-बडी चिऊटियो से कटवाना चाहिये। इनके काटने से जगह मिल जायेगी। जिस समय अच्छी प्रकार से चिऊटिया काट लें ता इनका काट कर बाहर निकाल देना चाहिये। इनके शिर का वहा लगा रहने देना चाहिये। फिर आतो को यथास्थान रख कर कुक्षि के बाह्य व्रण को सूई से सी देना चाहिये। [चिउटियो या मकाड़ो को काटने का प्रकार यह है कि आत का जो भाग चिरा हो उसके चर्म भागो को एक साथ चिउटो के खुले चिमटो मे पकड़ादे और चिउटी का धड काट दे, फिर भाग वहा ही चिपटा रहेगा[1]]॥१८६-१८७॥

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद्भिषक्।
वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत्॥ १८८॥
निःस्राव्य च विमृज्यैतद्वेष्टयेद्वाससोदरम्।
तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत्॥ १८९॥

पेट मे पानी भरने पर वध का वेधन करना चाहिये। इसके लिये नाभि से नीचे वाम भाग मे चार अगुल स्थान छाड़ कर वधन करना चाहिये। फिर नाड़ी लगा कर सब दोषोदक को निकाल लेना चाहिये। उदर को मल कर सब पानी निकाल लेना चाहिये, फिर नाड़ी को निकाल कर उदर को मजबूत वस्त्र से बाध देना चाहिये। इसी प्रकार बस्ति या विरेचन आदि दोष निःसारक कार्य से म्लान हुए रोगी के उदर को वस्त्र से बाध देना चाहिये, इससे वायु अफारा नही करती॥ १८८-१८९॥

निःसृते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत्।
अतः परं च षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः॥ १९०॥
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत्त्रींश्चापि भोजयेत्।

---

१ सुश्रुत मे विस्तार से विधि दी है यथा—

बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नाभ्यक्तस्याधोनाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदर पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणान्यन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्य अन्नप्रतिरोधकरमश्मान वाल वाऽपोह्य मलजात वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थान स्थापयित्वा बाह्य व्रणमुदरस्य सीव्येत्॥ परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य सच्छिद्रमन्त्र समाधाय कालपिपीलिकाभिर्दंशयेत्। दष्टे च तासा कायानपहरेत् न शिरासि। ततः पूर्ववत् सीव्येत्॥सु०चि०१४॥

श्यामाकं कोरदूषं वा पयसाऽलवणं नरः[1] ॥ १९१ ॥
संवत्सरेणैव जयेत् प्राप्तं चैव जलोदरम् ।
प्रयोगाणां च सर्वेषामनुक्षीरं प्रयोजयेत् ॥ १९२ ॥

पानी के निकल जाने पर रोगी को लंघन कराके स्नेह आर लवण से रहित पेया पिलानी चाहिये । इसके पीछे छ: मास तक केवल दूध पर ही निवाह करे। तीन मास तक दूध के साथ पेया पीना चाहिये । शेष तीन मासो मे श्यामाक, कोदो आदि लघु अन्न दूध के साथ, थाडे नमक के साथ खाये । इस प्रकार से एक साल की चिकित्सा से जलोदर की चिकित्सा करनी चाहिये[2] ॥१९०-१९२॥

दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च
प्रयोगापचिताङ्गाना हितं ह्युदरिणा पयः ।
सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा ॥ १९३ ॥

दोष-अनुबन्ध की निवृत्ति और बल तथा धातुओ की स्थिरता के लिये सब प्रयागो के पीछे दूध पीना चाहिये । क्योंकि विरेचनादि प्रयागों से क्षीण अगों वाले और सब धातुओं का क्षय होने से उदर-रोगी के लिये दूध अमृत के समान हितकारी है ॥ १९३ ॥

तत्र श्लोकौ—हेतुं प्राग्रूपमष्टाना लिङ्गं व्याससमासतः ।
उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च ॥ १९४ ॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सा चोक्तवानृषिः ।
समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते ॥ १९५ ॥

उपसंहार—आठो प्रकार के उदर रोगा के विस्तार और सक्षेप मे कारणों, पूर्वरूपो, लक्षणो और उपद्रवो तथा प्राधान्य-अप्राधान्य, साध्यासाध्य, जातोदक और अजातोदक के लक्षण और चिकित्सा को भगवान् आत्रेय ने इस उदररोग-चिकित्सा-अध्याय मे कह दिया ॥ १९४–१९५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने उदर-
चिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

१. 'कोरदूष्य वा क्षीरेण लघुभोजन' इति च पाठ' । २. सुश्रुत मे—

२. निःस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौशेयकचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरम् । तथा नाध्मापयति वायु । षण्मासाश्च पयसा भोजयेत् जागलरसेन वा । तत्र त्रीन् मासान् अर्द्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जागलरसेन वा । अवशिष्टमासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत । एवं संवत्सरेणागदो भवति ॥ सु० चि० १४ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथार्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे अर्शरोग चिकित्सा की व्याख्या करते हैं, भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है[1] ॥ १-२ ॥

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजप्यं कृतक्षणम् ।
पृष्टवानर्शसां मुक्तिमग्निवेशः पुनर्वसुम् ॥ ३ ॥
प्रकोपहेतुसंस्थानं स्थानं लिङ्गचिकित्सितम् ।
साध्यासाध्यविभागं च तस्मै तन्मुनिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

मन्त्र आदि जप करके स्वस्थ रूप में बैठे हुए भगवान् आत्रेय से अवसर देखकर अग्निवेश ने अर्श-रोग से छूटने का उपाय पूछा ।

आत्रेय मुनि ने अग्निवेश को अर्श रोग के प्रकोपके कारण, आकृति, उत्पत्ति, स्थान, लक्षण, चिकित्सा और साध्य-असाध्य भेदो का उपदेश किया ॥३-४॥

इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित् कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि । तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् । तत्र द्विविधौ बीजावुपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म, तथाऽन्येषामपि सहजाना विकाराणाम् । तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ॥ ५ ॥

हे अग्निवेश ! अर्श-रोग दो प्रकार के होते है । कई अर्श सहज अर्थात् गर्भ-शरीर के साथ उत्पन्न होते है, और कई अर्श उत्पत्ति काल के पीछे उत्पन्न हो जाते हैं । इनमे गुदवलि के आरम्भक बीजभाग के उपतप्त (दूषित) होने से सहज अर्श उत्पन्न होते है । शुक्र और आर्त्तव के उपतप्त (दूषित होने से) अर्श होते है । शुक्र-आर्त्तव रूपी बीज के उपतप्त (दूषित) होने के दो कारण हैं । एक—माता पिता का अनुचित आहार-विहार और दूसरा—पूर्वकृत कर्म ।

---

१ कुछ लोगों की धारणा है कि यहा से आरम्भ करके अन्त तक के भाग को आचार्य दृढबल ने पूरा किया है । जैसा कि कहा जाता है—

'अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे ।
कृत्वा बहुभ्यः शास्त्रेभ्यो विशेषाच्च बलोच्चयम् ।
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धकल्पैरपूरयत् ॥'

इसी प्रकार से अन्य सहज रोगो के भी ये ही दो कारण है। इनमे गर्भ-शरीर के साथ उत्पन्न सहज-अर्श अधिमास के ही विकार हैं। इनको अधिमास विकार ही समझना चाहिये। [किसी स्थान पर अधिक मास का उठ आना 'अधिमास' विकार कहाता है, यह भी एक प्रकार का रोग है] ॥५॥

सर्वेषां चार्शसा क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलेऽवकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः, क्षेत्रमिति देशः।

स्थान—दोनो प्रकार के अर्शों का स्थान गुदा के मुख से लेकर साढे पाच अगुल गुदाभाग है। इस गुदा भाग के तीन विभाग है। इसमे तीन वलिया (चक्र) है। (१) प्रवाहिणी, (२) विसर्जनी और (३) सवरणी[1]। ये तीनो वलिया दोनो प्रकार के अर्श रोगो का उत्पत्ति स्थान है। [ये वली या चक्र डेढ २ अगुल चौड़ी और एक अगुल उभार की चार अगुल भर होती हैं।]

केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च।

कई आचार्य इससे भी अधिक स्थानों को अर्श का स्थान मानते है। जैसे—अपत्य-पथ (योनिमार्ग) लिंग (इन्द्रिय), गला, तालु, मुख, नाक, कान, आख इनके मार्ग और त्वचा इन स्थानो मे भी अर्शरोग होता है।

तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च ॥ ६ ॥

ये सब स्थान अधिमास के रोग है, इस शास्त्र मे गुदा की वलियो मे उत्पन्न अर्शो की ही 'अर्श' सज्ञा है। सब प्रकार के अर्श-रोगो का आश्रय-स्थान मेद मास और त्वचा है ॥ ६ ॥

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि कानिचिद्ध्रस्वानि कानिचिद् वृत्तानि कानिचिद्विषमविसृतानि कानिचिदन्तःकुटिलानि कानिचिद् बहिःकुटिलानि कानिचिज्जटिलानि कानिचिदन्तर्मुखानि यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ॥ ७ ॥

सहज अर्श—कोई तो अति सूक्ष्म, कोई बड़े, कोई लम्बे, कोई छोटे, कोई गोल, कोई विषम रूप मे फैले, कोई अन्दर से टेढे, कोई बाहर से टेढे, कोई जटिल (गुथे हुए), कोई अन्दर की ओर मुख किये हुए तथा दोषानुसार वर्ण वाले होते है ॥ ७ ॥

---

१ सुश्रुत मे कहा है—तत्र स्थूलान्त्रप्रतिविद्धमर्धपंचाङ्गुलं गुदमाहुः। तस्मिन्वलयस्तिस्रः, अध्यर्धाङ्गुलसम्मिताः। प्रवाहिणी, विसर्जनी, संवरणी चेति। चतुरंगुलमिताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः। सु० नि० २।

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्ध-वात-मूत्र-पुरीषः शार्करी चाश्मरी वा तथाऽनियत-वि-बद्ध-मुक्त-पक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तरान्तरा श्वेत-पाण्डु-हरित-पीत-रक्तारुण-तनु-सान्द्र-पिच्छिल-कुणप-गन्धाम-पुरीषोपवेशी नाभि-बस्ति-वंक्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः सशूलगुदप्रवाहिकः परिहर्ष-प्रमेह-प्रसक्त-विष्टम्भान्त्र-कूजोदावर्त-हृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः सुदुर्बलो सुदुर्बलाग्निरल्पशुक्रः क्रोधनो दुःखोपचारशीलः कास-श्वास-तमक-तृष्णा-हृल्लास-च्छर्दिररोचकाविपाक-पीनस-क्षवथु-परीततैमिरिकः शिरःशूली क्षाम-भिन्न-सन्न-सक्त-जर्जर-स्वरः कर्णरोगी सशूल-पाणि-पाद-वदनाक्षि-कूटः सज्वरः साङ्गमर्दः सर्वपर्वास्थिशूली चान्तरान्तरा पार्श्व-कुक्षि-बस्ति-हृदय-पृष्ठ-त्रिक-ग्रहोपतप्तः प्रध्यानपरः परमालसश्चेति। जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन्समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्च वाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्तीत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ॥ ८ ॥

लक्षण—अर्शरोग के कारण रोगी जन्म से ही अति कृश, विवर्ण (कान्तिरहित), क्षीण, दीन होता है। वायु, मूत्र और मल की अधिकता और रुकावट रहती है। अश्मरी (पथरी) तथा मूत्र मे शर्करा (रेत) रोग की शिकायत होती है। अनिश्चित रूप मे बधा, ढीला, कच्चा, पका, शुष्क या पतला मल आता है। बीच-बीच मे कभी कभी श्वेत, पीला, हरा, धूसर वर्ण, लाल, अरुण, पतला, गाढ़ा, चिकना, शव के समान गन्धयुक्त, कच्चा मल त्याग करता है। नाभि, बस्ति और वंक्षण (कोख) प्रदेश मे काटने के समान वेदना होती है। गुदा मे शूल, प्रवाहिका, परिहर्ष (रोमाच) प्रमेह रहता है। निरन्तर विष्टम्भ (अवरोध, वायु का), आटोप (वेदनायुक्त गुडगुड़ शब्द), आंतों मे कूजन, उदावर्त्त, हृदय और इन्द्रियों का उपलेप (कार्यों मे असमर्थता) रहती है। उद्‌गार (डकार) बहुत, विबद्ध, तिक्त और अम्ल आता है। निर्बल, मन्दाग्नि, अल्पशुक्र, क्रोधी, निरन्तर दुःखी, कास, श्वास, तमक श्वास, प्यास, जीमचलाना, वमन, अरुचि, अविपाक, पीनस, छींक इन रोगों से युक्त, तिमिर नामक नेत्ररोग से पीड़ित, शिर-शूलयुक्त होता है। इसका स्वर निर्बल फटा तथा जर्जरित रहता है। कर्ण रोग होते है। हाथ, पांव, मुख और आंखों के गोलकों पर सूजन होती है। ज्वर, अंगों का टूटना, पर्व अस्थियों मे शूल रहता है। बीच-बीच मे पार्श्वशूल, कुक्षिशूल, बस्तिशूल, हृदयशूल, पृष्ठशूल,

त्रिकशूल या इनका जकड़ाव हो जाता है। रोगी निरन्तर चिन्ताशील और अत्यन्त आलसी होता है।

जन्मकाल से ही लेकर गुदा-मार्ग के बन्द होने के कारण अपानवायु ऊपर की ओर आकर समान वायु, प्राण वायु, व्यान वायु, उदान वायु तथा पित्त और कफ को प्रकुपित कर देती है। ये पाचो वायुए तथा पित्त और कफ कुपित होकर अर्श-रोगी मे वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य रोगो को उत्पन्न करते है। इस प्रकार से सहज अर्शो का वर्णन किया जा चुका है ॥ ८ ॥

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

इसके आगे बालक की उत्पत्ति के पीछे होने वाले अर्शरोग की व्याख्या करते है ॥ ॥ ९ ॥

गुरु-मधुर-शीताभिष्यन्दि-विदाहि-विरुद्धाजीर्ण-प्रमिताशनासात्म्य-भोजनाद् गव्य-मात्स्य-कुक्कुट-वाराह-माहिषाजाविक-पिशित-भक्षणात् कृश-शुष्क-पूतिमास-पैष्टिक-परमान्न-क्षीर-मन्दक-दधि-तिल-गुड-विकृति-सेवनात् माष-यूषेक्षु-रस-पिण्याक-पिण्डालुक-शुष्क-शाक-शुक्त-लशुन-किलाट-पिण्डक-बिस-मृणाल-शालूक-क्रौञ्चादन-कशेरुक-शृङ्गाटक-तरुण-विरूढ-नवधान्यामसूलकोपयोगाद् गुरु-फल-शाक-राग-हरितक-मर्दक-वसा-शिरस्पंद-पर्युषित-पूति-शीत-संकीर्णान्नाभ्यवहरणान्मन्दकातिक्रान्त-मद्य-पानाद् व्यापन्न-गुरु-सलिल-पानादतिस्नेह-पानादसशोधनाद्बस्तिकर्म-विभ्रमादव्यवायाद्दिवास्वप्नात्सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रम् ।

गुरु, मधुर, शीतल, अभिष्यन्दी, विदाही, विरुद्ध, अजीर्ण, प्रमिताशन, (एक रस के भोजन से), असात्म्य भोजन के कारण, गाय, मत्स्य, कुक्कुट, वराह (शूकर), महिष (भैसा), बकरी, भेड इन पशुओ के मास के भक्षण से, कृश और शुष्क प्राणी का मास खाने से, सडे, दुर्गन्धयुक्त मास से, पिठी से बने अन्न का, परमान्न को, दूध, दही, दधिमण्ड, तिल, गुड से बने पदार्थो के सेवन से, उडद, गन्ने के रस, पिण्याक (खल), पिण्डालु (कचालु), शुष्क शाक, शुक्त, लहसुन, किलाट (फटा हुआ दूध), तक्रपिण्डक (तक्र कूर्चिका अथवा तक्र का घना भाग), बिस, मृणाल, शालूक (कन्द), क्रौञ्चादन, कसेरू, सिघाडा, तरुण (कच्चे), अविरूढ (अकुरित), नव (नये) शूक-धान्य, शमी-धान्यो के सेवन से, कच्ची मूली के खाने से, गुरु फल, गुरु-शाक के खाने से, राग (रायता षाडव), हरित (आर्द्रक आदि), करमर्द, वसा, शिरस्पद, पर्युषित (बासी), पूति (दुर्गन्धयुक्त), शीतल, सकीर्ण

(नाना द्रव्य से मिलकर बना मिश्र-प्रकृतिक), अन्न के प्रयोग करने से, मन्दक दधि, अतिक्रान्त (व्यापन्न, दूषित) मद्य के पान करने से, दूषित और भारी पानी के पीने से, अति स्नेहपान से, शरीर शुद्धि न करने से, बस्तिकर्म के मिथ्यायोग से, मैथुन के सर्वथा अभाव से, दिन मे सोने से, सुखकारक शय्या, आसन और स्थान के सेवन से, मन्द अग्निवाले पुरुष मे मल की वृद्धि अति मात्रा मे होती है ॥

तथोत्कटुक-विषम-कठिनासन-सेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्बस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद् गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेलल्लोष्टतृणादि घर्षणात्प्रततातिनिर्वहणाद् वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात्समुदीर्णवेगविनिग्रहात्स्त्रीणा चाऽऽमगर्भभ्रंशाद् गर्भोत्पीडनाद् बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगममासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥ १० ॥

इसी प्रकार से उत्कट आसन, विषम या कठिन आसन के सेवन से, विक्षोभकारक यान से, ऊँट की सवारी से, अतिमैथुन से, बस्ति-नेत्र के मिथ्यायोग से, गुदा मे क्षत होने से, ठण्डे पानी के स्पर्श से, वस्त्र, ढेला, तिनके आदि से घसड़ लगने पर, निरन्तर वेगपूर्वक प्रवाहण से, अनुपस्थित वायु, मूत्र, मल को जोर से प्रवाहण करने से, उपस्थित मल मूत्र के वेगो को रोकने से, स्त्रियो मे आम-गर्भ के गिरने से, प्रवृद्ध गर्भ द्वारा उत्पीडन होने से, विषम प्रसूति (अकाल-प्रसव) से, प्रकुपित अपानवायु अधोगत मल (दोष) को गुदवलियो मे एकत्र कर देते है। इससे गुदवलियो मे अर्श उत्पन्न हो जाते है ॥१०॥

सर्षप-मसूर-माष-मुद्ग-कुष्ठक-यव-कलाय-पिण्डि-टिण्टिकेर-खर्जूर-कर्कन्धु-काकणन्तिका-बिम्बी-बदर-करीरोदुम्बर-जाम्बव-गोस्तनाङ्गुष्ठ-कशेरुक-शृङ्गाटक-शृङ्गी-दक्ष-शिखि-शुकतुण्ड-जिह्वा-पद्ममुकुल-कर्णिका-संस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि ॥११॥

उत्पत्ति के पीछे उत्पन्न होने वाले वात, पित्त और कफजन्य तथा द्वन्द्वज अर्श सामान्यरूप मे—सरसो, मसूर, उड़द, मोठ, जौ, मटर, पिण्डि (पिण्डाकार), टिण्टिकेर (टेट्टू), केबुक, तिन्दुक, काकणन्तिका (काकदन्तिका, रत्ती), कर्कन्धु (बेर), कदर (श्वेत खदिर), बिम्बी फल, करीर, गूलर, खजूर, जामुन, गाय के स्तन, अगूठा, कशेरू, सिंघाड़ा, कुक्कुट, मोर, तोते की चोच के समान तथा जीभ की भाति, कमल के डोडे के समान और कर्णिका (पद्मकर्णिका) के समान आकार के अर्श होते है ॥११॥

तेषामयं विशेषः—शुष्क-म्लान-कठिन-परुष-रूक्ष-श्यावानि तीक्ष्णाग्राणि वक्राणि स्फुटितमुखानि विषमविस्तृतानि शूलाक्षेप-तोद-स्फुरण-चिमिचिमासंहर्षणापरीतानि स्निग्धोष्णोपगमानि प्रवाहिकाध्मान-शिश्न-वृषण-बस्ति-वङ्क्षण-हृद्ग्रहाङ्गमर्द-हृदय-द्रव-प्रबलानि प्रतत-विबद्ध-वात-मूत्र-वर्चांसि कठिन-वर्चास्यूरु-कटी-पृष्ठ-त्रिक-पार्श्व-कुक्षि-बस्ति-शूल-शिरोऽभिताप-क्षवथूद्गार-प्रतिश्याय-कासोदावर्तायास-शोष-शोथ-मूर्च्छारोचक-मुखवैरस्य-तैमिर्य-कण्डू-नासा-कर्ण-शङ्ख-शूल-स्वरोपघात-कराणि श्यावारुण-परुष-नख-नयन-वदन-त्वङ्-मूत्र-पुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥१२॥

इन वातादिजन्य अर्शो की विशेषता यह है—जो अर्श शुष्क, म्लान (मुरझाये), कठिन, परुष (कर्कश), रूक्ष, श्याव वर्ण के हो, आगे से तीक्ष्ण, टेढे, फटे (विदीर्ण) मुख वाले, विषम रूप मे फैले हो, जिनमे शूल, आक्षेप, भेदन, स्फुरण, चिमिचिमायन (सरसो या राई के लेप के समान वेदना) और संहर्ष (खाज) होती हो, स्निग्ध और उष्ण उपचार से शान्त हो जाये, प्रवाहिका, आध्मान, शिश्नग्रह (रोगी लिंग को खीचे, या पकडे), वृषण-ग्रह, बस्ति-ग्रह, वक्षण-ग्रह, हृदय-ग्रह (इनका जकड जाना या इनमे वेदना होना), अगों का टूटना, हृदय का जल्दी-जल्दी चलना, वायु, मल, मूत्र का सदा अवरोध रहना, जाव, कटि, पीठ, पार्श्व, कुक्षि तथा बस्ति मे शूल रहना, शिरोवेदना, छींक आना, उद्गार-प्रवृत्ति, प्रतिश्याय, कास, उदावर्त्त, आयाम (वात रोग) शोष, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, मुख की विरसता, तैमिर्य (तिमिर नामक नेत्र रोग), नासिका मे खाज, कर्णशूल, शखशूल, स्वरभेद, त्वचा, नख, आखे, मुख, मल और मूत्र का श्याव या अरुण (नीला या लाल) वर्ण, इनमे कठोरता का होना वात प्रधान अर्शो के लक्षण है ॥१२॥

भवतश्चात्र—कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च ।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ॥ १३ ॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसामिति ॥ १४ ॥

वातजन्य-अर्श के कारण—कषाय, कटु, तिक्त, रूक्ष, लघु और शीतल प्रमित (एक ही रस का सेवन) और अल्प भोजन करने से, तीक्ष्ण मद्य से, मैथुन से, उपवास से, शीत देश मे वास वा शीत काल से, व्यायाम से, शोक से, वायु, धूप के स्पर्श से वातजन्य-अर्श उत्पन्न होते है ॥१३–१४॥

तत्र यानि मृदु-शिथिल-सुकुमाराणि स्पर्शासहानि रक्त-पीत-नील-कृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्रगन्धीनि तनु-पीत-रक्त-स्रावीणि दाह-कण्डू-शूल-निस्तोद-पाकवन्ति शिशिरोपशयानि संभिन्नपीनहरितवर्चांसि पीत-विस्रगंध-प्रचुर-विण्मूत्राणि पिपासाज्वरतमकसंमोहभोजनद्वेषकराणि पीत-नख-नयन-त्वङ्-मूत्र-पुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १५

पित्तप्रधान-अर्शों के लक्षण—जो अर्श कोमल, शिथिल, सुकुमार, स्पर्श को न सहन करने वाले, लाल, पीले, नीले, काले जिनमें पसीना और क्लिन्नता बहुत रहती हो, जिनसे सड़ी, आम गन्ध आती हो, पतला, पीला रक्त जिनसे बहता हो, रक्तस्राव होता हो, जिनमें जलन, कण्डू (खाज), शूल, तोद, वेदना तथा पाक हो, जो शीत क्रिया से शान्त हो जाये, जिनमें पतला (भिन्न), पीला, हरा मल आता हो, जिनमें मल मूत्र पीले वर्ण तथा बुरी गन्ध का और मात्रा में बहुत हो, रोगी को प्यास, ज्वर, तमक, श्वास, संमोह (मूर्च्छा) तथा भोजन से द्वेष रहता हो, नख, आंखे, त्वचा, मल, मूत्र पीले हों तो पित्तप्रधान-अर्शों को समझना चाहिये ॥ १५ ॥

भवतश्चात्र—कट्वम्ललवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः ।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ १६ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वपानान्नभेषजम् ।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ १७ ॥

कारण—कटु, अम्ल, लवण, क्षार, व्यायाम, अग्नि, धूप, और प्रभा (ज्योति), उष्ण देश, उष्ण काल, क्रोध का आना, मद्य, असूया (परनिन्दा), विदाही, तीक्ष्ण और उष्ण प्रकृति का सब खानपान, पित्तप्रधान-अर्शों का प्रकोपक कारण है ॥ १६–१७ ॥

तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानि स्पर्शसहानि श्वेतपाण्डु-पिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि सुप्तसुप्तानि स्थिरश्वयथूनि कण्डूबहुलानि प्रतत-पिञ्जर-श्वेत-रक्त-पिच्छास्रावीणि गुरु-पिच्छिल-श्वेत-मूत्र-पुरीषाणि रूक्षोष्णोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति परिकर्तिका-हृल्लास-निष्ठीविका-कासारोचक-प्रतिश्याय-गौरव-च्छर्दि-मूत्र-कृच्छ्र-शोष-शोथ-पाण्डु-रोग-शीत-ज्वराश्मरी-शर्करा-हृदयेन्द्रियास्योपलेपास्यमाधुर्य-प्रमेह-कराणि दीर्घकालानुपशयान्यतिमात्रमग्नि-मार्दव-क्लैब्य-कराण्याम-विकार-प्रबलानि गुरूणि च शुक्ल-नख-नयन-वदन-त्वङ्-मूत्र-पुरीषस्य श्लेष्मोल्बणार्शांसीति विद्यात् ॥ १८ ॥

कफप्रधान-अर्शों के लक्षण—जो अर्श बहुत बडे प्रमाण के (बढे हुए), चिकने, स्पर्श को सहने वाले, स्निग्ध, श्वेत, पाण्डु और चिकन (पिच्छिल), स्तब्ध (जड़ी भूत), भारी, स्तिमित (गीले वस्त्र से ढपे हुए के समान), अति सुप्त (स्पर्श ज्ञान से रहित), स्थिर, शाथयुक्त जिनमे बहुत खाज हो, जिनमे स्राव मात्रा मे अधिक तथा निरन्तर आये, स्राव, धूसर, श्वेत, लाल, शुक्र, पिच्छा (सीम्बल के गाद के समान) जैसा हो, मल और मूत्र, भारी, पिच्छिल और श्वेतवर्ण हो, रूक्ष और उष्णक्रिया से जिनमे शान्ति होती हो, प्रवाहिका बार-बार उठ कर बैठना (थोडा मल बाहर आये), वक्षणो मे आनाह हो, परिकर्तिका, जी मचलाना, निष्ठीवन (थूक का आना), कास, अरुचि, प्रतिश्याय, भारीपन, छर्दि, मूत्रकृच्छ्र, शाष, शोथ, पाण्डुरोग, शीत ज्वर, अश्मरी, शर्करा, हृदय-उपलेप, इन्द्रिय उपलेप (कफाधिकता), मुख मे मधुर रस, प्रमेह-राग का हाना, दीर्घ काल तक रहने वाली अग्नि की अति-मन्दता, क्लीवता को करने वाले, आमजन्य प्रा.ढ रोगो को पैदा करने वाले, नख, नयन, मुख, त्वचा, मूत्र और मल का वर्ण श्वेत हाता है, इन अर्शो को कफप्रधान-अर्श समझना चाहिये ॥ १८ ॥

भवन्ति चात्र—मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च ।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ १९ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् ।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ २० ॥

कारण—मधुर, स्निग्ध, शीतल, लवण, अम्ल, गुरु भाजनो के सेवन से, व्यायाम न करने से, दिन मे सोने से, शय्या-सुख, आसन-सुख की प्रवृत्ति, जोर की सीधी वायु का सेवन, शीतल देश, शीतल काल, चिन्ता न करना ये कफजन्य अर्शरोग के कारण है ॥ १९–२० ॥

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च ।
सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम्[1] ॥ २१ ॥

उपरोक्त दो कारण और लक्षणो के मिलने से द्वन्द्वज-अर्श (वात, पित्तोल्बण, वात, श्लेष्मोल्बण, पित्त-श्लेष्मोल्बण) उत्पन्न होते है । तीनों दोषों के मिलने से सन्निपातजन्य अर्श-रोग उत्पन्न होते है, इसके लक्षण सहज (गर्भ शरीर के साथ उत्पन्न) अर्श के समान होते है ॥ २१ ॥

१ 'लक्षणै. समम्' इति वा पाठ. ।

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ २२ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ २३ ॥

पूर्वरूप—अन्न का विष्टम्भ, दुर्बलता, कुक्षि में वेदनायुक्त गुड़-गुड़ शब्द, शरीर में कृशता, डकार का अधिक आना, टांगों में दर्द, मल का थोड़ा आना, ग्रहणी-रोग या पाण्डु-रोग की शंका (सम्भावना), अथवा उदररोग की आशंका होना ये अर्शरोग की उत्पत्ति के पूर्वरूप हैं ॥ २२–२३ ॥

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः ।
दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥ २४ ॥

अर्श-रोग तीनों दोषों के सन्निपात से ही उत्पन्न होते हैं। सब अर्श त्रिदोष-जन्य ही हैं। किन्तु दोष विशेष की प्रधानता से ही इनको वातजन्य, पित्तजन्य या कफजन्य कहा जाता है ॥ २४ ॥

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ २५ ॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ २६ ॥

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान पांच प्रकार की वायु, पित्त, कफ और गुदा की तीनों वलियां अर्श-रोग की उत्पत्ति में कुपित हो जाती हैं। इसी कारण से अर्श-रोग अतिदुःख देने वाला, नाना रोगों को उत्पन्न करने वाला, सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करने के साथ-साथ अतिकष्टसाध्य होता है ॥ २५–२६ ॥

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ २७ ॥
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ २८ ॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ २९ ॥

असाध्यता—जिस व्यक्ति के हाथ, पांव, मुख, नाभि, गुदा, अण्डकोश में शोथ हो जाये, रोगी को हृदयशूल, पार्श्वशूल हो वह अर्श-रोगी असाध्य है। हृदयशूल, पार्श्वशूल, मूर्च्छा, वमन, अंगों में दर्द, ज्वर, तृष्णा और गुदा का

पाक ये अर्श रोगी को मार देते है, इन लक्षणों वाला रोगी असाध्य है। जो अर्श सहज (गर्भ-शरीर के साथ उत्पन्न हुए), सन्निपातजन्य तथा भीतर की वलि मे आश्रित होते है, वे सब असाध्य होते है ॥ २७–२९ ॥

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३० ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३१ ॥

असाध्य दो प्रकार के है, याप्य और प्रत्याख्येय। यदि रोगी की आयु शेष हो, भिषक्, औषध, रोगी और उपचारक ये चारो पाद मिल जावे, रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो तो सहज आदि अर्श याप्य है और यदि आयु शेष न हो, चारो पाद न मिले तथा अग्नि मन्द हो तो, 'प्रत्याख्येय' असाध्य हैं ॥३०–३१॥

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ ३२ ॥

साध्य भी दो प्रकार के है। सुखसाध्य और कष्टसाध्य। जो अर्श द्वन्द्वज तथा दूसरी वलि मे आश्रित हो और एक साल पुराने हो जाते है, वे कष्टसाध्य है। जो अर्श बाह्य-वलि मे उत्पन्न हो, जिनमे एक दोष की प्रबलता हो और नूतन ही उत्पन्न हुए हो तो वे सुखसाध्य होते है ॥ ३२ ॥

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥ ३३ ॥

इन अर्शो की शान्ति के लिये वैद्य को शीघ्र ही यत्न करना चाहिये। क्योकि ये अर्श गुदा को रोक कर शीघ्र ही बद्धगुदोदर-रोग को उत्पन्न कर देते है ॥ ३३ ॥

तत्राऽऽहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम्।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना ॥ ३४ ॥
अस्त्येतद् भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तस्य सुदारुणः ॥ ३५ ॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः।
आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम् ॥ ३६ ॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च।
करणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥ ३७ ॥

चिकित्सा—अर्श की शान्ति के लिये एक वैद्य का कथन है कि शस्त्र से

काटना अर्श मे हितकारी है। दूसरे का कथन है कि क्षार से जलाना चाहिये और तीसरे का कथन है कि अग्नि से जलाना चाहिये।

ये सब बातें सत्य है, परन्तु बहुत शास्त्र-ज्ञान से सम्पन्न, शस्त्र-कर्म के अनुभवी, बुद्धिमान् वैद्य ही ये कार्य कर सकते हैं और यदि कदाचित् इन कर्मो मे चूक हो जाये तो अति भयानक फल होता है। जैसे—

शस्त्र, क्षार और अग्नि के अयुक्त प्रयोग से—पुरुषत्व का नाश, गुदा मे शोथ, मल का अवरोध, आध्मान (अफारा), तीव्र शूल, पीड़ा, अति रक्त स्राव, शस्त्र, क्षार, अग्नि से कट जाने पर भी पुनः उत्पत्ति, भर जाने पर क्लेद, गुद भ्रंश अथवा शीघ्र मृत्यु हो जाती है ॥ ३४–३७ ॥

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम्।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये ॥ ३८ ॥

इसलिये जो कर्म सुखपूर्वक हो सकता है, जिसमे थोड़ी सी भूल होने पर भी भयानक फल नही होता, अर्श रोग का मूल नाश करने के लिये इस प्रकार के कर्म का उपदेश करता हूं ॥ ३८ ॥

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः।
प्रस्राबीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥ ३९ ॥
तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम्।

अर्श-रोग को जानने वालों का कहना है कि वातप्रधान या कफप्रधान अर्श शुष्क होते है। पित्तप्रधान या रक्तप्रधान अर्श स्रावयुक्त और आर्द्र होते हैं। [सुश्रुत ने रक्तजन्य अर्श को माना है, चरक मे पित्तजन्य अर्श मे ही इसका अन्तर्भाव किया है]। इसलिये प्रथम शुष्क अर्शों की चिकित्सा को कहता हूँ ॥३९॥

स्तब्धानि स्वेदयेत्पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥ ४० ॥
चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य स्वेदयेत्[1]।
यवमाषपुलाकानां कुलत्थानां च पोट्टलैः ॥ ४१ ॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा।

(१) इसके लिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि शोथ और शूल से युक्त कठोर अर्शों को प्रथम चित्रक क्षार, बिल्व के कल्क से साधित तैल से चिकने करके, जो, माष, कुलत्थि, पुलाक (जिनसे चावल नही निकाले ऐसे धान्यों) की पोटलियो से, गाय, घोड़ा, गधा इनके लीद के पिण्डो से, तिल कल्क से और तुष से और वच, सौंफ इनके कल्क को पिण्डाकार करके, स्नेह से युक्त करके मन्द २ गरम स्वेद देना चाहिये ॥ ४०–४१ ॥

१. 'बुद्धिमान्' इति वा पाठः।

वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥ ४२ ॥
शक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा ।
शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥ ४३ ॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्हपुषैरपि ।
इष्टकस्य खराह्वायाः शाकैर्गृञ्जनकस्य च ॥ ४४ ॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत्पोट्टलीकृतैः ।
वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत् ॥ ४५ ॥

(२) तेल और घी यमक से स्निग्ध सत्तुओं की पिण्डिकाओं (पोटलियों से), सूखी मूली के कल्क से बनी पोटली से शोभाञ्जन की छाल से बनी पोटली से, रास्ना के पिण्ड से, हउबेर के पिण्ड से मीठा मीठा-गरम सेक करना चाहिये। प्रथम कूठ के तैल से मालिश करके इष्टक (एरण्ड) के, खराह्वा (अजवायन, यवानी) के या गृञ्जनक के शाक की पोटली बना कर मीठा-मीठा गरम सेक करना चाहिये । इसी प्रकार वासा, आक, एरण्ड, बिल्व इनके पत्तों को पका करके उस जल से परिषेक करना चाहिये ॥४२-४५॥

मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च ।
अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥ ४६ ॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।
कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥ ४७ ॥
बिल्वोत्क्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके ।
गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं शूलार्तमुपवेशयेत् ॥ ४८ ॥

(३) अर्श-रोगी को यदि शूल हो तो प्रथम भली प्रकार से तैल की मालिश कराके फिर त्रिफला, मूली, बांस, वरुण (बरना), अग्निमन्थ, सहजन और अश्मन्तक के पत्तों का कल्क करके जल में उबालना चाहिये । रोगी को इस क्वाथ में अवगाहन (बैठाना) कराना चाहिये । इसी प्रकार शुष्क बेर के क्वाथ में या कवोष्ण सौवीरक काञ्जी में या तुषोदक में, बिल्व के क्वाथ में छाछ में, दधि-मस्तु में, खट्टी काञ्जी में, गोमूत्र में, (किसी एक वस्तु में) अवगाहन कराना चाहिये । इन वस्तुओं को सुहाता गरम रखना चाहिये ॥४६-४८॥

कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजलौकावृषदंशजाम् ।
वसामभ्यञ्जनं दद्याद् धूपनं चार्शसां हितम् ॥ ४९ ॥
नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च ।
अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥ ५० ॥

तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम् ।
बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम् ॥ ५१ ॥
वराहवृषविट् चैव धूपनं शक्तवो घृतम् ।
कुञ्जरस्य पुरीषं च घृतं सर्जरसो रसः ॥ ५२ ॥

(४) धूपन—काला साप, सुअर, ऊट, जौक, वृषदंश (बिल्ली) इनकी वसा से अर्शों को स्निग्ध करके धूपन देना चाहिये[1] ।

(१) धूपन के लिये पुरुषो के बाल, साप की केंचुली, बिल्ली की त्वचा, आक की जड़, शमी (खेजडा) वृक्ष के पत्ते हितकारी है। इन वस्तुओ को घी के साथ बरतना चाहिये[2] । (२) तुम्बरू, बायविडग, देवदारु, अक्षत और घी इनका धूपन देना चाहिये । (३) बड़ी कटेरी का फल, असगन्ध, पिप्पली, तुलसी और घी इनका धूपन देना चाहिये । (४) सुअर की विष्ठा, बिल्ली की विष्ठा, सत्तू और घी इनका धूप देना चाहिये । (५) हाथी की विष्ठा, घी और राल इनका धूप देना चाहिये । धूपन के लिये पाच याग है ॥४६–५२॥

हरिद्राचूर्णसंयुक्त सुधाक्षीरं प्रलेपनम् ।
गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥ ५३ ॥
शिरीषबीज कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः ।
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ॥ ५४ ॥
पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः ।
प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः ॥ ५५ ॥
निकुम्भः साम्रुतासङ्गः पारावतशकृद्गुडः ।
प्रलेपः स्याद् गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥ ५६ ॥
प्रलेपः स्यादलर्केण वासन्तकवसायुतः ।
शूलश्वयथुहृद्युक्तश्चुलूकीवसयाऽथवा ॥ ५७ ॥
आर्कं पयः सुधाकाण्ड कटुकालाबुपल्लवाः ।
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥ ५८ ॥

(५) आठ प्रलेप—(१) हल्दी के चूर्ण को थोर के दूध मे मिला कर

---

१ कहीं २ पर 'जलौका' के स्थान पर 'जतुका' पाठ है जिससे मकड़ी लेना । वाग्भट मे 'जलौका' पाठ है । यथा—'कृष्णाहिबिडालोष्ट्रजलौकाशूकरवसाभिर्वा अभ्यज्य ।'

२ वाग्भट मे यह योग इस प्रकार से पढ़ा है—'धूपयेच्च सघृतशमीपत्रार्कमूलमानुषकेशाहिनिर्मोकबिडालचर्मभिः इससे घी लेना चाहिये ।

अर्श पर लेप करना चाहिये। (२) पिप्पली और हल्दी को गाय के पित्त मे पीस कर लेप करना चाहिये। (३) सिरस के बीज, कूठ, पिप्पली, सैन्धा नमक गुड और त्रिफला समान भाग लेकर इनको आक के दूध और थोर के दूध मे मिला कर लेप करना चाहिये। (४) पिप्पली, चीता, निशोथ, किण्व (सुरा–बीज), मैनफल के बीज, मुर्गे की विष्ठा, हल्दी इनको गुड मे मिला कर लेप करना चाहिये। (५) दन्ती, निशोथ, अमृतासङ्ग (तुत्थ), कबूतर की विष्ठा, गुड, हाथी की अस्थियां (इनकी भस्म), निमोली और भिलावा सब को पीस कर लेप करना चाहिये। (६) आल (हरिताल) को वासन्तक (ऊट) की वसा मे मिला कर सुहाता हुआ गरम लेप करना चाहिये। (७) चुलुकी (शिशुमार) की वसा के साथ मिला कर हरिताल का लेप करने से शूल और सूजन मिटती है। (८) आक के पत्ते, थोर का दण्डा, कडुवी तुम्बी के पत्त करञ्ज इनको बकरी के मूत्र मे पीस कर लेप करना चाहिये ॥ ५३–५८ ॥

अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः।
स्तम्भश्वयथुकण्डूवर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः ॥ ५९ ॥
प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि।
संचितं दुष्टरुधिरं ततः संपद्यते सुखम् ॥ ६० ॥

अभ्यंग से लेकर प्रदेह तक जितने भी योग कहे है, ये सब स्तम्भता, सूजन कण्डू को शान्त करते है, इसलिये अर्श-रोगियो के लिये हितकारी है।

क्योकि प्रदेह तक वर्णित चिकित्सा द्वारा अर्शो मे संचित दुष्ट रक्त बहने लग जाता है, इसलिये रोगी को आराम मिलता है ॥ ५९–६० ॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति।
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥ ६१ ॥

रक्त के दूषित होने पर शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्षक्रिया से अर्श रोग शान्त नहीं होता। इसलिये रक्त का निःसारण ही करना चाहिये[1]। इसके लिये रक्त और पित्त के प्रकोपक कारण समान है, पित्त प्रकोप से ही रक्त का प्रकोप समझना चाहिये ॥ ६१ ॥

जलौकाभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः।
आवर्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत् ॥ ६२ ॥

---

१ सुश्रुत ने रक्तज अर्श को भी माना है यथा—
'षडर्शांसि भवन्ति वात-पित्त-कफ-शोणित-सन्निपातैः, सहजानि च।'

(६) जोक द्वारा, शस्त्र द्वारा अथवा सूई द्वारा बार बार रक्त को जो कि रक्त अभ्यङ्गादि क्रिया से नहीं निकलता निकालना चाहिये ॥ ६२ ॥

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम् ।
त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम् ॥ ६३ ॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेशिकाम् ।
बिडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥ ६४ ॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन च ।
तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते ॥ ६५ ॥

(७) जिस अर्श रोगी का गुदा में शोथ, गुदा में शूल, मन्दाग्नि हो उसको सोंठ, मरिच, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, हींग, चीता, सच्चल पुष्करमूल, जीरा, बिल्व की गिरी, बिड् नमक, अजवायन, हाऊबेर, वायविडंग, सैन्धा नमक, वच और इमली इन अठारह वस्तुओं का समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को मण्ड (दधि मस्तु), मद्य वा गरम पानी के साथ देना चाहिये। इससे अर्श, ग्रहणीरोग, शूल, आनाह शान्त होते हैं ॥६३—६५॥

कुर्याद्वा पाचनं तस्य यदुक्तं ह्यातिसारिके ।
सगुडामभयां वाऽथ प्राशयेत्पौर्वभक्तिकीम् ॥ ६६ ॥
पाययेत् त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलाया रसेन वा ।
हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ॥ ६७ ॥

(८) जिन पाचनों को अतिसार-चिकित्सा में कहेंगे उनको पिलाना चाहिये। भोजन से पूर्व हरड को गुड़ के समान भाग में खाना चाहिये। अथवा त्रिफला क्वाथ के साथ निशोथ का चूर्ण देना चाहिये। गुदाश्रित दोष के नष्ट होने पर अर्श स्वयं नष्ट हो जाते हैं ॥ ६६—६७ ॥

गोमूत्राध्युषितां दद्यात्सगुडां वा हरीतकीम् ।
हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत् ॥ ६८ ॥
सनागरं चित्रकं वा शीधुयुक्तं प्रयोजयेत् ।
दापयेच्चव्ययुक्तं[1] वा सीधु साजाजिचित्रकम् ॥ ६९ ॥
सुरां वा हपुषापाठा[2]युक्तां सौवर्चलायुताम् ।
दधित्थं बिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यचित्रकम् ॥ ७० ॥
भल्लातकयुतं वाऽथ प्रदद्यात्तत्र तर्पणम् ।

---

१. 'चव्यं वा शीधुसंयुक्तमजाजीदीप्यकं पिबेत्' इति ।
२. 'हपुषा पाठा युक्ता' इति च पाठः ।

बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च ॥ ७१ ॥
चित्रकं हपुषा हिङ्गुं दद्याद्वा तक्रसंयुतम् ।
पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत् ॥ ७२ ॥

(६) दशयोग—(१) गोमूत्र मे रक्खी हुई हरड को गुड़ के साथ देना चाहिये । (२) तक्र के साथ हरड का अथवा तक्र के साथ त्रिफला का प्रयोग करना चाहिये । (३) सोंठ और चीते के चूर्ण को सीधु के साथ पीना चाहिये । (४) जीरा, चीता और चव्य के साथ सीधु देना चाहिये । (५) पाठा और हऊबेर को सच्चल नमक के साथ देना चाहिये । (६) दधित्थ (कैथ) को बेलगिरी के साथ अथवा कैथ को चव्य और चित्रक के चूर्ण के साथ देना चाहिये । (७) भिलावे के चूर्ण को सक्तु मन्थ में मिलाकर तक्र के साथ देना चाहिये । (८) बेलगिरी, चीता, सोंठ और अजवायन के साथ तक्र तर्पण देना चाहिये । (९) चीता, हऊबेर, हीग इनको तक्र के साथ देना चाहिये । (१०) पंचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) को तक्र के साथ देना चाहिये ॥ ६८—७२ ॥

हपुषा कुञ्चिका धान्यमजाजी कारवी शटीम् ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ७३ ॥
यवानी चाजमोदा च चूर्णितं तक्रसंयुतम् ।
मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद् घृतभाजने ॥ ७४ ॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं सुखप्रियम् ।
प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य तृषितस्त्रिषु ॥ ७५ ॥
दीपन रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् ।
गुदश्वयथुकण्ड्वार्तिनाशनं बलवर्धनम् ॥ ७६ ॥

इति तक्रारिष्टः ।

(१०) तक्रारिष्ट—हऊबेर, कुञ्चिका (काला जीरा), धनिया, अजाजी (जीरा), कारवी (क्षुद्र जीरा), कचूर, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चीता, गजपिप्पली, अजवायन, अजमोद इन बारह वस्तुओं को परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । इस चूर्ण का मन्द, अम्ल और कटु-रस तक्र मे मिला कर घी से भावित घड़े मे रख देना चाहिये । इसमे जब अम्लता और कटुरस स्पष्ट दीखने लगे, तब मुख को प्रिय, ऐसा यह तक्रारिष्ट पीना चाहिये । यह अरिष्ट मुखप्रिय, अग्निसंदीपक, अन्न मे रुचिकारक, वर्ण्य, कफ और वायु का अनुलोमक, गुदा मे शोथ, कण्डू, पीडा का नाशक, बलवर्धक है । इस

तक्रारिष्ट को रोगी प्यास लगने पर तथा अन्न के तीनों समय मे आदि, मध्य और अन्त मे अग्निबल के अनुसार पीये ॥ ७३–७६ ॥

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् ।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥ ७७ ॥

(११) चित्रकमूल की छाल को पीस कर घड़े मे लेप कर देना चाहिये। इसमे जमाई दही या तक्र का उपयोग करने से अर्शरोग मिट जाता है ॥७७॥

वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्परं नास्तीह भेषजम् ।
तत्प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥ ७८ ॥
सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा ।

(१२) वातकफजन्य अर्शरोग के लिये तक्र से उत्तम कोई भी औषध नहीं है। दोषानुसार तक्र को स्नेहयुक्त या रूक्ष बरतना चाहिये। वातजन्य अर्शो मे स्नेहयुक्त और कफजन्य मे रूक्ष बरतना चाहिये ॥ ७८– ॥

बलकालविशेषज्ञो भिषक्तक्रं प्रयोजयेत् ॥ ७९ ॥
अत्यर्थं मृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् ।
सायं वा लाजशक्तूना दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ॥ ८० ॥
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् ॥ ८१ ॥
तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ।
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः ॥ ८२ ॥

बल और काल को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि अत्यन्त मृदु कायाग्नि वाले रोगी के बल को देख कर सात दिन, बारह दिन, पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक रूक्ष या स्नेहयुक्त अन्न के साथ या अन्न के बिना तक्र का ही उपयोग करे[१]। सायकाल तक्र मे लाजा-सत्तुओ का अवलेह बना कर देना चाहिये। तक्र के जीर्ण होने पर तक्र से बनाई पेया में सैन्धा नमक मिला कर देना चाहिये। पेया के पीछे थोड़े तक्र मे सिद्ध चावलों को थोड़े से स्नेह के साथ देना चाहिये। तक्र मे मिला कर मूग आदि के यूष, मास रस आदि तक्र के अनुपान से देने चाहिये। इसके उपरान्त तक्र मे सिद्ध यूष या मास रस का भोजन देना चाहिये। इस प्रकार एक मास तक तक्र का प्रयोग करना चाहिये॥७९-८२॥

कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवारयेत् ।
तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः ॥ ८३ ॥

१. अष्टागसग्रह मे पाठ इस प्रकार से है—तक्रमेव वातिमन्दवह्निः सप्ताहार्धमासं मासमपि वा कालापेक्षया रूक्षं सस्नेहमम्लं वा सान्नमनन्नं वा शीलयेत् ॥ अ० स० चि० १० ॥

अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते ।
शक्त्यागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च ॥ ८४ ॥

काल-क्रम को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि एक मास तक तक्र का प्रयोग करने पर सहसा तक्र को बन्द न करदे, अपितु धीरे-धीरे कम करते हुए एक मास मे जाकर तक्र छुड़वाये । जिस क्रम से अपकर्ष होता है, उसी प्रकार से अपकर्ष करना चाहिये । इस घटाव मे अन्न की कमी नही करनी चाहिये । तक्र मे जितनी कमी हो, उतनी ही अन्न मे वृद्धि करनी चाहिये । जिससे रोगी मे शक्ति का सचार हो और अग्नि दृढ हो जाये, तथा शरीर मे बल और वर्ण (कान्ति) की वृद्धि होवे, यह क्रम है ॥ ८३–८४ ॥

बलोपचयवर्णार्थमेप निर्दिश्यते क्रमः ।
रूक्षमर्धोद्धृतस्नेह यतश्चानुद्धृत घृतम् ॥ ८५ ॥
तक्रं दोपाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ।

दोष, अग्नि और बल को समझने वाले वैद्य को चाहिये कि रूक्ष (जिसमे से सम्पूर्ण मक्खन निकाल लिया), अर्द्धोद्धृत (आधा मक्खन निकाला हो), अनुद्धृत (जिस मे से मक्खन बिलकुल न निकाला गया हो) ऐसे तीन प्रकार के तक्रो का प्रयोग करे । कफजन्य, मन्दतम अग्नि मे तथा अधम बल मे रूक्ष तक्र, पित्त-जन्य, मन्दतर अग्नि के मध्यम बल मे अर्द्धोद्धृत तक्र, वातजन्य, मन्द अग्नि मे और उत्तम बल मे अनुद्धृत तक्र बरतना चाहिये ॥ ८५- ॥

हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु ॥ ८६ ॥
भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम् ।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥ ८७ ॥

तक्र के कारण मरे हुए अर्श पुनः हरे नही होते । भूमि पर गिरा हुआ भी तक्र तिनका को जला देता है । दीप्ताग्नि वाले पुरुष मे शुष्क अर्शो को जलादे, इसमे क्या सन्देह है ॥ ८६–८७ ॥

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः ।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥ ८८ ॥
वातश्लेष्मविकाराणा शतं चापि निवर्तते ।
नास्ति तक्रात्पर किंचिदौषधं कफवातजे ॥ ८९ ॥

तक्र द्वारा स्रोतों के शुद्ध होने पर अन्न-रस धातुओं में भली प्रकार से पहुचता है । इससे पोषण, बल, वर्ण, आनन्द (प्रसन्नता) मिलती है । वात-

जन्य अस्सी रोग तथा कफजन्य बीस रोग इस प्रकार से एक सौ रोग तक्र से नष्ट होते है। वातजन्य और कफजन्य रोगो के लिये तक्र से उत्तम और कोई औषध नही है ॥ ८८–८९ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ।
शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरुम् ॥ ९० ॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत् ।
फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां दद्याद् गुदजापहाम् ॥ ९१ ॥
एतैरेव खडान् कुर्यादेतैश्चैव पचेज्जलम् ।

(१३) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, आर्द्रक, जीरा, क्षुद्र-जीरा (काली जीरी), धनिया, तुम्बरू (धनिये का भेद), बेलगिरी, कर्कटक (ककोड़ा), पाठा इनको पीस कर इनसे पेया बनानी चाहिये। इस पेया को अनार-रस आदि फलो से खट्टी करके तथा तेल आर घी यमक स्नेह से स्निग्ध बना कर पीना चाहिये, ये अर्श-रोग नाशक है। इन्ही वस्तुओ से खड (यूष-भेद) बनाने चाहिये, इनसे ही जल पकाना चाहिये और इन वस्तुओ से घृत सिद्ध करना चाहिये ॥ ९०–९१ ॥

एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये ॥ ९२ ॥
शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा ।
दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम् ॥ ९३ ॥
शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा ।
दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम् ॥ ९४ ॥

(१४) अर्श-रोग की निवृत्ति के लिये कचूर, ढाक, पिप्पली, सोंठ से सिद्ध यवागू को तक्रसे खट्टी बना कर इसमे मरिच का चूर्ण डाल कर देना चाहिये। सूखी मूली का यूष अथवा कुलत्थो के यूष का या कैथ और बेलगिरी के यूष को अथवा कुलत्थी और मोठ के यूष को देना चाहिये ॥ ९२–९४ ॥

छागलं वा रसं दद्याद्यूषैरेतैर्विमिश्रितम् ।
लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम् ॥ ९५ ॥

उपरोक्तयूषों के साथ बकरे का मास-रस या बटेर आदि पक्षियों का मास-रस मिला कर देना चाहिये। मल सग्राहक बेलगिरी, पाठा आदि के चूर्ण से युक्त, अनार आदि फलों से या तक्र से खट्टा करके यूषों को देना चाहिये ॥९५॥

१ वाग्भट मे कहा भी है—अमद्यपो वा पिबेच्च शृतशीतमल्पमुदकं शृतं धान्यनागराभ्याम्। लघुना पंचमूलेन वा, पञ्चकोलाजाजीकारवीगजशौण्डीबिल्वशलाटुपाठातुम्बरुधान्यकैर्वा। एभिरेव घृतं साधयेत्।

रक्तशालिर्महाशालिः कलमो जाङ्गलः सितः ।
शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम् ॥ ९६ ॥
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च विधिक्रमः ।

(१५) अन्नविधि—लाल चावल, महाचावल, कलम, जांगल, सित, शरद् ऋतु में पकने वाले धान्य और साठी के चावल अर्श रोगियों के लिये हितकारी हैं ।

जिन अर्शरोगियो को पतला मल आता है, उनकी चिकित्सा-विधि कह दी है ॥ ९६ ॥

येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ ९७ ॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम् ।
दद्यान्मत्स्यण्डिका पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ॥ ९८ ॥

जिन रोगियो का मल कठिन है, उनके लिये औषध कहते है—

(१६) रोगी का राब के साथ सोंठ खिलाकर पीछे से स्नेह बहुल सत्तुओ से युक्त और सैन्धव नमक से नमकीन करके प्रसन्ना (मद्य) को देना चाहिये ॥ ९७–९८ ॥

गुडं सनागरं पाठा फलाम्लं पाययेच्च तम् ।
गुडं घृतं यवक्षारं युक्त वाऽपि प्रयोजयेत् ॥ ९९ ॥
यवानीं नागरं पाठा दाडिमस्य रसं गुडम् ।

(१७) अनार आदि अम्ल फलो के रस मे गुड़, सोंठ और पाठा का चूर्ण मिला कर देना चाहिये । अथवा यवक्षार और घी के साथ गुड़ खिलाना चाहिये । अथवा सोंठ, गुड़, पाठा को पानी मे घोल कर अनार के रस से खट्टा बना कर देना चाहिये ॥ ९९– ॥

सतक्रलवणं दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ॥ १०० ॥

(१८) अजवायन, पाठा और सोंठ का चूर्ण करके अनार का रस, गुड़, छाछ और नमक मे मिला कर देने से वायु और मल का अनुलोमन होता है ॥१००॥

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा ।
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम् ॥ १०१ ॥
प्रागुक्तान् यमके भ्रष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् ।

(१९) दुरालभा या बेलगिरी के साथ अथवा अजवायन या सोंठ के साथ पाठा के चूर्ण को मिला कर देने से गाढे मल से उत्पन्न वेदना नष्ट होती है ॥ १०१ ॥

करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ॥ १०२ ॥

(२०) करज के कोमल पत्तों को जौ के सत्तु के साथ घी और तेल यमक मे भून लेना चाहिये। इनके चूर्ण को भोजन से पूर्व देना चाहिये। इससे वायु और मल का अनुलोमन होता है ॥ १०२ ॥

मदिरां वा सलवणां शीधुं सौवीरकं तथा।
गुडनागरसंयुक्तं पिबेद्वा पौर्वभक्तिकम् ॥ १०३ ॥

(२१) भोजन से पूर्व प्रसन्ना को नमक से नमकीन बना कर पीये। अथवा सीधु को नमकीन करके या काञ्जी को नमकीन करके पीये। अथवा गुड़ के साथ हरड़ को खाना चाहिये ॥ १०३ ॥

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः।
फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं साधयेद् घृतम् ॥ १०४ ॥

(२२) पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, कालीजीरी, धनिया, जीरा इन सबको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को फाणित (राब) और घी मे मिला कर अनार के रस से खट्टा करके रोगी को देना चाहिये[1]।

[जल्पकल्पतरु मे पिप्पल्यादि के कल्क से घृत सिद्ध करके देना चाहिये ऐसा माना है] ॥ १०४ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली।
शृङ्गवेरं यवक्षारं तैः सिद्धं वा पिबेद् घृतम् ॥ १०५ ॥

(२३) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चविका, चीता, सोंठ, यवक्षार, मिलित २० तोला, घृत १ सेर और जल ४ सेर लेकर पिप्पली आदि कल्क से घृत सिद्ध करना चाहिये ॥ १०५ ॥

चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम्।
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम् ॥ १०६ ॥
पिप्पलीपिप्पलीमूलदधिदाडिमधान्यकैः।
सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत् ॥ १०७ ॥

(२४) तीन घृत—(१) चव्य और चित्रक का कल्क २० तोला, पानी ४ सेर, घृत १ सेर लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। इसमे गुड़ और यवक्षार

१ यहा पर अपक्व ही घृत का प्रयोग है। जैसा कि वाग्भट में कहा है—रूक्षकोष्ठश्चार्शसो नागरक्षारकृष्णाजाजीधान्यकारवीगर्भं फलाम्लं सफाणितं सर्पिः पिबेत्। अ० सं० चि० १०।

मिला कर खाना चाहिये। इसी प्रकार (२) पिप्पलीमूल के कल्क से घृत को सिद्ध करके गुड और यवक्षार का प्रक्षेप देकर खाना चाहिये। (३) पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोठ और धनिया इनके कल्क से दही मे घृत सिद्ध करना चाहिये। ये तीनो घृत वायु और मल के विबन्ध को नष्ट करते है ॥१०६–१०७॥

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च।
यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च बिडसैन्धवे ॥ १०८ ॥
चित्रकं बिल्वमभया पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत्।
शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे ॥ १०९ ॥
प्रवाहिका गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम्।
गुदवंक्षणशूलं च घृतमेतद् व्यपोहति ॥ ११० ॥

(२५) चव्याद्य घृत—चव्य, सोठ, मरिच, पिप्पली, पाठा, यवक्षार, हरा धनिया, अजवायन, पिप्पलीमूल, बिड् नमक, सैन्धव, चित्रक, बेलगिरी, हरड इन चौदह द्रव्यों को पीस कर कल्क (२० तोला) तैयार करना चाहिये। दही (४ सेर) ओर घृत (१ सेर) लेकर वायु, मल के अनुलोमन के लिये घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत प्रवाहिका, गुदभ्रंश, मूत्रकृच्छ्र, परिस्रव (पिच्छास्राव), गुदाशूल और वक्षण शूल को नष्ट करता है ॥१०८–११०॥

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली।
श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका ॥ १११ ॥
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत्।
चतुर्गुणेन दध्ना च तद् घृतं कफवातनुत् ॥ ११२ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्।
गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद् व्यपोहति ॥ ११३ ॥

इति नागरादिघृतम्।

(२६) नागराद्य घृत—सोठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनिया, बेलगिरी, पाठा, अजवायन इनको समान भाग लेकर इनका कल्क (२० तोला), चागेरी (तिपतिया) का स्वरस ४ सेर, दही ४ सेर ओर घी १ सेर लेकर घृत पकाना चाहिये। यह घृत कफ और वायु का नाश करता है। अर्श, ग्रहणीरोग, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश और आनाह-रोग मे हितकारी है ॥ १११–११३ ॥

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक्।
भागांस्त्रिपलिकान्कृत्वा कषायमुपकल्पयेत् ॥ ११४ ॥

गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम् ।
पिष्ट्वा कषाये विनयेत्पूते द्विपलिकं पृथक् ॥ ११५ ॥
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशच्च दापयेत् ।
चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम् ॥ ११६ ॥
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ।
तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ॥ ११७ ॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम् ।
शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ॥ ११८ ॥
कासहिक्कारुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत् ।
बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसंदीपनं परम् ॥ ११९ ॥

इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

(२७) पिप्पल्याद्य घृत—पिप्पली, सोंठ, पाठा और गोखरू प्रत्येक द्रव्य तीन पल लेकर क्काथ-विधि से क्काथ करना चाहिये। इस क्काथ मे गण्डीर, पिप्पलीमूल, व्योष, (त्रिकटु), चव्य, चित्रक प्रत्येक आधा पल लेकर पीस कर कल्क रूप मे मिला देना चाहिये। साथ मे घी ४० पल, चांगेरी का स्वरस ४० पल, दही २४० पल मिला कर मृदु अग्नि पर पाक करना चाहिये। इस प्रकार से सिद्ध घृत को प्रति-दिन खान-पान मे बरतना चाहिये। यह घृत ग्रहणी, अर्शरोग, गुल्म, हृदय रोग, शोथ, प्लीहा, उदर, आनाह, ज्वर, मूत्र-कृच्छ्र, कास, हिचकी, अरुचि, श्वासपीड़ा, और पार्श्वशूल को नष्ट करता है। यह बलकारक, पुष्टिदायक, कान्तिवर्धक और अग्निदीपक है ॥११४-११९॥

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम् ।
त्रिवृद्दन्तयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ॥ १२० ॥
विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येन निर्मले ।
गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते ॥ १२१ ॥

पिप्पली से युक्त घी मे भुनी त्रिवृत् (निशोथ), दन्ती से युक्त हरड़ को वायु और मल के अनुलोमन के लिये सेवन करे।

वायु मल, कफ, पित्त का अनुलोमन होने पर, गुदा के स्वस्थ होने से अर्श स्वयं शान्त हो जाते हैं और अग्नि बढती है ॥ १२०-१२१ ॥

बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान् ।
दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद्विड्वातसंग्रहे ॥ १२२ ॥

(२८) मल और वायु का अवरोध होने पर मोर, तीतर, बटेर इनके मांस-

रस को तथा दक्ष (कुक्कुट) और वर्त्तको (बतख) के मांसरस को घी से संस्कृत करके बेर, आंवले आदि फलों से खट्टा बना कर देना चाहिये ॥१२२॥

त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च ।
सुभृष्टं यमके दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ॥ १२३ ॥
उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवाम् ।
सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ॥ १२४ ॥
काकमाचीं रुहापत्रं महापत्रीं तथाऽम्लिकाम् ।
जीवन्तीशटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च ॥ १२५ ॥
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च ।
धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ॥ १२६ ॥

(२९) शाक—निशोथ, दन्ती, पलाश, चांगेरी, चीता इनके शाकों को घी और तैल में भून कर दधि के साथ मिला कर देना चाहिये । इसी प्रकार से उपोदिका (चौलाई), तण्डुलीय, वीरा (पृश्निपर्णी), बथुआ, सुवर्चला (हुलहुल), लोणि, यवशाक, अवल्गुजा (बावची), काकमाची (मकोय), रूहापत्र, महापत्री (जामुन), अम्बिका, जीवन्ती, कचूर का शाक, गृञ्जनक (शलजम) का शाक इनको घी और तैल यमक में भूनकर दही तथा अनार के रस से खट्टा करके धनिया और सोंठ मिलाकर देना चाहिये ॥ १२३-१२६ ॥

गोधाश्वावित्सलोपाकमार्जारोष्ट्रगवामपि ।
कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद्रसान् ॥ १२७ ॥

(३०) गोह, लोपक (शृगाल भेद), बिल्ली, श्वावित्, ऊंट, गाय, कछुआ और शल्लकी इनके मांस-रसों को भी शाक की भांति दही और अनार रस में सिद्ध करके घी और तैल में भून कर धनिया और सोंठ मिला कर देना चाहिये ॥ १२७ ॥

रक्तशाल्योदनं दद्याद्रसैस्तैर्वातशान्तये ।

(३१) यदि रोगी में वायु की प्रधानता है, रोगी रूक्ष हो, अग्नि मन्द हो तो वायु की शान्ति के लिये मांसरसों के साथ लाल चावल देने चाहिये ।

ज्ञात्वा वातोल्बणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम् ॥ १२८ ॥
मदिरां शार्करं जातं शीधुं तक्रं तुषोदकम् ।
अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम् ॥ १२९ ॥
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः ।
अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ॥ १३० ॥

(३२) वैद्य को चाहिये कि वायु और मल का अनुलोमन करने के लिये शर्करा से उत्पन्न मदिरा, मीधु, तक्र, तुषोदक, अरिष्ट, दधि मस्तु, पका कर ठण्डा किया जल, कण्टकारी (छोटी कटेरी) का पका कषाय, सोंठ और धनिया का पका कषाय अनुपान रूप में देवे ॥ १२८-१३० ॥

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ।
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ॥ १३१ ॥

(३३) जो अर्श रोगी उदावर्त्त रोग से पीड़ित हो, जो अत्यन्त रूक्ष हो, जिनका वायु विलोम हो, शूल से पीडित हो उन रोगियों को अनुवासन देना चाहिये ॥ १३१ ॥

पिप्पली मदनं बिल्वं शताह्वा मधुकं वचाम् ।
कुष्ठं शटी पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ॥ १३२ ॥
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च ।
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ॥ १३३ ॥
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ।
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वंक्षणाश्रयम् ॥ १३४ ॥
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम् ।
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ॥ १३५ ॥

अनुवासन द्रव्य—पिप्पली, मैनफल, बेलगिरी, सौंफ, मुलहठी, वच, कूठ, कचूर, पोहकर मूल, चित्रक, देवदारु प्रत्येक समान भाग लेकर कल्क रूप में पीस लेना चाहिये। यह कल्क २० तोला, दूध २ सेर, तैल १ सेर लेकर तैल सिद्ध करना चाहिये। यह तैल मूढ-वात (जिनमे वायु न ऊपर जाये न नीचे जाती हो) रोगिया के लिये उत्तम अनुवासन है। गुदा का बाहर निकलना, शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कटि, पीठ, जांघों की निर्बलता, कांखों का फूलना, पिच्छा स्राव, गुदा की सूजन, वायु और मल का अवरोध, बार-बार थोड़ा-थोड़ा मल आता हो तो वह भी इससे शान्त होता है ॥ १३२-१३५ ॥

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ।
द्रव्यैस्तैरौषधैर्देह्याः स्तब्धाः शूना गुदेरुहाः[1] ॥ १३६ ॥
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम्[2] ।
कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः स्रुतानां विनिवर्तते ॥ १३७ ॥

---

१. 'दार्वन्तै स्तब्धशूलानि गुदजानि प्रलेपयेत्' इति च ।

२ श्लेष्मपिच्छासशोणिताः' इति च पाठः ।

(३४) अकुर यदि कठोर तथा सूजे हुए हो तो पिप्पल्यादि अनुवासन द्रव्यों को पीसकर घी आदि मिलाकर थोड़ा सा गरम करके कड़छी (चम्मच) द्वारा अकुरो पर लेप करना चाहिये। इस प्रकार लेप करने से रक्तयुक्त कफ मिश्रित पिच्छा (स्राव) अकुरो से निकल आती है। इससे कण्डु (खाज), कठोरता, वेदना और सूजन शान्त हो जाती है ॥ १३६–१३७ ॥

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम् ।
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ॥ १३८ ॥

(३५) दशमूल के क्वाथ में दूध, गोमूत्र, घृतादि स्नेह, नमक, मैनफल आदि का कल्क मिलाकर इनसे सिद्ध निरूह का प्रयोग करना चाहिये ॥१३८॥

हरीतकीना प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च ।
स्यात्कपित्थाद्दशपल ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी ॥ १३९ ॥
विडङ्गं पिप्पली लोध्र मरिच सैलवालुकम् ।
द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ॥ १४० ॥
द्रोणशेषे रसे तस्मिन्पूते शीते समावपेत् ।
गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत्तत्पक्ष घृतभाजने ॥ १४१ ॥
पक्षादूर्ध्वं भवेत्पेया ततो मात्रा यथाबलम् ।
अस्याभ्यासादरिष्टस्य नश्यन्ति गुदजा द्रुतम् ॥ १४२ ॥
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः ।
कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः ॥ १४३ ॥
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः ।
कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् ॥ १४४ ॥

इत्यभयारिष्टः ।

(३६) अभयारिष्ट—हरड (बिना गुठलियो के) ८ पल, बिना गुठली का आवला ८ पल, कैथ का गुदा १० पल, इन्द्रवारुणी (भसडूम्बा) ५ पल, वायविडग, पिप्पली, लोध, मरिच, ऐलाबालुक प्रत्येक द्रव्य दो पल इन सब द्रव्यो का चार द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये। जब एक द्रोण रह जाये तो छान लेना चाहिये। ठण्डा होने पर इसमे गुड़ २०० पल मिला कर घी से भावित घड़े मे १५ दिन तक रख देना चाहिये। पन्द्रह दिन के पीछे अग्नि के बलानुसार इसको पीना चाहिये। इसके निरन्तर सेवन से अर्श रोग नष्ट होता है[1]। यह अरिष्ट ग्रहणी, पाण्डुरोग, हृदयरोग, प्लीहा, गुल्म, उदररोग, कुष्ठ,

१ जल्पकल्पतरु में 'पलादर्धेनेन्द्रवारुणी' इस पाठ से आधा पल इन्द्रवारुणी लिया है। परन्तु सुश्रुत के पाठ से असगत होने के कारण विचारणीय

शोफ और अरुचि को नष्ट करता है, बल, वर्ण और अग्नि को बढाता है, कामला, श्वित्र, कृमिरोग, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, व्यंग और राजयक्ष्मा ज्वर को नष्ट करता है, यह अरिष्ट सिद्ध फलप्रद है ॥१३९–१४४॥

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः ।
भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ॥ १४५ ॥
त्रिफलाया दलानां च प्रक्षिप्य त्रिपलं ततः ।
रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ॥ १४६ ॥
तुला गुडस्य तत्तिष्ठन्मासार्धं घृतभाजने ।
तन्मात्रया पिबेन्नित्यमर्शोभ्योऽपि प्रमुच्यते ॥ १४७ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोनुलोमनम् ।
दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ॥ १४८ ॥

इति दन्त्यरिष्टः ।

(३७) दन्त्यरिष्ट—दन्तीमूल, चित्रकमूल, दोनों पंचमूल (दशमूल) और गुठलीरहित हरड़, आंवला और बहेड़ा प्रत्येक एक-एक पल लेकर एक द्रोण पानी में क्वाथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश रह जाये तब इस को छान कर ठण्डा होने पर गुड़ के १०० पल मिला कर घी से भावित घडे में १५ दिना तक रखना चाहिये । इस अरिष्ट को मात्रानुसार पीने से अर्शरोग से मुक्ति हो जाती है[१] । यह अरिष्ट ग्रहणी, पाण्डु रोग नाशक, वायु और मल का अनुलोमक, अग्निदीपक, भोजन में रुचि उत्पन्न करता है ॥१४५–१४८॥

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च ।
विशालाया कपित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः ॥ १४९ ॥
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम् ।
पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत् ॥ १५० ॥
गुडस्यैका तुला वैद्यस्तत्स्थाप्यं घृतभाजने ।
पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान् ॥ १५१ ॥
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम् ।

है । यथा—पिप्पलीमरिचविडङ्गैलावालुकलोध्राणां द्वे पले । इन्द्रवारुण्याः पञ्च पलानि ॥ सुश्रुत० चि० ७ ॥

१ वृद्धवाग्भट में पाठ इस प्रकार से है—'दन्ती चित्रकत्रिफलादशमूलानि पलिकानि उदकद्रोणे साधयेत् ।' जल्पकल्पतरु में त्रिफला में प्रत्येक द्रव्य तीन पल लेना लिखा है ।

वर्चोमूत्रानिलकृतान्विबन्धानग्निमार्दवम् ॥ १५२ ॥
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति ।
अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः ॥ १५३ ॥
इति फलारिष्टः ।

(३८) फलारिष्ट—गुठलीरहित हरड़ १ प्रस्थ, गुठलीरहित आवले १ प्रस्थ, विशाला (इन्द्रवारुणा), कपित्थ (कैथ), पाठा और चित्रकमूल प्रत्येक द्रव्य दो पल इन सब वस्तुओं को कूट कर दो द्रोण पानी में काथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें गुड़ १०० पल मिला कर घी से भावित घड़े में १५ दिन तक रख देना चाहिये। इसके पीछे ग्रहणी, अर्शरोग, हृदय, पाण्डुरोग, प्लीहा, कामला, विषम ज्वर, मल-मूत्र वायुजन्य विबन्धों में, अग्निमान्द्य में, कास, गुल्म और उदावर्त्त में पीना चाहिये। यह फलारिष्ट अग्नि-सन्दीपक है। इसका कृष्णात्रेय ने उपदेश किया है ॥ १४९–१५३ ॥

दुरालभायाः प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च ।
पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च ॥ १५४ ॥
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत् ।
पादावशेषे पूते च सुशीते शर्कराशतम् ॥ १५५ ॥
दत्त्वा कुम्भे दृढे स्थाप्यं मासार्धं घृतभाजने ।
प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा ॥ १५६ ॥
तस्य मात्रा पिबेत्काले शार्करस्य यथाबलम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम् ॥ १५७ ॥
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम् ।
हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत् ॥ १५८ ॥
इति शर्करासवः ।

(३९) शर्करारिष्ट—दुरलभा १ प्रस्थ, चीता, बासा, हरड़, आवला, पाठा, सोंठ, दन्तीमूल प्रत्येक द्रव्य दो पल लेकर एक द्रोण पानी में काथ करना चाहिये। चतुर्थांश रहने पर छान लेना चाहिये। इसमें गुड़ १०० पल मिला कर घी से भावित घड़े में १५ दिनों तक रख देना चाहिये। घड़े को पिप्पली, चव्य, प्रियंगु, मधु और घी के कल्क से प्रथम लेप कर देना चाहिये। पीछे तैय्यार होने पर बल और मात्रानुसार इसको पीना चाहिये, इसको प्रतिदिन प्रातः पीना चाहिये। यह अर्श, ग्रहणी, उदावर्त्त, अरुचि, मल-मूत्र और

वायु के विबन्ध, उद्गार, अग्नि-मार्दव (मन्दता) हृदयरोग और पाण्डुरोग सब को शान्त करता है ॥ १५४–१५८ ॥

नवस्यामलकस्यैका कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् ।
कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा ॥ १५९ ॥
पाठां मूलं च पिप्पल्याः क्रमुकं चव्यचित्रकौ ।
मञ्जिष्ठा वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत् ॥ १६० ॥
कुष्ठं दारुहरिद्रा च सुराह्वं सारिवाद्वयम् ।
इन्द्राह्वं भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम् ॥ १६१ ॥
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च ।
द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत् ॥ १६२ ॥
पादावशेषे पूते च शीते तस्मिन्समावपेत् ।
मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसंमितम् ॥ १६३ ॥
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद् द्विगुणितां तुलाम् ।
कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च ॥ १६४ ॥
त्वगेलासवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् ।
चूर्णयित्वा तु मतिमान्कार्षिकानत्र दापयेत् ॥ १६५ ॥
तत्सर्वं स्थापयेत्पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने ।
प्रलिप्ते सर्पिषा किंचिच्छर्करागुरुधूपिते ॥ १६६ ॥
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः ।
पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद्भक्तरोचनः ॥ १६७ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् ।
हृद्रोगं पाण्डुतां शोषं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम् ॥ १६८ ॥
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वानेवापकर्षति ।
वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति ॥ १६९ ॥

इति कनकारिष्टः ।

(४०) कनकारिष्ट—नूतन आंवला १०० पल लेकर इसको जर्जरित कर लेना चाहिये । पिप्पली ४ पल, बायविडंग, मरिच, पाठा, पिप्पली मूल, क्रमुक (सुपारी), चव्य, चित्रक, मजीठ, एलाबालुक, लोध प्रत्येक द्रव्य एक पल, कूठ, दारुहल्दी, देवदारु [वृद्ध वाग्भट में शताह्वा पाठ होने से सौंफ], श्वेत सारिवा, कृष्ण सारिवा, इन्द्रजौ, नागरमोथा प्रत्येक द्रव्य आधा पल, नूतन नागकेसर ४ पल इन सब द्रव्यों को कूट कर दो द्रोण पानी में पकाना चाहिये । जब आधा रह जाये तब उतार लेना चाहिये । इसको छान

कर शीतल होने पर इसमे द्राक्षा का क्वाथ १ आढक (द्राक्षा को दो आढक पानी मे पका कर जब आधा रह जाये तब छान कर) मिलाना चाहिये । इसमे बारीक शक्कर २०० पल, मधु आधा प्रस्थ, दालचीनी, इलायची, प्लव (कैवर्त्त मुस्ता), तेजपात, अम्बु, (बालक), सेव्य (खस), क्रमुक (सुपारी), नागकेसर प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण एक कर्ष मिला लेना चाहिये । इन सब को घी से भावित शर्करा, गुड़ से दूषित, पवित्र पात्र मे रख देना चाहिये ।

पन्द्रह दिन के पीछे स्वर्ण के समान वर्ण करने से कनकारिष्ट नामक अरिष्ट बनता है । इसको प्रतिदिन पीना चाहिये । यह मधुर रस, हृदय के लिये प्रिय अन्न में रुचिकारक, अर्श, ग्रहणी रोग, आनाह, उदररोग, ज्वर, हृदयरोग, पाण्डुरोग, शोथ, गुल्म, मलबन्ध, कास, कफजन्य, रोगो को तथा दोषजन्य वलि, पलित (बालोका श्वेत होना) और खालित्य (गज) को नष्ट करता है॥१५६-१६६॥

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन चाम्भसा ।
इति शुष्कार्शसा सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ॥ १७० ॥
चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृण्वतः परम् ।

(४१) पत्रभग एरण्ड आदि वातनाशक पत्तों के क्वाथ से तथा गरम पानी से शौच कार्य करना चाहिये । यह शुष्कार्शो की सिद्ध फल चिकित्सा कह दी है । इसके आगे स्रावी (आर्द्र) अर्शो की सिद्ध फल चिकित्सा को कहते है[1] ॥ १७०– ॥

तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च ॥ १७१ ॥
विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते ।
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ॥ १७२ ॥
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ।
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ॥ १७३ ॥

रक्त-पित्तोल्बण स्रावयुक्त अर्शों की चिकित्सा—रक्त पित्तोल्बण (स्रावयुक्त) अर्शो मे दो प्रकार का अनुबन्ध होता है । एक वायु का और दूसरा कफ का ।

इसमे यदि मल कृष्ण वर्ण, कठिन, रूक्ष हो, अपान वायु बाहर न आये, अर्श में से निकलने वाला रक्त पतला झागदार, लाल रग का हो, कटि, गुदा

१ पत्रभंग—अर्श नाशक, जो वस्तुऐं अर्शनाशक है, वे वातनाशक है । इसलिये वातनाशक पत्तो के क्वाथ से शौच कार्य करना चाहिये । जैसे—'पत्रभङ्गैरिति वातघ्नैः ऐरण्डादिपल्लवैः ।' डल्हण ।

और ऊरु मे दर्द होता हो, निर्बलता अधिक हो, अर्श रोग का कारण रूक्ष हो तो वायु का अनुबन्ध समझना चाहिये ॥ १७१-१७३ ॥

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ।
यद्यर्शसा घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ॥ १७४ ॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥ १७५ ॥

यदि मल शिथिल (पतला), श्वेत या पीले रंग का, स्निग्ध, गुरु और शीतल हो, अर्श में से निकलने वाला रक्त घना रेशों वाला, पाण्डु वर्ण और पिच्छिल (चिकासयुक्त) हो, गुदा पिच्छा (चिकास) से युक्त और स्तिमित हो, रोग का कारण गुरु और स्निग्ध खानपान हो तो रक्तजन्य अर्श में कफ का अनुन्ध समझना चाहिये ॥ १७४-१७५ ॥

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे ।
चिकित्सितमिदं तस्मात् सम्प्रधार्य प्रयोजयेत् ॥ १७६ ॥

वायु के अनुबन्ध में स्निग्ध और शीतल चिकित्सा, कफ के अनुबन्ध में रूक्ष और शीतल चिकित्सा हितकारी है यह सोच कर कार्य प्रारम्भ करना चाहिये ॥ १७६ ॥

पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत् ।
स्रवणं चाप्युपेक्षेत लंघनैर्वा समाचरेत् ॥ १७७ ॥

अर्श में पित्त-कफ की प्रधानता को देखकर प्रथम शोधन (विरेचन) करना चाहिये । अथवा लंघन कराना चाहिये । बहते हुए दूषित रक्त की उपेक्षा करनी चाहिये, इसको रोकना नहीं चाहिये ॥ १७७ ॥

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान् ।
शोणितं दोषमलिनं तद्रोगाञ्जनयेद्बहून् ॥ १७८ ॥
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निनाशमरोचकम् ।
कामलां श्वयथुं शूलं गुदवंक्षणसंश्रयम् ॥ १७९ ॥
कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वामयं गदम् ।
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ॥ १८० ॥
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान् ।
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं मतम् ॥ १८१ ॥

जो वैद्य प्रथम अर्शों से बहते हुए दूषित रक्त को रोक देता है, वह मूढ़ है । क्योंकि रोका हुआ दूषित रक्त बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है ।

जैसे—रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, अग्निमान्द्य, अरोचक, कामला, श्वयथु, गुदा मे शूल, वक्षण (कोख) मे शूल, कण्डू, कोठ, पिडकायें, कुष्ठ, पाण्डुरोग, वायु, मूत्र, मल की विबन्धता, शिरोवेदना, स्तिमितता, शरीर मे भारीपन, अन्य रक्त-जन्य रोगो को उत्पन्न कर देता है। इसलिये दूषित रक्त के निकल जाने पर ही रक्त का रोकना हितकारी है। प्रारम्भ मे नही रोकना चाहिये ॥ १७८–१८१ ॥

हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्।
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ॥ १८२ ॥

हेतु, लक्षण और काल को समझने वाले तथा बल और शुद्ध एव अशुद्ध रक्त के वर्ण की पहिचान करने वाले वैद्य को चाहिये कि रक्तस्राव की उपेक्षा उस समय तक करता रहे जब तक कि भयानक रूप धारण न करले, अथवा कोई घातक रूप पैदा न करे[1] ॥ १८२ ॥

अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसग्रहणाय च।
दोषाणा पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥ १८३ ॥

(४२) अग्नि को बढ़ाने के लिये और रक्त को रोकने के लिये तथा दोषो के पाचन के लिये तिक्त क्वाथों से या तिक्त घृतो से चिकित्सा करना श्रेष्ठ है॥१८३॥

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्त वातोल्बणस्य च।
वर्तते स्नेहसाध्य तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥ १८४ ॥
यत्तु पित्तोल्बण रक्तं घर्मकाले प्रवर्त्तते।
स्तम्भनीय तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् ॥ १८५ ॥

जिस व्यक्ति के दोष क्षीण हो गये हो और रक्त मे वायु की प्रधानता हो, उसके लिये पान, अभ्यग और अनुवासन मे स्नेह क्रिया का उपयोग करना चाहिये। वह रोगी स्नेहसाध्य है और जिस रक्त मे पित्त की प्रधानता हो तथा ग्रीष्म काल मे रक्त स्रवित होता है, उसके लिये स्तम्भन-चिकित्सा करनी चाहिये, इस रक्त का रोकना ही उत्तम है। परन्तु स्तम्भन क्रिया मे यह देख लेना चाहिये कि इस रक्त मे वायु और कफ का ससर्ग न हो। यदि कफ का अनुबल हो तो उपेक्षा अथवा लघन करना चाहिये ॥१८४–१८५॥

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसंग्रहणः।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत्सनागरश्चन्दनरसश्च ॥ १८६ ॥

---

१ शुद्ध रक्त की परीक्षा—तपनेन्द्रगोपप्रतिभ पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥च०सू०२४॥
अशुद्ध रक्त के लिये देखिये चरक०सूत्रस्थान अ०२४और सुश्रुतसूत्रस्थान अ०१२॥

(४३) कुड़े की छाल के क्वाथ के साथ थोड़ा सा सोंठ चूर्ण मिला कर लेने से स्निग्ध रक्त (कफ मिश्रित रक्त का) अवरोध होता है। इसी प्रकार से अनार की छाल और चन्दन के क्वाथ को सोंठ के चूर्ण के साथ देने से स्निग्ध रक्त का अवरोध होता है ॥ १८६ ॥

चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च ॥ १८७ ॥

(४४) चन्दन, चिरायता, धमासा, बासा और सोंठ, दारुहल्दी की छाल, खस तथा नीम की छाल इनका क्वाथ रक्तजन्य अर्श में शान्ति करता है। दारुहल्दी की छाल, खस और नीम की छाल इनको पृथक् भी प्रयोग करने से रक्त रुकता है ॥ १८७ ॥

सातिविषा कुटजत्वक् फलं च सरसाञ्जनं मधुयुतानि।
रक्तापहानि दद्यात्पिपासवे तण्डुलजलेन ॥ १८८ ॥

(४५) अतीस, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, रसौत इनके चूर्ण को मधु में मिला कर प्यास लगने पर तण्डुलोदक के साथ देना चाहिये। यह योग रक्तनाशक है ॥ १८८ ॥

कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन[1]।
यावत्स्याद् गतरसं तद्द्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः ॥ १८९ ॥
मोचरसः ससमङ्गः फलिनी च पलांशिकैः[2] त्रिभिस्तैश्च।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णीकृतमत्र प्रदातव्यम् ॥ १९० ॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स रसो दार्वीप्रलेपनो ग्राह्यः।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम्[3] ॥ १९१ ॥
छागलिपयसा युक्ता[4] पेया मण्डेन वा यथाग्निबलम्।
जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत ॥ १९२ ॥
रक्तार्शांस्यतिसारं रक्तं सासृग्रुजो निहन्त्याशु।
बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा जयत्युभयभागम् ॥ १९३ ॥

इति कुटजादिरसक्रिया।

(४६) कुटजादि-रस-क्रिया—कुड़े की गीली छाल १०० पल लेकर बरसात का पानी एक द्रोण लेकर इसमें क्वाथ करना चाहिये। जब सब रस निकल जाये और अष्टमांश रह जाये तब छान लेना चाहिये। इसमें मोचरस (सीम्बल का

१ 'तु मेघसलिलेन' इति, २ 'समांशिकैः' इति,
३ 'जयति रक्तम्' इति, ४ 'पीता' इति च पाठान्तराणि।

गोंद), समंगा (मजीठ या लाजवन्ती) और फलिनी (प्रियंगु) प्रत्येक द्रव्य समान भाग (१, १ पल) और तीनो के बराबर इन्द्रजौ का चूर्ण (३ पल) इस क्वाथ मे मिलाना चाहिये। इसको अग्नि पर गरम करना चाहिये। जिस समय पकते-पकते यह अवलेह के समान हो जाये तथा कड़छी के साथ उठने लगे तो इसको उतार लेना चाहिये। इसमे से अग्नि बल के अनुसार रस-क्रिया की मात्रा खानी चाहिये। यह अवलेह रक्त को शान्त करता है।

औषध के जीर्ण होने पर पेया को बकरी के दूध के साथ अथवा मण्ड के साथ पीना चाहिये। अथवा बकरी के दूध के साथ चावलो को खाना चाहिये। यह रस-क्रिया, रक्तजन्य अर्शरोग को, रक्तातिसार को, रक्त सहित वेदना को (रक्त-स्राव से उत्पन्न रोगो को) बलवान् रक्तपित्त को चाहे वह किसी भी मार्ग से प्रवृत्त होता है, सब को शान्त करता है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य है, अधोगामी याप्य है ॥ १८६–१९३ ॥

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम्।
पीत्वा छागलिपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम् ॥ १९४ ॥

(४७) नीला कमल, समगा (लाजवन्ती), मोचरस (सीम्बल की गोद), तिल, पठानी लोध इनको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इसको (६ माशे लेकर) बकरी के दूध के साथ पीना चाहिये। जीर्ण होने पर बकरी के दूध के साथ चावल (हेमन्त ऋतु मे पके) खाने चाहिये ॥ १९४ ॥

छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च।
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा ॥ १९५ ॥

(४८) बथुए के रस मे बकरी का दूध मिलाकर पीने से रक्तस्राव रुकता है। इसी प्रकार जागल पशु-पक्षियो के मास-रस को अनार के रस आदि से थोड़ा खट्टा बना कर अथवा बिना खट्टा किये पीने से रक्त-स्राव रुकता ॥ १९५ ॥

पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च।
बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि सशूलेषु ॥ १९६ ॥

(४९) पाठा, इन्द्रजौ, रसौत, सोंठ, अजवायन और बेलगिरी इनको परस्पर समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को (६ माशा मात्रा में) पानी के साथ पीने से शूलयुक्त अर्श-रोग शान्त होते हैं ॥ १९६ ॥

दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्।
रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम् ॥ १९७ ॥

(५०) दारुहल्दी, चिरायता, नागरमाथा और कौंच इनका चूर्ण या क्वाथ रक्तनाशक है। परन्तु यदि रक्त बहुत होता हो और शूल हो तो इनके क्वाथ मे इन्हीं के कल्क से घृत सिद्ध करके प्रयोग करना चाहिये ॥ १९७ ॥

कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः ।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा ॥ १९८ ॥

(५१) वैद्य को चाहिये कि रक्तार्श मे यदि शूल भी हो तो कुड़े की छाल और इन्द्रजो, नागकेशर, नीला कमल, पठानी लोध, धाय के फूल इनका कल्क मिलित १ पाव, पानी ४ सेर और घृत १ सेर लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत रक्तार्श मे उत्तम है ॥ १९८ ॥

सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं जयत्याशु ।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिकासिद्धम् ॥ १९९ ॥

(५२) अनार के रस मे और यावशूक (जवासे) के रस मे घी सिद्ध करके लेने से अथवा छोटी कटेरी और दधि के रस मे सिद्ध किया घृत शूलयुक्त रक्त-स्राव को शान्त करता है ॥ १९९ ॥

लाजापेया पीता चुक्रिका केशरोत्पलैः सिद्धा ।
हन्त्याश्वसृक्स्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ॥ २०० ॥

(५३) चुक्रिका (चागेरी), केशर (नागकेशर) और कमलगट्टे से सिद्ध की हुई लाजा से बनी पेया पीने से रक्तस्राव रुकता है। अथवा बला और पृश्निपर्णी द्वारा लाजा से बनी पेया को सिद्ध करके पीना चाहिये ॥ २०० ॥

ह्रीबेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधिता सनवनीताम् ।
वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्ला सकोलाम्लाम् ॥ २०१ ॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां भृष्टा यमकेन वा पिबेत्पेयाम् ।
रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥ २०२ ॥

(५४) ह्रीवेर (नेत्रबाला), बेलगिरी, सोंठ इनके क्वाथ मे पेया को सिद्ध करे। इस पेया को वृक्षाम्ल (समगदाना), अनारदाना, इमली, खट्टे बेर इनसे खट्टा बना कर मक्खन मिला कर पीना चाहिये। अथवा गृञ्जनक (शलजम या प्याज) के रस मे सिद्ध पेया को घी और तैल यमक में भून कर पीना चाहिये। ये पेया रक्तातिसार, शूल, प्रवाहिका और शोथ को हटाती है ॥२०२॥

कारमर्यामलकानां सकर्बुदारफलाम्लानाम् ।
गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च ॥ २०३ ॥

न्यग्रोधशुङ्गकाना खडास्तथा कोविदारपुष्पाणाम् ।
दध्नः सरेण सिद्धान्दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥ २०४ ॥

(५५) रक्त के अतिस्राव होने पर—गम्भारी, आवला और कर्बुदार (कचनार का भेद) इनके फलो से गृञ्जनक (प्याज़), सिम्बल, दूधी तथा चांगेरी (चोपतिया), बरगद के कोमल पत्ता से, कोविदार (कचनार) के फूलो से सिद्ध किये पदार्थो (पेया आदि) को दही की मलाई के साथ देना चाहिये ॥ २०३–२०४ ॥

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम् ।
रुधिरस्रुतौ प्रदद्यान्मसूरयूषं च तक्राम्लम् ॥ २०५ ॥

(५६) तीनयोग–(१) प्याज के शाक को बेर से खट्टा करके तक्र के साथ, (२) उपोदिका (पोई या लुणी शाक) के शाक को बेर से खट्टा करके तक्र के साथ, (३) मसूर की दाल को तक्र से खट्टा करके रक्त स्राव मे देना चाहिये । ये तीन योग है ॥ २०५ ॥

पयसा शृतेन यूषैर्मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम् ।
भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ॥२०६॥

(५७) शालि धान्य, श्यामाक (सावक), कोद्रव (कोदों) धान्यों को दूध मे सिद्ध करके मसूर, मूग, अरहर या मोठ इनको अनार, आवला, बेर आदि द्वारा खट्टे बनाये यूषो के साथ खाना चाहिये ॥ २०६ ॥

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयैः सुसिद्धैश्च ।
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत्ससमरिचैर्वा ॥ २०७ ॥

(५८) अथवा शशक, हरिण, बटेर, कपिञ्जल, एण (हरिण का भेद) इनके मास-रसो को सिद्ध करके अनार के रस से थोडा खट्टा मधुर करके थोड़ा सा काली मरिच का चूर्ण मिला कर खाना चाहिये ॥ २०७ ॥

दक्षशिखितित्तिररसैर्द्विककुदलोपाकजैश्च मधुराम्लैः ।
अद्यादसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः ॥ २०८ ॥

(५९) दक्ष (कुक्कुट), शिखि (मोर), तीतर, द्विककुद (ऊट) और लोपाक (शृगाल का भेद) इनके मास-रसो को मीठा खट्टा (अनार रस या बेर द्वारा) बना कर वात-प्रधान रक्तार्शो मे खाना चाहिये ॥ २०८ ॥

रसखडयूषयवागूसंयोगतः[1] केवलोऽथवा जयति ।
रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः ॥ २०९ ॥

---

१ 'संयुक्त' इति वा पाठ ।

(६०) पलाण्डु (प्याज) अकेला स्वतंत्र रूपमें अथवा मास-रस खड, यूष वा यवागू के साथ लेने से अति रक्तस्राव और वायु का शमन करता है ॥२०६॥

छागान्तराधितरुण सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु ।
व्यत्यासान्मधुराम्ल विट्शोणितसक्षये देयम् ॥२१०॥

(६१) जवान बकरी के शरीर का मध्य भाग (यकृत् भाग और फेफड़े) रक्त सहित लेकर प्याज के साथ सिद्ध करना चाहिये। मल और रक्त का क्षय होने पर क्रमशः मधुर तथा अम्ल रूप में प्रयोग करना चाहिये। प्रथम मधुर देना चाहिये, पीछे अम्ल और फिर मधुर फिर अम्ल इस प्रकार से देना चाहिये२१०

नवनीततिलाभ्यासात्केसरनवनीतशर्कराभ्यासात् ।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि ॥२११॥

(६२) रक्तजन्य अर्श के लिये तीन योग—(१) मक्खन और तिल का चूर्ण नित्य प्रति खाना चाहिये। (२) नागकेशर, मक्खन और मिश्री नित्य खानी चाहिये। (३) दही की मलाई का मथ कर प्रतिदिन खाने से रक्तजन्य अर्श शान्त होते है ॥ २११ ॥

नवनीतघृतं छागं मांसं सषष्टिकः शालिः ।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यस्रम् ॥२१२॥

(६३) नवनीत (ताजा मक्खन), घी (बकरी का), बकरी का मास, साठी चावल, तरुण सुरामण्ड और तरुणसुरा (जो पुरातन न हो) ये रक्तस्राव को नष्ट करते है ॥ ११२ ॥

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते ।
दुष्टेऽपि कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः ॥२१३॥

कफ, पित्त, दूषित होने पर भी रक्त का अधिक स्राव होने से प्राय. अर्श में वायु की प्रबलता हो जाती है, इसलिये वायु को मुख्य समझना चाहिये २१३

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च ।
शीताः क्रियाः प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्या ॥२१४॥
मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम् ।
परिषेचने विदध्याद् वृषककुभयवासनिम्बांश्च ॥२१५॥

यदि रक्त, पित्त प्रबल हों, वायु और कफ के लक्षण मन्द हो तो पूर्वकथित तथा अन्य आगे कहे जाने वाली शीतल क्रियाये बरतनी चाहिये।

(६४) मुलहठी, पंचवल्कल (बरगद, गूलर, पीपल, पारस पीपल, जामुन इनकी छाल), बेर की छाल, गूलर, धव (धवा), पटोल, वासा, ककुभ

(अर्जुन), यवास (जवासा) और नीम की छाल इनका क्वाथ करके परि-षेचन करना चाहिये ॥ २१४-२१५ ॥

रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेच्चापि ।
मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिःक्वाथे ॥ २१६ ॥
इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् ।
अवगाहयेत्प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ॥ २१७॥

(६५) रोगी को जलन हो, रक्त का अतिस्राव होता हो, आर्द्रता हो तो मुलहठी, मृणाल (कमलनाल), पद्माख, चन्दन, कुश और काश इनके क्वाथ मे रोगी को अवगाहन कराना चाहिये । अथवा शरीर पर चन्दनादि शीतल द्रव्यो से साधित शीतल तैल लगवा कर रोगी को शीतल दूध मे या जल मे अथवा गन्ने का रस, मुलहठी और अम्लवेतस इनके शीतल क्वाथ में अवगाहन देना चाहिये ॥ २१६-२१७ ॥

दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे त्रिके च गुददेशे ।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या ॥ २१८ ॥

(६६) उपस्थ प्रदेश (शिश्न भाग पेडू से सम्पूर्ण निचला प्रदेश), गुदा और त्रिक (कूल्हा) प्रदेश पर शर्करा मिश्रित घृत मिलाकर लेप करना चाहिये। फिर इन स्थानों पर ठण्डे जल की धारा जो सहन हो सके बल से गिरानी चाहिये । इस प्रकार करने से रक्तस्राव रुक जाता है । जल-धारा बहुत तीव्र नही गिरानी चाहिये ॥ २१८ ॥

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः ।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ॥ २१९ ॥

(६७) केले के नये कोमल पत्तो को या कमल के पत्तों को शीतल जल से गीला करके अथवा पद्म और उत्पल के पत्तो से उपस्थ प्रदेश, गुदा और त्रिक-भाग पर बार बार रखना चाहिये । पुन. गरम होने पर उनको हटा कर फिर नये पत्ते रखने चाहियें ॥ २१९ ॥

दूर्वाघृतप्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः ।
व्यजनपवनश्च शीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ॥ २२० ॥

(६८) दूर्वा के घृत का लेप, शतधौत या सहस्रधौत घृत का लेप अर्श मे करना चाहिये । इस प्रकार से पखे की शीतल वायु रक्तस्राव को शान्त करती है ॥ २२० ॥

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् ।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां च ॥२२१॥

दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् ।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः ॥२२२॥

(६६) अर्श के मस्सों पर प्रतिसारण करने के लिये नौ योग—(१) लाजवन्ती और मुलहठी का चूर्ण, (२) तिल और मुलहठी का चूर्ण, (३) रसोत और घी का लेप, (४) राल और घी का लेप, (५) नीम की छाल और घी, (८) चन्दन और घी के साथ, (६) मल और घी को दाह में, क्लेद में, गुदभ्रंश में और अर्श-रोग में मस्सों पर प्रतिसारण करना चाहिये ॥२२१-२२२॥

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य तिष्ठति न रक्तम् ।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ॥ २२३ ॥
अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः ।
क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैः समुपाचरेदाशु ॥ २२४ ॥

(७०) उपरोक्त प्रतिसारण से अथवा शीतल क्रियाओं द्वारा भी जिस रोगी का रक्त बन्द न हो उसके लिये बृंहण-विधि बरतनी चाहिये ।

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि भोजन काल में रोगी को स्निग्ध, उष्ण मांस-रसों से तर्पण करे । इसके लिये अवपीड़क-घृत (भोजन के ऊपर अथवा अधिक मात्रा में घृतपान) का प्रयोग करना चाहिये । थोड़े गरम सुहाते हुए गरम तैल और घृत से मालिश करनी चाहिये । कवोष्ण दूध या घी अथवा तैल से सेक करना चाहिये ॥ २२३—२२४ ॥

कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम् ।
पिच्छाबस्तिं दद्याद् बस्तिकाले तस्याथवा सिद्धम् ॥ २२५ ॥

(७१) वायु की प्रधानता होने पर कवोष्ण घृत-मण्ड से अनुवासन-बस्ति देनी चाहिये । अथवा रोगी को समय २ पर सिद्ध पिच्छा की बस्तियां देनी चाहिये ॥ २२५ ॥

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम् ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥ २२६ ॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थं च साधयेत् ।
क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत् ॥ २२७ ॥
कल्काः शाल्मलिनिर्यासस्समङ्गाचन्दनोत्पलम् ।
वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गु पद्मकेशरम् ॥ २२८ ॥
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः ।
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ॥ २२९ ॥

इति पिच्छाबस्तिः ।

(७२) पिच्छाबस्ति—जवासा, कुश, काश की जड़े, सीम्बल के पत्ते और बड़, गूलर, पीपल इनके कोमल पत्ते प्रत्येक वस्तु दो-दो पल, पानी तीन प्रस्थ, दूध १ प्रस्थ मिलाकर क्वाथ करना चाहिये। जब केवल दूध मात्र शेष रह जाये तब छान लेना चाहिये। इसमे सीम्बल का गोद, लाजवन्ती, चन्दन, कमलगट्टा, इन्द्रजौ, फूल, प्रियगु और पद्मकेशर (कमल का केसर) सब द्रव्य परस्पर समान भाग और मिश्रित दूध से चतुर्थांश लेकर दूध में मिला देना चाहिये। इसमे घी, शहद और शक्कर भी मिला देना चाहिये। यह पिच्छा-बस्ति प्रवाहिका,गुदभ्रंश,रक्तस्राव,और ज्वर में प्रयोग करनी चाहिये॥२२६-२२९॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पेष्यान् बस्तौ[1] यथेरितान्।
पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत्॥ २३०॥

(७३) प्रपौण्डरीकादि अनुवासन—पुण्डरीक काष्ठ, मुलहठी तथा पिच्छा-बस्ति मे कहे गये मोचरस आदि कल्क-द्रव्यों को पीस कर दुगने दूध से तल-पाक करना चाहिये॥ २३०॥

ह्रीवेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम्।
पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च॥ २३१॥
दार्वीत्वङ् नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः।
चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम्॥ २३२॥
एकध्यं साधयेत्सर्वं तत्सर्पिः परमौषधम्।
अर्शोतिसारग्रहणीपाण्डुरोगज्वराऽरुचौ॥ २३३॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्याध्माने[2] प्रवाहणे।
पिच्छास्रावेऽर्शसा शूले योज्यमेतत्त्रिदोषनुत्॥ २३४॥

इति ह्रीवेरादिघृतम्।

(७४) ह्रीवेरादि घृत—ह्रीवेर (बाल), कमल, लोध, लाजवन्ती या मजीठ, चव्य, चन्दन, पाठा, अतीस, बेलगिरी, धाय के फूल, देवदारु, दारु-हल्दी की छाल, सोंठ, जटामासी, मोथा, यवक्षार, चीता इन सब को समान भाग लेकर एक पाव (२० तोला) कल्क तैय्यार करना चाहिये। चागेरी (चौपतिया) का स्वरस ४ सेर, घी १ सेर लेकर घृतविधि से घृत पकाना चाहिये। यह घी अर्श, अतीसार, ग्रहणी, पाण्डुरोग, ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्ति के आनाह मे, पिच्छा-स्राव मे और अर्शजन्य शूल मे प्रयोग करना चाहिये, यह घृत त्रिदोष नाशक है॥ २३१-२३४॥

१- 'पिच्छाबस्तौ' इति वा पाठः। २ 'बस्त्यानाहे' इति पाठान्तरम्।

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः ।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥ २३५ ॥
कषाय एषा पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं नागरं सुरदारु च ॥ २३६ ॥
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्प वीरा चन्दनमुत्पलम् ।
कट्फल चित्रकं मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषास्थिराः ॥ २३७ ॥
पद्मोत्पलाना किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका ।
बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः ॥ २३८ ॥
चतुःप्रस्थे शृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत् ।
त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः ॥ २३९ ॥
सुनिषण्णकचाङ्गेर्याः प्रस्थौ द्वौ स्वरस्य च ।
सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थ विपाचयेत् ॥ २४० ॥
एतदर्शःस्वतीसारे रक्तस्रावे त्रिदोषजे ।
प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ॥ २४१ ॥
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये ।
मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ॥ २४२ ॥
प्रयोज्यं विधिवत्सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम् ।
विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ॥ २४३ ॥

इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम् ।

(७५) चांगेरी घृत—अवाक् पुष्पी (ओधा हुली), खरैटी, दारु हल्दी, पृश्निपर्णी, गोखरू, बरगद, गूलर, पीपल इनके कोमल पत्ते प्रत्येक वस्तु दो-दो पल लेकर चार प्रस्थ पानी मे कषाय करना चाहिये । जब एक प्रस्थ रह जाये तब उतार कर छान लेना चाहिये । यह कषाय एक प्रस्थ, चांगेरी का स्वरस दो प्रस्थ और सुनिषण्णक (सुरवारी) का स्वरस दो प्रस्थ, घी एक प्रस्थ, कल्कार्थ—जीवन्ती, कुटकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, सोंठ देवदारु, इन्द्रजौ, सिम्बल के फूल, वीरा (शालपर्णी या शतावरी), चन्दन, कमल, कायफल, चीता, मोथा, प्रियगु, अतीस, शालपर्णी, पद्म का केशर, उत्पल का केशर, लाजवन्ती, छोटी कटेरी, बेलगिरी, सिम्बल का गोंद, पाठा प्रत्येक वस्तु एक कर्ष लेकर, पीस कर कल्क बनाना चाहिये । इन सब से यथाविधि घृत-पाक करना चाहिये । यह घृत अर्शरोग मे, अतीसार मे, त्रिदोषजन्य रक्तस्राव मे, प्रवाहण मे, गुदभ्रंश मे, नाना प्रकार की पिच्छाओं मे, बार-बार थोड़ा-थोड़ा मल त्याग होने मे, गुदा की शोथ या शूल मे, मूत्र की रुकावट में, मूढवात मे,

अग्निमान्द्य मे और अरुचि मे इसका प्रयोग करना चाहिये। यह घृत बल, वर्ण और अग्नि को बढाता है। इस घृत को स्वतंत्र रूप से या नाना प्रकार के खान-पानो से मिला कर देना चाहिये। इस घृत-साधन मे प्रस्थ का परिमाण ३२ पल समझना चाहिये[1] ॥ २३५-२४३ ॥

भवन्ति चात्र—व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् ।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥ २४४ ॥

अग्नि, बल की अपेक्षा से अग्नि बल को बढाने के लिये परस्पर अदल-बदल से मधुर और अम्ल तथा शीत और उष्ण क्रिया का प्रयोग करना चाहिये। एक वार मधुर रस फिर अम्ल, एक बार शीतक्रिया फिर उष्णक्रिया करनी चाहिये। इस प्रकार से अर्शजन्य रोग शान्त होते है ॥ २४४ ॥

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः ।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥ २४५ ॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिवृद्धे परिक्षयः ।
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ॥ २४६ ॥

अर्श, अतीसार और ग्रहणी ये तीन राग परस्पर एक दूसरे रोग की उत्पत्ति मे कारण है। इन तीनो रोगो मे अग्नि बल के घटने से रोग बढता है और अग्नि-बल के बढने पर रोग घटता। इसलिये इन तीन रोगो मे खास कर अग्नि के बल की रक्षा करनी चाहिये ॥ २४५—२४६ ॥

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ।
क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विचित्रैर्गुदजाञ्जयेत् ॥ २४७ ॥

भूने हुए शाको से (तैल, घी मे बने पत्तो के शाको से), यवागुओं से, यूषो से, मास रसो से, खड से तथा नाना प्रकार से दूध या तक्र का प्रयोग करने से अर्श-रोग की शान्ति करनी चाहिये ॥ २४७ ॥

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये ।
अन्नपानौषधद्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥ २४८ ॥

जो औषध वायु का अनुलोमन करे, जो खान-पान अग्नि को बढ़ाये, ये सब खान-पान तथा औषध प्रतिदिन अर्श रोगियो को सेवन करनी चाहिये ॥२४८॥

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यत्प्रदर्शितम् ।
गुदजाभिपरीतेन तत्सेव्यं न कदाचन[2] ॥ २४९ ॥

---

१. इस घृत को गदनिग्रह मे 'अवाक्पुष्पादि घृत' कहा है।

२ 'कथचन' इति वा पाठ'।

जो खान पान वायु का अनुलोमन न करे, अग्नि को न बढ़ाये तथा निदान कारणों में जिसकी गणना की गई है, वह सब अर्श-रोगी के लिये अपथ्य है। वह उनका सेवन कदापि न करे ॥ २४६ ॥

तत्र श्लोकाः—अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च ।
स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः ॥ २५० ॥
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः ।
शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥ २५१ ॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः ।
योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि त्रिविधानि च ॥ २५२ ॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः ।
शुष्काणामर्शसां शस्ताः स्राविणां लक्षणानि च ॥ २५३ ॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम् ।
रक्तसंग्रहणाः काथाः पेय्याश्च विविधात्मकाः ॥ २५४ ॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः ।
प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥ २५५ ॥
अतिप्रवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम् ।
तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते ॥ २५६ ॥

उपसंहार—दो प्रकार के अर्श-रोग की उत्पत्ति, पृथक् पृथक् इनके कारण, स्थान, आकृति, लक्षण, साध्य-असाध्य, अभ्यंग, स्वेदन, धूम प्रयोग, अवगाहन, प्रलेप, रक्त का अवसेक, दीपन-पाचन योग, वायु और मल की अनुलोमक खान पान विधि, संशमनीय योग, नाना प्रकार के घृत, बस्तियां, तक्र-प्रयोग, शुष्क अर्श रोगियों के लिये हितकारी शर्करारिष्ट, अरिष्ट, रक्तस्राव रोगियों के लक्षण, दो प्रकार का (वायु और कफ का) अनुबन्ध इनमें जो चिकित्सा योग्य नहीं है, रक्तसंग्राहक प्रयोग, नाना प्रकार की पेया, स्नेहपान विधि, खान-पान की श्रेष्ठ विधि, परिषेक, अवगाहन, प्रदेह, प्रतिसारण, रक्त के अति स्राव होने पर जो क्रिया करनी चाहिये, यह सब इस अर्श-रोग-चिकित्सा में कह दिया है ॥ २५०–२५६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽ-
र्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो ग्रहणीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
इति ह स्माऽऽह भगवानात्रेयः ॥ २ ॥

इसके आगे ग्रहणी-चिकित्सा की व्याख्या करते हैं। भगवान् आत्रेय ने ऐसा उपदेश किया है ॥ १–२ ॥

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ ३ ॥

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, उपचय (पुष्टि), प्रभा, ओज, तेज, अग्नियाँ और प्राण इन सब की स्थिति का कारण देह की जाठर अग्नि ही है[1] ॥३॥

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ ४ ॥

अग्नि के शान्त होने पर प्राणी मर जाता है और अग्नि के युक्त अर्थात् समभाव में रहने पर प्राणी देर तक नीरोग रह कर जीता है। अग्नि के विकृत होने (मन्द या तीक्ष्ण अथवा विषम हो जाने) पर मनुष्य रोगी हो जाता है। इसलिये देहाग्नि को आयु, वर्ण, बल आदि का प्रधान कारण कहा जाता है ॥४॥

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥ ५ ॥

जो अन्न (भुक्त द्रव्य) देह के धातु, ओज, बल, वर्ण आदि का पोषक है, वहाँ पर भी यही अग्नि कारण है। क्योंकि बिना पचे आहार से रस-आदि धातुओं की उत्पत्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥ ६ ॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ ७ ॥

आहार की परिपाक-विधि—आदान (ग्रहण करना) कर्म वाला प्राण वायु अन्न को कोष्ठ (आमाशय) में ले जाता है। यह अन्न द्रव-समूहों से (क्लेदक कफ के द्रव भाग से) मिल कर छिन्न भिन्न होकर टुकड़े २ हो जाता

---

१. गीता—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

है और स्नेह द्वारा (क्लेदक-कफ के स्निग्ध भाग के कारण) यह अन्न कोमल हो जाता है। उचित काल मे समयोग अर्थात् उचित मात्रा मे खाये हुए इस मृदु आहार को समान नामक वायु से प्रज्वलित जाठर अग्नि आयु की वृद्धि के लिये भली प्रकार से पचाता है[1] ॥ ६–७ ॥

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥ ८ ॥
अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुरात्प्राक् कफोद्भावात्फेनभूत उदीर्यते ॥ ९ ॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ १० ॥

जिस प्रकार पतीली मे रक्खे जल और चावलो को नीचे जलती हुई अग्नि पका कर भात मे बदल देती है, उसी प्रकार यह जाठराग्नि आमाशय मे स्थित आहार को पका कर (जीर्ण करके) रस और मल मे बदल देती है। आहार के प्रसाद भाग से रस बनता और शेष मल बन जाता है[2]।

खाते समय ही छः रस वाले अन्न के प्रथम पाक काल मे सबसे पूर्व मधुर रस (माधुर्य) उत्पन्न होता है। [थूक का 'टाईलीन' भोजन के निशास्ता भाग को शर्करा मे बदल देता है]। इससे झाग के समान कफ उत्पन्न होता है। पीछे से पचता हुआ यह अन्न विदग्ध होकर (आमाशय मे पहुच कर आमाशयिक रस की क्रिया होने पर) अम्ल-भाव मे परिणत हो जाता है। यह अम्लभूत अन्न जब आमाशय से निकल कर पच्यमानाशय (ग्रहणी के आन्त्र भाग) में आता है तब स्वच्छ पित्त बढता है[3] ॥ ८–१० ॥

---

१. आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा ऊष्मा वायुः क्लेद स्नेहः काल· समयोगश्चेति (चक्र०)।

२. कई आचार्य अन्न के पाक से तीन भागों की उत्पत्ति मानते हैं, स्थूल, सूक्ष्म और मल-भाग। जिस प्रकार गन्ने के रस को पकाने से उस पर बार-बार मलाई आती है, इसी प्रकार धातुओं के अग्नि द्वारा परिपाक होने पर अन्न के तीन भाग हो जाते हैं। (१) सूक्ष्म भाग अगली धातु मे जाता है और (२) स्थूल भाग उसी धातु का पोषण करता है। (३) मल भाग बाहर हो जाता है। अन्त मे शुक्राग्नि के पाक से स्थूल और सूक्ष्म दो ही भाग बनते हैं मल भाग नही रहता है।

३. पच्यमानाशय में आहार रस की क्रिया क्षारीय बन जाती है। इसमे

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः ॥ ११ ॥

जिस समय भुक्त आहार पित्ताशय मे पहुचता है और वहा पर अग्नि के द्वारा सुखाया जाता है तब पानी (द्रव) के सूख जाने से यह पक कर पिण्डित बन जाता है । इसके कटु-भाव से इस समय वायु की वृद्धि होती है । क्योंकि पच्यमानाशय मे आहार रस, आन्त्र रस, क्लोमरस तथा पित्ताशय के पित्त के मिलने से कटु बन जाता है, इसलिये अब वायु की वृद्धि होती है (क्योंकि कटु रस वायु को बढाता है) ॥ ११ ॥

अन्नमिष्टं ह्युपहृतमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च ॥ १२ ॥

इष्ट गन्ध आदि से युक्त प्रिय और हितकर अन्न शरीर मे पृथक् २ गन्ध आदि गुण घ्राण आदि इन्द्रियों को पृथक् २ तर्पण करता है । अर्थात् स्वादु और हितकर अन्न के पार्थिव आदि भाग अपने अपने गुणों से अपनी अपनी इन्द्रियो का तर्पण करते हैं ॥ १२ ॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान् स्वान्पार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥ १३ ॥

भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य और नाभस से पाच प्रकार की ऊष्माए आहार के अपने अपने पार्थिव आदि पाच प्रकार के गुणो का पाक करती है (पार्थिव आदि अपने अपने गुणों को बढ़ाती है) ॥ १३ ॥

यथास्वैरेव पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक्[१] ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषाश्च कृत्स्नशः ॥ १४ ॥

अन्न भी पाचभौतिक है, शरीर भी पाचभौतिक है । जाठराग्नि के द्वारा जब अन्न का पाक होता है उस समय भौम अग्नि अपने पार्थिव गुण को बढाती है, आप्य अग्नि जलीय गुण को, वायव्य अग्नि वायु गुण को, आग्नेय अग्नि अग्नि गुण का और नाभस्य अग्नि आकाश गुण को बढाती है । क्योंकि शरीर मे द्रव्यों के गुण पृथक् २ अपने २ अंशो से ही पुष्ट होते हैं । पार्थिव गुण पार्थिव गुणों को ही सम्पूर्ण रूप मे पुष्ट करते हैं और आप्य आदि शेष अंश अपने

अम्ली-क्रिया नही रहती क्योंकि पित्त, क्लोम रस, आन्त्र रस इसको क्षारीय बना देते हैं इससे कटु हो जाता है । बृहदान्त्र मे पानी का शोषण होने से मल कठोर हो जाता है ।

१ 'यथास्वं-स्व च पुष्यन्ति देहद्रव्यगुणाः पृथक्' इति ।

अपने आप्य आदि गुणो को ही पोषण देते है। यथा—गुरु, खर, कठिन आदि पार्थिव गुण है, ये गुण शरीर के गुरु, खर, कठिन आदि भावो को ही बढाएगे गुरु आहार से शरीर मे गुरुता ही आयगी, खर आहार से शरीर मे खरता की ही वृद्धि होगी ॥ १४ ॥

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः[1] ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः ॥ १५ ॥

देह का धारण करने वाले सात धातु अपनी २ अग्नियो द्वारा दो प्रकार के पाक को प्राप्त होते है। (१) किट्ट और (२) प्रसाद ॥ १५ ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः[2] ॥ १६ ॥

प्रसादज धातु—रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है[3] ।

(१) खलेकपोतन्याय—दाना बिखेर देने पर जिस प्रकार से बहुत मे कबूतर आकर बैठते है और दूर या निकट जाने की अपेक्षा स्वय चुग कर चल पड़ते है उसी प्रकार से एक ही काल मे सब धातुओ का पोषण आहार रस से होता है। (२) केदार-कुल्या-न्याय—अर्थात् रस ही उत्तरोत्तर धातुओ को आप्लावित करता है। जिस प्रकार कुल्या (खेत की नाली), प्रथम क्यारी को सींच कर अगली क्यारी मे चली जाती है इसी प्रकार से रस भी आगे जाता है। (३) क्षीर-दधिन्याय—जिस प्रकार से सम्पूर्ण दूध दही मे बदल जाता है, इसी प्रकार से सम्पूर्ण रस रक्त रूप मे परिणत होता है, रक्त मांस में इसी तरह। (४) उत्तरोत्तर धातुओ की वृद्धि—पूर्व धातु रस उत्तर धातु रक्त को बढ़ाता है। रस का प्रसाद भाग (सूक्ष्म भाग) रक्त को बढ़ाता है, रक्त का प्रसाद (सूक्ष्म भाग) मांस को बढाता है इसी प्रकार से आगे ॥१६॥

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः ।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः ॥ १७ ॥

उपधातु—रस से स्त्रियों मे स्तन्य (दूध) और आर्त्तव तथा रक्त से कण्डरायें और शिरायें (नाड़िया), मांस से वसा और छः त्वचायें और मेद से स्नायु की उत्पत्ति होती है ॥१७॥

---

१ 'द्विविधाश्च पुनःपुनः' इति । २ 'प्रजापते' इति च पाठः ।

३. धातुओं की उत्पत्ति प्रसाद भाग से ही है। रस से अगले धातु किस प्रकार बनते हैं, इसमे तीन मत हैं।

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः ।
पित्तं मासस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥ १८ ॥
स्यात्किट्टं केशलोमाऽस्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम् ।
प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः[1] ॥ १९ ॥

भुक्त अन्न का किट्ट (मल) मल और मूत्र है । रस का किट्ट कफ, रक्त का किट्ट पित्त, मास का किट्ट कान आदि इन्द्रियों का मैल, मेद का किट्ट स्वेद, अस्थियो का किट्ट केश ओर लोम, मज्जा का किट्ट त्वचा का स्नेह भाग और आखों का मैल । शुक्र से मलिन भाग नही बनता ।

इस प्रकार धातुओ का पाक दो प्रकार का होता है एक प्रसाद रूप में और दूसरा किट्ट रूप मे ॥१८–१९॥

परस्परोपसंस्तम्भा धातुस्नेहपरम्परा ।
वृष्यादीना प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥ २० ॥

प्रसाद और किट्ट ये दोना परस्पर एक दूसर के स्तम्भक हैं, इसी लिये धातु-समता को परम्परा चलती जाती है वृष्य आदि पदार्थों का प्रभाव तो शीघ्र ही शरीर मे बल का पोषण करता है[2] ॥२०॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम् ।
संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्[3] ॥ २१ ॥

कई आचार्य छः अहोरात्र (२४ × ६ = १४४ घण्टों) मे धातुओं का परिवर्त्तन मानते है । अर्थात् रस-धातु छ॰ दिन मे वीर्य रूप में बदलता है । पोष्य रस आदि धातुओ का चक्र के समान निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है[4] ।

---

१. 'पाकादेव विधः स्मृतः' इति वा पाठ॰ ।

२ देखिये सूत्रस्थान अ० २८ मे—"ते सर्वे एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्या पुष्यन्तः स्वमानमनुवर्त्तन्ते इत्यादि ।" (क) वृष्य वाजीकरण द्रव्य अपने प्रभाव से शीघ्र बल, ध्वज-प्रहर्ष उत्पन्न करते हैं । जैसे कि कहा भी है—"वाजीकरणास्त्वोषधय स्वबलगुणोत्कर्षाद् विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति ॥ ३ अतः पर क्वचित् पुस्तकेषु २२–३५ श्लोकाः पठ्यन्ते । ४. कई आचार्य (पराशर आदि) आठवे दिन शुक्र की उत्पत्ति मानते हैं । यथा—आहारोपभोगदिनात् श्व रसत्वं, तृतीयेऽह्नि रक्तत्वं, चतुर्थेऽह्नि मासता, मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे मज्जता, अष्टमे शुक्रता नियमेन भवति । (क) सुश्रुत में एक मास के अन्दर शुक्रोत्पत्ति मानी है । यथा—'तत्र रसगतो धातु अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः । स खलु त्रीणि त्रीणि कला-

[चक्रपाणि की मान्यता है कि धातुओं के परिवर्त्तन का कोई समय निश्चित नहीं है। जिस प्रकार एक बलवान् पुरुष यदि जल-चक्र को घुमाये तो पानी जल्दी निकल आता है और कमजोर घुमावे तो देर मे निकलता है। इसी प्रकार से तीव्र अग्नि दूध आदि वृष्य पदार्थ शीघ्रता से बल को उत्पन्न कर देते है। मन्दाग्नि हो तो देर मे शुक्रादि बनते है। सुश्रुत ने भी शब्द-सन्तान, अर्चिः सन्तान और जल सन्तान का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है[१]। जिस प्रकार शब्द-परम्परा, जल परम्परा और अर्चि. (प्रभा) परम्परा क्रमश मध्य, मन्द, तीक्ष्ण रूप मे बहती है, इसी प्रकार से धातु परिवर्त्तन भी न्यूनाधिक काल मे होता रहता है। जल-सन्तान के दृष्टान्त से कभी एक मास तक भी रस का शुक्र बनना कहा है। शब्द के दृष्टान्त से न अतिशीघ्र और न अतिविलम्ब से शुक्रोत्पत्ति होती है। ये सब दृष्टान्त चक्रदृष्टान्त से ही गतार्थ हो जाते है[२]]॥ २१ ॥

इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत् ।
रसाद्रक्तं विसदृशात्कथं देहेऽभिजायते ॥ २२ ॥
रसस्य च न रागो[३]ऽस्ति स कथं याति रक्तताम् ।

सहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धाताववतिष्ठन्ते, एवं मासेन रसः शुक्रीभवति, स्त्रीणा चार्त्तवम् ।'

इसलिये किसी ने कहा है—

'केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे ।
मासेन याति शुक्रत्वमन्न पाकक्रमादिति ॥'

१. सुश्रुत मे—स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम् ।

२ तत्र दृष्टान्तेन तु परिवृत्तिः कालानियम दर्शयति । तथा चक्र पानीयोद्धरणार्थं नियुक्त वाह्यमान बाहुबलप्रकर्षात् कदाचिद् आश्वेव प्रवर्त्तते कदाचिद् बाहुबलप्रकर्षात् चिरेण । एव धातवोऽपि अग्न्यादिसौष्ठवात् शीघ्रमेव परिवर्त्तन्ते । अग्न्यादिवैगुण्ये चिरेण वर्त्तन्ते इति । एव सुश्रुतेनापि 'स शब्दार्चिर्जलसतानवदणुविशेषेणानुधावत्येव शरीर केवलम् ।' इत्यत्र कृष्णात्रेयेण रसपरिणामोऽपि अग्न्यादिभेदेन प्रकृष्टाप्रकृष्टकालज उक्त एव । तत्रहि जलसतानदृष्टान्तेन चिरेण मासपर्यन्तेन शुक्रतापत्ती रसस्योक्ता । शब्दसतानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्र नातिचिराच्च शुक्रोत्पत्तिरुक्ता । अर्चिःसतानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्रं नचिराच्च शुक्रोत्पत्तिर्भवति । तदेतत् सकलं चक्रदृष्टान्तेन गृहीतं ज्ञेयम् ॥] ३. 'रगोऽस्ति 'इति वा ।

द्रवाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥ २३ ॥
द्रवधातोः स्थिरान् मांसान्मेदसः संभवः कथम्[१] ।
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥ २४ ॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा ।
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥ २५ ॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तथाऽस्थिमध्ये मज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥ २६ ॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम् ।

जब भगवान् आचार्य इस प्रकार से कह चुके तब शिष्य अग्निवेश ने पूछा हे भगवन्! इस शरीर मे रक्त के समान रस नही होता, फिर रस से रक्त बनता है यह कैसे? रस मे कोई रग या लालिमा नही है, फिर वह लाल कैसे हो जाता है। द्रवरूप रक्त से कठिन मांस-वस्तु किस प्रकार से पुरुषों मे बन जाती है। स्निग्ध चिकने मांस और मेद से अस्थियो मे खरता कैसे उत्पन्न हो जाती है? खुरदरी अस्थियो मे स्निग्ध और कोमल मज्जा कैसे आ जाती है? और यदि मज्जा के परिणाम से ही शुक्र बनता है, तो बुद्धिमान लोग शुक्र को सम्पूर्ण देह मे व्याप्त क्यो कर बतलाते है? अस्थियो के मध्य मे और मज्जा मे भी शुक्र रहता है, परन्तु अस्थियो मे कोई छिद्र दिखाई नही देता, फिर वह उनसे कैसे निकलता है ॥ २२–२६– ॥

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥ २७ ॥
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते ।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ २८ ॥

शिष्य अग्निवेश के इस प्रकार पूछने पर भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया कि सब मनुष्यों मे जो रसों का तेज है, उससे तथा पित्त की उष्णिमा के राग के कारण यह रस रक्तता को प्राप्त करता है।

[रसों का तेज ही पित्त है। क्योकि सुश्रुत मे कहा है—पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर मे उपलब्ध नही होती। इसलिये रस रक्त की अग्नि से ही परिपाक होने पर रक्तवर्ण हो जाता है। जैसा कि सुश्रुत मे कहा है—यकृत् और प्लीहा में पहुंच कर यह रस रक्तवर्ण हो जाता है] ॥ २७–२८ ॥

वाय्वम्बु[२] तेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम् ।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात्स्वोष्मणा पक्वमेव तत्[३] ॥ २९ ॥

---

१. 'रसात् रक्तात् तथा मांसान्मेदस' श्वेतता कथम्' इति च। २. 'वाय्वग्नितेजसा' इति च। ३ 'स्थिरतां प्राप्य शौक्ल्यं च मेदो देहेऽभिजायते' इति च।

स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते।
पृथिव्यग्न्यनिलादीना संघातः स्वोष्मणा[1] कृतः ॥ ३० ॥
खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्।
करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्ना मध्ये समीरणः ॥ ३१ ॥
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः।
यस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ॥ ३२ ॥

यह रक्त वायु, जल, तेज और उष्णमा से मिल कर स्थिरता को प्राप्त करके मास रूप हो जाता है। यही मास अपनी उष्णिमा से पक कर अपने मास के तेजोगुण और जलीय गुण की स्निग्धता के बढ़ने पर मेदोरूप हो जाता है। इसी मेद की उष्णिमा से पृथिवी, अग्नि, वायु आदि का सघात होकर यह मेद खर (कठिन) हो जाता है, जिससे मनुष्यो की अस्थिया बनती है। इन अस्थियो के मध्य मे वायु छिद्र उत्पन्न कर देता है। यह छिद्र-भाग मेद से भर जाते है। उससे स्नेह रूप मज्जा उत्पन्न होती है। इस मज्जा का जो स्नेह-भाग है, उससे शुक्र की उत्पत्ति होती है ॥ २९-३२ ॥

वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात्कुम्भादिवोदकम् ॥ ३३ ॥
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः।

वायु, आकाश आदि के कारण अस्थियो मे सच्छिद्रता होती है। इन छिद्रा से शुक्र ऐसे हा टपकता है, जैसे नये घड़े से जल टपकता है ॥ ३३ ॥

हर्षणोदारितं वेगात्सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ॥ ३४ ॥
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नमिवोदकम् ॥ ३५ ॥

यह उत्पन्न शुक्र इन्द्रिय की उत्तेजना और काम-सकल्प के कारण उत्पन्न हुए प्रहर्ष (उत्तेजना) से प्रेरित होकर सम्पूर्ण शरीर से शुक्रवाही-स्रोतों द्वारा वेग से आता है। जिस प्रकार ऊचे स्थान से जल नीचे की ओर बहकर निकल जाता है, उसी प्रकार (योनि सघर्ष आदि रूप) व्यायाम से उत्पन्न उष्णिमा से घी के समान द्रवीभूत होकर तथा अपने स्वाभाविक स्थान से खिसक कर वीर्य बस्तिदेश मे एकत्र होकर मूत्रमार्ग से निकल जाता है[2] ॥ ३४-३५ ॥

---

१. 'श्लेष्मणा' इति च। २. सुश्रुत मे भी कहा है—

'जिस प्रकार दूध में घी और गन्ने के रस में गुड़ छिपा रहता है इसी प्रकार पुरुषों के शरीर में शुक्र को समझें, वह सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त रहता है।'

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ ३६ ॥

विक्षेप करने वाला व्यान-वायु रस धातु को सम्पूर्ण शरीर मे सब ओर एक साथ समस्त शरीर मे फैला देता है ॥ ३६ ॥

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन् विकारान् कुरुते खे वर्षमिव[1] तोयदः ॥ ३७ ॥

निरन्तर गति करता हुआ वह रस स्रोतो के विकारो के कारण जहा कहीं भी रुक जाता है वहीं पर रोगो को उत्पन्न कर देता है । जिस प्रकार वायु द्वारा वेग से जाते हुए बादल जहा कहां भी रुक जाते है वहां पर बरसने लगते हैं। उसी प्रकार रस के रुकने से रोग उत्पन्न होते है । [रस शब्द का अर्थ ही गति वाला है, जो प्रतिदिन प्रतिक्षण चलता रहता है वह 'रस' कहाता है] ॥३७॥

दोषणामपि चेवं स्यात्तत्र देशे प्रकोपणम् ।

फैलने वाले दोषो का भी जहा पर इसी प्रकार से रुकाव (स्थान, सश्रय) हो जाता है, वही पर प्रकोप (रोग) हो जाता है[2] ।

इति भौतिकधात्वन्नपक्तृणां कर्म भाषितम् ॥ ३८ ॥

यह भौतिक अग्नि, धात्वग्नि और अन्न पाचक अग्नि के कर्मों का उपदेश कर दिया ॥ ३८ ॥

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो[3] मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥ ३९ ॥
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥ ४० ॥
यो हि भुक्ते विधिं मुक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् ।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ये ॥ ४१ ॥

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत्सम्प्रवर्त्तते ॥ सु० शा० ४ ॥

१. "करोति विकृतिं चात्र खे वर्षमिव" इति वा ।

२ सुश्रुत में—"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥"

३. 'मधिको' इति पाठान्तरम् ।

इन तीनो प्रकार की अग्नियो में से प्रधान अग्नि[1] अन्न का पाचक जाठराग्नि ही है। इस जाठराग्नि पर ही शेष अग्नियां निर्भर है। इस जाठराग्नि के बढ़ने पर ये बढ़ते है और इसके घटने पर ये घट जाते है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक विधि से अति हितकारी अन्नपान रूपी इंधन के द्वारा इस जाठराग्नि की सदा रक्षा करे। क्योंकि इसी अन्न-पाचक जाठराग्नि की स्थिति पर बल और आयु की स्थिति निर्भर है। जो मनुष्य विधि का त्याग करके आहार का सेवन करते हैं, वे लोभवश ग्रहणी के दोष से उत्पन्न होने वाले रोगो से पीड़ित होते है। [ग्रहणी दोष से उत्पन्न होने वाले चार प्रकार के रोगों का वर्णन आगे करेंगे] ॥ ३९–४१ ॥

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् ।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसंदुष्टभोजनात् ॥ ४२ ॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद् व्याधिकर्षणात् ।
देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात् ॥ ४३ ॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत् ॥ ४४ ॥

अजीर्ण के सामान्य कारण—भोजन न करने से (उपवास से), अजीर्ण मे (प्रथम भोजन के जीर्ण न होने पर) भोजन करने से, अतिभोजन से, विषमाशन से (बहुत थोड़ा या अकाल मे भोजन से), असात्म्य भोजन से, गुरु, शीत भोजन अथवा अति भोजन से, दूषित (बासी या दूषित) भोजन से, विरेचन, वमन अथवा स्नेह के विधिपूर्वक प्रयोग न करने से, किसी रोग के कारण कृशता या निर्बलता हो जाने से, देश, काल अथवा ऋतु की विषमता से, मल, मूत्र आदि के उपस्थित वेगों को रोकने से अग्नि दूषित हो जाती है। यह दूषित अग्नि थोड़े से भी आहार का परिपाक नहीं करता। परिपाक न होने से अन्न शुक्त अर्थात् अम्लीभाव से युक्त हो जाता है तथा इसमें विष के गुण आ जाते है। अर्थात् अपरिपक्व अन्न मृत्यु का भी कारण हो सकता है[2] ॥ ४२–४४ ॥

१ 'भौतिकाः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः। अग्नयः इति भूताग्नयः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त इति द्वादशाग्नयः।' इति च चक्रः० ॥

२ अन्यत्र भी कहा है—

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥ ४५ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम्।
अरोचकोऽविपाकश्च।

सामान्य लक्षण—विष्टम्भ (अन्न का कोष्ठ मे रुका रहना), सदन (शिथिलता), शिर मे दर्द, मूर्च्छा, भ्रम, पीठ मे वेदना, कमर में दर्द, जम्भाई का आना, अंगों में पीड़ा, प्यास, ज्वर, वमन, प्रवाहण (बार-बार पतला मल आना), अरुचि और अविपाक (भोजन का ठीक पाक न होना) ये अजीर्ण के सामान्य लक्षण है ॥ ४५- ॥

घोरमन्नविषं च तत् ॥ ४६ ॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णा मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥ ४७ ॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन्कफजान्कफसङ्गतः।
करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान्[1] ॥ ४८ ॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्।
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥ ४९ ॥

यह अन्न अब भयानक विष के समान हो जाता है। जिस समय यह अन्न-विष पित्त के साथ मिल जाता है, तब जलन, प्यास तथा मुख के रोगों को और अम्लपित्त को तथा पित्तजन्य अन्य विकारो को उत्पन्न करता है[2]।

कफ के साथ मिल कर यह अन्न-विष यक्ष्मा[3], पीनस, प्रमेह आदि कफजन्य रोगों को उत्पन्न करता है।

यह अन्नविष वायु के साथ मिल कर विष्टम्भ आदि पूर्व कहे लक्षणों के साथ वात से उत्पन्न शूल, अफारा आदि अन्य अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

१. 'वातजांश्च गदान् बहून्' इति वा। २ अम्ल-पित्त के लक्षण दूसरे ग्रन्थ में इस प्रकार हैं—'अविपाकक्लमोत्क्लेदतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं विनिर्दिशेत् ॥'

भोजन का न पकना, क्लान्ति होना, वमन की सी इच्छा, खट्टे डकार, भारीपन, हृदय और गले मे जलन और भोजन की अनिच्छा आदि लक्षणों से अम्ल-पित्त को जाने।

३. यक्ष्मा-रोग त्रिदोषज होता है तो भी स्रोतों के रुकने पर कफ ही मुख्य उपद्रव उत्पन्न करता है इसलिये उसको कफजन्य कहा है (चक्र०)।

यह अन्न-विष मूत्र मे स्थित होकर मूत्रसम्बन्धी रोगों को, मल मे आश्रित होकर उदर रोगों को, रस, रक्त आदि धातुओ मे आश्रित होकर रस आदि से उत्पन्न होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है[1] ॥ ४६-४९ ॥

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् ।

तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून्विशोषयति पावकः ॥ ५० ॥

विषम अग्नि अन्न का पाक विषम रूप मे करके धातुओ मे भी विषमता उत्पन्न कर देता है । तीक्ष्णाग्नि को यदि आहार रूप इंधन न मिले तो वह धातुओं को ही सुखाने लगता है ॥५०॥

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।

दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥ ५१ ॥

युक्त अर्थात् समाग्नि, हित और मात्रा मे खाये युक्त आहार को समता से परिपाक करके धातुओं को समानावस्था मे रखता है । दुर्बल अग्नि अन्न को विदग्ध करता है, यह विदग्ध अन्न या तो ऊर्ध्वमार्ग से (वमन के रूप में) निकल जाता है या अधोमार्ग, गुदा द्वार से विरेचन के रास्ते मलरूप मे बाहर होता है ॥ ५१ ॥

अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः ।

उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥ ५२ ॥

जब विदग्ध अन्न पके वा कच्चे मल के रूप मे नीचे के गुदा-मार्ग से निकलता है, तब उसको 'ग्रहणी' रोग कहते है । इस ग्रहणी-रोग मे सब प्रकार का अन्न प्रायः विदग्ध हो जाता है । रोगी स्निग्ध, रूक्ष, गुरु या लघु जो भी कुछ खाता है वह सब विदग्ध हो जाता है ॥५२॥

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते ।

तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः ॥ ५३ ॥

शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः ।

लोहामु[2]गन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥ ५४ ॥

ग्रहणी के लक्षण—ग्रहणी के रोगी का मल बहुत पतला अथवा बंधा हुआ या पानी के समान द्रवरूप होता है । रोगी को प्यास, अरुचि, मुख मे विरसता, मुख मे थूक का बहुत आना और तमक-श्वास रहता है । रोगी के हाथ-पाव पर

१ रोगों के लिये देखिये चरक सूत्रस्थान अ० २८ ॥

२. 'लोहाम' इति पाठान्तरम् । 'लोहानुगन्धि' शब्द का अर्थ 'लोहे के समान गन्ध' यह अर्थ आयुर्वेदाचार्य जयदेवजी ने किया है ।

सूजन हो जाती है। अस्थियो तथा पोरुओ मे दर्द रहता है। रोगी को वमन और ज्वर रहता है। रोगी को जो डकार (उद्गार) आते है उनमे रक्त की सी गन्ध रहती है, ये उद्गार तिक्त (कटु) और अम्ल रससे युक्त होते हैं[1]॥५३ ५४॥

पूर्वरूप तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥ ५५ ॥

ग्रहणी के पूर्वरूप—प्यास, आलस्य, बल की क्षीणता, अन्न का विदाह होना, अन्न का देर मे पचना और शरीर मे भारीपन प्रतीत होना ये ग्रहणी-रोग के पूर्वरूप है ॥ ५५ ॥

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ ५६ ॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्व सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्निबलाद् दुष्टा त्वाममेव[2] विमुञ्चति ॥ ५७ ॥

ग्रहणी का स्थान और निरुक्ति—ग्रहणी का स्थान अग्नि का आश्रय स्थान है। वह अन्न को ग्रहण करती है इस कारण इस को 'ग्रहणी' कहते है। यह ग्रहणी भाग नाभि से ऊपर कोष्ठ मे स्थित है। वहा पर यह ग्रहणी अग्नि के बल की सहायता से स्थित और पुष्ट होकर आमाशय से आये कच्चे (अपरिपक्व) अन्न को धारण करती है और दूसरे पके हुए अन्न को (क्षुद्र आतो मे) त्याग करती है। जब अग्नि दुर्बल होती है तो दुष्ट हुई ग्रहणी अपक्व अन्न को नही पचाती। वैसे का वैसे ही न पचे हुए अन्न को वह ग्रहणी इस मार्ग से त्याग करने लगती है[3] ॥ ५६–५७ ॥

---

१. सुश्रुत मे कहा भी है—

एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥
पक्व वा सरुज पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्त आयुर्वेदविदो जनाः ॥

२. 'दुर्बलाग्न्यबलाददुष्टादाममेव' इति च पाठः।

३. ग्रहणी भाग पर क्लोम रस, पित्ताशय का पित्त और आतों का आत्रीय रस आकर मिलते हैं। जिनकी सहायता से आमाशय से श्वेतरस (काईल) के रूप में आया-अपक्व आहार रस मिल कर पक्वावस्था मे आता है। जिस समय ग्रहणी भाग निर्बल हो जाता है उस समय उपरोक्त रस भोजन के साथ नहीं मिलते, जिससे वह अपक्वावस्था मे ही आतों मे चला जाता है। ये सब

वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च[1] ।
हेतुं लिङ्गं चिकित्सां च शृणु तस्य पृथक् पृथक् ॥ ५८ ॥

ग्रहणी रोग के भेद—ग्रहणी-रोग चार प्रकार का है (१) वातजन्य, (२) पित्तजन्य, (३) कफजन्य और (४) सन्निपातजन्य, । अब इन चारों के कारण, लक्षण और चिकित्सा पृथक् सुनो ॥ ५८ ॥

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीताल्प[2] भोजनैः ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ५९ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान्[3] ।

(१) वातजन्य ग्रहणी—कटु, तिक्त, कषाय, अति रूक्ष, अति शीत, अति अल्प भोजन से, मात्रा में न्यून भोजन से, अनशन (उपवास) से बहुत अधिक यात्रा वा परिश्रम से, मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अति मैथुन से कुपित हुआ वायु अग्नि को ढाप कर उसको मन्द करके अनेक रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ५९– ॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ६० ॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवंक्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥ ६१ ॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ६२ ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ ६३ ॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥ ६४ ॥

रस अग्नि गुण वाले अर्थात् क्षारीय होते हैं इसलिये ग्रहणी को अग्नि का आश्रय स्थान कहा है । इसी अग्नि पर ग्रहणी आश्रित है अर्थात् इन रसों के आने ही से उसका 'ग्रहणी' नाम सार्थक होता है । जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

षष्ठी पित्ता धरा नाम या कला परिकीर्त्तिता ।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्त्तिता
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः ।
तस्मात्संदूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति ॥ सु० उ० अ० ४० ॥

१. 'वातात् पित्तात् कफात्सर्वाद् ग्रहणीदोष उच्यते' इति पाठान्तरम् ।
२ 'शीतल' इति वा पाठः ।
३. 'करोति कुपितो मन्दमग्निं संछाद्य मारुतः' इति पाठान्तरम् ।

लक्षण—वातजन्य ग्रहणी मे अन्न का परिपाक बहुत कठिनता से होता है। पकने पर अन्न शुक्त (अम्लीभाव) हो जाता है। अगों मे रूक्षता, कर्कशता आ जाती है। गला और मुख सूखा रहता है, भूख और प्यास बढ जाती है, आखो के सामने अन्धेरा आता या दृष्टि मन्द हो जाती है, कानो मे गुजार रहती है, पाखो मे, जघाओ मे, वक्षण और ग्रीवा मे दर्द रहती है बार बार विसूचिका अर्थात् पतला मल तथा वमन आने की शिकायत रहती है। हृदय मे (आमाशय के कौड़ी भाग पर) वेदना, दुर्बलता, कृशता मुख मे विरसता और कोष्ठ मे कतॅन के समान वदना होती ह। मधुर आदि सब रसो की खान का चाह रोगी करता है, मानसिक शिथिलता आ जाती है। भाजनके जीर्ण होजाने पर या जीर्णावस्थामे आध्मान (अफरा) होता है। भोजनके करने पर रोगी को स्वास्थ्य का अनुभव होता है। रोगी को वातगुल्म, हृदयरोग और प्लीहा-रोग क आशका ननी रहती है।

रोगी बड़ी कठिनाई से बहुत देर मे पतला, शुष्क, पानी के समान, कच्चा, शब्द और झाग मिले मल का बार-बार त्याग करता है। रोगी को खासी और श्वास की शिकायत रहती है ॥ ६०–६४ ॥

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
अग्निमाप्लावयद्धन्ति जल तप्तमिवानलम् ॥ ६५ ॥

(२) पैत्तिक-ग्रहणी—कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार आदि के सेवन बढा हुआ पित्त अग्नि को आप्लावित करके उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे गरम पानी अग्नि को शान्त कर देता ह। पित्त-प्रकोपक वस्तुओं से पित्त मे उष्णिमा और द्रवाश दोनो बढते है। द्रवाश के कारण अग्नि बुझ जाती है॥६५॥

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥ ६६ ॥

लक्षण—रोगी का वर्ण पीला या नीला सा हो जाता है उसका मल पीला तथा पानी जैसा पतला होता है। रोगी का उद्गार (डकार) दुर्गन्धयुक्त और खट्टा होता है, हृदय और गले मे जलन होती है। रोगी का अरुचि और प्यास सताती है ॥ ६६ ॥

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥ ६७ ॥

(३) कफजन्यग्रहणी—गुरु, शीत, अति स्निग्ध भोजन के सेवन से अथवा अतिभोजन से, और भोजन के उपरान्त तुरन्त सो जाने से कुपित हुआ कफ अग्नि को नष्ट करता है ॥ ६७ ॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः ॥ ६८ ॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्र्यहर्षणम् ॥ ६९ ॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥ ७० ॥

लक्षण—रोगी का अन्न कठिनाई से पचता है, उसको जीमचलाना, वमन, अरुचि रहती है। लार से मुख लिपा सा रहता है, मुख मे मीठापन रहता है, खासी, बहुत थूक का आना, नाक मे प्रतिश्याय (जुकाम) रहता है। रोगी हृदय को रुका हुआ वा भारी मानता है, उदर स्तिमित (जकड़ा) वा भारी प्रतीत होता है। उद्गार दूषित और मधुर होता है, शरीर के अगों मे शिथिलता रहती है, स्त्रियो के सहयोग मे मैथुन की इच्छा जाग्रत नही होती। रोगी का मल फटा हुआ (छिछलेदार), आम (कच्चा) और कफ युक्त तथा भारी होता है। विना कृशता के भी शरीर मे दुर्बलता का अनुभव होता है, शरीर मे आलस्य रहता, काम करने को दिल नही चाहता ॥ ६८-७० ॥

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः ।
तं चापि ग्रहणीदोष समवर्ज प्रचक्ष्महे ॥ ७१ ॥

रोगानीक [विमानस्थान अ० ६] अध्याय मे जो चार प्रकार के अग्नि बतलाई है, उनमे भी समाग्नि को छोड कर शेष तीन (विषम, मन्द और तीक्ष्णाग्नि) अग्नियो को ग्रहणी दोष ही कहते हैं। वायु से विषमाग्नि, कफ से मन्दाग्नि और पित्त से तीक्ष्णाग्नि होता है ॥ ७१ ॥

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेत्तेषां—

(४) सन्निपातजन्य ग्रहणी—जिस स्थान पर वातजन्य, पित्तजन्य और कफजन्य ग्रहणियों के कारण और लक्षण एकत्र मिलित दिखाई देते हो उसको सन्निपातजन्य ग्रहणी समझना चाहिये[1]।

१ अतीसार और ग्रहणी मे भेद करना चाहिये। यथा—
साम शकृन्निराम वा जीर्णे येनातिसार्यते ।
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः ॥
साम सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्व तु नैव वा ।
अकस्माद् वा गुरुर्बद्धमकस्माच्छिथिल मुहुः ॥

भेषज शृण्वतः परम् ॥ ७२ ॥

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्छितम् ।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ॥ ७३ ॥
आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत् ।
फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥ ७४ ॥

अब ग्रहणी-रोग की चिकित्सा सुनो—

(१) आम दोष मे चिकित्सा—जिस समय आहार विदग्ध होता हो, विष्टम्भ (मल का अवरोध), मुख से लाला-स्राव, पीड़ा, विदाह, अरुचि और भारीपन हो उस समय ग्रहणी मे आश्रित दोषो को आम के लक्षणो से युक्त समझना चाहिये । [1]इसके लिये (१) रोगी को गरम सुहाते पानी से वमन कराना चाहिये । अथवा (२) मैनफल के क्वाथ से या पिप्पली और सरसो के क्वाथ से वमन कराना चाहिये । या (३) मैनफल के क्वाथ मे ही पिप्पली और सरसो का कल्क मिला कर वमन कराना चाहिये ॥ ७२-७४ ॥

लीनं पक्वाशयस्थं वाप्यामं स्राव्यं सदीपनैः ।
शरीरानुगते सामे रसे लंघनपाचनम् ॥ ७५ ॥

(२) यदि आम-दोष कोष्ठ मे लीन (छिपा या व्याप्त) हो अथवा पक्वाशय (आतो मे) मे पहुचा हो तो दीपनीय ओषधियो से रोगी को विरेचन देकर इस आम को निकालना चाहिये और यदि आम सम्पूर्ण शरीर मे (अपक्वावस्था मे) व्याप्त हो जाये तो रोगी को लघन और पाचन देने चाहियें ॥ ७५ ॥

विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम् ।
दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगाश्च दीपनान् ॥ ७६ ॥

(३) जिस समय रोगी का आमाशय शुद्ध हो जाये तब पचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोठ) और दीपनीय ओषधियो से साधित पेयादि लघु अन्न देने चाहिये और अन्य दीपनीय-योगो का प्रयोग करना चाहिये ७६

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम् ।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक् ॥ ७७ ॥

---

१ चिरकृद् ग्रहणी दोषः सञ्जाचोपवेशयेत् ॥ अ० स० ।

अतिसार मे मल अत्यधिक और साम तथा निराम बार-बार आता है । जब अन्न पचता नही तब ग्रहणी मे मल साम और भुक्त अन्न से युक्त होता है और जब अन्न पच जाता है तब मल पका हुआ आता है या आता ही नही । इसमे मल विना कारण ही बधा और विना कारण ही शिथिल आता है ।

(४) वातजन्य ग्रहणी मे पेया और दीपनीय योगो से जब आम का परिपाक हो जाये तब वैद्य को चाहिये कि सूत्रस्थान मे कहे (चतुर्थ) दीपनीय औषधियो से साधित घृत को थोड़ा थोड़ा करके देवे ॥ ७७ ॥

किंचित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं[1] निरूहयेत् ॥ ७८ ॥

(५) घृत के प्रयोग से जब अग्नि कुछ प्रदीप्त हो जाये तो यदि रोगी के मल, मूत्र और वायु रुके हों तो दो या तीन दिन घृत पान कराना चाहिये और रोगी को स्वेदन तथा तैल का अभ्यंग देकर आस्थापन कराना चाहिये ॥ ७८ ॥

तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥ ७९ ॥

(६) इस प्रकार से जब वायु शान्त हो जाये और दोष ढीले हो जाएँ तब एरण्ड तैल से अथवा यवक्षारयुक्त तिल्वक घृत से रोगी को विरेचन देना चाहिये ॥ ७९ ॥

शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥ ८० ॥

(७) रोगी के आशय और पक्वाशय जब शुद्ध हो जायें, तथा कोष्ठ या आशयों मे रूक्षता अनुभव होने पर, मल के बँध जाने पर अनुवासन देना चाहिये । इसके लिये दीपनीय अम्ल तथा वात-नाशक ओषधियों से तैल सिद्ध करके मात्रा मे अनुवासन देना चाहिये ॥ ८० ॥

निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम् ।
लघ्वन्नप्रतिसंभुक्तं[2] सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥ ८१ ॥

जब रोगी को निरूह बस्ति, विरेचन और अनुवासन भली प्रकार से दिये जा चुके तब पेया आदि लघु अन्न का भोजन करने वाले रोगी को घृत का पुन: धीरे धीरे अभ्यास कराना चाहिये ॥ ८१ ॥

द्वे पञ्चमूले सरलं देवदारु सनागरम् ।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ८२ ॥
शणबीजं यवान्कोलान्कुलत्थान्सुरभीस्तथा ।
पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥ ८३ ॥
चातुर्भागावशेषेण पचेत्तेन घृताढकम् ।

---

१. 'द्वित्रीण्यहानि सस्नेहं स्नेहाभ्यक्तः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'संभुक्तः' इति पाठान्तरम् ।

स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा च युक्तितः ॥ ८४ ॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रबिडाना रोमकस्य च ।
ससौवर्चलपाक्याना भागान्द्विपलिकान्पृथक् ॥ ८५ ॥
विनीय चूर्णितान् सिद्धात्ततो द्वे द्वे पले पिबेत् ।
करोत्यग्निबलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ॥ ८६ ॥

इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

(८) दशमूलाद्य घृत—क्वाथार्थ, दोनो पञ्चमूल (बिल्व की छाल, अरणी का छाल, सोनापाठा की छाल, गम्भारी की छाल, पाढल की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू), सरल काष्ठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, गजपिप्पली, सन के बीज, जौ, बेर, कुलत्थी, सुरभी (रास्ना) ये मिलित द्रव्य १६ पल, आरनाल (काजी) या दही (दही का मस्तु) अथवा सौवीरक काजी इनमे से कोई एक १२८ पल लेकर क्वाथ करना चाहिये । जब चतुर्थांश शेष रह जावे तब गाय का घृत एक आढक लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये । जब घृत सिद्ध होने के लगभग हो तो इसमे सर्जक्षार और यवक्षार का थोड़ी मात्रा मे प्रक्षेप देना चाहिये । फिर सैन्धा नमक, उद्‌भेद नमक, सामुद्र नमक, बिड् नमक, रोमक (साभर) नमक, सचल नमक, पाक्य (पाशुज) नमक, प्रत्येक का दो दो पल चूर्ण लेकर इसमे मिला देना चाहिये । इसमे से दो दो पल घृत पीना चाहिये । यह घृत अग्नि, बल और वर्ण को बढाता है, वायु को नष्ट करता है और खाये हुए आहार को पचाता है[1] ।

नमक आदि को कल्क रूप मे प्रक्षेप करके भी घृतपाक किया जा सकता है और विशेषतया गुण भी इसी विधि से पाक करने मे आता है । इसलिये कल्क रूप मे इनका प्रक्षेप देना चाहिये ॥ ८२—८६ ॥

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात्पले ।
सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रा मन्दानिलः पिबेत् ॥ ८७ ॥

इति त्र्यूषणाद्यं घृतम् ।

---

१. जतुकर्ण ने सर्जक्षार और यवक्षार की मात्रा दो दो पल कही है ।

द्वौ क्षारौ सप्त लवण दापयेद् द्विपलोन्मितम् ॥

अष्टाग-संग्रह मे यह पाठ थोड़े अन्तर से है । यथा—

'द्विपञ्चमूलपञ्चकोलसरलसुरदारुसुरभिगजपिप्पलीशणबीजकोलकुलत्थान्मस्तुनारनालेन वा पाचयेत् । तेन पादावशेषेण पञ्चलवणद्विक्षाराम्लबदरयुक्तं सर्पिर्विपक्वम् ।'

(९) त्र्यूषणाद्य घृत—त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आवला) मिलित एक पल, गुड़ १ पल इस कल्क से गाय का घृत ८ पल लेकर यथाविधि पाक करना चाहिये । इ० घृत को उचित मात्रा मे (आधा तोला) मन्दाग्नि वाले रोगी को पीना चाहिये ॥ ८७ ॥

पञ्चमूलाभयाजाजीपिप्पलीमूलसैन्धवैः ।
विडङ्गत्र्यूषणशटीरास्नाक्षारद्वयघृतम् ॥ ८८ ॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च ।
शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च ॥ ८९ ॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः ।
काञ्जिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥ ९० ॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् ।

(१०) पचमूलाद्य चूर्ण—पचमूल (बेल की छाल, सोनापाठा की छाल, अरणी की छाल, गम्भारी की छाल, पाढल की छाल), अभया (हरड़), व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), वायविडग, शटी ये दस द्रव्य, शुक्त, मातुलुग (गलगल, बड़ा नीबू) का स्वरस और आर्द्रक का स्वरस ये तीन द्रव, ये सब द्रव्य अलग अलग घृत के समान भाग मे लेने चाहिये । सूखी हुई मूली, बेर, नागरमोथा, चुक्रिका (चागेरी) और अनार, तक्र, मस्तु, सुरामण्ड, सौवीरक, काजी, तुषोदक और काजी इनसे घृत पाक करना चाहिये । इस पाकविधि मे पचमूलादि दस द्रव्यो को और मूली, बेर, नागरमोथा इनको कल्क के रूप मे बरतना चाहिये । यह घृत खूब अग्निवर्धक है । शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास, कास, वायु और कफ को नष्ट करता है ॥ ८८–९० ॥

सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद् घृतम् ॥ ९१ ॥
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च तैलमेतैः प्रयोजयेत् ।

(११) अथवा बिजौरे के स्वरस में उपरोक्त घृत को सिद्ध करके पीना चाहिये । इसमें भी पंचमूलादि दस द्रव्यो का कल्क रूप मे व्यवहार करना चाहिये । पचमूलादि से सिद्ध तैल को मालिश के लिये प्रयोग करना चाहिये । इसमे तक्र, मस्तु, सुरामण्ड, काजी आदि का उपयोग करना चाहिये ॥ ९१ ॥

एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥ ९२ ॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते ।
दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥ ९३ ॥

इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च ।

(१२) अथवा पञ्चमूलादि दस द्रव्यो के चूर्ण को गरम पानी के साथ पीना चाहिये। इस चूर्ण को वात, कफजन्य से आवृत ग्रहणी रोग में, आमयुक्त ग्रहणी रोग मे, कफजन्य या वात प्रबल ग्रहणी रोग मे इस चूर्ण का व्यवहार करना चाहिये यह चूर्ण अति अग्निवर्धक है[1] ॥६२-६३॥

मज्जत्यामाद् गुरुत्वाद्विद् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥ ६४ ॥
परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम्।
विधिनोपाचरेत्सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥ ६५ ॥

साम और निराम मल की परीक्षा—अति द्रव, सघात और शैत्य अथवा कफ से यदि मल दूषित न हो तो मल आम के कारण भारी होने से पानी में डूब जाता है और पक्व मल पानी मे तैरता है।

अपवाद—(१) अति द्रव होने के कारण आम-मल भी पानी मे तैरता है। (२) अतिसहित (घट्ट) होने से पक्व मल भी पानी मे डूब जाता है। (३) शैत्य और कफ से दूषित पक्व मल भी पानी में डूब जाता है।

इस प्रकार से प्रथम साम या दोषयुक्त निराम की परीक्षा करके भली प्रकार से वात या कफ दोष का निश्चय करके विधिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये अथवा पाचन-औषध देनी चाहिये। जिससे आम का परिपाक हो जाये ॥ ६४–६५ ॥

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च।
व्योषं हिङ्ग्वजमोदा च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥ ६६ ॥
गुडिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा।
कृता विपाचयन्त्यामं दीपयन्त्याशु चानलम् ॥ ६७ ॥

इति चित्रकाद्या गुडिका।

(१३) चित्रकाद्या गुडिका—चीता, पिप्पलीमूल, सर्जक्षार, यवक्षार, पाचों नमक (सैन्धव, विड, साभर, सचल और उद्भिद), व्योष (सोठ, मरिच और पिप्पली), हीग, अजवायन, चविका इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये[2]। इस चूर्ण मे मातुलुग (गलगल) का रस अथवा

---

१ आम का लक्षण—आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः।
आद्य आहार धातुर्यः स आम इति सञ्ज्ञितः॥
आमं अन्नरस केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्।
प्रथम दोषदुष्टिं च केचिदाम प्रचक्षते॥

२ कोई कोई पाच के स्थान में तीन नमक डालने का आदेश देते हैं।

अनार का रस मिला कर गोलिया बना लेनी चाहियें, ये गोलिया आम का परिपाक करनी और अग्नि को बढ़ाती है ॥ ९६–९७ ॥

नागरातिविषामुस्तक्काथः स्यादामपाचनः ।
मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा ॥ ९८ ॥
देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः ।
वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत् ॥ ९९ ॥
वर्चस्यामे सशूले च पिबेद्वा दाडिमाम्बुना ।
बिडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥ १०० ॥
सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत् ।

(१४) छः योग—(१) सोठ, अतीस, मोथा इनका क्वाथ पीने से आम का पाचन होता है। अथवा (२) सोठ, अतीस, मोथा, हरड़ या इनके सोठ चूर्ण को गरम पानी से पीना चाहिये। (३) देवदारु, बच, मोथा, सोंठ, अतीस और हरड़ इनके चूर्ण को भवके मे खींच वारुणी के पानी के साथ पीना चाहिये अथवा (४) गरम पानी में नमक मिला कर पीना चाहिये, अथवा (५) अनार के रस के साथ पीना चाहिये। इससे कर्त्तन के समान पीड़ा और आमयुक्त मल नष्ट होता है। (६) आमयुक्त मल मे अथवा शूल होने पर बिड् (काला नमक), सैन्धा नमक, बेलगिरी, चीता और सोठ इनको पीस कर अनार के रस के साथ पीना चाहिये ॥ ९८–१०० ॥

कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥ १०१ ॥

(१५) यदि उदर मे शूल आम के कारण या वात मिश्रित कफ के कारण से होती हो तो इन्द्रजौ, हीग, अतीस, बच, सौवर्चल (सचल नमक) और हरड़ इनके चूर्ण को अनार के रस के साथ पीना चाहिये ॥ १०१ ॥

छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा ।
पथ्यासौवर्चलाजाजिचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥ १०२ ॥

(१६) वमन, अर्श, ग्रन्थि-शूल मे—हरड़, सचल नमक, काला जीरा और मरिच इनके चूर्ण को गरम पानी से पीना चाहिये ॥ १०२ ॥

अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम् ।
पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥ १०३ ॥
पिबेन्निकाथ्य चूर्णानि कृत्वा कोष्णेन वारिणा ।
पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥ १०४ ॥

(१७) पित्त-कफजन्य ग्रहणीरोग में यदि तीव्र शूल होरहा हो तो हरड़,

पिप्पलीमूल, बच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चीता और सोंठ इनका क्वाथ करके पीना चाहिये अथवा इनके चूर्ण का गरम पानी से पीना चाहिये ॥१०३-१०४॥

सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गुवत् ।
निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥१०५॥

(१८) आमयुक्त शूल मे—अतीस, सोंठ, मरिच, पिप्पली, सैन्धा नमक, यवक्षार और हींग इनका क्वाथ करके पीना चाहिये । अथवा इनके चूर्ण को गरम पानी के साथ पीना चाहिये ॥१०५॥

पिप्पली नागरं पाठा सारिवा बृहतीद्वयम् ।
चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥ १०६ ॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः ।
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ॥ १०७ ॥
इति पिप्पल्याद्यं चूर्णम् ।

(१९) अग्नि को बढ़ाने के लिये और उदर की वायु को शान्त करने के लिये पिप्पल्याद्य चूर्ण—पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा, कटेरी और बड़ी कटेरी, चीता, इन्द्रजो, पांचो नमक (सैन्धव, सचल, साभर, विड और उद्भिद) और यवक्षार इन सबका चूर्ण बना कर दही या गरम पानी अथवा सुरा या काजी आदि के साथ पीना चाहिये ॥१०६–१०७॥

मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक् ।
पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलाशिकाः ॥ १०८ ॥
सौवर्चलं बिडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः ।
शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिराटिका ॥ १०९ ॥
तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥ ११० ॥
इति मरिचाद्यं चूर्णम् ।

(२०) मरिचाद्य-चूर्ण—मरिच, कुञ्चिका (काला जीरा), अम्बष्ठ (पाठा), वृक्षाम्ल (समगदाना) पृथक्-पृथक् एक कुडव, अम्लवेतस दस पल, संचल, विड् नमक, पाक्य (सामुद्र) नमक, यवक्षार, सैन्धा नमक, शटी, पोहकरमूल, हींग, हिंगुशिराटिका (डीकामारी) ये प्रत्येक आधा पल लेकर सबको बारीक चूर्ण कर लेना चाहिये । यह चूर्ण वातजन्य ग्रहणी-रोग तथा अरुचि मे लाभदायक है ॥ १०८–११० ॥

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणाच्च पलत्रयम् ।
लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥ १११ ॥
संचूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत् ।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डूवामयशूलनुत् ॥ ११२ ॥

(२१) चार प्रकार के अम्लों (वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, अनार और बेर अथवा कैथ, चौपतिया, वृक्षाम्ल और अनार[1]) का एक प्रस्थ, सोंठ, मरिच और पिप्पली मिलित तीन पल, पाचों नमक (सैन्धव, सञ्चल, सामुद्र, विड् और उद्भिद) मिलित चार पल, शर्करा आठ पल मिला कर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को शाक, दाल, राग (व्यञ्जन विशेष) आदि मे मिलाना चाहिये। यह चूर्ण कास, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृदयरोग, पाण्डुरोग और गुल्म को नष्ट करता है ॥ १११-११२ ॥

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान् ।
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ११३ ॥
शिलोद्भेदं तथाऽजाजी पिष्ट्वा बदरसंमितान् ।
परिभर्ज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक् ॥ ११४ ॥
रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ।
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी ॥ ११५ ॥

इति पञ्चप्रकारयवागूः ।

(२२) पाच प्रकार की यवागू—चविका, दालचीनी, पिप्पलीमूल, धाय के फूल, सोंठ, मरिच, पिप्पली और चीता, कैथ, बिल्व, पाठा, शाल्मल (सीवल का गोंद), गजपिप्पली, शिलोद्भेद (शैलेय), अजाजी (जीरा) प्रत्येक छः मासा लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को घी मे भून लेना चाहिये। फिर दही और कैथ का स्वरस, चांगेरी (चौपतिया) का रस, वृक्षाम्ल (समगदाना) और अनार के रस से यवागू पृथक् २ बनानी चाहिये। अथवा सब को मिश्रित करके यवागू सिद्ध करनी चाहिये। यह पाच प्रकार की यवागू सब प्रकार के अतिसार, गुल्म, मन्दाग्नि, अर्श और प्लीहा-रोग को नष्ट करती है ॥ ११३-११५ ॥

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ॥ ११६ ॥

---

१. चार अम्ल—'वृक्षाम्लं मातुलुङ्गाम्लं बदरं चाम्लवेतसम् ।
चतुरम्लमिदं प्रोक्तं पञ्चाम्लं तु सदाडिमम् ॥'

क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ।
तक्रारनालमद्यानि पानार्थेऽरिष्ट एव च ॥ ११७ ॥

(२३) भोजन के लिये जागल पशु पक्षियो का मास रस अथवा मास खाने वाले पशुओ के मास-रस को पचकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चीता और सोठ), मूली और मरिच इनसे सस्कृत करके घी आदि से स्निग्ध करके तथा अनार और दही से खट्टा करके देना चाहिये । यह रस अग्नि-दीपक होता है । मुद्ग यूष को भी पचकोल आदि से सस्कृत करके और घी से भून कर अनार आदि से खट्टा करके देना चाहिये । पीने के लिये छाछ, काजी, मद्य और अरिष्ट देने चाहिये ॥ ११६–११७ ॥

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात् ।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥ ११८ ॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम् ।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥ ११९ ॥
तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणा तथाऽर्शसाम् ।
विहिता ग्रहणी दोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत् ॥ १२० ॥

(२४) तक्र-प्रयोग—तक्र के दीपन (अग्निदीपक), संग्राही और लघु होने से यह तक्र ग्रहणी रोग मे हितकारी है । तक्र का विपाक मधुर है, इसलिये यह पित्त को प्रकुपित नहीं करता । कषायरस उष्णवीर्य और विकासी (सब सूक्ष्म स्रोतों मे प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति वाला) और रूक्ष होने से कफजन्य ग्रहणी मे हितकारी है । तुरन्त मथा हुआ तक्र स्वादु (मधुर) पाक, अम्ल रस और सान्द्र (स्नेहयुक्त) होने से वातजन्य ग्रहणी मे हितकारी है । तुरन्त मथा हुआ तक्र विदाह उत्पन्न नही करता । इसलिये उदर रोगियो और अर्श रोगियों के लिये जो तक्र के प्रयोग कहे है वे सब ग्रहणी रोग मे प्रयोग करने चाहियें ॥११८-१२०॥

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् ।
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ॥ १२१ ॥
तक्रकं सासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः ।
दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम् ॥ १२२ ॥

इति तक्रारिष्टः ।

(२५) तक्रारिष्ट—अजवायन, आंवला, हरड़, मरिच ये सब मिलित तिहाई पल और मिलित पाचों नमक (सैन्धा, सामुद्र, बिड्, संचल और उद्-भिद) चौथाई पल मिला कर सबका चूर्ण कर लेना चाहिये । इसको तक्र के

साथ पीना चाहिये और जिस समय तक्रारिष्ट मे अम्लता उत्पन्न हो जाये तब उसको पीना चाहिये। यह अरिष्ट अग्निदीपक, शोथ, गुल्म, अर्श, कृमिरोग, प्रमेह और उदर-रोग को नष्ट करता है ॥ १२१-१२२ ॥

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक्।
पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा ॥ १२३ ॥
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः।
जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥ १२४ ॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः।
तस्याग्नि दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिर्वा सतिक्तकैः ॥ १२५ ॥

(२६) जिस समय कुपित पित्त अपने स्थान पर पहुँच जाय और अग्नि को कम करता हो उस समय इसको वमन या विरेचन द्वारा बाहर करना चाहिये।

अग्नि को बढाने के लिये विदाह न करने वाले, लघु अन्नों को तिक्त पदार्थों से मिला कर देना चाहिये। जागल पशु पक्षियो के मास-रस को, मूग आदि के यूष को, खडो को अनार आदि से खट्टा करके दीपनीय और ग्राही वस्तुओं (तक्र आदि या कैथ, बिल्वगिरी आदि) के साथ घी मिला कर देना चाहिये। अथवा कुष्ठ रोग मे कहा तिक्त घृत या तिक्त वस्तुओ से साधित घृत देना चाहिये ॥ १२३–१२५ ॥

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्।
षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥ १२६ ॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान्।
कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥ १२७ ॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात्पचेत्।
किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥ १२८ ॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे।
तिक्तकं यद् घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥ १२९ ॥

इति चन्दनाद्यं घृतम्।

(२७) चन्दनाद्य घृत—चन्दन, पद्माख, खस, पाठा, मूर्वा, कुटन्नट (कैवर्त्तमुस्ता), वच, शारिवा, आस्फोता (सारिवा या कपूर माधुरी), सतवन आटरूषक (वासा), पटोल, गूलर, पीपल, बड़, पिलखन, कपीतन (पारस पीपल), कुटकी, माथा और नीम प्रत्येक द्रव्य दो पल लेकर एक द्रोण पानी मे इनका क्वाथ करना चाहिये और जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब इसको छान

लेना चाहिये। इसमे घृत १ प्रस्थ और कल्कार्थ—चिरायता, इन्द्रजौ, वीरा (शालपर्णी या शतावरी), मागधिका (पिप्पली) और कमलगट्टा प्रत्येक एक-एक अक्ष लेकर इनका कल्क करना चाहिये। इन सबो को मिला कर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत पित्तजन्य ग्रहणी रोग मे हितकारी है। कुष्ठ रोग मे जो तिक्त घृत [दो] कहे है उनका भी प्रयोग करना चाहिये ॥ १२६–१२६ ॥

नागरातिविषे मुस्तं धातकी सरसाञ्जनम्।
वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठा कटुकरोहिणीम् ॥ १३० ॥
पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना।
पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥ १३१ ॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम्।
नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥ १३२ ॥

इति नागराद्यं चूर्णम्।

(२८) नागराद्य चूर्ण—सोठ, अतीस, मोथा, धाय के फूल, रसाजन (रसौत), कुड़े की छाल और बेलगिरी, पाठा, कुटकी इन सब का समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को शहद मे मिला कर चावलो के धोवन के साथ पीना चाहिये। इससे पित्तजन्य ग्रहणी रोग मे तथा जब मल मे रक्त आता है तब आराम होता है। अर्श, गुदा मे शूल और प्रवाहिका भी इससे नष्ट होते है। यह नागराद्यचूर्ण कृष्णात्रेय से प्रशंसित है इसलिये यह सिद्ध योग है ॥ १३०–१३२ ॥

भूनिम्बं कटुकं व्योषं मुस्तमिन्द्रयवान् समान्।
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥ १३३ ॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत्।
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ॥ १३४ ॥

इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम्।

(२९) भूनिम्बादि चूर्ण—भूनिम्ब (चिरायता), कटुक (कटु), सोठ, मरिच, पिप्पली, मोथा, इन्द्रजौ प्रत्येक वस्तु समान भाग, चित्रक दो भाग और कुड़े की छाल १६ भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को ठण्डे पानी मे बने गुड़ के शर्बत के साथ पीना चाहिये। गुड़ इतना डालना चाहिये जिससे शर्बत मीठा हो जाये। इससे ग्रहणी रोग, गुल्म, कामला, ज्वर, पाण्डु प्रमेह, अरुचि और अतिसार नष्ट होता है ॥ १३३–१३४ ॥

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम्।

श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः ॥ १३५ ॥
दार्वीं पर्पटकं मूर्वां[1] यवानीं मधुशिग्रुकम्।
पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ॥ १३६ ॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च।
त[2]द्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ॥ १३७ ॥

(२८) वच, अतीस, पाठा, सतवन रसांजन (रसोत), श्योनाक (सोनापाठा), उदीच्य, (नेत्रवाला), कट्वंग (श्योनाक) [दो बार पढने से दो बार लेना चाहिये], वत्सकत्वग् (कूडे की छाल), दुरालभा (धमासा), दार्वी (दारुहल्दी), पित्तपापड़ा, मूर्वा, अजवायन, मधु, शिग्रु (मीठा सुहाजना), पटोलपत्र, सिद्धार्थ (श्वेत सरसों), यूथिका (जूई) और चमेली के पत्ते, जामुन, बेलगिरी, आम की गुठली और नीम तथा शाक-वृक्ष के फल इनको कूट कर चूर्ण कर लेना चाहिये। इसको गुड़ के शर्बत के साथ पीना चाहिये अथवा भूनिम्बादि गण की वस्तुओं से मिलाकर खाना चाहिये। इससे उपरोक्त रोग शान्त होते हैं[3] ॥१३५–१३७॥

किराततिक्तं षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम्।
चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वी त्वक् कटुरोहिणी ॥ १३८ ॥
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यवानी देवदारु च।
पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ॥ १३९ ॥
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वापर्पटकं तथा।
तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्यजलेन वा ॥ १४० ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान्।
कामलां सन्निपातं[4] च मुखरोगांश्च नाशयेत् ॥ १४१ ॥
इति किराताद्यं चूर्णम्।

(२९) किराताद्य चूर्ण—चिरायता, षड्ग्रन्था (वच), त्रायमाणा, सोंठ मरिच, पिप्पिली, चन्दन, पद्माख, उशीर, (खस), दारुल्हदी, दालचीनी, कुटकी, पटोल, नीम के पत्ते, इलायची, सौराष्ट्र (सुराष्ट्री), अतीस, त्वच (दालचीनी), मीठे सुहाजने के बीज, मूर्वा, पित्तपापड़ा इनको समान भाग लेकर इसका चूर्ण करना चाहिये। इस चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिये। अथवा

१. पाठा इति पाठान्तरम्। २ हृद्रोग इति पाठान्तरम्। ३. शाक वृक्ष के लिये डल्हण ने लिखा है कि—'कर्कशमसृणपृष्ठोदरपत्रो वृक्षः, महाखरपत्र'। यह सागोन का भेद प्रतीत होता है। ४. 'पाण्डुरोग च' इति वा पाठः।

मद्य या जल के साथ पीना चाहिये। यह चूर्ण हृदयरोग, पाण्डु, ग्रहणीरोग, गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वर, कामला, सन्निपात ज्वर तथा मुखरोगों को नष्ट करता है ॥ १३८-१४१ ॥

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि ।
कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत् ॥ १४२ ॥

(३०) कफजन्य ग्रहणीरोग में रोगी को प्रथम यथाविधि वमन कराना चाहिये। फिर कटु, अम्ल, लवण, क्षारों से तथा तिक्त वस्तुओं से अग्नि को बढ़ाना चाहिये ॥ १४२ ॥

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम् ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं पठा नागरधान्यकम् ॥ १४३ ॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम् ।
पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधिताम् ॥ १४४ ॥

(३१) ढाक, चीता, चविका, मातुरंग (बिजोरा), हरड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, सोंठ और धनिया प्रत्येक वस्तु एक एक कर्ष लेकर एक प्रस्थ पानी में पकाना चाहिये। जब चतुर्थांश शेष रह जाये तब इनको छान लेना चाहिये। यही पानी पीने के लिये देना चाहिये। ढाक आदि वस्तुओं से साधित यवागू खाने के लिये देनी चाहिये ॥ १४३-१४४ ॥

शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः ।
कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥ १४५ ॥
अम्लं चानुपिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा ।

(३२) सूखी हुई मूली के यूष के साथ अथवा कुलत्थी के यूष के साथ या कटु, अम्ल, क्षार और नमक के साथ लघु-भोजन खिलाना चाहिये। पीछे से खट्टी छाछ या तक्रारिष्ट पीना चाहिये। अग्नि की वृद्धि के लिये अम्ल-तक्र ही उत्तम है ॥ १४५- ॥

मदिरा मध्वरिष्टं वा निगदं शीधुमेव वा ॥ १४६ ॥
द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गाना ततोऽर्धतः ।
चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात्तथा भल्लातकाढकम् ॥ १४७ ॥
मञ्जिष्ठात्रिपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत् ।
द्रोणशेषे तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥ १४८ ॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते ।
कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः कफपित्तजित् ।
शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत् ॥ १५० ॥

इति मध्वासवः ।

(३३) मध्वासव—मदिरा अथवा मधु अरिष्ट या निर्दोष सीधु एक द्रोण, महुए के फूल और वायविडंग प्रत्येक आधा द्रोण, चीता चौथाई द्रोण, भिलावा १ आढक, मजीठ तीन पल इन सबको तीन द्रोण पानी में पकाना चाहिये । जब एक द्रोण पानी रह जाये तब इसको छान लेना चाहिये । इसके ठण्डा होने पर इसमें शहद आधा आढक मिला देना चाहिये । फिर इलायची, कमलनाथ, अगरु और चन्दन से लिप्त घड़े में इसको भर कर एक मास तक रख देना चाहिये । जिस समय यह बन जाये तब इसको पीना चाहिये । यह आसव ग्रहणी (अग्नि) का बढ़ाता है, पुष्टि देता है, कफ, पित्त का शमन करता है । शोथ, कुष्ठ, किलास और प्रमेहरोग को नष्ट करता है ॥१४६–१५०॥

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् ।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥ १५१ ॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत्सर्वान् हिताशनः ।
तद्वद् द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥ १५२ ॥

इति मधूकासवः ।

(३४) मधूकासव—महुए के फूलों का स्वरस निकाल कर इसका शृत-कषाय करना चाहिये । जब आधा शेष रह जाये इसमें चतुर्थांश शहद मिलाकर पूर्व की भांति घड़े में रख देना चाहिये । इसके पीने से सब ग्रहणी-रोग नष्ट हो जाते हैं । इसको पीते समय रोगी को पथ्य का सेवन करना चाहिये । इसी प्रकार से द्राक्षा, खजूर के स्वरसों से भी आसव तैय्यार करके पीने चाहिये१५१–१५२॥

प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च ।
मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥ १५३ ॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम् ।
सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥ १५४ ॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गाना च चूर्णितैः ।
कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥ १५५ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत् ।
स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः ॥ १५६ ॥

इति दुरालभासवः ।

(३५) दुरालभासव—दुरालभा (धमासा) दो प्रस्थ, आवला १ प्रस्थ, चीता और दन्ती दो पल, नई (हरी) हरड़ें १००, इनको चार द्रोण पानी मे पकाना चाहिये। जब एक द्रोण शेष रह जाये तो छान लेना चाहिये। ठण्डा होने पर इसमे गुड़ २०० पल और मधु १ कुड़व मिलाना चाहिये। प्रियगु, पिप्पली और विडग इनका मिलित चूर्ण ३ कुड़व मिलाना चाहिये। इन सब को घृत से भावित घड़े मे पन्द्रह दिन तक रख देना चाहिये। जब यह तैय्यार हो जाये तब इसको पीना चाहिये। इसके पीने मे ग्रहणी रोग, पाण्डु राग, अर्श, कुष्ठ, वीसर्प और प्रमेह रोग नष्ट होते है, स्वर और कान्ति बढती है, रक्त, पित्त और कफ का नाश होता है ॥१५३–१५६॥

हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरकर्षभजीवकम्।
एषा पञ्च पलान् भागाश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत्॥ १५७॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक्।
चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान्॥ १५८॥
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान्।
लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत्तु तम्॥ १५९॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित्।
आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत्॥ १६०॥

इति मूलासवः।

(३६) मूलासव—हरिद्रा (हल्दी), दोनों पचमूल (बेलगिरी, सोना-पाठा, गम्भारी, अरणी, पाढला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कटेरी, बड़ी कटेरी और गोखरू), वीरा (शतावरी), जीवक, ऋषभक ये मिलित पाच पल लेकर चार द्रोण पानी मे पकाना चाहिये और जब एक द्रोण रह जाये इसको छान लेना चाहिये। इसमे गुड़ २०० पल मिलाना चाहिये, प्रियङ्गु, माथा, मजीठ, बाय-विडग, मुलहठी, प्लव (कैवर्तमुस्ता), लोध, पठानी लोध इनका मिलित आधा कुडव लेकर तथा मधु आधा कुडव लेकर मिला देना चाहिये। इसको १५ दिनो तक घड़े मे बन्द करके रख देना चाहिये। यह मूलासव अग्नि-दीपक, रक्त-पित्तनाशक, आनाह, कफ रोग, हृदयरोग, पाण्डु रोग और अङ्गो की पीड़ा को नष्ट करता है ॥ १५७–१६०॥

प्रास्थिकं पिप्पली पिष्ट्वा गुडं मध्यं बिभीतकात्।
उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत्॥ १६१॥
तस्मात्पलं सुजातात्तु सलिलाञ्जलिसंयुतम्।
पिबेत्पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः॥ १६२॥

स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः सिद्धं रसायनम् ।
इच्छन्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां ये प्रकीर्तिताः ॥ १६३ ॥
इति पिण्डासवः ।

(३७) पिण्डासव—पिप्पली, गुड और बहेड़े की मज्जा प्रत्येक एक एक प्रस्थ और पानी भी एक प्रस्थ लेकर इनको घड़े में रख कर जौ के ढेर में दबा देना चाहिये । जब यह तैयार हो जाये तो चूर्ण की मात्रा १ पल और पानी की मात्रा चार पल पीनी चाहिये । यह पिण्डासव सब रोगों को नष्ट करता है । स्वस्थ व्यक्ति भी यदि एक मास तक इसका सेवन करे, तो उसको रसायन का फल होता है । इसके पीने से रोगों की उत्पत्ति नहीं होती है ॥१६१–१६३॥

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते ।
मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥ १६४ ॥
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा ।
चतुर्थिकांशाः त्वक्क्षीरी केशरं मरिचानि च ॥ १६५ ॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनम् ।
हरेण्वेलुकतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ १६६ ॥
कार्षिकांस्तान् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥ १६७ ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान् ।
वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥ १६८ ॥
इति मध्वरिष्टः ।

(३८) मध्वरिष्ट—नये घड़े को अगरु का धुआ देकर इनमें पिप्पली और मधु का लेप करके इसमें मधु एक आढक, जल चार प्रस्थ (शहद के बराबर मिला कर रख देना चाहिये । इसमें वायविडंग २ पल, पिप्पली ४ पल, वंश-लोचन, नागकेशर और मरिच मिलित १ पल, दालचीनी, इलायची, तेजपत्र, शठी, सुपारी, अतीस, नागरमोथा, हरेणु, रेणुका, तेजोह्वा (धामन), पिप्पलीमूल, चीता प्रत्येक वस्तु एक कर्ष मिला कर एक मास तक रख देना चाहिये । यह अरिष्ट मन्दाग्नि को बढाता है, यह योग विषमाग्नि को समान करता है, हृदय रोग, पाण्डु, ग्रहणी रोग, कुष्ठ, अर्श, शोथ, ज्वर, वात, कफजन्य रोगों को नष्ट करता है ॥ १६४–१६८ ॥

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।
मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ॥ १६९ ॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना ।

श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥ १७० ॥
एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते ।
गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ॥ १७१ ॥

(३६) पिप्पली, पिप्पलीमूल, सर्जक्षार, यवक्षार, पाचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, बिड्, सचल और उद्भिद), बिजोरा, हरड, रास्ना, शठी, मरिच और सोंठ इनको समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। इस चूर्ण को गरम पानी के साथ पीना चाहिये। इससे कफजन्य ग्रहणीदोष मे बल और अग्नि की वृद्धि होती है।

(४०) इन्हीं ओषधियों से घृत सिद्ध करके वात, कफजन्य ग्रहणी मे पीना चाहिये। गुल्म रोग मे कथित षट् पल घृत या भल्लातक घृत का सेवन करना चाहिये ॥ १६९–१७१ ॥

बिडं कालोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम् ।
सप्तला कण्टकारी च चित्रकं चेति दाहयेत् ॥ १७२ ॥
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य द्वयाढकेन तु ।
आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम् ॥ १७३ ॥

इति क्षारघृतम् ।

(४१) क्षार घृत—बिड् नमक, काल लवण और तुष लवण (पांशु नमक), सर्जक्षार, यवक्षार, सप्तला (चीका खाई), कटेरी और चीता इनके टुकड़े करके जलाना चाहिये। इस राख का पानी मे घोल कर सात बार छान लेना चाहिये। इस नितरे या छने हुए क्षार के दो आढक लेकर इसमें एक आढक घृत मिला कर घृत सिद्ध करना चाहिये। यह घृत अग्निवर्धक है ॥१७२–१७३॥

समूला पिप्पली पाठा चव्येन्द्रयवनागरम् ।
चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रा कटुरोहिणीम् ॥ १७४ ॥
वचा च कार्षिकान् पञ्च लवणाना पलानि च ।
दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये ॥ १७५ ॥
चूर्णीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे ।
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥ १७६ ॥
पिबेत्पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्मधुराशनः ।
वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगराश्च सः ॥ १७७ ॥

(४२) पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, चविका, इन्द्रजौ, सोंठ, चीता, अतीस, हींग, गोखरू, कुटकी और वच प्रत्येक वस्तु का चूर्ण एक कर्ष मिलित

पाचों नमक एक पल, दही दो प्रस्थ, तैल और घृत मिलित दो कुड़व लेकर एक पात्र में रख देना चाहिये। ऊपर से इनको ढाप देना चाहिये। फिर इसके नीचे धीमी धीमी अग्नि जलानी चाहिये। जब दवाइयों का रस सब निकल जाये और चूर्ण जलने न पाये केवल घृत शेष रह जाये तो उतार लेना चाहिये। इस चूर्ण को घृत में मिला कर एक कर्ष मात्रा मे पीना चाहिये। इसके जीर्ण होने पर मधुर पदार्थ खाना चाहिये। यह औषध वात, कफजन्य रोगो को, विष को तथा गर (सयोग जन्य) विष को नष्ट करता है ॥ १७४-१७७ ॥

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रिकम्।
अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥ १७८ ॥
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये चाप्यवचारितः[1]।
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत् ॥ १७९ ॥

(४३) भिलावा, सोठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आवला, तीन लवण (सौवर्चल, सैन्धव और विड नमक) प्रत्येक वस्तु दो दो पल लेकर अन्तर्धूम अग्नि से पकाना चाहिये। इसमे अरणे उपलो की आच देनी चाहिये। इस क्षार को घी मे मिला कर पीना चाहिये अथवा भोजन मे, दाल, शाक मे डाल कर खाना चाहिये। हृदयरोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, गुल्म, उदावर्त और शूल को यह क्षार नष्ट करता है ॥ १७९ ॥

दुरालभा करञ्जौ द्वौ सप्तपर्ण सवत्सकम्।
षड्ग्रन्थां सदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ॥ १८० ॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्।
दग्ध्वा च तं पिबेत्क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम् ॥ १८१ ॥

इति प्रथमः क्षारः।

(४४) क्षार (१)–दुरालभा, करज और पूति करज, सतवन, कुटज की छाल (या इन्द्रजौ), षड्ग्रन्था (वच), मैनफल, मूर्वा, पाठा, अमलतास इनको परस्पर समान भाग लेकर सबके बराबर गोमूत्र मिला कर इनको जलाना चाहिये जलाकर इस क्षार का पीना चाहिये, इससे ग्रहणी (अग्नि) का बल बढ़ता है ॥१८१॥

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम्।
दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ॥ १८२ ॥

इति द्वितीयः क्षारः।

(४५) क्षार (२)—भूनिम्ब (चिरायता), रोहिणी (रोहेड़ा), तिक्ता (कुटकी),

---

१. "चाप्यवचूर्णितः" इति च पाठः।

पटोल, नीम की छाल, पित्तपापड़ा इनको समान भाग लेकर सब के बराबर भैंस का मूत्र लेकर जलाना चाहिये यह क्षार अग्निवर्धक है ॥ १८२ ॥

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी ।
मुस्तं च बस्तमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः ॥ १८३ ॥

इति तृतीयः क्षारः ।

(४६) क्षार (३)—दोनों हल्दियां (हरिद्रा और दारुहल्दी), वच, कूट, चीता, कुटकी और नागरमोथा इनको समान भाग लेकर सबके बराबर बकरे का मूत्र लेकर जलाना चाहिये । यह क्षार अग्निवर्धक है ॥ १८३ ॥

चतुष्पलं सुधाकाण्डात्त्रिपलं लवणत्रयात् ।
वार्ताकीकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात्पले ॥ १८४ ॥
दग्धानि वार्ताकुरसे गुलिका भोजनोत्तराः ।
भुक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ॥ १८५ ॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः ।
इत्येषा क्षारगुडिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता[1] ॥ १८६ ॥

इति क्षारगुडिकाः ।

(४७) सेहुण्ड का डण्डा ४ पल, तीनों नमक (सौवर्चल, विड् और सैन्धव) मिलित तीन पल, वार्ताकी (बेंगन) एक कुडव, आक ८ पल, चीता दो पल इनको जला कर क्षार बना लेना चाहिये । इस क्षार की बेंगन के रस में गोलियां बांधनी चाहिये । इन गोलियों को भोजन के पीछे खाना चाहिये । इनके सेवन से खाया हुआ भोजन शीघ्र पच जाता है, ये कास, श्वास और अर्श-रोग में हितकारी हैं । इनसे विसूचिका, प्रतिश्याय और हृदयरोग नष्ट होते हैं । इस क्षार-गुटिका का उपदेश कृष्णात्रेय ने किया है ॥ १८४–१८६ ॥

वत्सकातिविषे पाठा दुःस्पर्शं हिङ्गु चित्रकम् ।
चूर्णीकृत्य पलाशाना क्षारे मूत्रस्रुते पचेत् ॥ १८७ ॥
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात्कोलं सुखाम्बुना ।
मद्यैर्वा ग्रहणीदोषे शोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ॥ १८८ ॥

(४८) वत्सक (इन्द्रजौ), अतीस, पाठा की छाल, दुःस्पर्शा (कौंच), हींग और चीता इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये । पलाश (ढाक) को जला कर उसकी भस्म को गोमूत्र में घोल लेना चाहिये । फिर इसको छान या नितार लेना चाहिये । अब इस मूत्रयुक्त क्षार में

---

१ इति श्लोकार्धः कतिपयपुस्तकेषु न दृश्यते ।

उपरोक्त चूर्ण को मिला कर लोहे के पात्र मे पकाना चाहिये। जब यह घट्ट (कठिन) बन जाये तो इसमें से चार मासा मात्रा गरम पानी के साथ खानी चाहिये। अथवा मद्य के साथ इसको खाना चाहिये। इससे ग्रहणीरोग, शोथ, अर्श और पाण्डुरोग नष्ट होता है॥ १८७–१८८॥

त्रिफला कटभी चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः।
रोहिणी कटुका मुस्तं कुष्ठं पाठा च हिङ्गु च॥ १८९॥
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिका निम्बचित्रकौ॥ १९०॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च।
कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक्॥ १९१॥
भागान्दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितान्।
अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात्पाणितलं पिबेत्॥ १९२॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्।
प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान्॥ १९३॥
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान्।
हन्यात्सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः॥ १९४॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात्पयसाऽपि वा।

(४६) हरड़, बहेड़ा, आवला, कटभी (चापुवा या अपामार्ग), चविका, बेलगिरी, लोहभस्म, रोहिणी (रोहेड़ा), कुटकी, नागरमोथा, कूठ, पाठा, हीग, मुलहठी, मुष्कक (गुजराती मे मोखो), यवक्षार, त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), बच, वायविडग, पिप्पलीमूल, सर्जक्षार, नीम की छाल, चीता, मूर्वा, अजमोदा, इन्द्रयव, गिलोय और देवदारु प्रत्येक वस्तु एक एक कर्ष और पांचो नमक (सौवर्चल, सामुद्र, सैन्धव, बिड् और उद्भिद) पृथक् २ एक एक पल लेकर चूर्ण कर लेना चाहिये। दधि ३ कुड़व, घृत और तैल मिश्रित ३ कुड़व लेकर अन्तर्धूम से धीरे धीरे पकाना चाहिये। जब यह चूर्ण जल जाये इसमें से पाणितल अर्थात् कर्ष परिमित मात्रा को घी के साथ पीना चाहिये। इससे कफजन्य अर्श, वातजन्य अर्श, ग्रहणी रोग, पाण्डुरोग, प्लीहा, मूत्रग्रह, श्वास, कास, हिचकी, कृमि रोग, ज्वर, शोष, अतिसार, शोथ, प्रमेह, आनाह, हृदयग्रह नष्ट होता है। यह क्षार सब विषों को नष्ट करता है, अग्नि को बढ़ाता है। इसके जीर्ण होने पर मधुर मास-रस के साथ अथवा दूध के साथ अन्न को खाना चाहिये॥ १८९–१९४॥

त्रिदोषे विधिविद्वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ॥ १९५ ॥
घृतक्षारासवारिष्टान्दद्याच्चाग्निविवर्धनान् ।
क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणी प्रति ॥ १९६ ॥
व्यत्यासात्तां समस्तां च कुर्याद्दोषविशेषवित् ।

(५०) त्रिदोषजन्य ग्रहणी-रोग मे वैद्य को चाहिये कि विधिपूर्वक पञ्च कर्मो को करावे । अग्नि को बढाने वाले क्षार, घृत, आसव, अरिष्ट आदि देने चाहिये । वात, पित्त, कफजन्य ग्रहणी रोग की जो चिकित्सा पृथक् २ कही है उन सबको सम्मिलित रूप मे दोषो को समझने वाला वैद्य प्रयोग करे ॥१९५-१९६॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत् ॥ १९७ ॥
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः ।
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम् ॥ १९८ ॥
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः—

ग्रहणी के रोगियो को चाहिये कि वे स्नेहन, स्वेदन, शुद्धि (वमन विरेचन), उपवास, अग्निदीपक, चूर्ण, लवण, क्षार, मध्वरिष्ट, सुरा, आसव नाना प्रकार के तक्र और अग्निवर्धक घृतो का सेवन करे ॥ १९७-१९८ ॥

क्रियां चावस्थिकीं शृणु ।
ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ॥ १९९ ॥
सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम् ।
परीक्ष्याऽऽमं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ॥ २०० ॥
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम् ।
बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम् ॥ २०१ ॥
सन्धुक्षति यथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः ।
स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम् ॥ २०२ ॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।

अवस्था विशेष के अनुसार चिकित्सा विधि को सुनो—

(५१) कफ प्रबलावस्था मे—रूक्ष, दीपक (अग्निवर्धक) और तिक्त वस्तुओं से मिश्रित वमन देना चाहिये । यदि रोगी कृश हो और उसमें कफ की प्रबलता हो तो कभी रूक्ष और कभी स्निग्ध-क्रिया अदल-बदल के करनी चाहिये । शरीर मे आमदोष की परीक्षा करके स्नेहयुक्त अग्निदीपक प्रयोग देने चाहिये । यदि पित्त की प्रबलता हो तो मधुर वस्तुओं से युक्त तिक्त, अग्नि-दीपक प्रयोग देने चाहिये और यदि वायु प्रबल हो तो लवण और अम्ल से युक्त स्नेह हितकारी है । इन विधियों से अग्नि अतिशय दीप्त हो जाती है ।

निर्बल अग्नि को दीप्त करने के लिये स्नेह ही सबसे उत्तम वस्तु है। स्नेह से बढ़े हुए अग्नि को शान्त करने के लिये भारी अन्न भी समर्थ नहीं होता। स्नेह से दीप्त अग्नि गुरु अन्न से भी नहीं बुझता ॥ २००–२०२ ॥

मन्दाग्निरपि पक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते ॥ २०३ ॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः।
यथा समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमाश्रितः ॥ २०४ ॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम्।
काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ॥ २०५ ॥
सघृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्।
रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ॥ २०६ ॥
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः।

(५२) जिस मन्दाग्निवाले पुरुष का मल पक्का होता है, उसको भी चाहिये कि वह दीपनीय ओषधियों से साधित घृत का पान करे। इस घृतपान से समानवायु अपने स्वाभाविक मार्ग मे आश्रित होकर जाठराग्नि के समीप विचरने लगता है, जिससे कि अग्नि को शीघ्र बल मिल जाता है। जो पुरुष कठिनाई से कठोर मल थोड़ा-थोड़ा करके बाहर करता है, उसको चाहिये कि भोजन के मध्य मे लवणों से युक्त घृत का पान करे। यदि रूक्षता के कारण अग्निमान्द्य हो तो दीपनीय ओषधियों से युक्त घृत या तैल पीना चाहिये। अतिस्नेह के कारण अग्निमान्द्य हो तो चूर्ण, अरिष्ट और आसव पीने हितकारी है ॥२०३-२०६॥

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥ २०७ ॥
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः।
दोषवृद्ध्या तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ॥ २०८ ॥
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्।
उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम् ॥ २०९ ॥
अन्नावपीडितं चालं दीपनं बृंहणं च तत्।
दीर्घकालप्रसङ्गात्तु कामक्षीणकृशान्नरान् ॥ २१० ॥
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम्।
लघुतीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ॥ २११ ॥
मांसोपचितमांसत्वात्तथाऽऽशुतरबृंहणाः।
नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ॥ २१२ ॥

(५३) गुदा के भिन्न (अतीसार) होने पर अवलेह, गुड़, तैल, सुरा और आसव देने चाहियें। उदावर्त्त के कारण अग्नि के मन्द होने पर निरूह

और स्नेहबस्तिया देनी चाहियें। दोषवृद्धि के कारण अग्नि के मन्द होने पर वमन और विरेचन से शरीर का शोधन करके दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये। उपवास के कारण अग्निमान्द्य हो तो यवागू के साथ घृत पीना चाहिये। व्याधि के कारण अग्निमान्द्य होने पर घृत स्वय ही अग्निवर्धक होता है। अन्नावपीडित (भोजन के मध्य मे) दिया हुआ घृत अग्नि दीपक और शरीर की पुष्टि करता है। निरन्तर अति मैथुन के कारण क्षीण हुए पुरुषो को मास खाने वाले प्रसह-वर्ग के पशु पक्षियो के मास रस को अनार आदि से खट्टा करके देना चाहिये। ये प्रसह वर्ग के पशु, पक्षी, लघु, तीक्ष्ण और उष्ण तथा शोधक होने से अग्नि को शीघ्र बढ़ा देते है। इनका मास खाने से ही पुष्ट रहता है, इसलिये ये शीघ्र ही आदमी को पुष्ट कर देते हैं ॥२०७–२१२॥

यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ।
स्नेहान्नपानैर्विविधैर्[1]श्चूर्णारिष्टसुरासवैः ॥ २१३ ॥
प्रयुक्तैर्भिषजा सम्यग्बलमग्नेः प्रवर्धते ।

जिस प्रकार विना ईंधन के या थोड़े ईंधन से अथवा ईंधन के अधिक होने से अग्नि प्रदीप्त नहीं होती, उसी प्रकार भोजन न करने से या थोड़े भोजन से अथवा अधिक भोजन से भी जाठराग्नि प्रदीप्त नहीं होती। वैद्य के विधिपूर्वक स्नेहयुक्त अन्नविधि के चूर्ण, अरिष्ट, आसवो के सुरा के प्रयोग करने पर अग्नि का बल बढ़ता है ॥ २१३- ॥

यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम् ॥ २१४ ॥
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत्स्थिरः ।
हितं जीर्णे मित चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते ॥ २१५ ॥
सवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना ।
समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माग्निसंस्थितः ॥ २१६ ॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।
दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान् ॥ २१७ ॥
वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तम्—

जिस प्रकार सारवान् कठोर (अथवा सारयुक्त लकड़ी में) अग्नि देर तक बनी रहती है, उसी प्रकार स्नेहयुक्त अन्नविधि के प्रयोग से भी जाठराग्नि स्थिर हो जाता है, देर तक रहता है। हितकारी प्रथम भोजन के जीर्ण होने पर परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति स्थायी आरोग्य को प्राप्त करता है। धातुओं को विषम रूप न करते हुए (समान अवस्था मे रखते हुए ही) अग्नि को बढाने

१. 'स्नेहान्नविधिभिश्चित्रै' इति पा।

का प्रयत्न करना चाहिये। दोषो के समानावस्था मे होने से शरीर की उष्णिमा भी शरीर के मध्य मे (जठर मे) समानावस्था मे रहती है। यह समान अग्नि आरोग्य, पुष्टि, आयु, बल की वृद्धि के लिये अन्न का परिपाक करता है। वातादि दोषो के कारण अग्नि मन्द होने से या अति बढने से या विषम होने से (कफ के कारण मन्द, पित्त के कारण प्रबल और वायु के विषम होने पर) रोगो को उत्पन्न करता है। मन्दाग्नि की चिकित्सा पूर्व कह दी है ॥२१४-२१७॥

भस्मचिकित्सामाह—

अतिवृद्धस्य वक्ष्यते।
नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ॥ २१८ ॥
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति।
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ॥ २१९ ॥
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः।
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन्पचत्यपि ॥ २२० ॥
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम्।
भुक्तेऽन्ने लभते शान्ति जीर्णमात्रे प्रताम्यति ॥ २२१ ॥

अब अतिवृद्धाग्नि भस्मक रोग की चिकित्सा का उपदेश करते है—

सम्प्राप्ति—जिस समय पुरुष मे कफ क्षीण हो जाता है, उस समय पित्त जाठराग्नि के स्थान मे कुपित हो जाता है, इस कुपित पित्त के साथ वायु भी मिली रहती है। यह पित्त अपनी उष्णिमा से अग्नि का बल बढा देता है। इस प्रकार से बल प्राप्त करके यह अग्नि वायु की सहायता से रूक्ष शरीर मे तीक्ष्णता (तेजी) से अन्न का बार-बार पचा देती है। अन्न का परिपाक करके रक्त आदि धातुओ का भी निरन्तर पाक करता रहता है। इसलिये रोगी मे दुर्बलता आ जाती है, रोग से रोगी की मृत्यु हो जाती है। अन्न के खाने से रोगी को शान्ति मिलती है, और अन्न के जीर्ण होने पर कष्ट अनुभव होने लगता है। अग्नि की वृद्धि से प्यास, श्वास, दाह, मूर्च्छा आदि रोग हो जाते है ॥२२१॥

तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः।
तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ॥ २२२ ॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्ति दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः।
मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥ २२३ ॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्।
पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥ २२४ ॥
अद्यात्तथोदकानूपपिशितानि घृतानि च।

(१) जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि को पानी से शान्त करते हैं, इसी प्रकार इस प्रदीप्त अग्नि को गुरु, मधुर, स्निग्ध, शीतल खान-पान से शान्त करना चाहिये। अजीर्ण होने पर भी रोगी को बार-बार भोजन देना चाहिये, जिससे कि इन्धनरहित देख कर अग्नि इसको नष्ट न करे। क्योंकि इन्धन न मिलने से अवसर पाकर अग्नि रोगी को नष्ट कर देता है। इसके लिये रोगी को पायस (दूध-पाक, तस्मे, खीर), कृशरा, पिट्ठी से बने स्निग्ध खाद्य पदार्थ, गुड़ से बनी वस्तुएं, औदक या आनूप पशुओं का मांस तथा घृत देने चाहिये।२२२-२२४।

मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान्स्थिरतोयचरांस्तथा ॥ २२५ ॥
आविकं सघृत मांसमद्यादत्यग्निनाशनम् ।
यवागूं समधूच्छिष्टां घृत वा क्षुधितः पिबेत् ॥ २२६ ॥

(२) स्थिर पानी में विचरने वाली चिकनी मछलियां खाने के लिये देनी चाहिये। इस प्रकार की मछलियां अतिगुरु होती हैं। अग्नि की वृद्धि को कम करने के लिये भेड़ के मांस को घृत के साथ देना चाहिये। अथवा भूख लगने पर यवागू को मोम या घृत के साथ पीना चाहिये ॥ २२५-२२६ ॥

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा शिरां पिबेत् ।

(३) शिरा का वेधन कराके पीछे से गेहूं के आटे का मन्थ (सत्तू) पिलाना चाहिये।

पयो वा शर्करा सर्पिर्जीवनीयौषधैः शृतम् ॥ २२७ ॥

(४) जीवनीय ओषधियों में पके दूध को शर्करा और घृत के साथ पिलाना चाहिये ॥ २२७ ॥

फलानां तैलयोनीनामुत्कुञ्चाश्च सशर्कराः ।

(५) जिन फलों से तैल निकलता है उन फलों से तथा शक्कर से मिला कर बनाई हुई गुझियां अग्नि को कोमल कर देती हैं। [तैल वाले फल माल-कांगनी या अलसी, बादाम, पिस्ता आदि]।

मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ॥ २२८ ॥

(६) इसी प्रकार से स्निग्ध मांसरस भी अग्नि को घटा देता है ॥२२८॥

पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन वा युतम् ।

(७) मोम या शीतल जल के साथ मिला कर घृत को पिलाना चाहिये।

गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ॥ २२९ ॥

(८) गेहूं के चूर्ण को घी के साथ भून कर दूध में मिला कर पिलाना चाहिये ॥ २२९ ॥

आनूपरससिद्धान्वा त्रीन्स्नेहांस्तैलवर्जितान् ॥ २३० ॥

(९) घी, वसा (चर्बी) और मेद इन तीन स्नेहों को आनूप मांसरस के साथ सिद्ध करके पिलाना चाहिये ॥ २३० ॥

पयसा समिता चापि घना त्रिस्नेहसंयुताम् ।

(१०) दूध के साथ समिता (मैदा, गेहूँ का बारीक आटा) को घी, वसा और मेद से मिला कर घट्ट (घना) करके खाना चाहिये ।

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् ॥ २३१ ॥

(११) गूलर की छाल को स्त्री के दूध मे मिलाकर पिलाना चाहिये ॥२३१॥

आभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ।

(१२) अथवा गूलर के दूध और औरत के दूध से खीर पका कर खिलानी चाहिये इससे अग्नि की वृद्धि शान्त होती है ।

श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् ।
असकृत्पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम् ॥ २३२ ॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित् ।

(१३) श्यामा (निशोथ) और त्रिवृत् के साथ दूध पका कर विरेचन के लिये देना चाहिये । पित्त की शान्ति के लिये बार-बार दूध देना चाहिये । चिकित्सा विधि को समझने वाले बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि अवस्थानुसार भोजन करावे ॥ २३२– ॥

यत्किञ्चिन्मधुरं सर्वं मेध्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम् ॥ २३३ ॥
तदत्यग्निहितं सर्वं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ।

(१४) सामान्य रूप मे—जो कुछ मधुर, जो कुछ मेध्य (मेदुर मेद-बहुल), कफ बहुल और गुरु होता है, वह सब भोजन अग्नि वृद्धि को शान्त करने के लिये हितकारी है, इसी प्रकार से भोजन करके दिन मे सोना भी लाभदायक है ॥२३३॥

मेध्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रशान्तः समश्नुते ॥ २३४ ॥
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ।
कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ॥ २३५ ॥
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।

जो मनुष्य अग्नि के बढने पर बिना उपेक्षा किये मेद-बहुल भोजनों को खाता रहता है, उसको इससे उत्पन्न विकार नहीं होते, अपि तु शरीर मे पुष्टि आती है । कफ के बढने से, वायु और पित्त के शान्त होने पर अग्नि समान हो जाता है । धातुओं के समान होने पर अग्नि भी आयु, पुष्टि, बल की वृद्धि के लिये अन्न को पचाता है ॥ २३४–२३५–॥

भवन्ति चात्र—पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ॥२३६॥
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः ।

भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ॥ २३७ ॥
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा ।

पथ्य (हितकारी) और अपथ्य (अहितकारी) को मिला कर एक साथ खाने को 'समशन' कहते हैं। मात्रा से बहुत या थोड़ा भोजन करने अथवा भोजन के समय से पूर्व अथवा पीछे भोजन करने को 'विषमाशन' कहते हैं। प्रथम खाये हुए अन्न शेष के जीर्ण होने से बचे रहने पर पुनः भोजन करने को 'अध्यशन' कहते है। समशन, विषमाशन और अध्यशन ये तीनों ही मृत्यु अथवा भयानक रोगों को उत्पन्न करते है ॥ २३६-२३७– ॥

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ॥ २३८ ॥
दिवा प्रबुध्यतेऽर्केण हृदयं पुण्डरीकवत् ।
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ॥ २३९ ॥
व्यायामाच्च विचाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ।
न क्लेदमपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ॥ २४० ॥
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति ।
अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ॥ २४१ ॥
नैव दूष्यति तेनैव समं सपद्यते यथा ।
रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ॥ २४२ ॥
यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ।
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ॥ २४३ ॥
विदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ।
नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् ॥
तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ॥ २४४ ॥

प्रातःकाल का किया हुआ भोजन यदि जीर्ण न हो तो भी यदि सायकाल का भोजन कर लिया जाये तो वह दोष उत्पन्न नहीं करता। क्योंकि दिनमे हृदय कमल के समन सूर्य के द्वारा विकसित रहता है। (हृदय अधिक क्रियाशील है, मस्तिष्क कार्य करता रहता है) इस हृदय (वात-सस्थान) के जागृत रहने पर सब स्रोत खुले रहते है। मनुष्य के व्यायाम करने, चलने-फिरने से, विचार (चिन्तन) से, चित्त के विक्षेप से, दिन मे शरीर के धातु शुष्क हो जाते हैं। इन अक्लिन्न धातुओं मे प्रक्षिप्त अन्य अन्न ऐसे ही दूषित नहीं होता जैसे बिना विदग्ध हुए (फटे) दूध मे नया दूध मिलाने से कोई भेद नही आता। रात्रि मे हृदय की गति के कम होने से (वात-संस्थान मस्तिष्क के सो जाने से) और स्रोतों के बन्द हो जाने पर, कोष्ठ मे पाचन-क्रिया के रुक जाने से शरीर

के धातु क्लिन्न (आर्द्र) हो जाते है। इन अपक्व और क्लिन्न स्रोतो मे जो अन्य आहार आता है, वह भी दूषित हो जाता है। जिस प्रकार गरम दूध यदि विदग्ध (विकृत) हो जाये तो उसमे अन्य जो भी दूध मिलाया जाय वह भी दूषित हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि बल और आयुष्य की रक्षा करते हुए रात्रि के भोजन के परिपाक न होने पर अन्य भोजन न करे। रात्रि का भोजन जीर्ण होने पर ही भोजन करना चाहिये ॥२३८-२४४॥

तत्र श्लोकाः—अन्तरग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः

यथाऽन्नं पच्यते याश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि ॥ २४५ ॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान्।
रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥ २४६ ॥
वृष्याणामाशुकृद्धेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः।
रोगैकदेशकृद्धेतुरन्तरग्निर्यथाऽधिकः ॥ २४७ ॥
सन्दुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि।
ग्रहणी या समासाच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥ २४८ ॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम्।
चतुर्विधस्य निर्दिष्टा तथा चावस्थिकी क्रिया ॥ २४९ ॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम्।
उक्तवानिह तत्सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥ २५० ॥

उपसहार—भीतरी अग्नि के गुण शरीर को किस प्रकार धारण करते हैं, अन्न का परिपाक किस प्रकार होता है, किस प्रकार आहार किन २ गुणों को करता है, कितने अग्नि हैं, ये किनका पोषण करते हैं, किन को ये पचाते है, रसादि धातुओं की क्रमश उत्पत्ति, इन धातुओं से मलादि की उत्पत्ति, वृष्णाओ का कारण, धातुओ की उत्पत्ति का काल, उनका क्रम, एक देश मे रोगोत्पत्ति का कारण, अधिक अन्तराग्नि का कारण, दूषित अग्नि से उत्पन्न रोग, ग्रहणी और ग्रहणी दोष के लक्षण, उनके पूर्वरूप, पृथक् २ लक्षण, चिकित्सा अवस्थानुसारी चिकित्सा, अत्यग्नि की उत्पत्ति और चिकित्सा इस ग्रहणी-रोग-चिकित्सित अध्याय मे इन सब विषयों का मुनि आत्रेय ने उपदेश कर दिया है॥२४५-२५०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
ग्रहणीरोगचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

मुद्रक—प० बैकुण्ठनाथ भार्गव, आनन्द सागर प्रेस, गायघाट, बनारस।